विषय-सूची

भूमिका

विषय पृष्ठ

विषय पृष्ठ

विषय पृष्ठ

अध्याय १९

अध्याय २०

अध्याय २१

अध्याय २२

अध्याय २३

अध्याय २४

अध्याय २५

विषय पृष्ठ

विषय पृष्ठ

विषय पृष्ठ

भगवान् बुद्ध प्रश्नों का उत्तर दे रहे हैं

प्राक्कथन

इतिहास और भूगोल का सम्बन्ध

भूमि और मनुष्य प्रत्येक देश के इतिहास के वास्तविक आधार हैं। मनुष्य के कार्यों का मूल कारण, उस देश की प्राकृतिक अवस्था है जिसमें वह रहता है और इतिहास उन प्रयत्नों का विवरण प्रस्तुत करता है जो मनुष्य, भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों जगत् में, अपनी दिन-प्रतिदिन बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए करते हैं। देश की प्राकृतिक अवस्था का—उसके पहाड़ों, नदियों, रेगिस्तानों जंगलों तथा जलवायु का—मनुष्य के स्वभाव और चरित्र पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। मनुष्य का कार्य प्रायः उस अवस्था के अनुरूप ही होता है। ऐतिहासिक भूगोल में इस बात की विवेचना करने का प्रयत्न किया जाता है कि किस प्रकार मनुष्य के कार्य उसकी परिस्थितियों से प्रभावित होते हैं। भारत का भाग्य बहुधा पहाड़ों, नदियों और मैदानों की स्थिति पर निर्भर है, केवल उसके सैनिकों की वीरता और राजनीतिज्ञों की नीति पर नहीं। हिमालय पर्वत-माला और हिन्दूकुश के दर्रों ने उसके इतिहास के प्रवाह पर बड़ा प्रभाव डाला है। हमारे रीति रिवाजों को रूढ़िवद्ध करने में और हमको अनेक जातियों तथा उपजातियों में विभक्त करने में—जिनमें से प्रत्येक के अलग-अलग काम और अधिकार हैं—केवल हमारे भाग्य ही का हाथ नहीं रहा है। मौसमी हवाओं तथा मानसूनों ने भारत को एक कृषिप्रधान देश बना दिया है और उसकी सम्पत्ति को बहुत बढ़ा दिया है। देश की स्थिति नदियों के बदलते हुए प्रवाह तथा दूरी ने राजनैतिक इतिहास को बहुत प्राचीन काल से प्रभावित कर रक्खा है और बड़े-बड़े साम्राज्यों को बनाया और बिगाड़ा है।

भारत का अर्थ—'हिन्दुस्तान' हमारे देश का प्राचीन नाम नहीं है। यह नाम विदेशियों का रक्खा हुआ है। ईरानियों ने सिन्धु नदी का नाम बदलकर 'हिन्दु' रख दिया, इसी कारण इस देश का नाम हिन्दुस्तान पड़ा। यूनानियों ने उसका नाम 'इंडोस' रक्खा इसलिए हमारे देश का नाम 'इंडिया' पड़ गया। बहुत प्राचीन काल में इस देश का नाम जम्बू द्वीप था। बौद्ध-ग्रन्थों तथा कतिपय मन्त्रों में—जो विवाह आदि के अवसर पर अब भी पढ़े जाते हैं—इस नाम का उल्लेख मिलता है। यह नाम सम्पूर्ण देश के लिए प्रयुक्त होता है। केवल देश की सीमा का निर्देश करने के लिए ही 'जम्बूद्वीप' शब्द का

प्रयोग होता था। हिन्दुस्तान का असली नाम, जो प्राचीन काल के हिन्दुओं को ज्ञात था, भारतवर्ष अथवा भरत का देश था। भरत वैदिक काल के एक वीर पुरुष थे। उन्होंने जातीय युद्धों में बड़ा भारी भाग लिया और अपने लिए एक साम्राज्य स्थापित किया। जब मुसलमान लोग इस देश में आये तब वे इसे हिन्दुस्तान अथवा हिन्दुओं का देश कहने लगे। हिन्दुस्तान में उनका तात्पर्य, दक्षिण में विन्ध्याचल तक विस्तृत, सम्पूर्ण उत्तरी भारत से था।

सीमा, क्षेत्रफल तथा जन-संख्या—प्रकृति द्वारा भारत की खूब अच्छी तरह से किलेबन्दी हुई है। एक भूतपूर्व वायसराय के शब्दों में भारत एक "दुर्ग के समान है जिसके दो तरफ समुद्र खाई-स्वरूप है और तीसरी तरफ पर्वतमालाएँ हैं।" उसका क्षेत्रफल १७,६६,५७९ वर्गमील है और जन-संख्या १९४१ ई० की मनुष्य-गणना के अनुसार ३९ करोड़ के लगभग है। जन-संख्या के दो बहुत बड़े भाग हिन्दू और मुसलमानों के हैं। इन दो बड़ी जातियों में से प्रत्येक की आबादी क्रम से २३,९१,९५,००० और ७,७६,७८,००० है। भारत के उत्तर में हिमालय पर्वत की श्रेणी है जो १,५०० मील तक फैली हुई है। सम्पूर्ण पर्वतमाला में बहुसंख्यक चोटियाँ हैं—जैसे नागा पर्वत, नन्दादेवी किन्चिंचिगा। सबसे ऊँचा माउन्ट एवरेस्ट है जो कि समुद्र की सतह से २९,००२ फुट ऊँचा है। उत्तर-पश्चिम में, उस पर्वतमाला की पश्चिमी श्रेणियाँ किर्थर, सुलेमान तथा सफेद कोह—उसकी सीमा की रक्षा करती हैं। पूर्व की ओर वह प्रदेश है जिसमें बहती हुई ब्रह्मपुत्र नदी नीचे आकर गंगा में मिल जाती है। यह प्रदेश पर्वतों की एक श्रेणी से घिरा हुआ है जिसमें नागा, खासिया, जैन्तिया और अराकानयोमा की पहाड़ियाँ शामिल हैं। ये पहाड़ियाँ पूर्वी बंगाल तथा आसाम को ब्रह्मा से पृथक् करती हैं। दक्षिण तथा पश्चिम में भारत बंगाल की खाड़ी, हिन्दमहासागर तथा अरबसागर से घिरा हुआ है। ये तीनों कई युगों से उसकी रक्षा करते आये हैं।

भारत के प्राकृतिक विभाग—प्राकृतिक दृष्टि से सम्पूर्ण भारत तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—(१) हिमालय का प्रदेश, (२) बंगाल की खाड़ी से लेकर अरबसागर तक विस्तृत निम्नस्थ प्रदेश, जिसे हम उत्तरी भारत का मैदान कह सकते हैं। इसमें हिन्दुस्तान के उपजाऊ तथा सघन आबाद भू-भाग सम्मिलित हैं। (३) दक्षिण का पठार जिसे प्राचीन भारत के लोग 'दक्षिणापथ' के नाम से पुकारते थे। यह प्रदेश उत्तर में विन्ध्य-पर्वतमाला से तथा बंगाल और अरबसागर के तटों पर स्थित पूर्वी घाट एवं पश्चिमी घाट से घिरा हुआ है।

हिमालय का प्रदेश—पश्चिम में बिलोचिस्तान से लेकर पूर्व में ब्रह्मा

मोहिंजोदड़ो के खँडहर
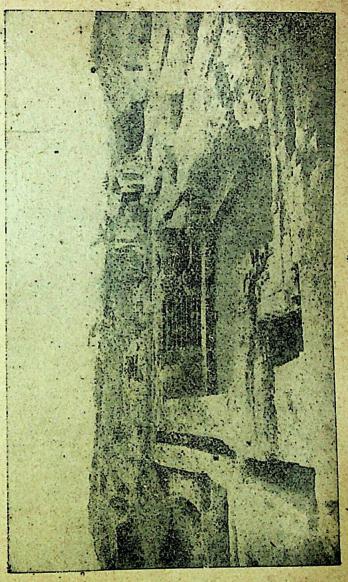
तथा श्याम तक फैली हुई हिमालय-पर्वतमाला के अन्तर्गत कई समानान्तर श्रेणियाँ सम्मिलित हैं। इन पर्वत-श्रेणियों ने भारत को शेष एशिया से पृथक् कर रक्खा है और बाहरी देशों के साथ उसके व्यापारिक सम्बन्ध को रोक रक्खा है। आज-कल भी चीन, तुर्किस्तान तथा तिब्बत से भारत का व्यपार बहुत थोड़ा होता है। किन्तु भारत की कृषि के लिए हिमालय पर्वत बहुत उपयोगी है। कृषि प्रत्यक्षतः अथवा अप्रत्यक्षतः, दक्षिणी सागर से मानसून द्वारा लाई हुई नमी पर निर्भर है। गंगा और सिन्ध के मैदान की उर्वरता का अधिकांश श्रेय हिमालय पर्वत को ही है क्योंकि उसी से बड़ी-बड़ी नदियों को जल प्राप्त होता है और इन नदियों से ही उस बड़े मैदान की सिंचाई होती है। हिमालय पर्वत में कोई दर्रा नहीं है इसलिए उत्तर से भारत में कोई प्रवेश नहीं कर सकता। किन्तु उत्तर-पश्चिम की ओर कुछ दर्रे हैं जिसमें होकर विदेशी आक्रमणकारी पूर्व काल में आ चुके हैं। बिलोचिस्तान के दक्षिणी किनारे पर मेकरान नामक एक रेगिस्तानी प्रदेश है जो भारत को ईरान से मिलाता है। सिकन्दर महान् ने अपनी सेना की एक पलटन को इसी मार्ग से वापस भेजा था और बाद को सातवीं तथा आठवीं शताब्दी में अरब के आक्रमण-कारियों ने इसी मार्ग से भारत में प्रवेश किया। खैबर का दर्रा, जिसमें होकर काबुल से पेशावर तक रास्ता चला आया है, भारत के इतिहास में प्रसिद्ध है। बहुत प्राचीन काल से भारत पर आक्रमण करनेवाले लोग—आर्य, यूनानी, हूण, सिदियन, तुर्क तथा मंगोल सब—इसी दर्रे से होकर भारत में आये। अफगानों के प्रदेश को अपने अधिकार में रखनेवाला कोई भी आक्रमणकारी बड़ी आसानी के साथ पंजाब में प्रवेश कर सकता था और यदि उसमें वास्तविक राजनीतिक् योग्यता होती तो वह एक स्थायी राज्य स्थापित कर सकता था। तुर्कों ने ऐसा ही किया। इस दर्रे में होकर वे पंजाब के भीतर घुस आये और दुआबे में अपनी प्रभुता स्थापित कर ली। क्वेटा के दक्षिण-पूर्व में स्थित बोलान का दर्रा, खैबर के दर्रे की भाँति ही, व्यापारिक तथा सैनिक दृष्टि से बड़ा महत्त्वपूर्ण है। किन्तु खैबर की तरह यह मार्ग भी आक्रमणकारियों के लिए सुलभ है। इनके अतिरिक्त और भी दर्रे हैं जिनमें होकर बाहर के देशों के साथ भारत का सम्बन्ध स्थापित रक्खा जा सकता है। इनमें कुर्रम, टोची तथा गोमल के दर्रे उल्लेखनीय हैं। कुर्रम खैबर के दक्षिण में है। साल में कई महीने तक यह दर्रा बर्फ से बन्द रहता है। टोची की घाटी, जो बन्नू से काबुल के दक्षिण गजनी तक चली गई है, ऐसा मार्ग है जो एक दुर्गम प्रदेश में होकर जाता है। इस मार्ग का उपयोग अधिक नहीं होता। दक्षिण की ओर चलकर गोमल नदी के किनारे-किनारे गोमल का मार्ग अफगानिस्तान को चला जाता है और गजनी को देरा इस्माइल खाँ से मिलाता

है। उत्तर के दर्रे दुर्गम हैं और पूर्व की पर्वत श्रेणियाँ तथा सघन जंगल बाहर के लोगों को इस देश में आने नहीं देते।

निम्नस्थ प्रदेश—उत्तर में हिमालय तथा दक्षिण में दक्षिणी पठार के बीच निम्नस्थ प्रदेश स्थित हैं। इसमें हिन्दुस्तान के बहुत उपजाऊ तथा घने आबाद जिले शामिल हैं। सिन्ध और गंगा का मैदान, जो बड़ी-बड़ी नदियों द्वारा लाई हुई मिट्टी से बना है, इस प्रदेश का महत्त्वपूर्ण भाग है। यह वही मध्यप्रदेश है जिसका उल्लेख हिन्दुओं के धर्म-ग्रन्थों में मिलता है। यह प्राचीन काल से ऋषि-मुनियों, सूर्यवंशी तथा चन्द्रवंशी क्षत्रियों, देवताओं और रामायण एवं महाभारत के योधाओं का निवासस्थान था। इस भाग में काशी, अयोध्या, मथुरा, कन्नौज, हरिद्वार, आदि पवित्रतम तीर्थस्थान स्थित हैं। यहीं पर बुद्ध भगवान् ने अपने शान्ति-धर्म का उपदेश किया था, यहीं से धर्म-प्रचारकों के दल उनके सन्देश को दूर-दूर के देशों में ले गये थे। यह विस्तृत मैदान सिन्धु, गंगा, यमुना तथा ब्रह्मपुत्र के जल से सींचा जाता है। सिन्धु नदी तिब्बत के झील प्रदेश में, हिमालय से निकलकर १८०० मील तक बहती है और पंजाब की नदयों का पानी लेकर अरबसागर में गिरती है। गंगा गढ़वाल-श्रेणी के गंगोत्री ग्लेशियर से निकलकर हरिद्वार के पास मैदान में उतरती है और १५०० मील बहकर बंगाल की खाड़ी में गिरती है। उसकी बड़ी-बड़ी सहायक नदियाँ यमुना, सोन तथा गंडक हैं। ब्रह्मपुत्र मानसरोवर झील के पास कैलाश पहाड़ की ढाल से निकलकर पूर्व की ओर बहती है। लगभग ९०० मील बहने के बाद वह मुड़कर लोअर बंगाल के मैदानों में प्रवेश करती है।

सारा देश बड़ा समतल है। सर रिचर्ड स्ट्रेची का कथन है कि "यह असम्भव है कि कोई बंगाल की खाड़ी से गंगा के मुहाने तक जाय, और फिर पंजाब होकर सिन्धु नदी के मार्ग से समुद्र तक जाय—इस प्रकार २,००० मील से अधिक रास्ता तय करे—और उसे पत्थर का एक टुकड़ा या कंकड़ भी मिल जाय।"

इस मध्यप्रदेश की उर्वरता ने विदेशी आक्रमणकारियों को सदैव प्रलोभन दिया है। पहले-पहल यहाँ आर्य लोग आये और उन्होंने अपनी बस्तियाँ स्थापित कीं। बाद के सभी विजेतागण यहाँ आकर बसे और उन्होंने बड़े-बड़े साम्राज्य स्थापित किये। दोआबा में हिन्दू, मुसलमान और अँग्रेज सभी ने अपना राज्य स्थापित किया। दोआबा की सम्पत्ति ने उन्हें देश के शेष भाग को जीतने के लिए प्रोत्साहित किया। यह बात आज उतनी ही सत्य है जितनी की मध्ययुग में कि जो कोई दोआबा को जीत ले वह आसानी के साथ सम्पूर्ण भारत को अपने अधिकार में कर सकता है। नदियों में जहाज

आ-जा सकते थे इस कारण वे अतीत काल में आने-जाने का साधन बनी रहीं। व्यापार तथा भारत के जहाजी व्यवसाय को उनसे बड़ी सहायता मिली।

इस सुविस्तृत मैदान का पूर्वी भाग सम्पन्न तथा उर्वर है; किन्तु जलवायु मलेरिया बुखार को फैलानेवाला है। इसकी सम्पत्ति ने विदेशी आक्रमणकारियों को आकृष्ट किया किन्तु जलवायु ने उन्हें आगे बढ़ने से रोक दिया। मध्ययुग में, दिल्ली की केन्द्रीय शक्ति कभी भी पूर्ण रूप से उसे अपने अधिकार में नहीं रख सकी। किन्तु वह बहिःस्थ प्रान्त था और वहाँ का जलवायु भी खराब था इस कारण उसकी उपेक्षा की जाती थी। विद्रोह करने की प्रवृत्ति भी उसमें थी। चौदहवीं शताब्दी में अफीका का मुसलमान यात्री इब्नबतूता भारत में आया। उसने बंगाल का भ्रमण किया। इस प्रान्त के सम्बन्ध में उसने लिखा है "यह एक नरक है जो संसार की सभी अच्छी वस्तुओं से ठसाठस भरा हुआ है।"

भारतीय सभ्यता के विकास में गंगा नदी ने बड़ा भारी योग प्रदान किया है। उसके तटों पर हिन्दुओं के सर्वश्रेष्ठ दर्शनों का उदय और विकास हुआ। उसके किनारे हिन्दुस्तान के बड़े रमणीक और आबाद नगर स्थित हैं। यदि हम उसके किनारे-किनारे चलें तो हमें एक ऐसे प्रदेश में होकर जाना पड़ेगा जो सुन्दर-सुन्दर दृश्यों, अधिकता के साथ उगे हुए पेड़-पौधों तथा मीलों तक फैले हुए और प्रचुर फसलों से लदे हुए हरे-भरे खेतों से—जो लाखों आदमियों को भोजन और जीवन प्रदान करते हैं—भरा होगा। यही कारण है कि भारत के लोग—हिमालय से लेकर कुमारी अन्तरीप तक—इसे एक पवित्र नदी मानकर पूजते हैं और उसके जल में स्नान करने को स्वर्ग-प्राप्ति का साधन समझते हैं।

भारत का रेगिस्तान—भारत का मरुप्रदेश उत्तर-पूर्व में पंजाब तथा उत्तर प्रदेश से, दक्षिण-पूर्व में मध्य भारत से, पश्चिम में गुजरात एवं सिन्ध से घिरा हुआ है। इसका नाम राजपूताना है। कर्नल टॉड इसे राजस्थान कहते हैं। किन्तु 'राजस्थान' भी प्राचीन शब्द नहीं प्रतीत होता। राजपूताना को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। अर्वली पहाड़ के उत्तर का भाग रेतीला और ऊसर है, उसमें फसल नहीं उग सकती। किन्तु अर्वली के दक्षिण-पूर्व का भाग उपजाऊ है। वहाँ कभी वर्षा की कमी नहीं होती। इसके अन्दर मालवा का प्रदेश है। जो सदा हरा-भरा रहता है। आज-कल यह ग्वालियर राज्य में सम्मिलित है। अर्वली पहाड़ की सबसे ऊँची चोटी माउन्ट आबू सिरोही राज्य में है। यह चोटी समुद्र की सतह से ५,६५० फुट ऊँची है। इस मरुप्रदेश की प्राकृतिक अवस्था ने इसके इतिहास पर बड़ा प्रभाव

डाला है। राजपूत राजा अपने किलों में, मरु-प्रदेश द्वारा, विदेशी आक्रमण-कारियों से सुरक्षित रहते थे। दिल्ली के मुसलमान बादशाहों द्वारा जीते जाने पर भी वे अपना शासन-प्रबन्ध करने के लिए स्वतन्त्र बने रहे। यद्यपि राजपूत लोग सदा आपस में ही लड़ा-झगड़ा करते थे तथापि दिल्ली के शासक राजपूताना के राज्यों पर अपनी दृढ़ प्रभुता कभी भी नहीं स्थापित कर सके।

राजपूताना के पश्चिम में सिन्ध का प्रदेश है। यह दक्षिण में अरबसागर तथा कच्छ की खाड़ी से घिरा हुआ है। इसके तीन भाग हैं—कराची और सेहवान के बीच का कोहिस्तान अथवा पहाड़ी देश, मुख्य सिन्ध तथा पूर्वी सीमा पर स्थित मरुस्थल। दक्षिण-पूर्व में कच्छ की खाड़ी जो खारी पानी से भरी हुई है। इसका क्षेत्रफल लगभग ९,००० वर्गमील है।

दक्षिण—दक्षिण का प्रदेश, जिसका नाम प्राचीन काल में दक्षिणापथ था, विन्ध्याचल पर्वत के दक्षिण में स्थित है और प्रायद्वीप के आकार का है। यह एक पठार है जो २,००० फुट ऊँचा है और पूरब से पश्चिम की ओर ढालू है। यह तीन तरफ पहाड़ों से घिरा हुआ है। पूर्व में पूर्वी घाट, पश्चिम में पश्चिमी-घाट और उत्तर में विन्ध्य तथा सतपुड़ा पहाड़ों की दोहरी श्रेणियाँ हैं। ये दोनों श्रेणियाँ दक्षिणी भारत को उत्तरी भारत से अलग करती हैं। दक्षिण के बिलकुल छोर पर स्थित भू-भाग को कभी-कभी सुदूर दक्षिण कहा जाता है। उसका अपना अलग इतिहास है। चूँकि दक्षिण की ढाल पश्चिम से पूर्व की ओर है इसलिए इस प्रदेश की अधिकांश नदियाँ—जैसे महानदी, गोदावरी, कृष्णा, कावेरी तथा तुंगभद्रा—पूर्व की ओर बहती हैं और बंगाल की खाड़ी में गिरती हैं। नर्मदा और ताप्ती पश्चिम की तरफ बहती हैं और अरबसागर में गिरती हैं। त्रिभुजाकार पठार के दोनों तरफ पर्वत-श्रेणियाँ हैं जो पूर्वी और पश्चिमी समुद्र-तट के समानान्तर चली गई हैं। सह्याद्रि पर्वत अथवा पश्चिमी घाट खम्भात की खाड़ी के दक्षिण से समुद्र-तट के साथ-साथ नीचे चला गया है। इसमें मराठा लोग बसते हैं। इस संकीर्ण भू-भाग का उत्तरी भाग कोंकण तथा दक्षिणी भाग मलाबार का तट कहलाता है। महाराष्ट्र अथवा मराठों का देश डामन से नागपुर तक लम्ब रूप में फैला हुआ है और नागपुर से दक्षिण-पश्चिम की ओर करवार तक चला गया है। इस देश के तीन भाग हैं—(१) कोंकण, (२) 'मावलों' का देश, (३) पूर्व का चौड़ा प्रदेश जिसे 'देश' कहते हैं।

पूर्व का समुद्र-तटवाला मैदान, जो पूर्वी घाट तथा बंगाल की खाड़ी के बीच स्थित है, तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—(१) उत्तरी भाग जिसमें महानदी का डेल्टा सम्मिलित है, (२) मध्यभाग जो गोदावरी तथा कृष्णा

नदी के डेल्टाओं से बना हुआ है, (३) दक्षिणी भाग जो कर्नाटक कहलाता है। दक्षिण का ऊँचा पठार तामिल देश है जिसमें द्रविड़ जाति के लोग निवास करते हैं।

दक्षिण भारत की प्राकृतिक अवस्था ने उसके इतिहास पर बड़ा प्रभाव डाला है। विन्ध्य तथा सतपुड़ा पर्वत की श्रेणियों ने आर्यों की सभ्यता को दक्षिण की ओर बढ़ने से रोक दिया। यही कारण है कि दक्षिण के सामाजिक विचार, रीति-रवाज और रहन-सहन, उत्तरी भारत से बिलकुल भिन्न है। पश्चिमी घाट के सघन जंगलों, टेढ़े-मेढ़े रास्तों और खड्डों ने मराठा देश को दुर्जेय बना दिया। ऊँची-नीची पहाड़ियों के कारण मराठों के लिए एक विशेष (guerilla) युद्ध-प्रणाली का आश्रय लेना अनिवार्य हो गया। इस युद्ध-प्रणाली की बदौलत मराठा लोग सफलतापूर्वक मुसलमान आक्रमणकारियों को परास्त कर सके। जल-वृष्टि की न्यूनता तथा पहाड़ी देश की अनुर्वरता का लोगों के चरित्र व स्वभाव पर बड़ा प्रभाव पड़ा। वे अधिकतर जौ और बाजरा खाते थे, इस कारण मजबूत और परिश्रमी बन गये। इन्हीं लोगों की सहायता से शिवाजी ने दक्षिण में शक्तिशाली शासन स्थापित किया। उसकी मृत्यु के पश्चात् भी उसके उत्तराधिकारियों ने औरंगजेब के सेनापतियों को हैरान कर दिया और अपनी शक्ति कायम रक्खी।

दक्षिण के द्रविड़ लोगों पर उत्तरी भारत के रीति-रिवाज और रहन-सहन का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। उन्होंने एक निराले आचार-विचार का पालन किया जिसने समाज के भिन्न-भिन्न समुदायों में बड़ा भेद-भाव पैदा कर दिया।

ब्रह्मा—ऊँचे-ऊँचे पहाड़ और घने-घने जंगल ब्रह्मा को भारत से पृथक् करते हैं। ये पर्वत इन दोनों देशों के बीच में एक दीवाल की तरह खड़े हुए हैं। इन्होंने दोनों देशों के लोगों को एक दूसरे से अलग कर रक्खा है—दोनों की जाति, भाषा, धर्म तथा रीति-रवाज में विभिन्नता पैदा कर दी है। ब्रह्मा की मुख्य नदियाँ इरावदी तथा सालवीन हैं। सम्पूर्ण देश तीन प्रदेशों में विभक्त किया जा सकता है—(क) समुद्र-तट का संकीर्ण भू-भाग, (ख) मध्य ब्रह्मा जिसमें इरावदी तथा सीतांग के डेल्टा सम्मिलित हैं, (ग) पठार का प्रदेश। रंगून अब एक अच्छा बन्दरगाह है। इससे होकर व्यापार का माल अधिक परिमाण में आता-जाता है।

भारत निवासियों की मौलिक एकता—कभी-कभी कहा जाता है कि भारत केवल भौगोलिक दृष्टि से एक है; किन्तु वास्तव में यह बात सत्य नहीं है। इस देश में विभिन्न वंश, जाति और धर्म के लोग रहते हैं, यह बात स्पष्ट है किन्तु इन सब विभिन्नताओं के होते हुए भी एक मौलिक एकता है,

भारतवर्ष में निवास करनेवाली जातियाँ
मंगोलियन
भारतीय आर्य्य
द्रविड़
मंगोलीय-द्रविड़
आर्य्य-द्रविड़
सीदियन-द्रविड़
तुर्क-ईरानी
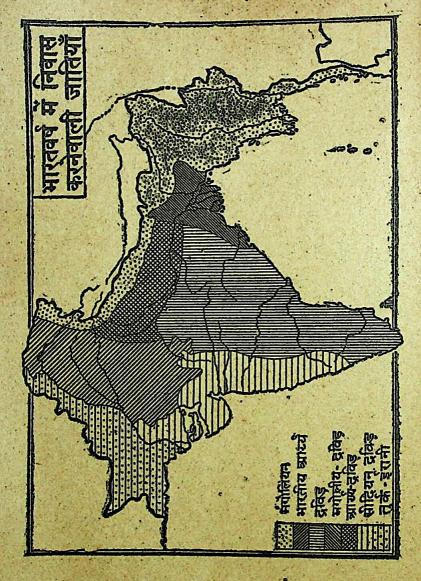
जिसे कोई इतिहासकार अस्वीकार नहीं कर सकता। प्राचीन काल में सारा देश भारतवर्ष के नामसे प्रसिद्ध था और हमारे पूर्वज उसके प्रत्येक भाग से परिचित थे। महाकवि कालिदास के ग्रन्थों में नदियों, पहाड़ों तथा विभिन्न देशों का जो वर्णन मिलता है उससे यह विदित होता है कि उन्हें सारे देश तथा उसकी प्राकृतिक अवस्था का ज्ञान था। भारत के विभिन्न भागों में अशोक के जो आज्ञापत्र, उपलब्ध हुए हैं, उनसे यह प्रकट होता है, कि सम्पूर्ण देश एक समझा जाता था और उसके करद राज्यों में एक ही साथ उत्तर के कम्बोज तथा दक्षिण के चोल, आन्ध्र और पुलिन लोगों के देशों का उल्लेख है। अतीतकाल में धर्म ने इस एकता में योग दिया। पुराणों में उल्लिखित निम्न-लिखित प्रार्थना सारे भारत में अब तक कही जाती है।

गंगे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति।
नर्मदे सिन्धु कावेरी जलेऽस्मिन् सन्निधि कुरु॥

शंकराचार्य के चारों मठ देश के चारों कोनों में स्थापित किये गये थे। इससे यात्री को सब दिशाओं में देश के विपुल विस्तार का ज्ञान हो जाता है।

बद्रीनाथ, द्वारका, रामेश्वरम् तथा जगन्नाथ आदि पवित्रतम तीर्थस्थानों के अन्तर्गत प्रायः सारा देश आ जाता है। हमारे धर्म ग्रन्थों में इन तीर्थों का जाकर दर्शन करना पवित्र कर्तव्य बतलाया गया है।

इसी प्रकार राजनीतिक एकता का भाव भी प्राचीन भारत में अज्ञात नहीं था। यद्यपि देश में अनेक राज्य थे तो भी सार्वभौमिकता का भाव विद्यमान था। गुप्त राजाओं की उपाधियों से प्रकट होता है कि बहुसंख्यक राजा और सरदार उनकी प्रभुता को स्वीकार करते थे। लेखों में उन्हें 'महाराजाधिराज' कहा गया है। महाराजाधिराज वह है जिसका राज्य देश के चारों कोनों तक विस्तृत हो। बौद्धकाल में सम्पूर्ण देश एक समझा जाता था। अशोक के समय में भी यही बात थी। आवश्यक मामलों में सारे देश के हिन्दू आज भी एक ही तरह का आचरण करते हैं। उनके उपवास उत्सव और धार्मिक तथा सामाजिक रीति-रवाज यह सिद्ध करते हैं कि सब एक ही हैं। उनमें बड़ी एकता है। मध्ययुग में मुसलमानों ने एकता के भाव को बढ़ाया। अक-बर, शाहजहाँ तथा औरंगजेब ने सारे देश को जीतकर उसके सभी भागों में एक ही प्रकार की शासन-प्रणाली स्थापित करने की चेष्टा की। उन्होंने सारे देश को एक समझा और उसके विभिन्न भागों को अपने अधिकार में लाने की चेष्टा की।

इतिहास के काल—भारत का इतिहास तीन कालों में विभक्त है—प्राचीनकाल, मध्यकाल तथा आधुनिक काल। प्राचीनकाल आदिम समय से

१२०० ई० तक, मध्यकाल १२०० ई० से लेकर १७६१ ई० तक और आधुनिक-काल ब्रिटिश शासन की स्थापना से आज तक माना जाता है।

इतिहास के साधन—प्राचीन भारत के इतिहास के लिए हमारे पास ये साधन हैं—साहित्य, पुरातत्त्व के स्मारक-चिह्न, मुद्रा, लेख तथा विदेशियों के यात्रा-विवरण। वैदिक साहित्य, रामायण, महाभारत, जातक तथा बहुसंख्यक साहित्यिक ग्रन्थों में हमें प्रारम्भिक काल से भारत का इतिहास लिखने के लिए बहुमूल्य सामग्री मिलती है। लेखों तथा मुद्राओं से हमें राजवंशों का कालक्रम निश्चित करने में सहायता प्राप्त होती है। प्राचीन नगरों का विवरण उपस्थित करने में स्मारकों के ध्वंसावशेष बड़ी मदद करते हैं। यूनानी तथा रोम के लेखकों के विवरण भी महत्त्वपूर्ण हैं किन्तु फाह्यान तथा ह्वेनसांग नामक चीनी यात्रियों के भ्रमण-वृत्तान्त अधिक मूल्यवान् हैं। इन दोनों यात्रियों ने देश की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक जीवन के सम्बन्ध में बहुत-सी बातें लिखी हैं।

मुसलमान बड़े इतिहास-लेखक थे। वे अनेक इतिहास, रोजनामचे पत्र और अन्य प्रकार के लिखित विवरण' छोड़ गये हैं जो उनका इतिहास लिखने में हमारी सहायता करते हैं। प्रायः सभी मुसलमान राजाओं के यहाँ सरकारी इतिहास-लेखक रहते थे। वे जिन घटनाओं को देखते थे उन्हें लिख लेते थे। उनकी लेखन-शैली बहुधा शब्दाडम्बरपूर्ण है और वे अपने आश्रय-दाताओं के कार्यों का बहुत अत्युक्तिपूर्ण वर्णन करते हैं। इतना होने पर भी उनका ऐतिहासिक मूल्य बहुत है। आईन-अकबरी जैसे सरकारी ग्रन्थों और कागजों में ऐसी बहुमूल्य बातों का उल्लेख है जिनसे हमें यह पता चलता है कि शासन का संचालन किस प्रकार होता था। मुसलमानकाल के लेख, मुद्राएँ तथा स्मारक ऐसी वस्तुएँ हैं जिन्हें देखकर आज भी हमारे मन में कौतूहल उत्पन्न होता है। उनकी सहायता से हमारा ऐतिहासिक ज्ञान और स्पष्ट हो जाता है। अलबेरूनी, इब्नबतूता, अब्दुर्रज्जाक, बर्नियर, टैवर्नियर तथा मनूची आदि विदेशी लेखकों के विवरण भारत और उसके निवासियों के सम्बन्ध में बहुमूल्य बातें बतलाते हैं।

ब्रिटिश काल के इतिहास के लिए हमारे पास प्रचुर सामग्री है। बहुत से सरकारी कागज, पत्र-पत्रिकाएँ, सरकारी रिपोर्ट और स्वतंत्र व्यक्तियों के लिखे हुए ग्रन्थादि मौजूद हैं जो आधुनिक भारत का इतिहास लिखने के लिए बहुत उपयोगी हैं।

———

यज्ञ में काम आनेवाले औज़ार
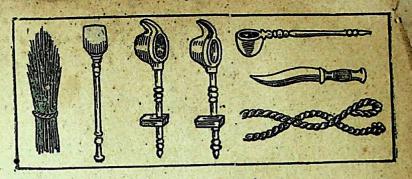
पत्थरों के समय के नये हथियार
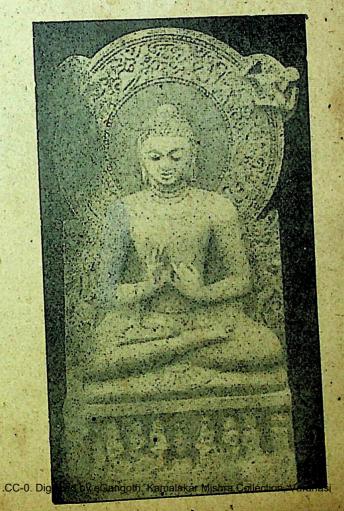
प्राचीन समय के पत्थरों के हथियार

कांच के कड़े

मोहर
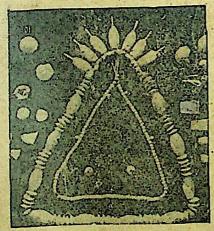
मोहिंजोदड़ो के सोने के जेवरात

554.
553.
351.
96.
317
326
H.14
H.27

मोहिंजोदड़ो का लिखने का ढंग

के साथ भी मेल करना पड़ा। उनके साथ उन्होंने विवाह आदि करना प्रारम्भ कर दिया और इस प्रकार दोनों खूब हिलमिल गये। सूर्य की तेज गरमी से धीरे-धीरे उनका रंग भी काला पड़ गया। आर्यों की भाँति वे अपने मुर्दों को जलाते नहीं थे बल्कि ताबूत में रखकर जमीन में गाड़ देते थे। इस प्रथा को वे शायद अपने साथ अपनी जन्मभूमि से लाये थे। जब तक उन्होंने आर्यों के धर्म को स्वीकार नहीं किया तब तक उस प्रथा को जारी रक्खा।

द्रविड़ लोगों ने यहाँ के आदिम निवासियों पर अपनी भाषा, धर्म तथा रहन-सहन की प्रभुता स्थापित कर दी। उत्तरी भारत के द्रविड़ लोग जो भाषा बोलते थे वह मध्य बिलोचिस्तान की आधुनिक भाषा ब्राह्मी से बहुत कुछ मिलती-जुलती थी। मध्यभारत के द्रविड़ लोग एक ऐसी भाषा बोलते थे जो आधुनिक तेलगू से मिलती थी। दक्षिण की प्रचलित भाषाएँ—तामिल, कनाड़ी तथा मलायलम सब—द्रविड़ भाषा की शाखाएँ हैं। द्रविड़ लोगों की सभ्यता का प्रभाव इतना अधिक पड़ा कि आदिम निवासियों ने अपनी मातृभाषा को छोड़ दिया और हर प्रकार से अपने विजेताओं के रीति-रवाज तथा रहन-सहन को अपना लिया। इसका परिणाम यह हुआ कि आज ऐसे लोग द्रविड़-भाषाओं को बोल रहे हैं जो उस जाति के नहीं हैं।

लौह-काल—इसके बाद एक दूसरी जाति के लोग पामीर पर्वत की ओर से आये। ये लोग लोहे के औजारों को इस्तेमाल करते थे और धीरे-धीरे महाराष्ट्र में फैल गये और मध्यप्रदेश के जंगलों में होकर बंगाल की ओर बढ़ गये। उनकी विजय थोड़े ही दिन की थी और उसका अधिक प्रभाव नहीं पड़ा। मेसोपोटामिया से सुमेर जाति के लोगों को सेमाइट जाति के लोगों ने निकाल दिया और इस प्रकार वहाँ द्रविड़ सभ्यता का अन्त हो गया। परन्तु भारत में द्रविड़ों ने अपने विजेताओं का सामना किया और बौद्ध-धर्म के उत्कर्ष के समय तक अपनी सभ्यता तथा संस्कृति की रक्षा की।

मोहेञ्जोदड़ो—अभी हाल में सिन्ध प्रदेश के लरकाना जिले में मोहेञ्जोदड़ो नामक स्थान पर खुदाई हुई है और उसमें बहुत-सी चीजें मिली हैं। इस खुदाई में जो कुछ मिला है उससे यह साफ जाहिर होता है कि सिन्धु नदी की घाटी में जो अनार्य लोग बसे थे उनकी सभ्यता उच्च कोटि की थी। जिस स्थान पर यह खुदाई हुई है वहाँ पर किसी समय एक विशाल नगर आबाद था। बड़े-बड़े सुन्दर मकानों, सार्वजनिक स्थानों, नालियों तथा स्नानागारों के खँडहर वहाँ पर पाये गये हैं।

इनके अतिरिक्त और भी बहुत-सी चीजें वहाँ मिली हैं। मनुष्यों और देवताओं की मूर्तियाँ, सोने तथा अन्य धातुओं के गहने, दैनिक व्यवहार के बहुत-से सामान और औजार खुदाई से निकले हैं। इन चीजों को देखने से

मालूम होता है कि वहाँ के लोग धातुओं और खनिज पदार्थों का उपयोग करना जानते थे, सुन्दर मकान बनाते थे, ऊनी और सूती कपड़े तैयार करते थे तथा पशुओं का पालन करते थे। मालूम होता है कि उस समय सिन्धु नदी की घाटी में अच्छी नस्ल के पशु अधिकता से होते थे। मुहरों पर इन पशुओं के जो सजीव चित्र खुदे हुए हैं उनसे यह बात प्रमाणित होती है।

लोगों का पहनावा बहुत सादा था। उच्च श्रेणी के पुरुष दो कपड़े पहनते थे। ऊपर एक शाल या दुपट्टा रहता था जो कि दाहने कन्धे के नीचे से होता हुआ बाएँ कन्धे और भुजाओं के ऊपर पड़ा रहता था। दूसरा वस्त्र कमर में पहनने के लिए होता था। पुरुष छोटी-छोटी दाढ़ियाँ और गल-गुच्छियाँ रखते थे और कभी-कभी मूछों को मुड़ा भी डालते थे। छोटी श्रेणी के पुरुष नंगे रहते थे और स्त्रियाँ केवल एक धोती पहनती थीं। गहने सब श्रेणियों के लोग पहनते थे। अँगूठी, हार तथा कान में बालियाँ स्त्री-पुरुष दोनों पहनते थे। हाथ में कंकण, पैर में कड़े तथा कमर में करधनी केवल स्त्रियाँ ही पहनती थीं। वे वृक्ष, दुर्गा तथा शिवलिंग की पूजा करते थे। मोहरों में खुदे हुए चित्रों से प्रतीत होता है कि वे पशुओं की भी पूजा करते थे। स्नान एक धार्मिक कृत्य समझा जाता था। स्नानागारों के निर्माण पर बहुत ध्यान दिया जाता था। वे लिखना भी जानते थे। मोहेन्जोदड़ो तथा हरप्पा दोनों स्थानों पर बहुत-सी ऐसी मुहरें पाई गई हैं जिन पर कुछ लेख भी मिलते हैं। ये लेख प्राचीन मिस्र के लेखों से मिलते-जुलते हैं।

यह ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता कि सिन्धु नदी की तलहटी में रहने-वाले लोग अपने मुर्दों को क्या करते थे। वे इस विषय में किसी खास रवाज को नहीं मानते थे। सम्भव है कि उनके यहाँ मुर्दों को गाड़ने तथा जलाने की दोनों प्रथाएँ प्रचलित रही हों।

इस प्रकार की सभ्यता को जन्म देनेवाले ये लोग द्रविड़ थे अथवा नहीं, यह भी एक विवाद-ग्रस्त विषय है। इतना निश्चय है कि बेबीलोनिया के सुमेरियन लोगों के साथ इसका सम्बन्ध था। विशेषज्ञों का कहना है कि मोहेन्जोदड़ों के खँडहर ई० पू० ३२५० के लगभग के हैं। जिस सभ्यता और संस्कृति के चिह्न वहाँ पर मिले हैं वह कई शताब्दियों तक जीवित रही होगी। खुदाई करने से ऐसी ही चीजें पंजाब के (मोंटगोमरी जिले में स्थित) हरप्पा तथा अन्य स्थानों में पाई गई हैं। सिन्धु और बिलोचिस्तान में भी ऐसी बहुत-सी चीजें मिली हैं। इससे मालूम होता है कि यह सभ्यता बहुत दूर तक विस्तृत थी। परन्तु भारत की अन्य जातियों की तरह इस जाति को भी आर्यों के हाथ से हार खानी पड़ी। आर्य लोग मध्य एशिया के पूर्व तथा दक्षिण की ओर फैलने लगे और पंजाब में घुस आये।

अध्याय २

आर्यों का आगमन—उनकी विजय और प्रसार

आर्य लोग—आर्यों की जन्मभूमि कहाँ पर थी, इस विषय में इतिहास के विद्वानों में बड़ा मतभेद है। कुछ विद्वानों का मत है कि वे डैन्यूब नदी के पास आस्ट्रिया-हंगरी के विस्तृत मैदानों में रहते थे। कुछ लोगों का विचार है कि उनका आदिम निवास-स्थान दक्षिण रूस में था। कतिपय विद्वान्, स्वर्गीय बाल गंगाधर तिलक की तरह, यह कहते हैं कि आर्यों का मूल-स्थान उत्तरी ध्रुव प्रदेश में था। बहुत-से विद्वानों की राय पहले यह थी कि वे मध्य एशिया के मैदानों में रहते थे। वहाँ से अन्य देशों में गये। कुछ ऐसे लोग भी हैं जिनका मत है कि आर्य लोग भारत के आदिम निवासी थे और यहीं से वे संसार के अन्य भागों में फैले थे।

कुछ भी हो, अधिकांश विद्वानों का मत है कि आर्य लोग मध्य एशिया के मैदानों में रहते थे। अपने पशुओं के लिए अच्छे चरागाहों की तलाश में वे लोग वहाँ से बाहर निकले। उनका डील-डौल ऊँचा, रंग गोरा और नाक लम्बी थी। वे एक घूमनेवाली जाति के लोग थे। उनकी भाषा लैटिन, यूनानी आदि प्राचीन यूरोपीय भाषाओं तथा आजकल की अँगरेजी, फ़्रांसीसी, रूसी तथा जर्मन भाषाओं से मिलती-जुलती थी। शब्दों के सादृश्य से प्रतीत होता है कि यूरोप और भारत के आधुनिक निवासियों के पूर्वज एक ही स्थान में रहते थे और वह स्थान कहीं पर मध्य एशिया में था।

एशिया में उनका उल्लेख सबसे पहले एक खुदे हुए लेख में पाया जाता है जो ई० पू० २५०० के लगभग का है। घोड़ों की सौदागरी करने के लिए वे मध्य एशिया से एशियाई कोचक में आये। यहाँ एशियाई कोचक तथा मेसोपोटामिया को जीतकर उन्होंने अपना राज्य स्थापित कर लिया। बेबीलोनिया के इतिहास में वे 'मिटन्नी' नाम से प्रसिद्ध हैं। उनके राजाओं के नाम आर्यों के नामों से मिलते-जुलते हैं जैसे 'दुशरत्त' (दुःक्षत्र) और 'सुवरदत्त' स्वर्दत्त)। बोग़ाज़ कोई (Boghas-Koi) में पाये हुए और तेल्-यल-अमर्ना (Tell-al-Amarna) के लेखों से यह सिद्ध होता है कि ये लोग भी आर्यों की भाँति सूर्य, वरुण, इन्द्र तथा मरुत् की पूजा करते थे। उनके देवताओं के 'शुरियस' और 'मरुत्तश' संस्कृत के शब्द सूर्य तथा मरुत् ही हैं। 'सिमलिया' भी हिमालय पर्वत है। मालूम होता है कि ई० पू० १५०० के लगभग मेसोपोटामिया की सभ्यता को नष्ट करनेवाले लोग उन्हीं आर्यों के पूर्वज थे जिन्होंने भारत के द्रविड़ों को पराजित किया और वेदों की रचना की।

फा० २

आर्यों की एक दूसरी शाखा फ़ारस के उपजाऊ मैदानों में जा बसी। उनका नाम इंडो-ईरानियन पड़ा। पहले इन दोनों-दलों में कोई स्पष्ट भेद नहीं था। वे एक ही देवताओं की पूजा करते थे। पूजा करने का ढंग भी उनका एक ही था। कुछ समय के बाद ईरानी दल बदल गया। उनके नामों में जो समानता रही वह भी धीरे-धीरे जाती रही। ई० पू० छठी शताब्दी के पहले ही उन्होंने अपने धर्म को बदल दिया और वे सूर्य और अग्नि की पूजा करने लगे।

आर्यों का बाहर जाना—आर्य लोग अपनी जन्म-भूमि को छोड़कर किसी निर्जन प्रदेश में नहीं गये; बल्कि वे ऐसे स्थानों में पहुँचे जहाँ लोग पहले से बसे हुए थे। ऐसी दशा में उन्हें पहले से बसे हुए लोगों के साथ लड़ना पड़ा। आर्य लोग आक्रमण करनेवाली सेना की तरह बहुत बड़ी संख्या में कभी अपने जन्म-स्थान से नहीं निकले। वे जत्थे बना-बनाकर कई गिरोहों में गये और बसने के पहले उन्हें हमेशा युद्ध करना पड़ा। कहीं-कहीं तो अनार्यों ने आर्यों की भाषा और संस्कृति ही नहीं वरन् उनके देवताओं तक को अपना लिया। परन्तु अधिकतर ऐसा हुआ कि उनकी ज़मीन और सम्पत्ति छीन ली गई और उन्हें आर्यों ने अपनी रिआया (प्रजा) बना लिया। आर्यों के बाहर निकलने का समय ठीक तौर पर निश्चित नहीं किया जा सकता। परन्तु विद्वानों का अनुमान है कि यह घटना ३००० ई० पू० से पहले की नहीं है।

पंजाब पर आर्यों की विजय—आर्य लोग अफ़ग़ानिस्तान और खैबर के दर्रे से होकर हिन्दुस्तान आये। ऋग्वेद में हमें इसका प्रमाण मिलता है। उसमें कुभा (काबुल), सुवस्तु (स्वात), क्रुमु (कुर्रम) और गोमती (गोमल) नदियों का उल्लेख मिलता है। इससे साफ़ मालूम होता है कि आर्यों का अधिकार अफ़ग़ानिस्तान पर था। अनार्यों पर अपनी प्रभुता स्थापित करने में उनको बहुत समय लगा। निस्सन्देह सैकड़ों वर्षों तक उनका युद्ध चलता रहा होगा। अन्त में आर्यों की विजय हुई और पंजाब में उनका पैर जम गया। वैदिक काल के भारतवासी पंजाब को सप्तसिन्धु* कहते थे। उनकी पहली बस्ती इस देश में थी और यहाँ वे अधिक काल तक रहे। जब आर्य लोग भारत में आये उस समय वे छोटे दलों में विभक्त थे। प्रत्येक दल का शासन करने के लिए एक सरदार अथवा राजा होता था। अपने बल के कारण ही उन्हें विजय प्राप्त हुई थी। वे सभ्य नहीं थे। उनका धर्म बिलकुल प्रारम्भिक अवस्था में

---

* ऋग्वेद में लिखित पंजाब की सात नदियों के नाम ये हैं—(१) सिन्धु (सिन्ध); (२) वितस्ता (झेलम); (३) असिकनी (चेनाब); (४) परुष्णी (रावी); (५) विपाक (व्यास); (६) शुतुद्री (सतलज) और (७) सरस्वती। इन नदियों में सरस्वती सबसे प्रसिद्ध थी और वह सतलज तथा यमुना के बीच में बहती थी।

था। प्रकृति की शक्तियों से वे डरते थे और उन्हीं की पूजा करते थे। वे व्यापार करना नहीं जानते थे। अदला-बदली से अपना काम चलाते थे। रुपये-पैसे के स्थान में गायों के द्वारा ही लेन-देन या क्रय-विक्रय का काम होता था। जन-समूह के सरदार का धन उसके पशु ही थे। आर्य अपने मुर्दों को जलाते थे और राख तथा हड्डियों को बर्तन में रखकर ज़मीन में गाड़ देते थे। प्रारम्भ में आर्यों के यहाँ वर्ण-व्यवस्था नहीं थी।

दस राजाओं का युद्ध—आर्य लोग अनेक दलों में विभक्त थे और अधिक समय तक वे एक दूसरे से पृथक् रहे। वैदिक साहित्य में इन दलों के नाम पाये जाते हैं और उन्हीं के नामों पर अफ़ग़ानिस्तान के अनेक ज़िलों के नाम पड़े हैं। ऋग्वेद में जिन दलों का वर्णन है उनमें अधिक प्रसिद्ध ये थे—भरत—जो उस देश में रहते थे जो पीछे से ब्रह्मावर्त के नाम से प्रसिद्ध हुआ। मत्स्य उस प्रदेश में थे जहाँ अब अलवर, जयपुर तथा भरतपुर राज्य हैं; अनुस और द्रुह्यु पंजाब में थे; तुर्वसु दक्षिण-पूर्व में, यदु पश्चिम में और पुरु सरस्वती नदी के चारों ओर के देश में बसे थे। अन्तिम पाँच दलों का उल्लेख ऋग्वेद में स्थान-स्थान पर पाया जाता है। पुरुदल के लोग बड़े बलशाली थे। इनके अतिरिक्त और भी अनेक दल थे जिनका वर्णन आगे किया जायगा। ये दल बहुधा परस्पर लड़ा करते थे। ऋग्वेद में लिखा है कि भरत-दल के त्रित्सु वंश का राजा सुदास था। उसने पंजाब पर अधिकार स्थापित करने के लिए उत्तर-पश्चिम के दस दलों के साथ युद्ध किया। भरत-दलवालों और दस दलों के युद्ध का कारण पुरोहित का निर्वाचन था। पहले कुशिक-वंश का राजा विश्वामित्र भरत-दल का पुरोहित था। उसके नेतृत्व में वे लोग सफलतापूर्वक अपने बैरियों से लड़े। किन्तु कुछ समय के बाद विश्वामित्र पुरोहित के पद से हटा दिया गया और उस पद के लिए वशिष्ठ-वंश का एक ब्राह्मण निर्वाचित किया गया। इस अपमान से क्रुद्ध होकर विश्वामित्र ने भरत लोगों से लड़ने के लिए पश्चिमी पंजाब के दस दलों का एक संघ बनाया। परुष्णी (रावी) नदी के तट पर युद्ध हुआ। सुदास राजा ने विश्वामित्र के संयुक्त दल को पराजित किया। अनेक सरदार और ६ हज़ार से अधिक योद्धा इस लड़ाई में मारे गये। इस विजय से भरतों की प्रतिष्ठा पंजाब में बढ़ गई। वे बड़े प्रभावशाली हो गये। पूर्व की ओर यमुना नदी तक उनके विस्तार को कोई रोकनेवाला नहीं रहा। किन्तु कुछ काल के पश्चात् उनकी शक्ति क्षीण हो गई और उनके स्थान में पुरु तथा कुरु लोग शक्तिशाली बन गये। अन्त में ये दोनों दल मिल कर एक हो गये। उनका नाम कुरु रक्खा गया। ये लोग पीछे संहिताओं और ब्राह्मण ग्रन्थों में वैदिक सभ्यता के मुख्य प्रचारक माने गये। धीरे-धीरे सारा पंजाब आर्यों के अधिकार में आ गया और आर्य-सभ्यता का केन्द्र बन गया। वहीं से आर्य-सभ्यता शेष उत्तरी भारत में फैली।

वैदिक काल में भारतवर्ष
कुभा न.
गोमती
वितस्ता न.
परुष्णी
सरस्वती
ब्रह्मावर्त
दृषद्वती
ब्रह्मर्षिदेश
सिन्धु
ब्रह्मपुत्र
गंगा न.
यमुना न.
म हा का न्ता र
गुजरात
नर्मदा
ताप्ती
द क्षि णा प थ
गोदावरी
कृष्णा
कावेरी
अ र ब
सा ग र
बं गा ल
की
खा ड़ी
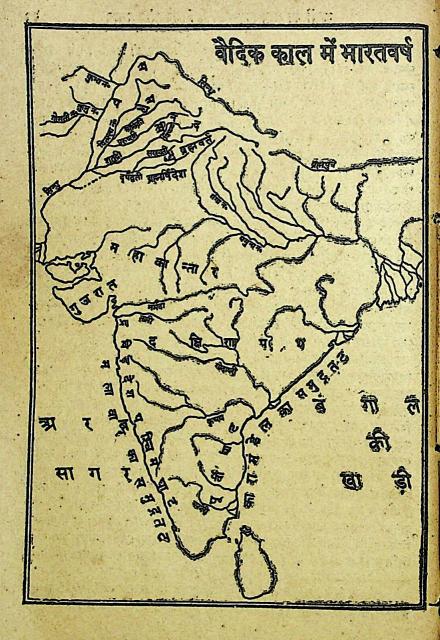
आर्यों में वर्ण-व्यवस्था—ज्यों ज्यों आर्यों का विस्तार बढ़ता गया उनका समाज, व्यवसायों के अनुसार, कई वर्णों में विभक्त हो गया। जब वे यहाँ स्थायी रूप से बस गये तब भी उन्हें जंगली जातियों और द्रविड़ों से लड़ना पड़ता था। आर्य उन्हें निषाद, दास, दस्यु, दैत्य, असुर अथवा राक्षस कहते थे। दास और आर्य लोगों में मुख्य भेद वर्ण अथवा रंग का था। निस्सन्देह काला रंग वर्ण-व्यवस्था का एक मुख्य कारण था। दूसरी बात यह थी कि जो व्यक्ति आर्यों के देवताओं को नहीं मानता था उसको वे घृणा की दृष्टि से देखते थे। जो लोग युद्ध में भाग लेते थे वे क्षात्र कहलाये। जो घर पर रहकर खेत जोतते बोते थे उनका नाम विस पड़ गया। पीछे से पुरोहितों का काम विस तथा क्षात्र लोगों के काम से अलग कर दिया गया। किन्तु इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि ऋग्वेद के समय में वर्ण जन्म से माने जाते थे। पुरोहित ब्राह्मण वर्ण ही का हो, यह आवश्यक नहीं था। किसी भी बुद्धिमान् तथा सच्चरित्र व्यक्ति को ब्राह्मण कह सकते थे। पुरोहित बड़े प्रभावशाली हो गये। उनका दावा था कि हम अपने जादू और मन्त्रों के प्रभाव से शत्रुओं को युद्ध में हरा सकते हैं। कुछ समय बीतने पर एक चौथा वर्ण बना; इसका नाम शूद्र पड़ा। इसमें वे लोग थे जिन्हें दास समझकर आर्य उनसे घृणा करते थे। परन्तु बाद को उनकी उपयोगिता स्वीकार कर ली गई और वे समाज के कारीगर तथा मजदूर बन गये। उन्हें कुछ अधिकार दिये गये और क्षात्र वर्ण के लोग उनके सुख का ध्यान रखने लगे।

आर्यों का विस्तार—भारतीय आर्यों ने यहाँ के मूल-निवासियों के साथ विवाह किया और अनेक विदेशी जातियों को अपने समाज में मिला लिया। इस प्रकार अनेक दलों के मिला लेने से उनकी शक्ति बढ़ गई और वे पूर्व तथा दक्षिण की ओर फैलने लगे। धीरे-धीरे वे उस प्रदेश में भी आकर बस गये जिसे आजकल संयुक्तप्रान्त कहते हैं। उत्तर वैदिक काल में मध्य देश* में कई बड़े राज्य स्थापित हुए। इनमें प्रसिद्ध राज्य ये हैं—थानेश्वर में कुरु राज्य; पाञ्चाल राज्य रुहेलखण्ड तथा दोआब के भीतरी भाग में; मत्स्य राज्य जयपुर तथा अलवर में; कोशल का राज्य अवध में; काशी बनारस में; तथा विदेह राज्य आधुनिक मिथिला और दरभंगा के ज़िलों में। सरस्वती और दृशद्वती (चौतङ्ग) के बीच का भू-भाग ब्रह्मावर्त्त अथवा कुरुक्षेत्र के नाम से प्रसिद्ध हुआ। पश्चिमी भारत में भी आर्यों का प्रभाव पहुँचा। हमें इस बात का उल्लेख मिलता है कि मालवा, सौराष्ट्र तथा सिन्धु नदी की तलहटी के राजा आर्यों की धार्मिक क्रियाओं का अनुसरण करते थे। बिहार और बंगाल का दक्षिण-पूर्व का

---

* मध्य देश उत्तर में सरस्वती से लेकर पूर्व में प्रयाग तथा बिहार के कुछ भाग तक फैला हुआ था।

भाग बहुत दिनों तक आर्यों की सभ्यता से बाहर रहा। किन्तु यहाँ के आदिम निवासियों को भी उनकी प्रभुता स्वीकार करनी पड़ी। आर्य लोगों ने यहाँ अङ्ग (बिहार), बङ्ग (बंगाल); पुण्ड (उत्तर बंगाल); सुह्म (दक्षिण बंगाल) और कलिङ्ग के राज्य स्थापित किये। दक्षिण भारत अथवा दक्षिणापथ में विजयी आर्य सबसे अन्त में पहुँचे। उत्तर वैदिक-काल में उन्होंने विन्ध्यपर्वत को पार कर उस देश में प्रवेश किया। वहाँ पहुँचकर उन्होंने अपनी बस्तियाँ बनाईं और फिर कुछ समय के बाद शक्तिशाली राज्यों की नींव डाली। दक्षिण भारत का अधिक भाग इस समय भी जंगलों से ढका हुआ था और उसमें जंगली जातियाँ निवास करती थीं। रामायण से हमें यह ज्ञात होता है कि इस भाग में आर्य-सभ्यता फैलाने का उद्योग किया गया। इन प्रदेशों को जीतने में आर्यों को अनार्य लोगों के सम्पर्क में आना पड़ा। परस्पर विवाह होने लगे और इसके फल-स्वरूप एक नई सभ्यता का जन्म हुआ। इस नवीन सभ्यता में अनार्य लोगों की सभ्यता के चिह्न भी मौजूद थे। द्रविड़ लोगों ने धीरे-धीरे आर्यों के नाम, रीति-रवाज तथा धर्म को स्वीकार कर लिया। आर्य पुरोहितों ने भी उनके कुछ देवताओं को अपनाया। वर्ण-व्यवस्था की जटिलता कुछ कम हो गई और धीरे-धीरे कई नई जातियाँ बन गईं।

भारत की जन-संख्या—भारत में कोई ऐसी जाति नहीं आई जो फिर अपने मूल-स्थान को लौटकर वापस गई हो। यही कारण है कि यहाँ की जन-संख्या में कई तरह के लोग सम्मिलित हैं। पहले कह चुके हैं कि बिहार, उड़ीसा तथा बंगाल के भील एवं संथाल और सुदूर दक्षिण के तामिल तथा तेलगू उन जातियों के वंशज हैं जो आर्यों के आने के पहले यहाँ बसी हुई थीं। पंजाब और काश्मीर में आर्यों का रक्त अधिक मात्रा में है। इसके विपरीत बंगाल तथा दक्षिण भारत में उसका एकदम अभाव-सा है। बंगाल के उत्तर-पूर्वी भाग तथा आसाम के लोगों में मंगोल जाति का रक्त दिखाई पड़ता है। इससे जान पड़ता है कि प्राचीन काल में वहाँ मंगोल जाति के लोग रहते थे।

यूनानी, शक, कुशान तथा हूण लोगों का हाल, जिन्होंने ई० पू० दूसरी शताब्दी से भारत में आना आरम्भ किया, हम आगे पढ़ेंगे। हिन्दू-संस्कृति पर उनका अधिक प्रभाव नहीं पड़ा; बल्कि इसके विपरीत वे स्वयं थोड़े ही काल में भारतीय बन गये। आठवीं शताब्दी में धार्मिक अत्याचार से बचने के लिए बहुत-से ईरानी अपना देश छोड़कर यहाँ आये और बंबई तथा गुजरात में बस गये। ये लोग पारसी कहलाते हैं और अधिकांश धनाढ्य तथा सम्पत्तिशाली हैं। ये जरथुस्त्र के धर्म को मानते हैं और अग्नि की पूजा करते हैं।

अध्याय २

वैदिक काल की सभ्यता और संस्कृति

वेदों की प्राचीनता—वेद भारतीय आर्यों के सबसे प्राचीन ग्रंथ हैं। अधिकांश हिन्दुओं की धारणा है कि वेद सृष्टि के आदि से वर्त्तमान हैं और ब्रह्मा के द्वारा कहे गये हैं। वेद का अर्थ है 'ज्ञान'। क़ुरान और बाइबिल की तरह वेद कोई एक ग्रंथ नहीं है। यह अनेक शताब्दियों में रचे हुए साहित्य का एक सामूहिक नाम है। यूरोपीय विद्वानों का मत है कि वेदों के कुछ भाग ऐसे हैं जिन्हें आर्यों ने उस समय रचा था जब कि वे अलग-अलग नहीं हुए थे। परन्तु इसका कोई प्रमाण नहीं है। वेदों की रचना भारतवर्ष में ही हुई और पाश्चात्य विद्वानों की राय है कि ई० पू० ८०० के लगभग तक समस्त वैदिक साहित्य समाप्त हो गया था।

वैदिक साहित्य—वेद चार हैं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। प्रत्येक वेद के तीन भाग हैं—(१) संहिता जिसमें वैदिक ऋचाओं का संकलन है। (२) ब्राह्मण-ग्रन्थ—ये गद्य में हैं और इनमें कर्मकाण्ड की विधियों तथा नियमों का वर्णन है। इनमें ऋचाओं की टीका की गई है। ब्राह्मणों में हमें भारतीय आर्यों के उपनिवेशों के विस्तार का प्रमाण मिलता है। उनसे हमें यह भी ज्ञात होता है कि भारतीय आर्यों की सभ्यता धीरे-धीरे गंगा और यमुना की तलहटी में होती हुई बनारस तक फैल गई थी। (३) आरण्यक और उपनिषद् दार्शनिक ग्रंथ हैं। इनके अनुसार सारी सृष्टि उस महान् सत्ता अर्थात् ईश्वर का ही रूप है जो प्रत्येक परमाणु में मौजूद है। 'अरण्य' शब्द का अर्थ वन है। आरण्यक इतने पवित्र माने गये हैं कि वे वनों में ही पढ़े जा सकते हैं। उपनिषदों की भाषा साफ़ और शैली सरल है। सारे संसार में उनका बड़ा सम्मान है। जर्मनी के प्रसिद्ध दार्शनिक शापेनहावर ने उनके सम्बन्ध में लिखा है कि "उपनिषदों का अध्ययन जितना हितकारी और आत्मा को ऊँचा उठानेवाला है उतना दूसरे ग्रंथों का नहीं। उनसे मुझे अपने जीवन में शान्ति मिली है और अन्तकाल में भी मुझे उन्हीं के द्वारा शान्ति मिलेगी।" उपनिषदों के पढ़ने से प्रतीत होता है कि जिस समय उनकी रचना हुई, भारतीय आर्यों ने अपनी सभ्यता में बहुत उन्नति कर ली थी और उनके पुरोहितों ने अपने पूर्वजों के धर्म में अदल-बदल करना प्रारम्भ कर दिया था। वैदिक ऋचाओं की रचना वशिष्ठ, विश्वामित्र, जमदग्नि, अत्रि, अगस्त्य आदि ऋषियों द्वारा हुई। साधारणतः हिन्दुओं की यह धारणा है कि वेद ईश्वरोक्त हैं। किसी अलौकिक

शक्ति के प्रकाश से इनका ज्ञान ऋषियों को हुआ। इसी लिए वेदों को श्रुति भी कहते हैं। श्रुति का अर्थ है 'सुना हुआ'।

संहिता—ऋग्वेद संहिता वैदिक साहित्य का सबसे प्राचीन भाग है। इसमें कुल १०२८ सूक्त हैं और प्रत्येक सूक्त में अनेक मन्त्र हैं। ये सूक्त विविध देवताओं को प्रसन्न करने के लिए उन्हीं को सम्बोधित करके लिखे गये हैं। संहिता दस मण्डलों में विभक्त है। यजुर्वेद संहिता में बहुत से मन्त्र ऋग्वेद के हैं। इसके अतिरिक्त यज्ञों की विधियाँ बताने के लिए इनमें अनेक गद्यांश भी हैं। सामवेद संहिता ऐसे मंत्रों का संग्रह है जिन्हें सोमयज्ञ के अवसर पर पुरोहित लोग गाते थे। ये मंत्र ऋग्वेद से ही लिये गये हैं और केवल इनका क्रम बदल दिया गया है। यद्यपि साहित्यिक दृष्टिकोण से इनका मूल्य बहुत ही कम है तथापि भारतीय संगीत के इतिहास के लिए ये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। इनसे यज्ञ की विधियों पर भी काफ़ी प्रकाश पड़ता है। अथर्ववेद संहिता में कुछ मंत्र ऋग्वेद के हैं और कुछ सामवेद के। इसमें गद्य और पद्य दोनों का सम्मिश्रण है। इसमें उन मंत्रों और जादू का वर्णन है जिनके द्वारा दैत्यों और शत्रुओं का सर्वनाश किया जा सकता था और सफलता तथा समृद्धि की प्राप्ति हो सकती थी। बहुत काल तक इसको लोगों ने वैदिक साहित्य में स्थान नहीं दिया और अभी तक भी इसका पूर्ण रूप से अध्ययन नहीं किया गया है।

वेदों का समय—वेदों में ऋग्वेद सबसे प्राचीन है। किन्तु यह बताना असम्भव है कि इसकी रचना किस समय हुई। इसके प्रारम्भिक भाग ई० पू० २५०० के क़रीब के रचे हुए मालूम होते हैं, यद्यपि कुछ अंश ऐसे भी हैं जो ई० पू० ८०० के हो सकते हैं। अन्य वेद ई० पू० १५०० से लेकर ई० पू० ८०० के बीच में रचे गये होंगे। इस दीर्घकाल में धर्म और समाज में बहुत से परिवर्तन हुए। इसलिए वैदिक काल के प्रारम्भिक भाग के विषय में जो बात सत्य है वह उत्तरकाल के लिए ठीक नहीं मानी जा सकती। यह आवश्यक नहीं है कि पूर्व वैदिक काल में जो रीति-रवाज प्रचलित थे वे उत्तर वैदिक काल में भी प्रचलित रहे हों।

सामाजिक संगठन—वैदिक काल में समाज का संगठन प्रारम्भिक अवस्था में था। भिन्न भिन्न वंश तथा जन देश में स्थिर रूप से बस गये और उन्होंने खानाबदोशों की तरह घूमना-फिरना छोड़ दिया। सामाजिक संगठन का आधार संयुक्त परिवार था। बहुत-से परिवारों को मिलाकर कुटुम्ब बनता था। कुटुम्बों के समूह को 'ग्राम' और ग्रामों के समूह को 'विस' कहते थे। कई विसों के संयोग से 'जन' बनता था और प्रत्येक 'जन' का एक राजा होता था। जन कई श्रेणियों में विभक्त थे जिनमें से मुख्य ब्राह्मण, क्षात्र और विस थे। इन जातियों में परस्पर कोई विभिन्नता न थी। ब्राह्मण-क्षत्रिय और क्षत्रिय-ब्राह्मण हो सकता

था। आर्यों की विजय के बाद समाज में 'दस्यु' नामक एक चौथी जाति बन गई। दस्यु लोग जंगली नहीं थे। वे नगरों में रहते थे। गाय, घोड़े और रथ ही उनकी सम्पत्ति थे। उनके पास क़िले थे। शासन करने के लिए उनके यहाँ राजा होते थे जिनमें से कुछ बड़े शक्तिशाली थे। आर्यों की भाँति वे युद्ध करते थे और उनके पास वैसे ही हथियार थे। कालान्तर में उनमें से कुछ लोग आर्यों के साथ मिल-जुल गये और उन्होंने उनकी सभ्यता ग्रहण कर ली।

वैदिक धर्म—पूर्व वैदिक काल का धर्म अत्यन्त सरल था। आर्य लोग धन-धान्य और पशुओं की प्राप्ति के लिए देवताओं की स्तुति करते थे और यज्ञ करते थे। देवता संख्या में तेंतीस थे जिनमें से मुख्य वरुण, सविता (सूर्य), वायु, अश्विन (दैवी चिकित्सक), मरुत्, इन्द्र, अग्नि और सोम थे। सोम एक पौधा होता था जिसका रस पवित्र अवसरों पर पिया जाता था। उषा की भी उपासना की जाती थी। इस काल में यही एक देवी थी। न तो मूर्त्तिपूजा का प्रचार था और न कोई मन्दिर थे। स्तुति और यज्ञ पर बड़ा ज़ोर दिया जाता था। देवताओं को प्रसन्न करने के लिए खाने-पीने की चीज़ों का भोग और पशुओं का बलिदान किया जाता था। लोगों का विश्वास था कि यज्ञ न किये जायँगे तो न दिन होगा न रात होगी, न फ़सल तैयार होगी और न पानी बरसेगा। यज्ञ के बिना इन सब चीज़ों के देने की शक्ति देवताओं में न रहेगी।

देवताओं की कल्पना मनुष्य के रूप में की गई है। वे दयालु और उदार होते हैं। वे साधु अथवा धर्मात्मा पुरुषों की रक्षा करते और पापियों को दण्ड देते हैं। इन्द्र और मरुत् की तरह उनमें से कुछ तो योद्धाओं के रूप में हमारे सामने आते हैं और कुछ अग्नि और बृहस्पति की भाँति पुरोहित के रूप में। वे सब स्वर्गीय रथों में चलते हैं जिनको प्रायः दो घोड़े खींचते हैं। उनका भोजन मनुष्यों का-सा है। वे सोम-रस का पान करते हैं और स्वर्ग में बड़े आनन्द के साथ अपना जीवन व्यतीत करते हैं। ऋग्वेद के देवता मनुष्यों को भोजन देते हैं। वे पाप का नाश करते हैं और मनुष्य की कामनाओं को पूरी करते हैं। उनमें अनेक दैवी गुण हैं, जैसे—ज्ञान, प्रतिभा और परोपकार। उनकी सन्तुष्टि के लिए ही स्तुतियों द्वारा उनका गुणानुवाद किया जाता था।

उत्तर वैदिक काल में धर्म में अनेक परिवर्तन हुए। देवताओं की संख्या बढ़ गई और यज्ञों की अपेक्षा उनका महत्त्व कम हो गया। यज्ञों ने बड़ा जटिल रूप धारण कर लिया। महत्त्व और स्वरूप के अनुसार उनके कई भेद हो गये। यज्ञों को ठीक प्रकार से करने के लिए ब्राह्मण-ग्रंथों में सविस्तर नियम बनाये गये। इन नियमों का ज़रा-सा भी उल्लंघन पाप समझा जाता था।

ऋग्वेद के अन्तिम मण्डल में हमें ईश्वर की भावना का आभास मिलता है। उसमें लिखा है कि सारे जगत् की आत्मा एक है जो प्रकृति तथा देवताओं में निवास

करती है और अन्य सब देवताओं से बढ़कर है। इस भावना का पूर्ण विकास उपनिषदों में मिलता है। कर्मकाण्डियों को इन सब बातों से कुछ मतलब न था। वे केवल अपने यज्ञों से ही सन्तुष्ट थे।

शासन-पद्धति—ऋग्वेद के समय के लोग कई जन-समूहों में विभक्त थे। प्रत्येक जन-समुदाय का एक राजा होता था। कभी-कभी राजा का चुनाव होता था, परन्तु बहुधा राजगद्दी का हक़ राजकुल में ही रहता था। युद्ध में राजा अपने 'जन' का नेता होता था। मुक़दमों का फ़ैसला भी वही करता था। राज्याभिषेक के समय उसे प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी कि मैं प्रजा के साथ दया का बर्ताव करूँगा। बड़े-बड़े मामलों में राजा को परामर्श देने के लिए 'सभा' और 'समिति' नाम की दो परिषदें थीं। ऐसा मालूम पड़ता है कि आवश्यकता पड़ने पर इन्हीं परिषदों द्वारा राजा का निर्वाचन भी होता था। राज्य की आमदनी के दो मुख्य ज़रिये थे—एक तो पराजित जातियों से वसूल होनेवाला कर और दूसरा प्रजा की भेंट। इनके अतिरिक्त आय के और भी ज़रिये थे जैसे युद्ध के समय लूटा हुआ माल, ज़मीन और ग़ुलाम। फ़ौजदारी के मामलों को राजा ही तय करता था। क़ानून कठोर था और छोटे-छोटे अपराधों के लिए कठिन दण्ड दिया जाता था। ब्राह्मण की हत्या करना भारी अपराध समझा जाता था। विश्वासघात करनेवालों को फाँसी की सजा दी जाती थी। चोरी करते हुए पकड़ा जाने पर चोर सूली पर लटका दिया जाता था। राजा दीवानी के मामलों का भी फ़ैसला करता था। इस कार्य में जन-समूह के बड़े-बूढ़े लोग उसकी सहायता करते थे।

स्थानीय शासन की पद्धति सरल थी। गाँव का मुखिया 'ग्रामणी' कहलाता था। उसे राजा नियुक्त करता था और कभी-कभी उसका पद मौरूसी भी होता था। भूमि के क्रय-विक्रय का किसी को अधिकार नहीं था। केवल चल-सम्पत्ति ही दूसरे को दी जा सकती थी। ऋण लेने की प्रथा थी, पर यह नहीं कहा जा सकता कि सूद की दर क्या थी। ऋण के नियम कठिन थे। कभी-कभी ऋणी मनुष्य ग़ुलाम बनाकर बेच दिये जाते थे।

सैनिक संगठन—सेना का प्रबन्ध साधारण और पुराने ढंग का था। राजा और उसके सरदार रथों पर चढ़कर युद्ध करते थे और साधारण लोग पैदल। तीर, कमान और भाले ही इस समय के मुख्य हथियार थे। तलवारों का प्रयोग नहीं होता था। पैदल सैनिक कवच नहीं पहनते थे। परन्तु योधा लोग पहनते थे। युद्ध में घोड़ों से काम नहीं लिया जाता था। इसका कारण यह था कि घोड़े पर से धनुष-बाण चलाने में दिक़्क़त होती थी।

आर्थिक स्थिति—खेती लोगों का प्रधान व्यवसाय था और उनके पशु ही उनकी सम्पत्ति थे। गेहूँ और जौ ख़ास फ़सलें थीं। खेती का तरीक़ा प्रायः आजकल का सा ही था। हल को खींचने के लिए दो बैल होते थे जो कि रस्सी

या तस्मे से जुए में बँधे रहते थे। हल का फल लोहे का होता था। सिंचाई के लिए काफ़ी सुविधाएँ थीं। कुओं और नहरों से खेत सींचे जाते थे। अथर्ववेद में अनेक ऐसे मन्त्र दिये गये हैं, जिनके द्वारा फ़सल को नष्ट करनेवाले कीड़े और दैत्य भगाये जा सकते थे। इनके साथ-साथ ऐसे भी मन्त्र हैं जिनके प्रयोग से सूखा अथवा अतिवृष्टि से किसान बच सकते थे। कुछ लोग सूत कातना, कपड़ा बुनना, मिट्टी के बर्तन तैयार करना, चमड़े को कमाना, बढ़ई, लोहार या सोनार का काम करना आदि व्यवसाय करते थे। स्त्रियाँ भी कपड़ा बुनना जानती थीं। दूल्हे के जामे के कपड़े को स्वयं दुलहिन ही बुनती थी। पीछे से इन व्यवसायों की इतनी उन्नति हुई कि विभिन्न श्रेणियों के कारीगरों ने अपने अलग-अलग संघ बना लिये। प्रत्येक संघ का एक शासक होता था। व्यापार अदला-बदली से होता था। सम्भव है कि किसी प्रकार का सिक्का भी उस समय प्रचलित रहा हो।

विवाह—आर्यों ने अपने कौटुम्बिक तथा सामाजिक जीवन में भी काफ़ी उन्नति की थी। साधारणतः पुरुष एक स्त्री के साथ विवाह करता था। स्त्रियों का आचरण पवित्र होता था। उस समय बाल-विवाह की प्रथा नहीं थी। स्त्री-पुरुषों को यह निर्णय करने की स्वतन्त्रता थी कि वे किसके साथ अपना विवाह करें। विवाह में वर्ण का कोई बन्धन नहीं था। ब्राह्मण अपने से छोटे वर्ण के साथ विवाह कर सकते थे, यद्यपि बाद को शूद्र-स्त्री के साथ विवाह करना अनुचित समझा जाने लगा। इस बात का हमें कोई प्रमाण नहीं मिलता कि विधवा-विवाह की प्रथा सर्व-साधारण में प्रचलित थी या नहीं। विवाह एक धार्मिक कृत्य समझा जाता था और सदाचार पर बहुत ज़ोर दिया जाता था। लड़की बेचना बुरा समझा जाता था। दहेज उसी दशा में दिया जाता था जब कि लड़की के शरीर में कोई दोष होता था।

भोजन, पान, पोशाक तथा आमोद-प्रमोद—वैदिक काल के लोग रोटी, तरकारी और फल खाते थे। वे दूध और घी को भी काम में लाते थे। मांस खाने का भी रवाज था परन्तु कुछ अवसरों पर उसे बुरा समझा जाता था और शराब के समान घृणित माना जाता था। आर्य सोमरस का पान करते थे। यह एक प्रकार के पौधे से निकाला जाता था और यज्ञ के समय काम में लाया जाता था। सुरा अर्थात् शराब इससे भिन्न थी। यह अनाज से बनाई जाती थी। यह बड़ी नशीली होती थी और पुरोहित लोग इसे बुरी समझते थे। लोगों की पोशाक सादी थी। पगड़ी के अतिरिक्त उनके पहनने के तीन और कपड़े होते थे। कभी-कभी कपड़ों पर सोने का काम होता था। सोने का हार, कर्णफूल, हाथ-पैर के कड़े आदि जेवर, स्त्री-पुरुष दोनों पहनते थे। पुरुष अपने बालों में तेल लगाते थे और कंघी से काढ़ते थे। स्त्रियाँ माँग काढ़ती थीं। बाल बनाने की रीति प्रचलित थी परन्तु बहुधा लोग दाढ़ी रखते थे। आर्यों का जीवन आनन्द-

मय था। नाचने-गाने का रवाज था। शिकार करना और रथ दौड़ाना उनके मनोविनोद के मुख्य साधन थे। जुआ खेलना बुरा नहीं समझा जाता था। परन्तु यदि लड़के जुआ खेलते समय पकड़े जाते तो उन्हें दण्ड दिया जाता था। घूसेबाज़ी की प्रथा थी और नट अपनी कलाओं से लोगों का चित्त प्रसन्न करते थे।

स्त्रियों की स्थिति—स्त्रियों को काफ़ी स्वतंत्रता थी। कुटुम्ब और समाज में स्त्री की बड़ा आदरणीय स्थान प्राप्त था। स्त्रियाँ अपने पतियों के साथ यज्ञों में भाग लेती थीं। पर्दे का रवाज नहीं था। लड़कियों को भी अच्छी शिक्षा दी जाती थी। कुछ स्त्रियों ने ऋषियों का पद प्राप्त किया और वेद की ऋचाओं की रचना की। अच्छी स्त्रियाँ प्रातःकाल उठती थीं और दही को मथकर मक्खन निकालती थीं। लड़कियाँ काम करने में अपनी माँ का हाथ बँटाती थीं और कुओं से जल भरकर लाती थीं। स्त्रियाँ बड़ी साध्वी और पतिव्रता होती थीं। वे अपने पति की सेवा करती थीं। जो स्त्री घर के प्रत्येक व्यक्ति के आराम का ख़याल रखती थी और घर को सुख तथा आनन्द का स्थान बनाती थी उसका अधिक आदर होता था। ऐसा मालूम होता है कि सती की प्रथा उस समय प्रचलित थी। कभी-कभी पति की मृत्यु पर विधवा स्त्री स्वयं जलकर अपने प्राण त्याग देती थी अथवा उसके सम्बन्धी उसे जीते-जी जला डालते थे। यह प्रथा क्षत्रियों में थी। अन्य जाति की विधवायें इस प्रकार मरने की अपेक्षा जीवित रहना पसन्द करती थीं। पुत्र पाने की इच्छा लोगों में प्रबल थी। लड़की पैदा होने पर खुशी नहीं मनाई जाती थी।

विद्यार्थी जीवन—जिस बालक को आगे चल कर पुरोहित बनना होता था उसे अपने विद्यार्थी-जीवन में ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करना पड़ता था। अन्य वर्णों के बालक भी ऐसा ही करते थे। उसके लिए गुरु दूसरी माता के समान था और उस पर बड़ी कृपा रखता था। गुरु के घर रहकर विद्यार्थी प्राचीन ग्रन्थों का अध्ययन करता था। गुरु पाठ को सुनाता था और विद्यार्थी उसको फिर दुहराते थे। सारी विद्याएँ इसी प्रकार ज़बानी पढ़ाई जाती थी। शिक्षा की यही प्रणाली कई शताब्दियों तक जारी रही।

वर्ण-व्यवस्था—पहले आर्यों में तीन वर्ण थे—ब्राह्मण, राजन्य (क्षत्रिय) और विस अर्थात् वैश्य। जैसे जैसे आर्य लोग देश में इधर-उधर फैलने लगे, उनके सामाजिक संगठन में परिवर्तन होने लगा। अनार्य लोगों के धीरे-धीरे समाज में मिल जाने से एक चौथा वर्ण बन गया जो शूद्र के नाम से प्रसिद्ध हुआ। जब यज्ञों और अनुष्ठानों की संख्या बढ़ गई तो कुछ ऐसे लोगों की आवश्यकता हुई जो इसी काम में अपना जीवन व्यतीत करते थे। ये ब्राह्मण कहलाने लगे। यज्ञ करना-कराना, विद्या पढ़ना-पढ़ाना और दान लेना इन्हीं का काम बन गया। शासन और युद्ध करनेवाले लोग क्षत्रिय कहलाये और उनकी

एक अलग जाति वन गई। अधिकांश आर्य खेती करते थे और दूसरे व्यवसायों में लगे रहते थे। ये वैश्य कहलाने लगे। अध्ययन में इनकी अधिक रुचि न थी। गाँव का मुखिया वनने की इनकी बड़ी अभिलाषा होती थी। इस पद पर राजा धनवान् वैश्यों को नियुक्त करता था। शूद्रों का कर्त्तव्य उच्च वर्णों की सेवा करना और व्यवसाय में योग देना निश्चित हुआ।

यद्यपि समाज वर्णों में विभक्त हो गया था परन्तु जाति-वन्धन कठिन नहीं था। कड़े नियम केवल उन लोगों के लिए थे जो किसी बड़े धार्मिक अनुष्ठान में तत्पर होते थे। धीरे-धीरे जाति जन्म और पेशों के अनुसार बनने लगी।

कालान्तर में अनेक जातियाँ वन गईं। जातियों के बन्धन भी दृढ़ हो गये। इन चार वर्णों के अतिरिक्त एक जाति अछूतों अर्थात् चाण्डालों की बन गई।

जाति की संस्था से भारत को बड़ी हानि पहुँची है। देश में एकता का अभाव इसी का परिणाम है। जो मनुष्य जिस जाति में उत्पन्न हुआ है वह उसी का पेशा करता है। इससे सामाजिक उन्नति में बड़ी रुकावट होती है। जाति के नियम कड़े होने के कारण लोग विदेशों में नहीं जा सकते। परन्तु आधुनिक शिक्षा के प्रभाव से जाति के बन्धन अब बहुत कुछ ढीले पड़ गये हैं। आर्यसमाज, ब्रह्म-समाज इत्यादि संस्थाओं ने भी इस मामले में प्रशंसनीय उद्योग किया है।

अध्याय ४

उत्तर वैदिक काल

वेदांग—छः वेदांग अर्थात् वेदों के भागों में निम्नलिखित छः विषय सम्मिलित हैं—

(१) शिक्षा (अर्थात् सूक्तों का शुद्ध उच्चारण)। (२) छन्द। (३) व्याकरण—पाणिनि का व्याकरण सर्वोत्तम है। पाणिनि का काल विद्वानों ने ई० पू० सातवीं शताब्दी निर्धारित किया है। (४) निघन्टु (वैदिक शब्दों का अर्थ)। (५) कल्प (कर्मकाण्ड)। (६) ज्योतिष। इनमें से कुछ सूत्रों के रूप में हैं और इतने सूक्ष्म हैं कि उनका आशय समझना भी अत्यन्त कठिन है। यह निश्चय करना असम्भव है कि सूत्रों की रचना किस काल में हुई। परन्तु स्थूल रूप से इतना कहा जा सकता है कि ईसा के पूर्व आठवीं और दूसरी शताब्दियों के बीच में ये रचे गये होंगे।

कल्पसूत्र तीन प्रकार के हैं—(१) गृह्यसूत्र, (२) श्रौतसूत्र, (३) धर्मसूत्र। सबसे प्राचीन सूत्रों की रचना उस समय हुई थी जिस समय बौद्ध धर्म का आवि-

र्भाव हुआ। वैदिक धर्म में जो सरलता थी उसमें बहुत परिवर्त्तन हो गया और कर्मकाण्ड का ज़ोर बढ़ा। ब्राह्मणों ने कुछ धार्मिक क्रियाओं का प्रचार किया और उनको अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बताया। गृह्यसूत्रों में छोटे-छोटे घरेलू यज्ञों का वर्णन है और जन्म से लेकर मृत्यु तक मनुष्य के जीवन का चित्र है। श्रौतसूत्रों में उन कर्मकाण्डों का वर्णन है जो बड़े-बड़े वैदिक यज्ञों के साथ किये जाते थे। वास्तव में इन सूत्रों से वैदिक यज्ञों के करने में बड़ी सहायता मिलती है।

धर्मसूत्रों में धार्मिक और सामाजिक जीवन का वर्णन है। उनमें दीवानी और फ़ौजदारी के क़ानून तथा विरासत के नियमों का उल्लेख है। इन सूत्रों के अनुसार प्रत्येक मनुष्य के जन्म से मृत्युपर्यन्त ४० संस्कार निर्धारित किये गये हैं। इनमें से कुछ अब तक हिन्दुओं में प्रचलित हैं।

यज्ञ का महत्त्व—सूत्रों में कई प्रकार के यज्ञों का उल्लेख है जिनमें राजसूय और अश्वमेध अधिक प्रसिद्ध हैं। राजसूय यज्ञ राज्याभिषेक के समय किया जाता था। इस यज्ञ के पूर्व एक वर्ष तक अनेक प्रकार के धार्मिक कृत्य किये जाते थे। अश्वमेध यज्ञ में एक घोड़ा १०० रक्षकों के साथ छोड़ दिया जाता था और यज्ञ करनेवाला राजा अन्य राजाओं को चुनौती देता था। साल भर तक घोड़ा घूमता फिरता था। साल के अन्त में जब वह वापस लाया जाता था तब राजा-रानी यज्ञ करते थे। इसके बाद पुरोहित राजा को अभिषिक्त करता था।

इनमें कोई सन्देह नहीं कि उपर्युक्त दोनों यज्ञ वे ही शक्तिशाली राजा करते थे जिनकी प्रभुता और पराक्रम को उनके समकालीन शासक स्वीकार करते थे। महाभारत तथा रामायण में इन दोनों प्रकार के यज्ञों का वर्णन है।

तपस्या—कुछ समय के बाद लोगों के मन में यह भाव पैदा हुआ कि मोक्ष पाने के लिए तप करना अथवा शारीरिक कष्ट सहना आवश्यक है। शरीर को कष्ट देना सर्वोत्कृष्ट धार्मिक कृत्य समझा गया। लोग जंगलों में चले जाते और वहाँ कठिन तप करते थे। धीरे-धीरे लोगों का दृष्टिकोण बदल गया और दैनिक जीवन में यज्ञ के स्थान पर तपस्या को महत्त्व दिया गया।

षट्दर्शन—एक ओर तो ऐसे लोग थे जिनका ख़याल था कि केवल तप के द्वारा ही परम आनन्द की प्राप्ति हो सकती है। परन्तु इनके साथ ही कुछ ऐसे भी थे जो कहते थे कि सच्चे ज्ञान से ही मोक्ष मिल सकता है। उन्होंने कर्मकाण्ड और तप को बुरा नहीं बताया परन्तु उनके महत्त्व को नहीं स्वीकार किया। उन्होंने कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड के भेद पर ज़ोर दिया और कहा कि जो ईश्वर को जानता है वह उसे केवल प्राप्त ही नहीं करता वरन् स्वयं उसके तुल्य हो जाता है।

षट्दर्शनों के नाम ये हैं—कपिल मुनि-रचित सांख्य-शास्त्र, पतञ्जलि का योगदर्शन, गौतम-रचित न्याय-दर्शन, कणाद मुनि का वैशेषिक-दर्शन, जैमिनि का पूर्व-मीमांसा और व्यास का उत्तर-मीमांसा।

षट्दर्शनों में जो विचार प्रकट किये गये हैं, वे उपनिषदों के बाद के हैं और उनकी अपेक्षा ऊँचे दर्जे के हैं।

चार आश्रम—किस प्रकार मनुष्य को अपना जीवन व्यतीत करना चाहिए—सूत्रों में इसके सविस्तार नियम दिये गये हैं। उपनयन के बाद जब बालक का यज्ञोपवीत संस्कार हो जाता था तब उसकी गिनती अपने वर्ण में होती थी और वह शिक्षा प्राप्त करने के लिए अपने गुरु के पास जाता था। विद्या पढ़ने में बहुधा उसके २४ वर्ष व्यतीत हो जाते थे। इसके बाद वह अपना विवाह करता था और गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था। गार्हस्थ्य जीवन में उसका कर्त्तव्य था कि ब्राह्मणों को दान दे, अतिथि-सत्कार करे और विद्यार्थियों का भी स्वयं भरण-पोषण करे। लगभग ५० वर्ष की अवस्था में वह संसार को त्याग कर जंगल में चला जाता था और वहाँ कंद-मूल-फल खाकर जीवन-निर्वाह करता था। जीवन के अन्तिम भाग में वह संन्यास धारण करता था और देश में भ्रमण करता था। इस समय वह भिक्षा माँगकर अपना निर्वाह करता था। जीवन की ये ही चार अवस्थाएँ ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, सन्यास आदि चार आश्रमों के नाम से प्रसिद्ध हैं।

समाज—धर्मसूत्रों में मनुष्य के सामाजिक जीवन का वर्णन है। उनमें ऐसे समाज का चित्र खींचा गया है जिसमें वैदिक काल की अपेक्षा वर्ण-व्यवस्था अधिक दृढ़ हो गई थी। सूत्रों का आदेश है कि किसी व्यक्ति को बिना संकट पड़े, अपना पैत्रिक व्यवसाय नहीं छोड़ना चाहिए। सूत्रकाल में भिन्न-भिन्न वर्णों के लोग एक साथ भोजन कर सकते थे। उच्च वर्ण का मनुष्य अपने से नीच वर्ण की लड़की के साथ विवाह कर सकता था। परन्तु उच्च वर्ण की लड़की को अपने से नीचे वर्णवाले के साथ विवाह करने की आज्ञा न थी। लड़कियों का छोटी अवस्था में विवाह करना बुरा नहीं समझा जाता था। विधवाओं का पुनर्विवाह किसी-किसी हालत में हो सकता था। धर्मशास्त्र के रचयिताओं ने नगरों में रहना नापसन्द किया है और उन्हें अपवित्र बतलाया। इन्हीं धर्मसूत्रों के आधार पर धर्मशास्त्र रचे गये। धर्मशास्त्र पद्य में हैं। इनमें मनुस्मृति अधिक प्रसिद्ध है। इसकी रचना ई० पू० द्वितीय शताब्दी में मनु महाराज ने की। मनुस्मृति के समय में वर्ण-व्यवस्था का काफ़ी विकास हो गया था। भिन्न-भिन्न वर्णों में परस्पर विवाह करना बुरा समझा जाने लगा था। इसमें ब्राह्मणों की अधिक प्रशंसा की गई है और चाहे वे शिक्षित हों अथवा अशिक्षित, उनको पृथ्वी के देवता समझने का आदेश किया गया है। मनु ने चारों आश्रमों का सविस्तार वर्णन किया है और प्रत्येक आश्रम का धर्म भी बतलाया है। उन्होंने दीवानी और फ़ौजदारी क़ानून के नियम भी दिये हैं। स्त्रियों के प्रति कुछ निष्ठुरता दिखाई गई है, परन्तु स्त्री-शिक्षा का विरोध नहीं किया गया है। कहीं-

कहीं पर यह भी कहा गया है कि जहाँ स्त्रियाँ प्रसन्न रहती हैं वहाँ देवता निवास करते हैं।

स्त्रियों की स्थिति—उत्तर वैदिक काल में स्त्रियों की स्थिति पहले की सी न रही। उन्हें सम्पत्ति पर अधिकार नहीं दिया गया और इसी लिए उनका दर्जा छोटा हो गया। राजा लोग एक से अधिक विवाह कर सकते थे और धनी लोग इस बात में उनका अनुकरण करते थे। किन्तु इतना होने पर भी स्त्रियों का चरित्र उच्च कोटि का बना रहा। पुत्र प्राप्त करने की लालसा प्रबल हो गई। एक ब्राह्मण-ग्रन्थ में लिखा है कि लड़की दुःख की जड़ है और लड़का सर्वोच्च आकाश का प्रकाश है।

आर्यों के महाकाव्य—आर्यों के महाकाव्य, जिनका देश भर में सम्मान है, रामायण और महाभारत हैं। रामायण के रचयिता वाल्मीकि ऋषि थे और महाभारत के वेदव्यास। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि इन ग्रन्थों की रचना किस समय हुई। विद्वानों ने इनका रचना-काल ७०० ईसवी पूर्व से २०० ईसवी पूर्व तक निर्दिष्ट किया है। मूलकथा इस काल से भी पूर्व की हो सकती है। कालान्तर में विद्वानों ने इनको बढ़ाया और इन्हें वर्तमान रूप दिया। इन काव्यों का भारतवर्ष की प्रत्येक भाषा में अनुवाद हो गया है और देश में कोई हिन्दू ऐसा नहीं है जो इनसे अनभिज्ञ हो। सोलहवीं शताब्दी ईसवी में वाल्मीकि मुनि के रामायण के आधार पर गोस्वामी तुलसीदास जी ने हिन्दी भाषा में एक दूसरे रामायण की रचना की जिसका नाम रामचरितमानस है।

महाकाव्यों के समय में भारतवर्ष में बहुत से बड़े-बड़े राज्य थे। पांचाल, कौशाम्बी, कोशल, विदेह, काशी आदि राज्यों का उनमें वर्णन है। इनके अतिरिक्त एक दूसरे प्रकार के राज्य भी थे जिन्हें हम प्रजातन्त्र राज्य कह सकते हैं। राजा लोकमत का आदर करता था। राजसिंहासनारूढ़ होने के समय उसे शपथ लेनी पड़ती थी कि मैं प्रजा की रक्षा करूँगा और धर्म के अनुसार राज्यकार्य करूँगा। दुराचारी एवं अन्यायी राजा मार भी डाले जाते थे। सभा का उल्लेख भी मिलता है। रामायण में लिखा है कि राजा दशरथ भी सभा की राय लेते थे और श्रीरामचन्द्र जी ने भी सभा की सम्मति लेकर सीता जी को निर्वासित किया था। ऐसे राजा भी थे जो निरंकुशता से काम लेते थे और लोकमत की अवहेलना करते थे। राजकुमारों को शिक्षा अच्छी दी जाती थी। उन्हें बचपन ही में अस्त्र-शस्त्र, तीर चलाना सिखा दिया जाता था। क्षत्रियों की युद्ध में विशेष रुचि थी, इसलिए उन्हें शस्त्र-विद्या की ही अधिक शिक्षा दी जाती थी। सामन्त लोग राजभक्त होते थे और युद्ध में प्राण देना ही अपना कर्त्तव्य समझते थे। महाभारत के समय के आदर्श उतने उत्कृष्ट नहीं प्रतीत होते जितने रामायण के। छूत की प्रथा प्रचलित थी। राजवंशों में इसका अधिक प्रचार था।

वर्ण-व्यवस्था का भी प्रचार था। विवाह बहुधा स्वयंवर द्वारा होते थे। सीता जी और द्रौपदी दोनों के विवाह स्वयंवर द्वारा ही हुए थे। राजवंशों में बहु-विवाह की प्रथा प्रचलित थी। बाल-विवाह नहीं होता था। पर्दे का रवाज पिछले काल की तरह कठिन न था। भिन्न-भिन्न वर्णों में परस्पर विवाह होता था। कहीं-कहीं पर सती की प्रथा का भी उल्लेख है। पांडु की दो स्त्रियों में से एक अपने पति के साथ सती हो गई थी। स्त्रियों को शिक्षा दी जाती थी और वे पुरुषों की तरह शास्त्रों का भी अध्ययन करती थीं।

व्यापार उन्नत दशा में था। महाकाव्यों में अनेक प्रकार के आभूषणों और वस्त्रों का वर्णन है। आर्य-धर्म का प्रचार था। परन्तु वेदों के समय का सा न था। शिव और विष्णु की पूजा होने लगी थी और भक्ति पर अधिक ज़ोर दिया जाता था। वासुदेव-कृष्ण को लोक विष्णु का अवतार समझते थे। मथुरा-वृन्दावन कृष्ण के भक्तों के प्रधान केन्द्र थे।

भगवद्गीता—भगवद्गीता महाभारत का एक अंश है। युद्ध के आरम्भ होने के पूर्व जब अर्जुन ने अस्त्र-शस्त्र डाल दिये और कृष्ण से कहा कि महाराज मैं युद्ध नहीं करूँगा, सम्बन्धियों, भाई-बन्धुओं को मारकर राज्य करने से तो भिक्षा माँगना अच्छा है, तब भगवान् ने उसे समझाया और कहा कि आत्मा अजर-अमर है। यह न मरता है, न नाश को प्राप्त होता है। तुम किस मोह में पड़े हो। मेरा उपदेश सुनो और मेरी आराधना करो। युद्ध करना तुम्हारा धर्म है। कृष्ण के समझाने से अर्जुन ने युद्ध किया। गीता में यही वेदान्त का उपदेश है। कर्म करना मनुष्य का कर्त्तव्य है। उसके फल पर उसका अधिकार नहीं है। इसलिए फल का विना ख्याल किये कर्त्तव्य का पालन करना चाहिए। गीता का देश में सर्वत्र आदर है। विदेशीय विद्वानों ने भी इसकी महत्ता को स्वीकार किया है।

अध्याय ५

जैन धर्म और बौद्ध धर्म

ब्राह्मण-धर्म का विरोध—जब ब्राह्मणों ने कर्मकाण्ड को अधिक महत्त्व दिया तब कुछ विचारशील लोगों ने उसकी उपयोगिता पर सन्देह किया। इस प्रकार लोगों में स्वतन्त्र विचार फैलने लगे। कुछ उपनिषदों ने भी मोक्ष-प्राप्ति के लिए यज्ञों को निरर्थक बताया। ई० पू० आठवीं या सातवीं शताब्दी के

लगभग बिहार के पूर्वी भाग में ब्राह्मण-धर्म का ज़ोर से विरोध होने लगा। अभी तक बिहार के देश में आर्यों का पूर्ण रीति से प्रभुत्व नहीं स्थापित हुआ था। अनेक ऐसे सम्प्रदाय उत्पन्न हो गये जिनका विश्वास था कि मोक्ष-प्राप्ति यज्ञ और कर्मकाण्डों द्वारा नहीं वरन् आचरण और विचार की पवित्रता से ही हो सकती है। इन सम्प्रदायों के अनुयायी विभिन्न दलों में संगठित हो गये और उन्होंने उपदेश देना प्रारम्भ कर दिया। बहुत से संन्यासी भ्रमण करते हुए स्थान-स्थान पर अपने सिद्धान्तों का प्रचार करने लगे। उनकी पवित्रता, सरलता और तप से बहुत से लोग आकृष्ट हुए और थोड़े ही समय में उनके बहुत से अनुयायी हो गये। इनमें मुख्य जैन और बौद्ध सम्प्रदाय थे। उन्होंने वैदिक क्रियाओं को त्याग दिया और ब्राह्मणों की श्रेष्ठता को नहीं माना और मोक्ष-प्राप्ति के लिए दूसरा साधन खोजने की चेष्टा की। क्षत्रिय-कुलों पर उनके उपदेशों का बहुत प्रभाव पड़ा।

जैन धर्म—बौद्ध धर्म और जैन धर्म में बड़ा सादृश्य है। किन्तु अब यह सिद्ध हो चुका है कि बौद्ध धर्म की अपेक्षा जैन धर्म अधिक प्राचीन है। जैनों की धारणा है कि हमारे २४ तीर्थङ्कर हो चुके हैं जिनके द्वारा जैन धर्म की उत्पत्ति और विकास हुआ है। उनमें से तेरहवें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथजी ही प्रथम ऐतिहासिक व्यक्ति प्रतीत होते हैं। वे सम्भवतः ईसा के पूर्व आठवीं शताब्दी में हुए। वे जाति के क्षत्रिय थे और सच बोलना, अहिंसा, चोरी न करना और सम्पत्ति को त्याग देना, ये ही उनके मुख्य सिद्धान्त थे।

परन्तु जैन धर्म के मूलप्रवर्त्तक वैशाली के राजकुमार वर्द्धमान थे। वैशाली* में लिच्छवि-वंश के क्षत्रिय राजा राज्य करते थे और वहाँ प्रजातन्त्र राज्य था। उनका जन्म ई० पू० ५४० के लगभग हुआ था। भगवान् बुद्ध और वर्द्धमान के जीवन में अधिक समानता है। वर्द्धमान ने ३० वर्ष की अवस्था में अपना घर-बार छोड़ दिया और १२ वर्ष तक घोर तपस्या की। वे जप करने में सदैव लीन रहते थे, अहिंसाव्रत का पूर्ण रीति से पालन करते थे और खान-पान में बड़े संयम से काम लेते थे। इस प्रकार उन्होंने अपनी इन्द्रियों को वश में कर लिया। तेरहवें वर्ष में उन्हें परम ज्ञान की प्राप्ति हुई और वे महावीर और जिन (विजयी) कहलाने लगे। महावीर के उपदेशों में कोई नई बात नहीं है। पार्श्वनाथ की चार प्रतिज्ञाओं में उन्होंने एक पाँचवीं और शामिल कर दी। वह थी पवित्रता से जीवन व्यतीत करना। उसके शिष्य नग्न घूमते थे, इसलिए वे निर्ग्रन्थ कहलाये। महात्मा बुद्ध की तरह महावीर स्वामी ने भी

---

* वैशाली को आजकल बसाढ़ कहते हैं जो कि बिहार के मुजफ़्फ़रपुर जिले में है।

शरीर तथा मन की पवित्रता और अहिंसा पर बड़ा जोर दिया। मोक्ष ही मनुष्य का अन्तिम उद्देश्य है। परन्तु यह बुद्ध के निर्वाण से भिन्न है। आत्मा का परमानन्द में विलीन होना ही मोक्ष है। ३० वर्ष तक इन्हीं सिद्धान्तों का प्रचार करने के बाद ७२ वर्ष की अवस्था में महावीर स्वामी ने राज-गृह के निकट पावा नामक स्थान पर ई० पू० ४६८ में शरीर-त्याग किया।

महावीर के उपदेशों का सार यह था कि जो जैन निर्वाण प्राप्त करना चाहता है उसका आचरण, ज्ञान और विश्वास ठीक होना चाहिए। वह उपर्युक्त पाँच प्रतिज्ञाओं का पालन अवश्य करे। जैनियों के लिए तप करना एक आवश्यक कर्त्तव्य बताया गया है और यह भी कहा गया है कि उपवास तप का एक रूप है। बिना ध्यान, अनशन तथा तप किये मनुष्य अपने अन्तिम ध्येय को प्राप्त नहीं कर सकता अर्थात् उसकी आत्मा मुक्त नहीं हो सकती। महावीर ने पूर्ण अहिंसा पर जोर दिया और तब से वह जैन धर्म का एक प्रधान सिद्धान्त माना जाता है।

ई० पू० ३०० के लगभग जैन लोग दो सम्प्रदायों में विभक्त हो गये—दिगम्बर और श्वेताम्बर। दिगम्बर नग्न मूर्ति की उपासना करते हैं और श्वेताम्बर अपनी मूर्तियों को श्वेत वस्त्र पहनाते हैं। भारतवर्ष में जैन धर्म के अनुयायियों की संख्या लगभग १२ लाख है। ये लोग बड़े धनवान् तथा समृद्धिशाली हैं और बहुधा व्यापार करते हैं। जैन धर्म का प्रचार कभी सर्व-साधारण में नहीं हुआ। इसका कारण यह है कि इसके नियम कठिन हैं। राजाओं ने इसे अपनाया और उनकी संरक्षता में जैनियों ने अपने साहित्य तथा कला की उन्नति की। जैन धर्म के अनुयायियों में कई विद्वान् महात्मा हुए हैं जिनके नाम अब तक प्रसिद्ध हैं। इन सब बातों के कारण जैनों को भारतीय इतिहास में अच्छा स्थान मिला है।

गौतम बुद्ध का जीवनचरित्र—नैपाल की तराई में शाक्य-वंश के क्षत्रियों का राज्य था। कपिलवस्तु उनकी राजधानी थी। ईसा के पूर्व छठी शताब्दी में वहाँ शुद्धोदन नाम का राजा राज्य करता था। वह कोशल के सम्राट् के अधीन था। उसके इकलौते बेटे का नाम सिद्धार्थ था। सिद्धार्थ का जन्म ई० पू० ५६३ के लगभग लुम्बिनी नामक गाँव में हुआ था। यही सिद्धार्थ पीछे से गौतम के नाम से प्रसिद्ध हुआ। गौतम बचपन से ही बड़े विचारशील थे। वे घंटों सोच-विचार में मग्न रहते थे। उनकी वैराग्य की ओर प्रवृत्ति देखकर पिता ने उन्हें सांसारिक सुखों में लिप्त रखने की चेष्टा की और १६ वर्ष की अवस्था में यशोधरा नामक एक सुन्दरी लड़की के साथ विवाह कर दिया। किन्तु पिता के ये सारे प्रयत्न व्यर्थ सिद्ध हुए। सिद्धार्थ को एक बार वृद्ध मनुष्य, रोगी तथा मुर्दे को देखकर बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने समझ लिया कि

एक दिन हमारी भी यही दशा होगी; रोग, वृद्धावस्था तथा मृत्यु से हम किसी प्रकार बच नहीं सकते। बस, इस विचार के उठते ही वे एक दिन रात में अपने नवजात पुत्र, स्त्री और घर-बार को छोड़कर जीवन के रहस्य को समझने के लिए बाहर निकल गये। उस समय उनकी अवस्था ३० वर्ष की थी। उन्होंने दर्शनशास्त्र का अध्ययन किया, ब्राह्मणों का आश्रय लिया और ज्ञान की खोज में स्थान-स्थान पर ब्राह्मणों के साथ भ्रमण किया। परन्तु उनके चित्त को शान्ति न मिली। तब वे गया पहुँचे और वहाँ कठोर तप करने लगे। बहुत-से उपवास किये, शरीर को अनेक प्रकार के कष्ट दिये और सब तरह के दुःख उठाये लेकिन उनके हृदय में ज्ञान का प्रकाश नहीं हुआ। उनका स्वास्थ्य बहुत खराब हो गया और शरीर में हड्डियों के सिवा कुछ भी न रहा। ६ वर्ष के बाद उनको मालूम हुआ कि ये सब कष्ट देनेवाली क्रियाएँ व्यर्थ हैं। उन्होंने अपना अनशन व्रत तोड़ दिया। उनके पाँच शिष्य, जो अब तक उनके साथ थे, उन्हें छोड़कर चले गये। अन्त मे बोध-गया में नैरंजना नदी के तट पर एक पीपल के वृक्ष के नीचे वे समाधि लगा कर बैठ गये। समाधि के टूटते ही उनके हृदय में एक प्रकाश-सा जान पड़ा और उन्हें सांसारिक दुःखों से छूटने का साधन मिल गया। उनको ज्ञान की प्राप्ति हो गई जिसकी तलाश में उन्होंने घर-बार छोड़ा और तप से शरीर को घुला दिया था। इस प्रकार वे बुद्ध अथवा ज्ञानी हो गये। वहाँ से फिर वे बनारस के पास सारनाथ को गये। वहीं पहले-पहल उन्होंने उपदेश देना प्रारम्भ किया। थोड़े ही समय में उनके बहुत-से अनुयायी हो गये। अपने शेष जीवन में उन्होंने कोशल और मगध के देशों में एक सिरे से दूसरे सिरे तक भ्रमण कर लोगों को उपदेश दिया। अन्त में ई० पू० ४८३ के लगभग कुशीनगर (गोरखपुर ज़िले में स्थित वर्तमान कसिया) में उन्होंने ८० वर्ष की अवस्था में शरीर छोड़ा।

बुद्ध की शिक्षा—भगवान् बुद्ध का कहना था कि बार-बार जन्म ग्रहण करने से ही दुःख की उत्पत्ति होती है; आवागमन का चक्र ही दुःख का मूल कारण है। आवागमन का कारण सांसारिक पदार्थों के प्रति अतिशय अनुराग है। जब तक हमारे हृदय से यह अभिलाषा निकलेगी नहीं तब तक हम आवागमन के बन्धन में जकड़े रहेंगे। शोक और कष्ट से मुक्त होने के लिए मनुष्यों को बीच का रास्ता पकड़ना चाहिए। न तो शरीर को घोर कष्ट ही देना चाहिए और न एकदम से जीवन के आनन्द में ही निमग्न रहना चाहिए। यह बीच का मार्ग क्या है—*सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाक्य, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक्

---

* भगवान् बुद्ध ने इस मध्य पथ को आष्टाङ्गिक मार्ग कहा है। इसी पथ पर चलने से निर्वाण प्राप्त हो सकता है। इसके ये आठ भाग हैं—(१)

समाधि इत्यादि। महात्मा बुद्ध का विश्वास था कि इसी मार्ग का अवलम्बन करने से निर्वाण मिलेगा। निर्वाण ही मनुष्य के जीवन का लक्ष्य है, बिना उसके दुःख और शोक से छुटकारा नहीं मिल सकता।

ईश्वर का अस्तित्व तथा अन्य ऐसे विषयों पर उन्होंने कोई राय नहीं प्रकट की। उनका उद्देश्य तो केवल निर्वाण का साधन बताना था। उन्होंने वर्ण-व्यवस्था का विरोध किया और कहा कि यह समाज का अप्राकृतिक विभाग है। ऊँच-नीच का भेद-भाव मनुष्य के गुणों के अनुसार होना चाहिए। उन्होंने यज्ञों का भी घोर विरोध किया और निर्वाण-प्राप्ति के लिए उन्हें निरर्थक बताया। कर्मकाण्ड को भी उन्होंने मोक्ष के लिए व्यर्थ बतलाया और ब्राह्मणों की श्रेष्ठता को स्वीकार नहीं किया। किसी काम के लिए भी उन्होंने पशुओं की हिंसा करने की आज्ञा नहीं दी।

सदाचार पर बुद्ध भगवान् ने बड़ा ज़ोर दिया। वे कहते थे कि यदि कोई मनुष्य इस जीवन में अच्छे कर्म करेगा तो उसे दूसरी बार अधिक श्रेष्ठ जीवन प्राप्त होगा। इस प्रकार प्रत्येक जन्म में उसका जीवन उन्नत होता जायगा और अन्त में वह जन्म-मरण से मुक्त हो जायगा। बुरे कर्मों से मनुष्य अवश्य नीचे गिर जायगा और अन्त में उसको निर्वाण नहीं प्राप्त होगा। सत्य, जीवन की पवित्रता, दानशीलता तथा आत्म-संयम ऐसे गुण हैं जिनकी प्राप्ति के लिए मनुष्य को निरन्तर प्रयत्न करना चाहिए।

अपने प्रधान शिष्य आनन्द को भगवान् बुद्ध ने एक वार यह उपदेश दिया—

"इसलिए हे आनन्द! तुम अपने लिए दीपक बनो। तुम अपने लिए आश्रय-स्थान बनो। सत्य अथवा धर्म तुम्हारे दीपक हैं। उन्हीं को अपना आश्रय जानकर दृढ़ रहो।' अपने सिवा किसी के आश्रय की इच्छा न करो।"

महात्मा बुद्ध की सफलता के कारण—उत्तरी भारत के अनेक राजाओं और सरदारों ने बौद्ध-धर्म को स्वीकार किया। इसका कारण यह है कि वे भी अपने गुरु की तरह क्षत्रिय थे। बुद्ध ने अपना उपदेश मामूली बोल-चाल की भाषा में दिया था और अपने शिष्यों को भी ऐसा ही करने का आदेश किया था। एक बार कुछ ब्राह्मणों ने उनसे कहा कि आपके उपदेशों का संग्रह संस्कृत भाषा में होना चाहिए। परन्तु बुद्ध जी ने इसका विरोध किया और कहा कि ऐसा करने से साधारण लोगों के लिए उनका अर्थ समझना कठिन हो जायगा। जिस धर्म का उन्होंने उपदेश किया वह बड़ा ही आकर्षक और सरल था। इसलिए लोगों

सम्यक् दृष्टि, (२) सम्यक् संकल्प, (३) सम्यक् वाक्य, (४) सम्यक् कर्मान्त, (५) सम्यक् आजीव, (६) सम्यक् व्यायाम, (७) सम्यक् स्मृति, (८) सम्यक् समाधि।

पर उसका शीघ्र प्रभाव पड़ा। इसके अतिरिक्त उनकी सेवा में अनेक उत्साही शिष्य थे जिन्होंने दूर-दूर देशों में जाकर उनके सन्देश को सुनाया। उन्होंने जाति-व्यवस्था की निन्दा की और कहा कि जाति-पाँति का भेद निर्वाण की प्राप्ति में रुकावट नहीं डाल सकता। सभी श्रेणी के लोगों ने उनके उपदेश को सुना और उनके सिद्धान्तों को अपनाया। इन्हीं कारणों से थोड़े ही काल में बौद्ध धर्म की जड़ भारत में जम गई। देश के प्रत्येक भाग से लोग ज्ञान प्राप्त करने के लिए उनकी शरण में आने लगे।

धर्म-ग्रन्थ—भगवान् बुद्ध की मृत्यु के बाद उनके शिष्यों ने उनके कार्यों और उपदेशों को लिपिबद्ध कर डाला। पीछे से इन धर्म-ग्रन्थों का नाम त्रिपिटक पड़ा। त्रिपिटक के तीन भाग हैं—विनयपिटक, सूत्रपिटक और अभिधर्म्मपिटक। विनयपिटक में मठों में रहनेवाले भिक्षुओं के आचरण-सम्बन्धी नियम हैं। सूत्रपिटक में बुद्ध भगवान् के उपदेशों का संग्रह है। अभिधर्म्मपिटक में दार्शनिक वाद-विवाद है। जब कभी इन धर्मग्रन्थों के अर्थ में कुछ सन्देह उत्पन्न होता तब उसका समाधान करने के लिए प्रतिष्ठित भिक्षुओं की सभा की जाती थी। इस तरह की चार सभाएँ हुईं। पहली सभा बुद्ध की मृत्यु के बाद ही राजगृह में उनके प्रधान शिष्य महाकश्यप ने की। इसके १०० वर्ष बाद दूसरी सभा वैशाली में हुई। तीसरी और चौथी सभाएँ क्रमशः सम्राट् अशोक के और कनिष्क के समय में हुईं। इनका उल्लेख आगे चलकर किया जायगा।

बौद्धों का संगठन—बुद्ध भगवान् केवल एक बड़े उपदेशक ही न थे, बल्कि एक बड़े संगठन-कर्त्ता भी थे। उनके अनुयायी दो श्रेणियों में विभक्त थे। एक श्रेणी में उपासक लोग थे जो कि गृहस्थ का आचरण करते थे और दूसरी श्रेणी के लोग भिक्षु कहलाते थे। भिक्षु लोग संसार को त्यागकर संन्यासियों का जीवन व्यतीत करते थे। उनके संघ बने हुए थे और उनके प्रबन्ध के लिए नियम बना दिये गये थे। संघ को लोग बहुत पसन्द करते थे। इसका कारण यह था कि उनके सब सदस्यों को समान अधिकार प्राप्त था और लोगों को बोल-चाल की भाषा में धर्मोपदेश दिया जाता था जिसे सब आसानी से समझ सकते थे।

बौद्ध धर्म और जैन धर्म—ये दोनों धर्म कई बातों में एक दूसरे से मिलते हैं। ये न तो वेदों को मानते हैं और न कर्मकाण्ड से ही कुछ लाभ समझते हैं। दोनों वर्ण-व्यवस्था का भी विरोध करते हैं। दोनों को क्षत्रिय राजाओं के दरबारों में आश्रय मिला था। दोनों धर्मों का प्रचार बोल-चाल की भाषा में हुआ। दोनों जीवन की पवित्रता पर जोर देते थे। मनुष्य के अच्छे और बुरे कर्मों का प्रभाव उनके वर्तमान तथा भविष्य जीवन पर पड़ता है, इस सिद्धान्त पर दोनों ने जोर दिया। परमेश्वर की सत्ता के विषय में दोनों चुप रहे और दोनों ने धर्म-संघ बनाने पर जोर दिया। इतना सादृश्य होने पर

बौद्धकालीन भारत
६०० ई० पू०
तक्षशिला
गान्धार
सिन्धु न०
सरस्वती
मत्स्य
मथुरा
सांकास्य
कान्यकुब्ज
चेदि
सुरसेन
श्रावस्ती
लुम्बिनी
कपिलवस्तु
कुशीनगर
मल्ल
लिच्छवि
वैसाली
काशी
कौशाम्बी
प्रयाग
पाटलिपुत्र
नालन्दा
चम्पा
राजगृह
अवन्ती
उज्जैन
नर्मदा न०
सतपुरा प०
कलिंग
कृष्णा न०
पाण्ड्य
अरब सागर
बंगाल की खाड़ी
१६ महाजनपद
अंग, मगध, काशी,
कोशल, वृज्जि, मल्ल, चेदि, वत्स,
कुरु, पञ्चाल, मत्स्य, सूरसेन,
अश्मक, अवन्ति, गान्धार, कम्बोज.
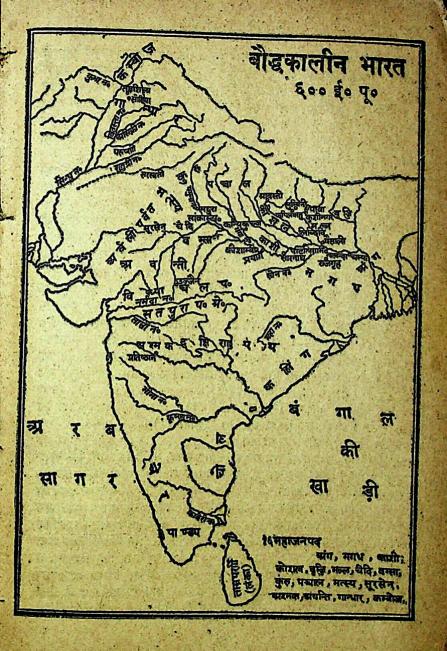
भी अनेक विषयों में उनमें मतभेद था। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, जैन धर्म में मोक्ष का आदर्श बौद्धों के आदर्श से बिलकुल भिन्न है। बुद्ध की अपेक्षा महावीर ने अहिंसा और तपश्चर्या पर अधिक ज़ोर दिया। इसके अतिरिक्त जैनों की तरह नग्न रहने तथा अनशन द्वारा प्राण छोड़ने की प्रथाएं बौद्ध धर्म में नहीं थीं।

ज्यों-ज्यों समय बीतता गया त्यों-त्यों हिन्दू तथा जैन धर्म की विभिन्नता कम होती गई, यहाँ तक कि अन्त में जैन धर्म हिन्दू-धर्म का एक सम्प्रदाय बन गया। दोनों के रहन-सहन, रस्म-रवाज तथा सिद्धान्तों में बहुत अन्तर नहीं रह गया। किन्तु बौद्धों ने हिन्दुओं के साथ मिलने की चेष्टा नहीं की। भारतवर्ष से बौद्ध धर्म के लोप होने का एक कारण यह भी है।

जातक—बौद्धों की धारणा यह है कि बुद्ध को, निर्वाण-प्राप्ति के पहले, अनेक बार जन्म ग्रहण करना पड़ा था। जिन ग्रन्थों में इन जन्म-कहानियों का संग्रह है उन्हें जातक कहते हैं। ये किसी एक काल के बने हुए नहीं हैं। कुछ इनमें दूसरी शताब्दी, ईसवी के हैं। ये संख्या में लगभग ५५० हैं। प्राचीन भारत की सामाजिक तथा राजनीतिक दशा जानने के लिए इन ग्रंथों में बहुत-सी सामग्री है।

महात्मा बुद्ध के समय में भारत की राजनीतिक तथा सामाजिक स्थिति—
राज्य—ई० पू० सातवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में आर्यों के अधिकार में जितना देश था वह तीन भागों में बँटा था। मध्यदेश, उत्तरपथ तथा दक्षिणापथ। सारे देश में १६ राज्य थे, जिनमें चार अधिक प्रसिद्ध थे। उनके नाम ये हैं—

(१) मगध (दक्षिण बिहार)।
(२) कोशल (साकेत या अवध)।
(३) वत्स (कोशाम्बी या इलाहाबाद)।
(४) अवन्ती (मालवा)।

इनमें से कुछ राज्यों के नाम उन जातियों पर पड़े, जो वहाँ निवास करती थीं।

प्रजातन्त्र राज्य—महाभारत, बौद्ध धर्म-ग्रन्थों तथा अन्य ग्रन्थों के पढ़ने से पता लगता है कि प्राचीन भारत में कई ऐसे राज्य थे जिनका शासन कोई एक राजा नहीं करता था बल्कि कई व्यक्ति मिलकर करते थे। ये लोग अपने बाप-दादों के पद पर प्रतिष्ठित होते थे और 'राज' की उपाधि धारण करते थे। पाली भाषा के ग्रन्थों में उनका उल्लेख है और वे अपनी जाति के नाम से प्रसिद्ध हैं। उन सबमें शाक्य, भग्ग, मल्ल, मोरिया, विदेह तथा लिच्छवि अधिक प्रसिद्ध थे। इन राज्यों के लिए संस्कृत में "गण" शब्द का प्रयोग हुआ है जो प्रायः प्रजातन्त्र का पर्यायवाची है। इनमें मिथिला का लिच्छवि राज्य सबसे बड़ा था। भगवान् बुद्ध ने भी उसकी प्रशंसा की थी।

शासन-प्रबन्ध—इन राज्यों का प्रबन्ध एक सार्वजनिक सभा द्वारा होता था जिसमें युवा, वृद्ध सभी लोग सम्मिलित होते थे। सभा की बैठक एक छप्पर के नीचे होती थी। छप्पर विना दीवार का होता था और केवल काठ के खम्भों के आधार पर खड़ा रहता था। इस स्थान को लोग संस्थागार कहते थे। सभा में सब लोग एक निर्दिष्ट क्रम से बिठाये जाते थे। निर्णय प्राय: सर्वसम्मति से होता था। किन्तु जब कभी किसी विषय में मतभेद होता तो उसका निर्णय करने के लिए कुछ लोगों को मध्यस्थ चुनकर उनकी एक छोटी-सी कमेटी बना दी जाती थी। सभापति चुना जाता था और वह राजा की उपाधि धारण करता था। शाक्य वंश के इतिहास से हमें ज्ञात होता है कि बुद्ध के एक चचेरे भाई भद्दिय तथा उनके पिता शुद्धोदन ने किसी समय पर इस उपाधि को धारण किया था। राय लेने के लिए टिकट या शलाकाओं का उपयोग किया जाता था। इन छोटे-छोटे प्रजातन्त्रात्मक राज्यों में बड़ी राजनीतिक चहल-पहल रहती थी। मगध-साम्राज्य के अभ्युदय के पहले ही ये सब राज्य लुप्त हो गये।

सामाजिक स्थिति में परिवर्तन—पश्चिमी भारत में ब्राह्मणों का बड़ा प्रभाव था। उन्होंने बहुत से धार्मिक संस्कार और क्रियाएँ प्रचलित कीं जिनको मानना प्रत्येक हिन्दू के लिए आवश्यक था। अपने पाण्डित्य और आध्यात्मिक उन्नति के कारण वे अन्य जातियों की अपेक्षा श्रेष्ठ समझे गये। जिन प्रदेशों में कुरु, मत्स्य, पाञ्चाल तथा शूरसेन लोग बसे थे वहाँ ब्राह्मणों का खूब दौर-दौरा था। परन्तु पूर्वी देशों (काशी, कोशल, विदेह तथा मगध) के लोगों पर वैदिक संस्कृति का अधिक प्रभाव नहीं पड़ा था। यज्ञ की क्रियाएँ और वेदों का अध्ययन व्यर्थ समझा जाता था। इन देशों के क्षत्रिय ब्राह्मणों को सर्वश्रेष्ठ मानने को तैयार नहीं थे, अपने को उनके बराबर ही समझते थे। उन्होंने यह भी मानने से इनकार कर दिया कि केवल ब्राह्मण ही सत्य और धर्म के एकमात्र संरक्षक हैं। उनमें से अनेक व्यक्तियों ने अपने घर-बार और सम्पत्ति को त्यागकर सन्यास ग्रहण कर लिया। ब्राह्मणों की भाँति उन्होंने भी विद्या पढ़ी और ज्ञान प्राप्त किया। महावीर और बुद्ध दोनों क्षत्रिय थे। उनके अनुपम त्याग का लोगों पर बड़ा प्रभाव पड़ा।

जाति-पाँति का भेद-भाव बिलकुल व्यर्थ बताया गया किन्तु भगवान् बुद्ध भी अपने समय के सामाजिक संगठन को बदल न सके। बौद्ध भिक्षुओं के समाज में भी जाति-पाँति का विचार था। क्षत्रिय लोग स्वयं अपनी जाति की विशुद्धता पर बहुत ध्यान देते थे और अपने लड़कों का विवाह अपनी जाति के अन्दर ही करते थे। अपने से नीची जाति में विवाह करना बुरा समझा जाता था। सबसे निकृष्ट जातियाँ चाण्डाल आदि नगर से बाहर रहती थीं। परन्तु ऐसा मालूम होता है कि उनसे छू जाने पर लोग अपने को भ्रष्ट नहीं समझते थे।

आर्थिक दशा—भारतवर्ष में सदा से गाँव ही सामाजिक संगठन का आधार रहा है। धान के खेतों के किनारों पर गाँव बसता था। पास-पास खड़े किये हुए अनेक झोपड़ों के समुदाय से एक गाँव बनता था। बीच-बीच में सकरी गलियाँ होती थीं। चरागाह की भूमि पर सबका समान अधिकार होता था। सभी के पशु उसमें चरते थे और सारे गाँव की ओर से एक चरवाहा रहता था जो सबके पशुओं की देख-रेख करता था। बढ़ई, लुहार, सुनार, कुम्हार आदि व्यवसायियों के अलग गाँव होते थे। ब्राह्मणों के गाँव अलग थे। चावल ही लोगों का प्रधान खाद्य पदार्थ था यद्यपि दूसरे प्रकार के अनेक अन्नों का वर्णन मिलता है। ईख, फल, तरकारी और फूलों की खेती भी होती थी। बाज़ार लगते थे और उनमें दूकानें सजाकर रक्खी जाती थीं। उनका प्रबन्ध अच्छे ढंग से होता था। कपड़ा बुनने, बाल काटने, माला गूँथने, धातु, जवाहिरात और हाथी दाँत की चीजें बनाने के काम भी होते थे। धनी पुरुषों को सेठी या सेठ कहकर पुकारते थे। जातकों में लिखा है कि ब्राह्मण, सेठ, राजकुमार आपस में मित्रता का व्यवहार करते थे। वे अपने लड़कों को एक ही गुरु के घर पर पढ़ने भेजते थे। एक साथ भोजन करते थे और परस्पर विवाह इत्यादि भी करते थे। ऐसा करने पर भी उन्हें समाज में कोई बुरा नहीं कहता था।

ग्रामों और नगरों की सामाजिक स्थिति—गाँव के मामले बाहर बग़ीचे में खुली सभा में तय होते थे। प्रत्येक गाँव में एक मुखिया होता था जिसके द्वारा सारा सरकारी काम होता था। बेगार की प्रथा नहीं थी। पुरुष और स्त्रियाँ स्वतः आपस में मिलकर हौज़, तालाब और पाक बनाते और देहात की सड़कों की मरम्मत करते थे। लोग बड़े सुखी और सन्तुष्ट थे। समाज में न तो बहुत बड़े जमींदार थे और न कंगाल। अपराध कम होते थे और जो कुछ भी होते थे वे गाँव के बाहर। आपस के झगड़ों का निपटारा गाँव के बड़े-बूढ़े करते थे। अपने धन को लोग घड़ों में भरकर ज़मीन में गाड़ देते या नदी की तलहटी में छिपाकर रख देते थे। कभी-कभी मित्रों के यहाँ जमा भी कर देते थे। कर्ज़ का क़ानून बड़ा कठोर था। कभी-कभी ऋणी मनुष्य अपने स्त्री-बच्चों को भी महाजनों के यहाँ गिरवी रख देते थे।

शहरों की हालत देहात से अच्छी थी। बौद्ध ग्रंथों से पता लगता है कि सातवीं शताब्दी ई० पू० में आर्य-सभ्यता का काफ़ी विकास हो चुका था।

संक्षिप्त सनवार विवरण

	ई० पू०
गौतम बुद्ध का जन्म	५६३
महावीर स्वामी का जन्म	५४०

	ई० पू०
गौतम बुद्ध की मृत्यु	४८३
महावीर की मृत्यु	४६८
जैन सम्प्रदायों का बनना	२००

अध्याय ६

मौर्य-काल के पूर्व का समय

विदेशी आक्रमण

प्राचीन काल—प्राचीन भारत का असली इतिहास ई० पू० ६०० से प्रारम्भ होता है और हर्षवर्द्धन की मृत्यु के साथ ६४७ ई० में समाप्त हो जाता है। यह १२०० वर्ष का समय महत्त्वपूर्ण घटनाओं से परिपूर्ण है। इस काल में हमारी सभ्यता का विकास हुआ और भारत के दो बड़े धर्मों (जैन धर्म तथा बौद्ध धर्म) का अभ्युदय हुआ। राजा लोग शक्तिशाली हो गये और उन्होंने सारा अधिकार अपने हाथ में ले लिया। पहले-पहल भारत का एक बड़ा भाग मौर्य सम्राटों के आधिपत्य में राजनीतिक एकता में बँधा। वैदिक काल की सरलता के स्थान में अब कूटनीति से काम लिया जाने लगा। बड़े-बड़े साम्राज्यों की स्थापना हुई किन्तु प्रजा के हित का ध्यान राजा लोगों को सदैव बना रहा। राजा का कर्त्तव्य था कि अपनी प्रजा की रक्षा करे और धर्म का अनुसरण करे। लोगों के दिमाग़ में यह विचार इतनी दृढ़ता के साथ जम गया था कि राजा भी उसकी उपेक्षा नहीं कर सकता था। समाज का संगठन जटिल बनता गया। इस काल में विदेशियों के आगमन से यहाँ की आबादी में एक नया रक्त मिल गया। यूनानियों के साथ भारतीयों का सम्पर्क हुआ जिसके कारण कला-कौशल और संस्कृति के नये विचारों का समावेश हुआ। यूनानियों के अतिरिक्त और भी विदेशी लोग आये। हूण और सिदियन लोगों ने यहाँ की प्रचलित राजनीतिक व्यवस्था को बड़ा भारी धक्का पहुँचाया। उत्तरी भारत में अधिक समय तक भीषण उपद्रव मचे रहे। अन्त में सातवीं शताब्दी के आरम्भ में हर्षवर्द्धन ने शान्ति स्थापित की और भारतीय कला और सभ्यता की रक्षा की। कला और संस्कृति का उत्तरोत्तर अधिक विकास होता रहा और अनेक बड़े-बड़े ग्रन्थों की रचना हुई।

चार राज्य—भारत के राजनीतिक इतिहास का प्रारम्भ सम्भवतः बुद्ध के समय से होता है। पहले कह चुके हैं कि इस काल में चार बड़े-बड़े राज्य थे। प्रत्येक का शासन एक शक्तिशाली राजा करता था। राज्यों के नाम अवन्ति (मालवा), कोशल (अवध), वत्स (इलाहाबाद के इर्दगिर्द) तथा मगध (बिहार) थे। इनकी राजधानियाँ क्रम से उज्जयिनी, श्रावस्ती, कोशाम्बी तथा राजगृह थीं।

बिम्बिसार का वंश—भगवान् बुद्ध के बाद कुछ शताब्दियों में मगध एक बड़ा शक्तिशाली साम्राज्य बन गया। उसके सम्राट् सम्पूर्ण भारत पर शासन करने लगे। बुद्ध के समय में मगध का शासक बिम्बिसार था। वह एक प्रभावशाली राजा था। उसने कोशल राज्य के राजा प्रसेनजित की बहन के साथ अपना विवाह कर लिया। वैशाली के लिच्छवि सरदारों की राजकुमारियों के साथ भी उसने अपना विवाह किया। यही नहीं, उसने वत्स के सरदारों के साथ अपनी पुत्री का विवाह कर दिया। ५२ वर्ष तक (ई० पू० ५४३ से ४९१ तक) राज्य करने के पश्चात् वह अपने ही लड़के अजातशत्रु के हाथ से मारा गया। अजातशत्रु सिंहासन पर बैठने के लिए अधीर हो रहा था। इसी कारण उसने यह दुष्कर्म किया। ई० पू० ४५९ तक वह राज्य करता रहा। अजातशत्रु की पितृहत्या से क्रुद्ध होकर बदला लेने के लिए प्रसेनजित ने उस पर चढ़ाई कर दी। कुछ समय तक युद्ध होता रहा। अन्त में दोनों दलों में सन्धि हो गई और काशी का राज्य अजातशत्रु को मिल गया। अजातशत्रु ने लिच्छवियों के साथ भी युद्ध किया और उन्हें पराजित कर उनका राज्य मगध में मिला लिया। उसने वृज्जियों पर भी आक्रमण किया और उनकी राजधानी को नष्ट कर उनके राज्य पर अपना अधिकार जमा लिया। अजातशत्रु के बाद मगध के सिंहासन पर उदयी बैठा। गिरिब्बज (आधुनिक राजगृह) के बजाय पाटलिपुत्र (पटना) को उसने अपनी राजधानी बनाया।

शिशुनाग—दो और पीढ़ियों के बाद बिम्बिसार के वंश को काशी के हाकिम (ई० पू० ४११ से ३९३ तक) शिशुनाग ने विध्वंस कर डाला। उसने अवन्ति को अपने राज्य में मिला लिया और इस प्रकार अपनी शक्ति और गौरव को बढ़ाया।

नन्दवंश—शिशुनाग वंश का अन्त ई० पू० चौथी शताब्दी में हुआ। पुराणों मे शिशुनाग वंश के राजाओं को क्षत्रिय कहा गया है। परन्तु उस वंश के अन्तिम राजा महानन्दिन् ने एक शूद्रा स्त्री के साथ अपना विवाह कर लिया और इस प्रकार एक शूद्रवंश की स्थापना की। उसका बेटा महापद्मनन्द नीच जाति का पुरुष कहा गया है परन्तु वह बड़ा वीर योधा था। पंजाब और काश्मीर को छोड़ उसने सारे उत्तरी भारत को जीत लिया और सिन्ध तथा दक्षिण के भी कुछ प्रदेशों पर अपना आधिपत्य स्थापित किया। वह एक बड़ा शक्तिशाली

सम्राट् था। उसने अपने अधीनस्थ राजाओं को वश में रक्खा। उसके बाद उसके आठ बेटों ने कुछ समय तक राज्य किया। अन्त में ३२५ ई० पू० के लगभग चन्द्रगुप्त मौर्य ने चाणक्य अथवा कौटिल्य नामक ब्राह्मण की सहायता से नंदवंश का नाश कर दिया।

विदेशी आक्रमण—जिस समय उत्तरी भारत में मगध का राज्य उन्नति कर रहा था और उसके शासक युद्ध करके अथवा विवाह-सम्बन्ध जोड़कर अपने राज्य को बढ़ा रहे थे ठीक उसी समय उत्तर-पश्चिम भारत पर विदेशियों का आक्रमण होना प्रारम्भ हुआ। इनमें से दो आक्रमण बहुत प्रसिद्ध हैं। पहला ईरानियों का आक्रमण और दूसरा उसके २०० वर्ष बाद सिकन्दर का था।

भारत पर ईरानियों की विजय—ईरान और भारत का सम्बन्ध बहुत प्राचीन काल से चला आता है। एक समय था जब कि आर्यों और ईरानियों के पूर्वज एक ही वंश के लोग थे। अलग-अलग शाखाओं में विभक्त हो जाने के बाद भी उन्होंने अपना सम्बन्ध बनाये रक्खा। ईरानी साम्राज्य के संस्थापक साइरस (Cyrus) (५५८-५३० ई० पू०) के पहले पश्चिमी एशिया के किसी राजा ने पूर्व में भारत तक अपना प्रभाव नहीं बढ़ाया था। साइरस ने गांधार को जीत लिया। उस समय गांधार में आधुनिक पेशावर, रावलपिंडी तथा काबुल के प्रदेश सम्मिलित थे। ईरान के एक दूसरे सम्राट् डेरीअस (Darius) ने (ई० पू० ५२२-४८६) अपने राज्य के अधिकार-क्षेत्र को अधिक बढ़ाया। उसने उत्तरी भारत के एक भाग को जीत लिया। यूनानी इतिहास-लेखक हैरोडोट्स (Herobotus) ने ईरान-साम्राज्य के २० प्रान्तों के नाम दिये हैं और लिखा है कि भारत उसका बीसवाँ प्रान्त है। उसका यह भी लेख है कि भारत कि जन-संख्या अन्य देशों की आबादी से अधिक है। भारत से जो कर ईरान के राजा को मिलता था वह शेष साम्राज्य से मिलनेवाले कर की अपेक्षा कहीं अधिक था। उस समय भारत से ईरान को १० लाख पौण्ड कर मिलता था। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि ईरानी साम्राज्य के अधीनस्थ भारतीय प्रान्त का विस्तार कहाँ से कहाँ तक था किन्तु इतना पता चलता है कि वह सिन्ध देश तथा सिन्धु नदी की तलहटी में कालबाग से समुद्र तक फैला हुआ था। सम्पूर्ण सिन्ध प्रदेश तथा सिन्धु नदी के पूर्व स्थित पंजाब का अधिकांश भाग उसमें सम्मिलित था।

भारत और ईरान के सम्पर्क का बहुत कुछ प्रभाव मौर्य-कला पर पड़ा। सम्राट् अशोक की लाटों पर जो शिखरमूर्त्ति हमें मिलती है उस पर ईरानी कला का प्रभाव दिखलाई पड़ता है, यद्यपि कुछ विद्वानों का कथन है कि वह विशुद्ध भारतीय है। इसके अतिरिक्त तक्षशिला में कुछ विचित्र प्रथाएँ प्रचलित थीं, जैसे मुर्दे को खुला छोड़ देना और राजा के केशों को

घोना। इन प्रथाओं से प्रतीत होता है कि किसी समय उस प्रदेश में ईरानियों का प्रभाव था।

सिकन्दर का आक्रमण—यूनान देश में मेसीडन (मक़दूनिया) नामक एक राज्य था। सिकन्दर वहाँ के राजा फ़िलिप का बेटा था। उसने २२ वर्ष की अवस्था में, ई० पू० ३३३ में, और देशों को जीतने के लिए प्रस्थान किया। वह पूर्व की ओर बढ़ा और रास्ते में जो देश उसे मिले उन्हें उसने अपने अधीन कर लिया। ई० पू० ३३० में उसने ईरान के सम्राट् को पराजित किया और ई० पू० ३२७ में वह भारत की सीमा पर पहुँच गया। उस समय पंजाब कई छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था। सिन्ध-झेलम के दोआबे* के राजा अम्भी ने विजयी सिकन्दर का स्वागत किया। इस स्वागत से प्रोत्साहित होकर उसने ई० पू० जुलाई ३२६ में झेलम नदी को पार किया। झेलम और चिनाब नदियों के बीच के देश में पुरु नामक एक क्षत्रिय राजा राज्य करता था। यूनानियों ने उसका उल्लेख पोरस के नाम से किया है। उसने सिकन्दर को आगे बढ़ने से रोक लिया। झेलम के किनारे दोनों दलों में घोर युद्ध हुआ और पुरु बड़ी वहादुरी के साथ लड़ा। किन्तु अन्त में जब वह घायल होकर गिर पड़ा तब यूनानी सैनिक उसे पकड़कर सिकन्दर के सामने ले गये। तक्षशिला के राजा ने न केवल सिकन्दर का साथ दिया वल्कि उसने अपने प्रतिद्वन्द्वी पुरु को पराजित करने में भी सहायता दी। जब पुरु सिकन्दर के सामने लाया गया तो उसने पूछा—"तुम्हारे साथ कैसा बर्त्ताव किया जाय?" इस पर पुरु ने उत्तर दिया—"जैसा राजा राजाओं के साथ करते हैं।" इस उत्तर से सिकन्दर बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने फिर पुरु को उसका राज्य वापस दे दिया। इसके बाद यूनानी सेना व्यास नदी की ओर बढ़ी। मार्ग के सभी राजा पराजित हुए। व्यास नदी के तट पर सैनिकों को यह मालूम हुआ कि पाटलिपुत्र का नन्द राजा एक विशाल सेना लेकर युद्ध की प्रतीक्षा कर रहा है। इस समाचार को पाकर वे हतोत्साह हो गये और उन्होंने आगे बढ़ने से इनकार कर दिया। सिकन्दर को विवश होकर वापस लौटना पड़ा। झेलम नदी के पास उसने नावों का एक बेड़ा तैयार कराया और कुछ सेना को, अक्टूबर ३२५ ई० पू० में, समुद्र के मार्ग से भेज दिया। स्वयं वह एक दूसरे मार्ग से रवाना हुआ और विलोचिस्तान होता हुआ बेबीलोन पहुँचा। भारत में वह कुल १९ महीने रहा। बेबीलोन में ३२ वर्ष की अवस्था में, अधिक मद्यपान के कारण उसे ज्वर आ गया और ३२३ ई० पू० में उसका देहान्त हो गया।

सिकन्दर और प्रजातन्त्र राज्य—सिकन्दर के आक्रमण के समय पंजाब

---

* इस राज्य की राजधानी तक्षशिला थी। इसके खँडहर अभी तक पंजाब के अटक ज़िले में हसन अब्दाल के पास पाये जाते हैं।

में कई प्रजातन्त्र राज्य थे। यूनानी लेखकों ने कठ जाति का उल्लेख किया है। कठ लोग उस देश में बसे थे जहाँ अब लाहौर और अमृतसर के ज़िले हैं। साकल (स्यालकोट) उनकी राजाधानी थी। सिकन्दर के आने के पूर्व कठ जाति के लोगों ने पुरु को एक बार युद्ध में पराजित किया था।

पंजाब से वापस जाते समय मार्ग में सिकन्दर को कई राज्यों के साथ युद्ध करना पड़ा। इन राज्यों में प्रधान शूद्रक, मालव और शिवि थे। उनके पास एक लाख आदमियों की फ़ौज थी। उनकी सैनिक शक्ति को देखकर सिकन्दर ने उनके साथ सन्धि कर ली।

ये प्रजातन्त्र राज्य भारत में गुप्त काल तक रहे। गुप्त-साम्राज्य का अभ्युदय होने पर वे एक-एक करके लुप्त हो गये। गुप्त सम्राटों की शक्ति के सम्मुख उनका ठहरना सर्वथा असम्भव था।

आक्रमण का प्रभाव—सिकन्दर की सेना ने भारत में केवल पंजाब के छोटे-छोटे सरदारों को पराजित किया था। इससे अधिक सफलता उसे नहीं मिली थी। मगध-सम्राट के साथ उसका युद्ध नहीं हुआ, नहीं तो उसे मालूम हो जाता कि भारत पर विजय पाना कितना कठिन काम है। हारे हुए लोगों के साथ यूनानियों ने बड़ी निर्दयता का व्यवहार किया। उन्होंने नगरों को लूटा और लोगों को ग़ुलाम बनाकर बेच दिया।

एक यूनानी लेखक का लेख है कि सिन्धु नदी की तलहटी में ८०,००० हजार भारतवासी मारे गये थे। इस निर्दयता, रक्त-पात और अमानुषिक अत्याचार को देखकर यह कहना पड़ता है कि सिकन्दर तैमूर और नादिरशाह से किसी प्रकार भी कम नहीं था। इस काल के यूनानी भारतीय संस्कृति पर अपना कोई प्रभाव नहीं डाल सके। विश्व-साम्राज्य स्थापित करने का जो स्वप्न सिकन्दर देख रहा था वह बिलकुल विफल हुआ।

संक्षिप्त सनवार विवरण

		ई० पू०
बिम्बिसार का गद्दी पर बैठना	.. ..	५४३
दारा का भारत-विजय	.. ..	५१६
अजातशत्रु का गद्दी पर बैठना	.. ..	४९१
उदयी का गद्दी पर बैठना	.. ..	४५९
शिशुनाग का गद्दी पर बैठना	.. ..	४११
अवन्ती का मगध-राज्य में मिलना	.. ..	४१०
नन्दवंश का प्रारम्भ	.. ..	३४५
सिकन्दर का सिन्धु को पार करना	.. मार्च	३२६

सिकन्दर का भारत से लौटना	--	अक्टूबर ३२५
सिकन्दर की मृत्यु	--	-- ३२३

अध्याय ७

मौर्य-साम्राज्य और उसके बाद

चन्द्रगुप्त का सिंहासनारोहण—जिस समय सिकन्दर भारत से वापस लौटा उसी समय के लगभग मगध में सिंहासन के लिए क्रान्ति हो रही थी। चन्द्रगुप्त मौर्य नामक एक नवयुवक ने महाशक्तिशाली नन्द सम्राट् को पराजित कर दिया और वह स्वयं ई० पू० ३२५ में गद्दी पर बैठ गया। उसके विषय में यह जनश्रुति प्रसिद्ध है कि वह नन्द का बेटा था और मुरा नामक एक शूद्र स्त्री के गर्भ से उत्पन्न हुआ था। किन्तु यह कथा ठीक नहीं मालूम होती। यह हो सकता है कि चन्द्रगुप्त नन्द का पुत्र रहा हो और किसी मौर्य राजकुमारी के गर्भ से पैदा हुआ हो। बौद्ध लेखों के अनुसार मौर्य (मोरिया) लोग क्षत्रिय थे। कहा जाता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य, नन्द राजाओं का, सेनापति था। वह अपनी उन्नति चाहता था। उसने कुछ लोगों की सहायता से राज्य पर अधिकार करने के लिए षड्यन्त्र रचा परन्तु उसका सारा प्रयत्न विफल हुआ और वह पंजाब की ओर भाग गया। वहाँ सिकन्दर से उसकी भेंट हुई। पंजाब तथा हिमालय प्रदेशों के सरदारों के साथ मेल करके उसने मगध-साम्राज्य पर आक्रमण किया। यद्यपि इस आक्रमण का पूरा हाल नहीं मालूम है परन्तु इतना निश्चय है कि नन्द राजा युद्ध में पराजित हुआ, मार डाला गया और उसकी राजधानी पर चन्द्रगुप्त ने अपना अधिकार स्थापित कर लिया।

किंवदन्तियाँ अभी तक प्रचलित हैं कि इस कार्य में चाणक्य अथवा कौटिल्य नामक ब्राह्मण ने चन्द्रगुप्त की बड़ी सहायता की थी। किसी कारण से चाणक्य, नन्द-वंश के राजाओं से पहले ही से चिढ़ा हुआ था। वह एक विद्वान् पुरुष था और राजनीतिक दावँ-पेचों को खूब समझता था। उसने 'अर्थ-शास्त्र' नामक एक ग्रन्थ लिखा है जिसमें आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक विषयों पर महत्त्वपूर्ण विचार प्रकट किये गये हैं। 'मुद्राराक्षस' नामक संस्कृत नाटक में

इस बात का उल्लेख मिलता है कि चाणक्य की कूट-नीति से नन्द-वंश का सर्वनाश हुआ और चन्द्रगुप्त मौर्य को राज्य मिला।

चन्द्रगुप्त ने समस्त उत्तरी भारत को जीत लिया। दक्षिण का भी कुछ भाग उसके अधीन था। सिन्ध, काठियावाड़, गुजरात तथा मालवा भी सम्भवतः उसके साम्राज्य में शामिल थे।

सिल्यूकस नाइकेटर—सिल्यूकस सिकन्दर का एक सेनापति था। सिकन्दर की मृत्यु के बाद वह सिरिया (Syria) का शासक बन बैठा। वह भी भारत को विजय करना चाहता था। ३०५ ई० पू० के लगभग उसने सिन्धु नदी को पार किया किन्तु कुछ सफलता प्राप्त नहीं हुई। सिल्यूकस को वापस लौटना पड़ा और दबकर सन्धि करनी पड़ी। इस सन्धि के द्वारा उसने अफ़ग़ानिस्तान और बिलोचिस्तान के देश चन्द्रगुप्त को दे दिये। चन्द्रगुप्त ने उसकी लड़की के साथ विवाह कर लिया और ५०० हाथी उसे भेंट किये। इसके अतिरिक्त सिल्यूकस ने मेगास्थनीज़ नामक राजदूत को चन्द्रगुप्त के दरबार में भेज दिया। मेगास्थनीज़ ने मौर्य साम्राज्य के शासन-प्रबन्ध का विवरण लिखा है।

चन्द्रगुप्त का कार्य—२४ वर्ष तक सफलतापूर्वक शासन करने के बाद चन्द्रगुप्त ने अपनी राजगद्दी अपने पुत्र बिन्दुसार को (ई० पू० २००) सौंप दी। भारत के इतिहास में चन्द्रगुप्त मौर्य का शासन एक महत्त्वपूर्ण घटना है। अपने बाहुबल से उसने तथा उसके वंशजों ने एक विशाल साम्राज्य स्थापित किया। उसका शासन-प्रबन्ध सुव्यस्थित था। उसके राज्य में न तो कोई विद्रोह हुआ और न देश की शान्ति ही भंग हुई। यूनानियों को अच्छा सबक़ मिल गया था इसलिए उन्होंने सिल्यूकस के बाद १०० वर्ष तक भारत पर आक्रमण नहीं किया।

शासन-प्रबन्ध—वैदिक काल की शासन-पद्धति धीरे-धीरे लुप्त हो चुकी थी। मौर्य सम्राट् निरंकुश शासक था परन्तु मनमानी नहीं करता था। उसकी सहायता के लिए एक कौंसिल थी जिसे मन्त्रि-परिषद् कहते थे। राज्य के मामलों में यह परिषद् राजा को परामर्श देती थी। इस परिषद् के अतिरिक्त एक अंतरंग मन्त्रिमण्डल भी था जिसमें मन्त्री (प्रधान सचिव), पुरोहित, सेनापति तथा युवराज सम्मिलित होते थे। उनके नीचे शासन के विविध विभागों का प्रबन्ध करने के लिए अनेक अधिकारी थे। इनमें से तीन मुख्य थे—समाहर्तृ, सन्निधातृ तथा प्रादेशिक। समाहर्तृ राज्य की आय का हिसाब-किताब रखता था। सन्निधातृ राजकीय कोष तथा मालगोदाम की देख-रेख करता था और प्रादेशिक माल के महकमे तथा न्याय-विभाग का प्रधान था। इनके अतिरिक्त अन्तपाल और दुर्गपाल लोग थे जो साम्राज्य के दुर्गों की रक्षा

करते थे। राज-पुरोहित को छोड़कर और सब मुख्य-मुख्य मन्त्री क्षत्रिय होते थे। और उनका पद प्रायः मौरूसी होता था।

सारा साम्राज्य प्रान्तों में विभक्त था। प्रत्येक प्रान्त का शासन प्रादेशिकों की सहायता से राजवंश का कोई राजकुमार करता था। प्रत्येक प्रान्त कई जन-पदों में विभक्त होता था और प्रत्येक जनपद में कई गण अथवा स्थान होते थे। कई ग्रामों के समूह से गण बनता था।

ग्राम का प्रवन्ध ग्रामनिवासी ही करते थे। गाँव का मुखिया बड़े-बूढ़ों की सलाह से मामलों का निपटारा करता था। मुखिया के ऊपर के अधिकारियों को गण और स्थानिक कहते थे। उनका अधिकार-क्षेत्र अधिक विस्तृत था। नगर का प्रबन्ध भी नागरिकों द्वारा इसी प्रकार होता था। नगर के प्रधान अधिकारी को नागरिक कहते थे और उसको वही काम करना पड़ता था जो आजकल कोतवाल करता है। वह मनुष्यों और उनकी धन-सम्पत्ति का उल्लेख रखता था और सरायों की देख-भाल करता था। जिन स्थानों पर खेल-तमाशे होते थे उनकी भी निगरानी करना उसका काम था। बाज़ार के क्रय-विक्रय का निरीक्षण भी वही करता था और परदेशी लोगों के चाल-चलन की भी देख-रेख करता था।

साम्राज्य की समस्त भूमि राजा की होती थी। ज़मींदारी-प्रथा नहीं थी। किसानों के हितों की पूर्ण रक्षा की जाती थी। भूमि की उपज का चतुर्थांश उन्हें राज्य को देना पड़ता था। शिल्पजीवियों से कोई कर नहीं लिया जाता था।

राजा देश में सबसे बड़ा न्यायाधीश था। वह रोज़ दरबार करता था और लोग उनके पास जाकर अपनी फ़रियाद करते थे। झगड़ों का निपटारा अधि-करियों अथवा पंचायतों द्वारा होता था। अपील राजा स्वयं सुनता था।

मेगास्थनीज़ लिखता है कि फ़ौजदारी का क़ानून बहुत कड़ा था। छोटे-छोटे अपराधों के लिए हाथ-पैर काट लिये जाते थे। झूठी गवाही देनेवाले का अंगच्छेद किया जाता था। यदि कोई मनुष्य किसी कारीगर का हाथ तोड़ या काट डालता अथवा उसकी आँख फोड़ डालता तो उसे फाँसी की सज़ा दी जाती थी। इन कड़े क़ानूनों का परिणाम यह हुआ कि अपराध बहुत कम होते थे और मुक़दमा-बाज़ी भी कम थी।

राजा और उसके बड़े अफ़सर गुप्तचर रखते थे। वे अनेक भाषाएँ और बोलियाँ जानते थे और कई तरह के भेष बदलना जानते थे। राजा को सदा यह भय लगा रहता था कि कोई उसे विष न दे दे अथवा मार न डाले। उसके महल की रक्षा बड़ी चौकसी के साथ होती थी। महल के अन्दर जो कोई चीज़ जाती थी वह रजिस्टरों में दर्ज की जाती थी। मेगास्थनीज़ लिखता है कि राजा प्रत्येक रात्रि को अपने सोने का कमरा बदल देता था। महल में सोने और जवाहरात

की कोई कमी न थी। शासन-व्यवस्था की छोटी-छोटी बातों को राजा स्वयं देखता था। इस कारण उसका दैनिक कार्य बहुत बढ़ जाता था। इतना होने पर भी वह जनता के दुःखों को सुनने के लिए सदैव तैयार रहता था।

विदेशियों के साथ अच्छा बर्त्ताव किया जाता था। हाकिमों को हिदायत दी जाती थी कि वे उनके आराम और सुभीते का खयाल रक्खें। न्यायाधीश बड़ी सावधानी से मुक़दमों पर विचार करते थे और जो कोई उन्हें कष्ट देता था उसे उचित दण्ड दिया जाता था। यदि कोई विदेशी बीमार पड़ जाता तो राज्य के वैद्य उसकी चिकित्सा करते थे और यदि दैवात् वह मर जाता तो उसकी सम्पत्ति उसके वारिसों को दे दी जाती थी।

साम्राज्य, सैनिक शक्ति पर निर्भर था, इसलिए सेना का संगठन बहुत अच्छा था। फ़ौजी अफ़सर छः कमेटियों में विभक्त किये गये थे और प्रत्येक कमेटी में पाँच सदस्य होते थे। ये लोग जहाज़ी बेड़ा, फ़ौजी रसद, पैदल और अश्वारोही सेना, लड़ाई के रथों और हाथियों का प्रबन्ध करते थे। सेना बहुत शक्तिशाली थी। उसमें छः लाख पैदल सिपाही, तीस हज़ार अश्वारोही, नौ हज़ार हाथी और असंख्य रथ थे। चन्द्रगुप्त ने बलात् सिंहासन पर अधिकार जमाया था इसलिए उसे कठोर नीति से काम लेना पड़ता था। उसकी मृत्यु के बाद शासन में बहुत-सा परिवर्तन हो गया। अशोक ने साम्राज्य की सारी शक्ति को धर्म-प्रचार में लगा दिया।

पाटलिपुत्र—पाटलिपुत्र मगध की राजधानी था और सोन तथा गंगा के संगम पर बसा था। इसकी लम्बाई ९ मील और चौड़ाई १½ मील थी। इसके चारों ओर लकड़ी की एक मज़बूत दीवार थी जिसमें ६४ फाटक और ५७० बुर्ज तथा मीनारें थीं। दीवार के चारों तरफ़ एक गहरी खाई थी जिससे कोई शत्रु सहसा नगर पर आक्रमण न कर सके। राजप्रासाद भी लकड़ी का बना हुआ था किन्तु सुन्दरता और सज-धज में बिलकुल बेजोड़ था। नगर का प्रबन्ध एक म्यूनिसिपल कमेटी द्वारा होता था। इसमें कुल छः समितियाँ थीं और प्रत्येक समिति में पाँच-पाँच सदस्य थे। इन समितियों का काम अलग-अलग बँटा हुआ था। पहली समिति लोगों के जन्म-मरण का लेखा रखती थी। दूसरी समिति दस्तकारी का प्रबन्ध करती थी। तीसरी समिति टैक्स अथवा कर वसूल करती थी। चौथी समिति विदेशियों की देख-भाल करती थी और उनकी सुविधाओं का प्रबन्ध करती थी। पाँचवीं समिति वाणिज्य-व्यापार की व्यवस्था करती थी। छठी उद्योग-व्यवसाय का निरीक्षण करती थी।

आर्थिक और सामाजिक स्थिति—मेगास्थनीज लिखता है कि लोग बड़ी सादगी से रहते थे। विशेषकर उस समय जब वे फ़ौजी पड़ाव पर रहते थे। चोरी बहुत कम होती थी। क़ानून बहुत सरल थे। लोग मुक़दमेबाजी बहुत कम करते

थे। वे ऐसे ईमानदार थे कि उन्हें रुपया जमा करने या चीज़ गिरवी रखने के लिए मुहरों या गवाहों की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। धन-सम्पत्ति की रक्षा के लिए पहरेदार नहीं रक्खे जाते थे। लोग घरों में ताले नहीं लगाते थे। सचाई और आचरण की पवित्रता पर बहुत ध्यान दिया जाता था। दासता का चिह्न भी न था। जाति-पाँति का भेद-भाव था और अन्तर्जातीय विवाह नहीं होते थे। लोग आभूषण तथा बढ़िया और भड़कीली चीज़ें बहुत पसन्द करते थे। त्यौहारों के अवसर पर धूमधाम के साथ उत्सव मनाया जाता था। ब्राह्मण पशुओं का मांस नहीं खाते थे। वे अपना समय अध्ययन और शास्त्रार्थ में व्यतीत करते थे। देश में मूर्त्ति-पूजा का प्रचार था। प्रायः लोग शिव और विष्णु की पूजा करते थे। पंजाब में कुछ अद्भुत प्रथाएँ प्रचलित थीं जैसे लड़कियों का बेचना और विधवाओं का अग्नि में जलाना आदि।

लोगों की आर्थिक दशा के सम्बन्ध में मेगास्थनीज़ लिखता है कि भारतवासी अनेक व्यवसाय करते थे। विशेषकर वे धातु का काम करने और कपड़ा बुनने में लगे रहते थे। देश में अनेक धनी पुरुष थे जिनका समाज में बड़ा प्रभाव था। व्यापारी राज्य से वेतन पाते थे। वे राजकीय माल की देख-भाल करते थे और चीज़ों के निर्ख और बिक्री पर नज़र रखते थे। व्यापार उन्नत दशा में था। मसाले और सोने-चाँदी की बहुमूल्य चीज़ें भारत के प्रत्येक भाग से आती थीं। लंका तथा समुद्र-पार से मोती-जवाहिरात आते थे। मलमल, रेशम और सूत के कपड़े चीन और सुदूर भारत से मँगाये जाते थे। राज्य के अफ़सर इस बात का हिसाब रखते थे कि व्यापारी कहाँ से आते हैं और कहाँ जाते हैं। चीज़ों का निर्ख नियत करने के लिए व्यापारी आपस में गुट्ट नहीं बनाने पाते थे। मामूली चीज़ों के दाम नियत कर दिये जाते थे और राज्य के कर्मचारी उनकी घोषणा कर देते थे। बाँटों की जाँच होती थी। माल पर चुंगी ली जाती थी। राज्य में अनेक कार-खाने और गोदाम थे। अनाथ और असहाय स्त्रियों के लिए सूत-कताई के आश्रम खुले हुए थे। दीनों को भोजन और वस्त्र दिये जाते थे। सिक्के जारी करने का अधिकार केवल राजा ही को था।

अर्थ-शास्त्र—कौटिल्य ने अर्थ-शास्त्र नामक एक बड़ा ग्रन्थ लिखा है और उसमें बताया है कि राजा को शासन-व्यवस्था किस प्रकार करनी चाहिए। वह लिखता है कि राजा को तीन या चार मन्त्री रखने चाहिए। इन मन्त्रियों के अतिरिक्त परामर्श देने के लिए एक परिषद् होनी चाहिए। परन्तु उसके सदस्यों की संख्या निश्चित नहीं की गई है। सन्निधातृ का काम राजा के परिवार, राजकोष तथा सिक्के आदि का प्रबन्ध करना था। शासन-प्रबन्ध का कार्य लगभग २५ अध्यक्षों द्वारा सञ्चालित होता था और समाहर्तृ कर और महसूल वसूल करता था। ये अध्यक्ष मन्त्रियों तथा अन्य बड़े-बड़े हाकिमों की अधीनता

में काम करते थे। कौटिल्य ने प्रान्तीय तथा स्थानीय शासन-व्यवस्था के सम्बन्ध में भी विस्तारपूर्वक लिखा है। उसने यह भी बतलाया है कि अदालतों का किस प्रकार प्रबन्ध होना चाहिए। राजा का कर्त्तव्य है कि अपनी प्रजा के साथ दया का बर्ताव करे और उसके हित का सदैव ध्यान रक्खे। अपराधों के लिए कड़े दण्ड निर्धारित किये गये हैं। छोटे-छोटे अपराधों के लिए प्राण-दण्ड तक देने का विधान है। कौटिल्य की राय में परराष्ट्र के प्रति किसी भी प्रकार की नीति का व्यवहार किया जा सकता है। इसमें उचित और अनुचित का विचार नहीं करना चाहिए।

बिन्दुसार—चन्द्रगुप्त मौर्य का बेटा बिन्दुसार ई० पू० ३०० के लगभग सिंहासन पर बैठा। उसके शासन-काल में कोई महत्त्वपूर्ण घटना नहीं हुई। केवल इतना ही मालूम हुआ है कि पड़ोस के यूनानी सरदारों के साथ उसकी मित्रता थी। ई० पू० २७४ के लगभग उसका देहान्त हो गया। उसके बाद उसका लड़का अशोक गद्दी पर बैठा।

अशोक—प्रारम्भिक जीवन में कुछ किंवदन्तियों के अनुसार अशोक अपने ९९ भाइयों को मारकर गद्दी पर बैठा था। किन्तु इनमें तथ्य कुछ भी नहीं है। यह सम्भव है कि सिंहासन के लिए उसे अपने भाइयों के साथ युद्ध करना पड़ा हो और उसके भाइयों ने अन्त में हार मान ली हो। यों तो वह ई० पू० २७४ में गद्दी पर बैठा किन्तु उसका राज्याभिषेक चार वर्ष के बाद हुआ। गद्दी पर बैठते ही उसने 'प्रियदर्शी' और 'देवानाम्प्रिय' आदि उपाधियाँ धारण कीं। ई० पू० २६२ के लगभग उसने कलिंग देश पर चढ़ाई की और उसे जीतकर अपने राज्य में मिला लिया। युद्ध की भीषणता और घोर रक्तपात को देखकर उसे बड़ा दुःख हुआ। उसने संकल्प किया कि अब फिर कभी युद्ध न करूँगा। इस घटना के थोड़े ही दिनों बाद बौद्ध-भिक्षुओं के साथ अशोक का सम्पर्क हुआ और उसने बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया। ई० पू० २५८ तक वह एक कट्टर बौद्ध बन गया और जनता में बौद्धमत का प्रचार करने लगा।

अशोक की शिक्षाएँ—अपने सिद्धान्त का सर्व-साधारण में प्रचार करने के लिए उसने एक नया उपाय निकाला। देश के अनेक भागों में उसने लाटें* गड़वाईं और उन पर लेख खुदवाये। कुछ चट्टानों की सतहों को साफ़ और चिकनी करके उन पर भी लेख खुदवाये। अपने अनेक लेखों में अशोक ने यह बतलाया है कि सच्चा धर्म क्या है जिसका लोगों को अनुसरण करना चाहिए। वह कहता था

---

* संयुक्त प्रान्त में देहरादून के समीप कलसी में शिलालेख मिले हैं। काशी के निकट सारनाथ और इलाहाबाद के क़िले के अन्दर अशोक के स्तम्भ-लेख मिलते हैं। स्तम्भ-लेख संख्या में कुल ७ हैं और शिला-लेख १४।

कि माता-पिता और बड़ों की आज्ञा का पालन करना, गुरु का आदर करना, ब्राह्मण, बौद्ध भिक्षुओं, सम्बन्धियों, नौकर-चाकरों तथा दीनों के प्रति उचित व्यवहार करना, जीव-हिंसा न करना, दया करना, दान देना और शुद्ध आचरण रखना ही सच्चा धर्म है। उनकी शिक्षाएँ इतनी सरल थीं कि कोई भी मनुष्य बिना बौद्ध-धर्म ग्रहण किये उन पर आचरण कर सकता था। यद्यपि ये सब शिक्षाएँ बौद्ध धर्म-ग्रन्थों से ली गई हैं किन्तु उनका समावेश सब धर्मों में है।

अशोक का धम्म (धर्म)—अशोक बौद्ध धर्म का अनुयायी था किन्तु वह सब धर्मों का आदर करता था। उसमें धार्मिक मात्रा, उदारता और सहिष्णुता अधिक थी। उसने एक लेख खुदवाया जिसमें धार्मिक सहिष्णुता का इस प्रकार वर्णन किया है—"जो अपने धर्म का आदर करता है और अकारण ही दूसरों के धर्म की निन्दा करता है वह वास्तव में अपने आचरण द्वारा अपने ही धर्म को बड़ी हानि पहुँचाता है। ऐसा मनुष्य धर्म के तत्त्व को नहीं जानता।"

इस धर्म का पालन सभी लोग कर सकते थे। छोटे-बड़े सबको इस धर्म पर चलने का राज्य की ओर से आदेश था। कर्मचारियों को आज्ञा थी कि वे धनवान् तथा धनहीन सबको दान करने का आदेश करें। यही शिक्षा लाटों पर खुदवाई गई और जनता में इसका प्रचार किया गया। अशोक का मन्तव्य यज्ञ प्राप्त करना नहीं था। उसकी इच्छा थी कि उसके वंशज इसी सन्मार्ग पर चलें और प्रजा के हित को अपना लक्ष्य बनायें। प्राचीन काल के पुस्तकालय नष्ट हो गये हैं परन्तु अशोक की लाटें अब तक मौजूद हैं और हमें उसके सत्कर्मों का स्मरण कराती हैं।

बौद्ध धर्म का प्रचार—अशोक ने बौद्ध धर्म को बड़ा आश्रय दिया। वह बौद्ध धर्म का एक प्रसिद्ध आचार्य बन गया। उसके शासन के इक्कीसवें वर्ष में पाटलिपुत्र में बौद्धों की तीसरी सभा हुई। उसमें विभिन्नताओं का उल्लेख किया गया और सिद्धान्त का निर्णय हुआ। सभा के समाप्त होने के बाद अशोक ने काश्मीर, गान्धार, बैक्ट्रिया, हिमालय प्रदेश, दक्षिण भारत तथा लंका, पीगू, पूर्वी द्वीपसमूह, सिरिया तथा मिस्र आदि बाहर के देशों में अपने धर्म-प्रचारक भेजे। धर्म-प्रचारकों का जो दल लंका भेजा गया उसके प्रधान अशोक के पुत्र महेन्द्र और उसकी पुत्री संघमित्रा थे। बोधगया में जिस वृक्ष के नीचे बुद्ध भगवान् को निर्वाण प्राप्त हुआ था उसकी एक शाख भी वे लंका ले गये थे।

बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए उसने बहुत से कर्मचारी नियुक्त किये जो दौरे पर जाकर सर्वसाधारण को धर्म और सदाचार का उपदेश करते थे। उसकी आज्ञा थी कि उसके भोजनालय में केवल तीन जीवित जन्तु—दो मोर और एक हिरन—मारे जायँ। इन पशुओं का वध भी कुछ समय के बाद उसने बिलकुल बन्द कर दिया। राजधानी में यज्ञ का निषेध हो गया। ऐसे नाटकों का

खेला जाना बन्द कर दिया गया जिनमें पशु-युद्ध तथा सुरापान आदि के दृश्य रहते थे। इन नाटकों के स्थान में उसने अन्य प्रकार के खेल-तमाशे और मनोविनोद के साधनों की व्यवस्था की। उसने तीर्थस्थानों की यात्रा की और बुद्ध भगवान् के जन्म-स्थान का भी दर्शन किया।

अशोक और लोक-कल्याण—अशोक अपनी प्रजा की उन्नति का बहुत ध्यान रखता था। मनुष्यों और पशुओं के लिए उसने चिकित्सालय स्थापित किये। सड़कों के किनारे कुएँ खुदवाये और फलनेवाले छायादार वृक्ष लगवाये। उसने इस बात की भी खूब चेष्टा की कि उसके कर्मचारी प्रजा पर अत्याचार न करने पावें। पशुओं पर भी वह बड़ी दया करता था। उनके लिए भी उसने अस्पताल खुलवा दिये थे। राज्य में उसने घोषणा कर दी थी कि वर्ष के कुछ दिनों में जीव-हिंसा बिलकुल बन्द कर दी जाय।

इन तमाम कार्यों में सफलता प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक था कि सम्राट् स्वयं परिश्रम करता। राज्य का काम करने के लिए वह दिन-रात तैयार रहता था। इतने पर भी वह अपने काम से सन्तुष्ट न था।

अशोक का शासन-प्रबन्ध—अशोक का राष्ट्रीय आदर्श बहुत उत्कृष्ट था। वह कहता था कि सब लोग मेरी सन्तान के तुल्य हैं। जिस प्रकार मेरी यह अभिलाषा रहती है कि मेरी सन्तान इस लोक तथा परलोक में सब प्रकार सुखी एवं समृद्धिशाली हो, उसी प्रकार सबके लिए मेरी ऐसी ही कामना है।

अशोक बड़ा परिश्रमशील था। वह प्रत्येक समय प्रत्येक स्थान पर राज-कार्य में तैयार रहता था। अफ़सरों को आज्ञा थी कि प्रजा के मामलों की सम्राट् को फ़ौरन सूचना दिया करें, वह चाहे शयन-गृह में हो चाहे क्रीड़ा-स्थल में। राजा स्वयं प्रजा की दशा को अच्छी तरह जानने के लिए देश में भ्रमण किया करता था।

साम्राज्य दो प्रकार के सूबों में विभक्त था। बड़े सूबों का शासन करने के लिए राज-वंश के लोग नियुक्त किये जाते थे और छोटे सूबे दूसरे शासकों के अधीन होते थे। अशोक के लेखों में वैसे चार प्रान्तों का वर्णन है जहाँ राज-वंश के लोग शासन करते थे।

(१) गान्धार; जिसकी राजधानी तक्षशिला थी।
(२) दक्षिण प्रान्त; जिसकी राजधानी सुवर्णगिरि थी।
(३) कलिंग; जिसकी राजधानी तोसाली (आधुनिक धौली) थी।
(४) मध्य प्रान्त; जिसकी राजधानी उज्जयिनी अथवा उज्जैन थी।

रुद्रदामा के जूनागढ़वाले लेख से पता चलता है कि सौराष्ट्र तथा काठियावाड़ का शासन करने के लिए एक यवन नियुक्त किया गया था। बड़े प्रान्तों के अध्यक्षों की मदद के लिए महामात्र नाम के अफ़सर नियुक्त थे। अशोक के

अशोक का साम्राज्य
काबुल
गज़नी
पेशावर
तक्षशिला
श्रीनगर
गान्धार
यवनराज्य
साकल
मूलस्थानपुर
अम्बाला
टोपरा
देहरादून
इन्द्रप्रस्थ
मथुरा
बैराट
श्रावस्ती
कपिलवस्तु
पाटलिपुत्र
प्रयाग
काशी
सहसराम
म ग ध
चम्पा
बोधगया
अं ग
वि दि सा
रूपनाथ
उज्जैन
सांची
सौ रा ष्ट्र
गिरनार
भो ज
पु लिं द
ताम्रलिप्ति
(धौली) तोसाली
जौगढ़
सोपारा
रा ष्ट्री क
क लिं ग
बं गा ल
की
खा ड़ी
अ र ब
सा ग र
सिद्धपुर
तंजौर
शिलालेख
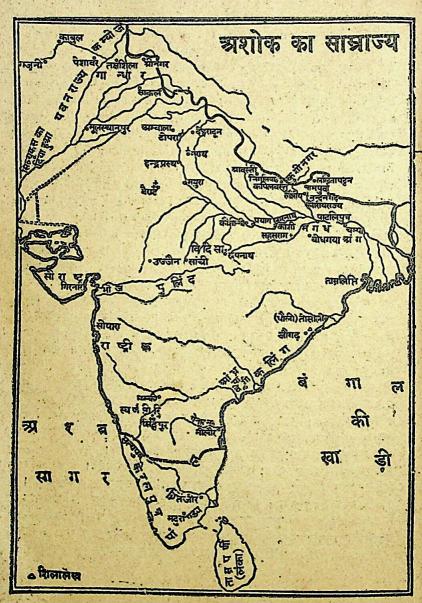
लेखों में तीन और अफ़सरों का उल्लेख मिलता है। ये हैं प्रादेशिक, राजुक और युक्त। प्रादेशिक भूमिकर और पुलिस का प्रबन्ध करता था। राजुक की अधीनता में सहस्रों मनुष्यों की खपत थी। उसका काम ज़मीन की पैमाइश करना और सीमा निर्धारित करना था। युक्त ज़िलों के अफ़सर होते थे।

युक्त सम्राट् की आय और सम्पत्ति की देख-भाल करते थे। प्रति पाँचवें वर्ष बड़े-बड़े अफ़सर सारे राज्य में दौरा करते थे और लोगों को सदाचार की शिक्षा देते थे। धर्म की शिक्षा देने के लिए धर्ममहामात्र नाम के अफ़सर थे जो अन्याय का प्रतिकार तथा राज-परिवार के दान का भी प्रबन्ध करते थे। इनके अतिरिक्त ऐसे भी निरीक्षक थे जो लोगों के आचरण पर नज़र रखते थे और देखते थे कि सम्राट् के धार्मिक नियमों का पालन होता है या नहीं। सब लोगों को राज्य की ओर से आदेश था कि वे दयालु, उदार, सत्यवादी, पवित्र तथा विनम्र बनें। सम्राट् की आज्ञा थी कि राज-कर्मचारी सदैव अपने काम में तत्पर रहें और शीघ्रता से अपने कर्त्तव्य का पालन करें। मनमानी तौर पर लोग क़ैद नहीं किये जाते थे और यदि कर्मचारी अनुचित कार्य करते तो उन्हें दण्ड दिया जाता था। अनाथ बच्चों, विधवाओं, असहायों और वृद्धों की सुविधा का विशेष ध्यान रक्खा जाता था। धर्म का एक अलग विभाग था। युद्ध बन्द कर दिया गया और सम्राट् ने प्रजा के मन से भय तथा शंका दूर करने के लिए पूरा प्रयत्न किया। यवन, गान्धार आदि सीमान्त प्रदेशों के साथ समानता का व्यवहार किया गया। अशोक अपने प्रेम तथा अपनी शुभेच्छा का सन्देश उनके पास भेजता था और जंगल के निवासियों के प्रति भी दया का बर्ताव करता था। सम्राट् सदाचार पर विशेष ज़ोर देता था। उसका कहना था कि राजा का गौरव देश जीतने में नहीं है बल्कि प्रजा की धार्मिक उन्नति में है।

साम्राज्य का विस्तार—अशोक का साम्राज्य सारे भारत में फैला हुआ था। दक्षिण की ओर मैसूर के ऊपरी भाग तक, उत्तर-पश्चिम की ओर काश्मीर, हिमालय-प्रदेश तथा अफ़ग़ानिस्तान और बिलोचिस्तान के कुछ भाग उसमें शामिल थे। इसके नीचे पंजाब और सिन्ध से लेकर बंगाल और बिहार तक तथा गुजरात एवं मालवा से कलिंग प्रान्त तक का देश इसमें शामिल था। समस्त पश्चिमी तथा मध्य भारत अशोक के साम्राज्य में थे। विन्ध्य पर्वत के उस पार पेनार नदी तक उसका राज्य था। सुदूर दक्षिण के राज्य—चोल, चेर, पाण्ड्य और सत्यपुत्र स्वाधीन थे। साम्राज्य की उत्तरी-पश्चिमी तथा दक्षिणी सीमा पर कुछ अर्द्ध-स्वाधीन राज्य थे जो सम्राट् अशोक का आधिपत्य स्वीकार कर चुके थे।

अशोक का चरित्र—भारतीय इतिहास में अशोक बहुत बड़े राजाओं में गिना जाता है। राजनीति में उसने बहुत ऊँचे आदर्शों का समावेश किया। उसका कहना था कि वास्तविक विजय वह है जो सत्य-द्वारा प्राप्त की जाय। शारीरिक

बल द्वारा प्राप्त विजय को वह विजय नहीं समझता था। वह अपनी प्रजा से प्रेम करता था और उनके हित के लिए भरसक उसने प्रयत्न किया। अमीर-ग़रीब दोनों को वह समान समझता था और देश भर में दौरा करके वह लोगों की वास्तविक दशा का ज्ञान प्राप्त करता था। इस प्रकार उसने उनके जीवन को अधिक सुखमय बनाने का उद्योग किया। वह सब पर दया करता था और दान देने में बौद्धों तथा अन्य धर्मवालों में कोई भेद-भाव नहीं करता था। धर्म के विषय में वह बड़ा ही सहिष्णु था और दूसरों को भी यही शिक्षा देता था। वह सदाचार पर ज़ोर देता था और अपने एक लेख में उसने यह कहा—"माता-पिता की आज्ञा का पालन अवश्य होना चाहिए। इसी प्रकार जीव-जन्तुओं का आदर अवश्य किया जाय; सत्य अवश्य बोला जाय। शिष्यों को अपने गुरु का सम्मान करना चाहिए और सम्बन्धियों के प्रति उचित शिष्टाचार का व्यवहार करना चाहिए।"

अशोक एक सच्चे धर्म-प्रचारक की भाँति अपना जीवन व्यतीत करता था। अपने धर्म पर वह स्वयं आचरण करता था और दूसरों को भी वैसा ही करने का उपदेश करता था। इतिहास के पृष्ठों में उसका नाम सदा अजर-अमर रहेगा। उसके समान दूसरा कोई राजा भारत के क्या संसार के इतिहास में नहीं हुआ।

अशोक के समय का सामाजिक जीवन—अशोक के शासन-काल में भारत की सामाजिक स्थिति में बड़ा परिवर्तन हुआ। सारे देश में धर्म का राज्य फैल गया और सभी लोगों ने उसका अनुभव अपने जीवन में किया। ब्राह्मण, श्रवण, आजीविक आदि अनेक सम्प्रदाय थे। परन्तु राज्य की ओर से सबके साथ निष्पक्षता का व्यवहार किया जाता था और सबको इस बात की हिदायत की गई थी कि धर्म के मामलों में सहिष्णु होना सीखें, सत्य का आदर करें और वार्तालाप में संयम से काम लें। देश में बहुत से साधु थे जिनमें से कोई-कोई समाज की अच्छी सेवा करते थे। कभी-कभी राजकुमार तथा राजकुमारियाँ भी धर्म-प्रचार के लिए दूर देशों में जाती थीं। लोगों का धार्मिक दृष्टि-कोण उदार था। समुद्रयात्रा का निषेध नहीं था। ऐसा करने पर लोग जाति से बहिष्कृत नहीं किये जाते थे। कभी-कभी विदेशी भी हिन्दू बना लिये जाते थे और लोकमत कभी इस कार्य को बुरा नहीं समझता था। एक यूनानी हिन्दू-धर्म में दीक्षित किया गया और उसका नाम धर्मरक्षित रक्खा गया। अशोक ने अपनी शिक्षाओं को बोल-चाल की भाषा में लाटों पर खुदवाया था। इससे मालूम होता है कि उस समय शिक्षा का काफ़ी प्रचार था। देश में बहुत से मठ और पाठशालाएँ थीं। इतिहासकार स्मिथ शिक्षा के सम्बन्ध में इस प्रकार लिखता है—"मेरी सम्मति में अशोक के समय की बौद्ध-जनता में प्रतिशत शिक्षितों की संख्या आधुनिक ब्रिटिश भारत के अनेक प्रान्तों की अपेक्षा अधिक थी।"

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चारों वर्णों के लोग सुखी तथा सदाचारी थे। सम्बन्धियों, मित्रों और नौकरों तथा पशुओं के साथ भी दया का बर्ताव किया जाता था। साधु-महात्माओं के भरण-पोषण की सहायता का भी प्रबन्ध किया जाता था। बाल-विवाह तथा बहुविवाह की प्रथाएँ प्रचलित थीं। अशोक के कई रानियाँ थीं। उसने १८ वर्ष की अवस्था में अपना विवाह किया था और उसकी सबसे बड़ी लड़की का विवाह १४ वर्ष की अवस्था में हुआ था। मांस खाने का रवाज कम हो रहा था। आज-कल की तरह उस समय पर्दे की प्रथा न थी किन्तु महिलाएँ अन्तःपुर में रहती थीं। हिन्दू स्त्रियाँ आज-कल की तरह बालक का जन्म होने पर और यात्रा के समय अनेक अनावश्यक क्रियाएँ करती थीं। अशोक ने भी लिखा है कि स्त्रियाँ बहुत से निरर्थक धार्मिक संस्कार करती हैं।

मौर्यकालीन कला—अशोक ने बहुत से नगर, स्तूप, विहार और मठ बनवाये। स्थान-स्थान पर अनेक लाटें गड़वाईं। उसके लेखों से इस बात का प्रमाण मिलता है। उसने काश्मीर की राजधानी श्रीनगर की स्थापना की और एक दूसरा नगर उसने नेपाल में बसाया। कहा जाता है कि अशोक अपनी लड़की चारुमती और उसके क्षत्रिय पति देवपाल के साथ वहाँ गया था। अशोक का महल ऐसा सुन्दर था कि लगभग ९०० वर्ष के बाद जब चीनी यात्री फ़ाह्यान भारत में आया तब उसे देखकर वह चकित रह गया कि ऐसा सुन्दर प्रासाद मनुष्य के हाथ का बनाया हुआ हो सकता है। उसकी चित्रकारी और पत्थर की खुदाई को देखकर वह मुग्ध हो गया। अशोक की बनवाई हुई बहुत सी इमारतें नष्ट हो गई हैं परन्तु साँची (भूपाल राज्य में स्थित) तथा भरहुत (इलाहाबाद से दक्षिण-पश्चिम की ओर ९५ मील पर बघेलखण्ड में स्थित) के स्तूप अब भी उसकी स्मृति की रक्षा कर रहे हैं। अशोक ने कई लाटें बनवाईं जो देश के सब भागों में पाई जाती हैं। इनमें से साँची, प्रयाग, सारनाथ और लौरिया नन्दन-गढ़ की लाटें अधिक प्रसिद्ध हैं। इनमें कुछ स्तम्भों के ऊपर सिंह की मूर्त्तियाँ हैं। दिल्ली की लाट को १३५६ ई० में फ़ीरोज़ तुग़लक़ टोपरा नामक गाँव (मेरठ जिले में स्थित) से उठाकर लाया था। यह उस काल के स्थापत्य का एक अद्भुत नमूना है। इसकी बनावट और चमक अत्यन्त सुन्दर है। इन लाटों को उठाकर खड़ी करने में उस काल के इंजीनियरों ने जो कुशलता दिखाई है वह भी ऊँचे दर्जे की है। सर जान मार्शल का कथन है कि सारनाथ के शिला-स्तम्भ पर जानवरों के जो चित्र खोदे गये हैं वह कला और शैली दोनों दृष्टि से बहुत उच्च कोटि के हैं। पत्थर पर इतनी सुन्दर खुदाई भारत में कभी नहीं हुई और न प्राचीन संसार में ही इसके जोड़ की कोई चीज़ मिलती है। संगतराशों नें आश्चर्यजनक पटुता दिखाई है और ऐसा बारीक काम

किया है जो आज-कल के कारीगरों के लिए सर्वथा दुष्प्राप्य है। कुछ ऐसी गुफ़ाएँ भी हैं जिन पर अशोक तथा उसके उत्तराधिकारियों के लेख खुदे हुए हैं। ऐसी कुल सात गुफ़ाएँ हैं और गया के पास बराबर की पहाड़ियों में स्थित हैं। उन पर मौर्य-काल की चमकीली पालिश है। दीवारें और छतें शीशे की तरह चमकती हैं। मौर्य-काल के कारीगर जौहरी का काम भी खूब जानते थे। वे बड़ी होशियारी और सफलता के साथ पत्थरों को काटते और उन पर पालिश करते थे।

कुछ विद्वानों का मत है कि मौर्य-कालीन कला पर यूनानी तथा ईरानी कला का प्रभाव पड़ा है। किन्तु इस कथन का कोई विश्वसनीय प्रमाण नहीं मिलता। यह ज़रूर है कि उस काल में विदेशी लोग भारत में आये और बस गये। अशोक ने पश्चिम के प्रसिद्ध देशों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित कर लिया था। सम्भव है कि उन देशों की कला का यहाँ की कला पर प्रभाव पड़ा हो।

इतिहास में अशोक का स्थान—इतिहास में अशोक का स्थान बहुत ऊँचा है। ऐसा और कोई राजा नहीं हुआ जिसने अपनी प्रजा का इतना हित किया हो। उसका आदर्श केवल मनुष्यों में ही भ्रातृभाव पैदा करना नहीं था वरन् जीव-मात्र में। उसने समस्त संसार के हित का ध्यान रक्खा और शारीरिक और आध्यात्मिक उन्नति के लिए प्रयत्न किया। पशुओं पर भी वह बड़ी दया करता था। अपने निकटवर्ती देशों में धर्म-प्रचार कर उसने बौद्ध धर्म को विश्वव्यापी कर दिया। इसका नतीजा यह हुआ कि भारत के लोग पूर्वी द्वीप-समूह में जाकर बस गये और वहाँ उन्होंने अपनी संस्कृति का प्रचार किया। राजा की बड़ाई की असली कसौटी यह है कि उसने अपने राजत्व-काल में संसार को अधिक सुखी बनाया या नहीं। इस विचार से अशोक की गिनती अवश्य बड़े राजाओं में होनी चाहिए। इतिहास के अनेक राजाओं के चरित्र की आलोचना करता हुआ अँगरेज़ विद्वान् एच्० जी० वेल्स लिखता है—

"इतिहास के पृष्ठों में जिन सैकड़ों और हज़ारों राजा-महाराजाओं के नाम आते हैं उनमें केवल अशोक का नाम एक सितारे की तरह चमकता है। उसके नाम का सम्मान अभी तक वाल्गा नदी से जापान तक होता है। चीन और तिब्बत में उसकी महत्ता का सिक्का जमा हुआ है और भारतवर्ष में भी, जहाँ बौद्ध धर्म का लोप हो गया है, अभी तक आदर के साथ उसका नाम लिया जाता है।"

अशोक ने आध्यात्मिक उन्नति पर इतना ज़ोर दिया कि लोगों का सैनिक बल क्षीण हो गया और उनकी हिम्मत भी कम हो गई। धीरे-धीरे साम्राज्य का पतन आरम्भ हो गया।

साम्राज्य का पतन—अशोक के उत्तराधिकारी शक्तिहीन थे। वे इतने बड़े साम्राज्य का प्रबन्ध करने में सर्वथा असमर्थ थे। अशोक ने सेना की ओर

कुछ भी ध्यान नहीं दिया था और अपने पूर्वजों की सैनिक नीति को भी छोड़ दिया था। उसके बेटों और पोतों को यह शिक्षा मिली थी कि वे धैर्य और नम्रता से काम लें और खून बहाने से दूर रहें। उनमें लड़ने-भिड़ने का साहस न रहा। उसकी मृत्यु के बाद भारत में विदेशी जातियाँ आने लगीं। मौर्य सम्राट् उनको आगे बढ़ने से रोक न सके। ब्राह्मणों का विरोध भी साम्राज्य के पतन का कारण हो सकता है परन्तु ऐसा नहीं प्रतीत होता कि सम्राट् ने ब्राह्मणों के साथ कठोरता का बर्त्ताव किया हो। साम्राज्य के पतन का वास्तविक कारण यह था कि बाहरी प्रान्तों के वाइसराय प्रजा पर अत्याचार करते थे। इस कारण प्रजा में असन्तोष फैल गया और जब विदेशियों ने देश पर आक्रमण किया तो उनका सामना करनेवाला कोई न रहा।

शुंग-वंश—ब्राह्मण-साम्राज्य—मौर्य-वंश के अन्तिम राजा बृहद्रथ को उसके ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्र ने ई० पू० १८४ में मार डाला। पुष्यमित्र स्वयं गद्दी पर बैठा किन्तु उसके बाद भी वह अपने को सेनापति ही कहता रहा। उसका साम्राज्य दक्षिण में नर्मदा नदी तक फैला हुआ था। पाटलिपुत्र और विदिशा उसमें सम्मिलित थे। उसके समय में यूनानी राजा डिमीट्रियस ने उत्तरी भारत पर चढ़ाई की और वह अवध तक बढ़ आया। किन्तु पुष्यमित्र ने उसे हराकर भगा दिया। पुष्यमित्र इतना शक्तिशाली राजा था कि उसने दो अश्वमेध यज्ञ किये और ब्राह्मणों के गौरव का पुनरुद्धार किया। मालविकाग्निमित्र नामक नाटक से पता चलता है कि सिंधु नदी के दक्षिणी तट पर उसके यज्ञ के घोड़े को यूनानियों ने रोक लिया था परन्तु उसके पोते ने उनको पराजित किया और घोड़े को छुड़ा लिया। शुंग-वंश के लोग कट्टर हिन्दू-धर्म के अनुयायी थे। परन्तु उन्होंने बौद्ध-धर्मवालों के साथ अत्याचार नहीं किया। पुष्यमित्र ई० पू० १४९ में अथवा उसके लगभग मर गया और उसका बेटा अग्निमित्र गद्दी पर बैठा। अग्निमित्र के बाद उसका बेटा वसुमित्र सिंहासन का अधिकारी हुआ। इस वंश के दसवें राजा देवभूमि को उसके ब्राह्मण मन्त्री वसुदेव काण्व ने मार डाला। इस प्रकार शुंग-वंश का अन्त करके वसुदेव पाटलिपुत्र की गद्दी पर बैठा। परन्तु उसका राज्य बहुत छोटा था। पुष्यमित्र के वंशज उत्तरी भारत के कुछ प्रदेशों में इसके बाद भी राज्य करते रहे।

काण्व-वंश—वसुदेव ई० पू० ७२ में पाटलिपुत्र का राजा हुआ। काण्व-वंश के राजाओं का राज्य केवल मगध में था और वह भी थोड़े ही दिनों तक। दक्षिणी भारत के शातवाहन राजाओं ने काण्व-वंश का अन्त कर दिया। पुराणों में शातवाहनों को आन्ध्र कहा गया है। इसका कारण यह है कि उन्होंने आन्ध्र अथवा तेलगू भाषा-भाषी प्रदेश में होकर मगध पर आक्रमण किया था। काण्व राजा निर्बल थे, अतः वे शातवाहनों का सामना नहीं कर सके और

ई० पू० २७ या २८ में पराजित कर दिये गये। शातवाहन वंशवालों का भाग्य चमका और उनका राज्य एक बार हिमालय से लेकर दक्षिण में तुंगभद्रा नदी तक फैल गया।

शुंग एवं काण्व राजाओं के समय (ई० पू० १८४-२७) का सामाजिक जीवन—शुंग और काण्व दोनों वंशों के राजा, जाति के ब्राह्मण थे। जब उनके हाथ में राजनीतिक शक्ति आई तब ब्राह्मण-धर्म फिर उन्नति करने लगा। पुष्यमित्र संस्कृत विद्या का प्रेमी था। उसने ब्राह्मणों के धर्म को प्रोत्साहन प्रदान किया। बौद्ध धर्म की धीरे-धीरे अवनति होने लगी। वैदिक यज्ञों और कर्मकाण्ड का प्रचार फिर आरम्भ हुआ। पुष्यमित्र के शासनकाल में ही पतञ्जलि ने पाणिनि के व्याकरण पर प्रसिद्ध महाभाष्य लिखा। धर्म-शास्त्र का संग्रह किया गया। प्राचीन ग्रन्थों का क्रम स्थिर किया गया और विद्वानों ने उनका अध्ययन किया। रामायण और महाभारत काव्यों का इसी समय फिर से सम्पादन हुआ। इस काल का सर्वोत्कृष्ट क़ानून का ग्रन्थ मनुस्मृति या मानवधर्मशास्त्र है जिसमें हिन्दू-जीवन के प्रत्येक पहलू पर विचार किया गया है। समाज में ब्राह्मणों का स्थान ऊँचा है, विधवा-विवाह का निषेध है और दैनिक जीवन के अनेक नियम बने हुए हैं। मनुस्मृति में स्त्रियों की पूर्ण स्वतन्त्रता का विरोध किया गया है लेकिन साथ ही साथ यह भी कहा गया है कि जहाँ स्त्रियों का आदर होता है वहाँ देवता निवास करते हैं। जाति जन्म से मानी जाती है किन्तु मालूम होता है कि व्यावहारिक जीवन में जाति-पाँत के वन्धन वहुत कड़े न थे।

ऊपर कहा जा चुका है कि महाराज अशोक के समय बौद्धों की एक वड़ी सभा हुई थी और उसमें इस वात की चेष्टा की गई थी कि वौद्ध संघ में फूट न होने पावे। किन्तु उस सभा के वाद भी बौद्धों में मतभेद बना रहा और विभिन्नताएँ वढ़ती रहीं। वौद्धों ने यज्ञ और कर्मकाण्ड को रोक दिया था—किन्तु पुष्यमित्र ने वैदिक रीति के अनुसार अश्वमेध यज्ञ किया और दूसरे राजाओं को अपनी प्रभुता स्वीकार करने पर विवश किया। वौद्ध और ब्राह्मण-धर्म के बीच भागवत तथा शैव नामक दो सम्प्रदायों का जन्म हुआ। भागवत सम्प्रदाय-वाले वासुदेव कृष्ण की उपासना करते थे और उनका केन्द्र मथुरा था। यह मत धीरे-धीरे भारत के अनेक भागों में फैल गया और दक्षिण में कृष्णा नदी तक पहुँच गया। विदेशियों ने भी इस मत को स्वीकार किया और अपने को भागवत कहकर पुकारा। ई० पू० दूसरी शताब्दी के लगभग यह सम्प्रदाय ब्राह्मण-धर्म में मिल गया और वैष्णव धर्म के नाम से अधिक प्रसिद्ध हुआ। दूसरे सम्प्रदाय के लोग शिव की उपासना करते थे। भागवत धर्म की तरह शैव मत की ओर भी विदेशी लोग आकृष्ट हुए। कुशान-वंश के राजा कडफिसीज़ ने शैव-धर्म ग्रहण किया था। इसका प्रमाण यह है कि उसके सिक्कों पर शिव की मूर्ति मौजूद

है। कृष्ण और शिव की पूजा के लिए मन्दिर बनवाये गये और नई रीतियों का प्रचलन हुआ। वैदिक काल के देवताओं का कुछ महत्त्व न रह गया। उनमें से कुछ को तो लोग बिलकुल भूल गये।

कला—मौर्य-काल की इमारतें बहुत सुन्दर और भव्य थीं। परन्तु उन पर सजावट और चित्रों की खुदाई उतनी बढ़िया नहीं थी जितनी कि इस काल के भवनों पर थी। इस काल में पत्थर की खुदाई के काम में बड़ी उन्नति हुई। स्तूपों, विहारों और फाटकों पर सुन्दर चित्र खुदे हुए मिलते हैं। इस कला के बढ़िया नमूने भरहुत (नागोध राज्य में स्थित) और अमरावती में पाये जाते हैं। उन पर जो दृश्य दिखाये गये हैं वे भगवान् बुद्ध के जीवन से लिये गये हैं और अपूर्व सुन्दरता तथा कुशलता से अंकित किये गये हैं। इस प्रकार की चित्रकारी से हमें उस काल की दशा का बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त होता है। उसमें मानव-जीवन के विविध दृश्यों के चित्र अंकित हैं। सुख और आनन्द-विलास के जीवन के दृश्य प्रदर्शित किये गये हैं और फिर यह दिखाया गया है कि मृत्यु द्वारा उनका अन्त किस प्रकार होता है। भरहुत का स्तूप ई० पू० दूसरी शताब्दी का है। हाथी, हिरन तथा बन्दरों के चित्र अंकित करने में जो कुशलता दिखाई गई है वह संसार के किसी भी खुदे हुए चित्र में नहीं मिलेगी।

पूना के पास भाजा का विहार, नासिक और कार्ली के चैत्य-भवन, अमरावती का स्तूप तथा बेसनगर (मध्यदेश में भिलसा के पास) का स्तम्भ—ये इस काल के महत्त्वपूर्ण स्मारक हैं। बेसनगर के स्तम्भ को ई० पू० १४० के लगभग तक्षशिला के राजा के राजदूत हेलियोडोरस ने भगवान् वासुदेव के सम्मानार्थ बनवाया था। हेलियोडोरस ने भागवत धर्म ग्रहण कर लिया था। इनके अतिरिक्त अनेक मठ और मन्दिर बनवाये गये और कई स्थानों में चट्टानों को काट-काटकर गुफाएँ बनाई गईं।

इन इमारतों की दीवारों और अन्दर की छतों को चित्रों से खूब अलंकृत किया गया। इस कला के सबसे प्राचीन नमूने अजन्ता तथा (उड़ीसा में सरगुजा राज्य में स्थित) जोगिमार की जगत्प्रसिद्ध गुफाओं में पाये जाते हैं।

शातवाहन-वंश—ई० पू० पहली शताब्दी में दक्षिण भारत में शातवाहन नामक एक शक्तिशाली वंश का अभ्युदय हुआ। इस वंश का संस्थापक सीमुक (१०० ई० पू०) था। उसकी राजधानी प्रतिष्ठान* थी। इस वंश का दूसरा राजा शातकर्णि सीमुक का पुत्र या भतीजा था। उसने कृष्णा नदी के दहाने से लेकर सारे दक्षिण के प्लेटो पर अपना राज्य स्थापित किया और

---

* इसे आजकल पैठान कहते हैं और यह निज़ामराज्य के औरंगाबाद ज़िले में है।

एक अश्वमेध यज्ञ किया। ईसा के पूर्व की अन्तिम शताब्दी में शातवाहन-वंशवालों ने काण्व-वंश के अन्तिम राजा को पराजित किया और शुङ्ग-वंश की बची-खुची शक्ति को भी नष्ट कर डाला। मगध राज्य के प्रदेशों पर भी उसने अपना अधिकार जमा लिया। इस प्रकार उसने एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की जिसकी प्रभुता उत्तर तथा दक्षिण भारत में फैली हुई थी। १०० वर्ष तक इस साम्राज्य की अच्छी उन्नति हुई। सिदियन, शक तथा पार्थियन आक्रमणकारियों ने उसे बड़ी हानि पहुँचाई। मालवा और काठियावाड़ के क्षत्रप राजाओं ने भी शातवाहनों से कुछ देश छीन लिये। मध्यभारत का सबसे बड़ा क्षत्रप राजा नहपाण था जो सम्भवतः ८५ ई० में गद्दी पर बैठा था। उसने शातवाहनों से महाराष्ट्र देश छीन लिया और अपने लिए एक बड़ा राज्य स्थापित कर लिया। उत्तर में यह राज्य अजमेर तक विस्तृत था और इसमें काठियावाड़, पश्चिमी गुजरात, पश्चिमी मालवा, उत्तरी कोंकण, नासिक और पूना के ज़िले सम्मिलित थे। शातवाहन-वंश में गौतमी-पुत्र शातकर्णि नामक एक बड़ा प्रतापी राजा हुआ। वह १०७ ई० में सिंहासन पर बैठा। उसके शासन-काल में इस वंश ने फिर उन्नति की। उसने नहपाण को पराजित कर मार डाला और उसके सारे राज्य को अपने साम्राज्य में मिला लिया।

२५ वर्ष तक शासन करने के बाद गौतमी-पुत्र का देहान्त हो गया। उसके बाद उसका लड़का वशिष्ठी-पुत्र पुलोमावि गद्दी पर बैठा। इसी समय के लगभग रुद्रदामा नामक पश्चिम के क्षत्रप राजा ने मालवा और काठियावाड़ को शक-राज्य में मिला लिया। कहा जाता है कि वह शातवाहन राजा से बहुत दिनों तक लड़ता रहा और अन्त में विजयी हुआ। पुलोमावि का विवाह रुद्रदामा की लड़की के साथ हुआ और कुछ समय तक झगड़ा बन्द रहा। कुछ दिन के बाद झगड़ा फिर प्रारम्भ हुआ। शातवाहन-वंश का अन्तिम बड़ा राजा यज्ञश्री शातकर्णि हुआ। उसने अनेक युद्धों में विजय प्राप्त की परन्तु क्षत्रिय राजाओं के प्रभुत्व को वह न मिटा सका। लगभग ३५० वर्ष तक दूर-दूर तक अपना आधिपत्य फैलाकर २२५ ई० के लगभग शातवाहन-साम्राज्य विलुप्त हो गया। शकों के साथ युद्ध, प्रान्तीय शासकों का विद्रोह तथा नाग, अभीर और अन्य जातियों के आक्रमण ही उसके पतन के प्रधान कारण थे।

पश्चिमी क्षत्रपों ने दक्षिण के कुछ भाग को जीत लिया और १०० से कुछ अधिक वर्ष तक वे उस पर शासन करते रहे। साम्राज्य का शेष भाग अभीर, कदम्ब और इक्ष्वाकु इत्यादि नये वंशों में विभक्त हो गया।

दक्षिण भारत के प्राचीन वंश—चेर, चोल तथा पाण्ड्य—शातवाहन राजाओं के पतन के बाद भी अपनी उन्नति करते रहे।

संक्षिप्त सनूवार विवरण

चन्द्रगुप्त का गद्दी पर बैठना	..	..	ई० पू० ३२५
सिल्यूकस का आक्रमण	..	..	" ३०५
विन्दुसार का गद्दी पर बैठना	..	..	" ३००
अशोक का गद्दी पर बैठना	..	..	" २७४
अशोक का राज्याभिषेक	..	..	" २७०
कलिंग की विजय	..	..	" २६२
अशोक की मृत्यु	..	..	" २३२
शुंग-वंश का प्रारम्भ	..	..	" १८४
पुष्यमित्र की मृत्यु	..	..	" १४९
काण्व-वंश का प्रारम्भ	..	..	" ७२
काण्व-वंश का अन्त	..	..	" २७
शातवाहन राज्य का आरम्भ	..	..	" १००
गौतमी-पुत्र शातकर्णि की शकों पर विजय		..	१२४ ई०
रुद्रदामा द्वारा शातवाहनों की पराजय		..	१५० ई०
शातवाहनों का अन्त	..	..	२२५ ई०

अध्याय ८

भारत में विदेशी राज्य

कुशान-साम्राज्य—सम्राट् कनिष्क

यूनानी—ई० पू० २५० के लगभग बैक्ट्रिया (मध्यएशिया में बलख) के सरदार सिरिया के यूनानी साम्राज्य से अलग होकर स्वाधीन हो गये। तब यूनानी लोग अशोक की मृत्यु के बाद भारत की ओर बढ़ने लगे। पहले कह चुके हैं कि डिमिट्रियस ने पुष्यमित्र शुंग के समय में भारत पर चढ़ाई की थी। डिमिट्रियस के वंश का प्रसिद्ध राजा मेनेंडर भारत पर ११० ई० पू० के लगभग चढ़ आया और उसने साकल (स्यालकोट) पर अपना अधिकार जमा लिया। बौद्ध-साहित्य में मेनेंडर को मिलिन्द लिखा गया है। बौद्धों का कहना है कि उसने बौद्ध

धर्म ग्रहण कर लिया था। वह केवल विजयी योधा ही न था वरन् वैदिक काल के राजाओं की तरह एक विद्वान् दार्शनिक भी था। वाद-विवाद में उसको परास्त करना कठिन था। उसके पास बहुत धन था और एक विशाल और सु-संगठित सेना थी। वह बड़ा न्यायी था, इसलिए उसकी मृत्यु के बाद प्रजा ने उसका बड़ा सम्मान किया। दूसरा प्रसिद्ध यूनानी शासक एनटियलकिडास यूक्रैडिटीज़ शाखा का था। उसने अपने राजदूत हेलियोडोरस को विदिशा के शुंग राजा भागभद्र के दरबार में भेजा था, जिसका काल ईसा से पूर्व द्वितीय शताब्दी में माना गया है।

यूनानियों का भारतीय संस्कृति पर भी प्रभाव पड़ा। उत्तर-पश्चिम में पाई जानेवाली बुद्ध की मूर्तियों की बनावट और पोशाक में यूनानी शैली के चिह्न दिखाई पड़ते हैं। भारत के सिक्कों पर भी बैक्ट्रिया के यूनानियों का प्रभाव पड़ा। ज्योतिष-विद्या की अनेक बातें भारतीयों ने यूरोप के लोगों से सीखीं। वे रोम और यूनान को ज्योतिष-विद्या का घर समझते थे। ज्योतिष के अनेक यूनानी ग्रन्थों का अनुवाद संस्कृत में किया गया। भारतीय पंचाग का भी यूनानियों की सलाह से संशोधन हुआ। अनेक यूनानी हिन्दू हो गये और ब्राह्मण अथवा बौद्ध धर्म को मानने लगे।

शक और इंडो-पार्थियन—शक अथवा सिथियन मध्यएशिया की एक घूमने-फिरनेवाली जाति के लोग थे। वे आमू नदी के उस पार रहते थे। ई० पू० दूसरी शताब्दी में मध्यएशिया की जातियों में बड़ी चहल-पहल मच रही थी। चीन के सम्राट् हूण लोगों का दमन करना चाहते थे। हूण यूची नामक जाति से लड़ गये। परन्तु इस युद्ध में यूची जातिवालों की हार हुई। हूणों ने उन्हें देश से बाहर निकाल दिया। विवश होकर वे पश्चिम की ओर बढ़े और रास्ते में उनका सम्पर्क एक ऐसी जाति से हुआ जिसे चीनी लोग सी (सै) या सेक कहते थे। वे सर (जक्ज़ारटीस) नदी की तलहटी में रहनेवाले शक लोग थे। यूचियों के भय से शकों को वहाँ से भागना पड़ा और फलतः ई० पू० १२७ के कुछ समय बाद वे सिन्धु नदी के किनारे पहुँचे। उन्होंने बैक्ट्रिया को जीत लिया। बैक्ट्रिया के निवासी लड़ना-भिड़ना नहीं जानते थे। वे शकों से लोहा न ले सके। शकों ने उत्तरी और पश्चिमी भारत में एक साम्राज्य स्थापित कर लिया जिसमें पंजाब, सिन्ध, संयुक्त-प्रान्त, राजपूताना तथा दक्षिणी भारत के उत्तरी भाग सम्मिलित थे। पहला शक राजा मोगा या मौस हुआ। उसने अफ़ग़ानिस्तान और पंजाब पर शासन किया। मथुरा और तक्षशिला के क्षत्रिय भी उसके अधीन थे। दक्षिणी प्रान्तों पर एक क्षत्रप, उज्जैन को अपनी राजधानी बनाकर, राज्य करता था। मोगा के उत्तराधिकारी एज़ेस प्रथम और एज़ेस द्वितीय भी शक्तिशाली राजा थे। इन शक राजाओं को इंडो-पार्थियन लोगों ने पराजित किया। ये लोग अधिक काल तक पार्थिया (ईरान) में रह चुके थे और ईरान के रीति-रिवाज

तथा रहन-सहन को ग्रहण कर चुके थे। इसी लिए जब वे भारत में आये तो इंडो-पार्थियन के नाम से प्रसिद्ध हुए। गोंडोफरनीज़ इस शाखा का एक प्रसिद्ध राजा हुआ। वह ईसा मसीह का समकालीन था। इंडो-पार्थियन राजाओं का राज्य कई प्रान्तों में विभक्त था। प्रत्येक प्रान्त में एक क्षत्रप शासन करता था। इनमें से कई क्षत्रपों ने स्वाधीन राज्य बना लिये और राजपदवी धारण की। इनमें तक्षशिला, मथुरा, उज्जैन, सौराष्ट्र तथा दक्षिण के क्षत्रप मुख्य थे।

गुजरात, दक्षिण तथा मध्यभारत में अपनी प्रभुता स्थापित करने के लिए शकों और शातवाहनों में बहुत समय तक लड़ाई होती रही। रुद्रदामा ने गुजरात तथा मध्य-भारत से शातवाहनों को निकाल बाहर किया किन्तु दक्षिण में तीसरी शताब्दी के प्रारम्भ तक उनका राज्य क़ायम रहा। कुछ समय के बाद शातवाहनों का शेष साम्राज्य भी छिन्न-भिन्न हो गया और उसकी जगह अनेक छोटे-छोटे राज्य बन गये।

कुशान—कुशान लोग उन यूचियों की एक शाखा थे जो आमू नदी के उत्तरी तट पर बस गये थे। वे पाँच छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त थे। ये राज्य हिन्दूकुश के उत्तर में थे। कुशान जाति के सरदार कुजूला कडफ़िसीज़ प्रथम ने इन पाँचों राज्यों को एक कर दिया और लगभग २५ ई० के बाद अफ़ग़ानिस्तान तथा पंजाब के कुछ भागों को भी जीत लिया। उसका साम्राज्य ईरान की सीमा से लेकर सिन्धु नदी तक फैला हुआ था। उसमें बुख़ारा और अफ़ग़ानिस्तान भी सम्मिलित हैं। उसका लड़का वेमा कडफ़िसीज़ अथवा कड़फ़िसीज़ द्वितीय भी अपने बाप की तरह प्रतापी शासक था। उसने पंजाब तथा दोआबा को जीत लिया और पूर्व में बनारस तक अपना राज्य बढ़ाया। सम्भव है कि इसी राजा ने शक-संवत् चलाया हो। परन्तु कुछ विद्वानों का मत है कि शक-संवत् को प्रचलित करनेवाला सम्राट् कनिष्क था।

कनिष्क—कडफ़िसीज़ द्वितीय की मृत्यु हो जाने पर लगभग २० वर्ष के बाद कनिष्क गद्दी पर बैठा। वह कुशान-वंश का सबसे प्रतापी राजा था। सम्भवतः १२८ ई० में वह सिंहासनारूढ़ हुआ। परन्तु कुछ विद्वानों का मत है कि वह ७८ ई० में ही गद्दी का मालिक हुआ। कनिष्क ने एक बड़ा साम्राज्य स्थापित किया जो काबुल से लेकर पूर्व में बनारस और दक्षिण में विन्ध्याचल पर्वत तक फैला हुआ था। उसने काश्मीर को जीता और वहाँ एक नगर बसाया। अब उसके स्थान पर कनिष्कपुर नामक एक गाँव है। कनिष्क एक वीर राजा था। वह अपनी भारतीय विजय से ही सन्तुष्ट नहीं था। इसलिए उसने पार्थियन लोगों के साथ युद्ध किया और उन्हें अन्त में पराजित किया। चीनी तुर्किस्तान में उसने और भी अच्छी विजय पाई। काशगर, यारक़ंद और खोतान, जो चीनी साम्राज्य के भाग थे, उसके अधीन हो गये। उसने पुरुषपुर (पेशावर) नामक

नगर वसाया और उसे अपनी राजधानी वनाया। वहाँ उसने एक सुन्दर चैत्य तैयार कराया जिसे देखकर विदेशी यात्री चकित हो जाते थे। कडफ़िसीज़ द्वितीय चीन के आधिपत्य से मुक्त न हो सका था परन्तु कनिष्क ने कर देना वन्द कर दिया। चीनी यात्री य्वानच्वाँग लिखता है कि कनिष्क के दरवार में चीनी राजकुमार वन्धक के रूप में रख लिया गया था।

अशोक की तरह कुशान-सम्राट् भी युद्ध के भीषण दृश्यों को देखकर बौद्ध धर्म का अनुयायी हो गया। उसके सिक्कों से इस वात का प्रमाण मिलता है। बौद्ध धर्म के माननेवालों में कुछ समय से वड़ा मतभेद चला आता था। कनिष्क ने काश्मीर में कुण्डलवन नामक स्थान पर बौद्धों की सभा की। इस सभा ने बौद्धों को दो सम्प्रदायों में विभाजित कर दिया। एक सम्प्रदाय का नाम हीनयान पड़ा और दूसरे का महायान। हीनयान-सम्प्रदायवाले महात्मा बुद्ध के सरल सिद्धान्त की रक्षा करना चाहते थे। महायान सम्प्रदाय के लोग उनकी मूर्त्ति बनाकर पूजना चाहते थे और उन्हें देवता मानते थे।

कनिष्क के दरवार में वहुत-से कवि और विद्वान् थे। अश्वघोष संस्कृत का एक बड़ा कवि था। उसने भगवान् बुद्ध के जीवन पर कुछ नाटक और महाकाव्य रचे। आयुर्वेद का प्रसिद्ध विद्वान् चरक भी कनिष्क के दरबार में रहता था।

कनिष्क के उत्तराधिकारी—कनिष्क के वाद वाशिष्क गद्दी पर बैठा और उसने १३८ ई० तक राज्य किया। अफ़ग़ानिस्तान कुशान-साम्राज्य के अन्तर्गत बना रहा किन्तु मध्यभारत के विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता। वाशिष्क के वाद हुविष्क सिंहासन का अधिकारी हुआ। उसने काश्मीर में अपने नाम पर हुविष्कपुर नामक नगर वसाया। वासुदेव प्रथम कुशान-वंश का अन्तिम प्रतापी सम्राट् था। उसने शैव धर्म ग्रहण कर लिया था। उसके शासन-काल में साम्राज्य के अनेक सूबे स्वाधीन हो गये और पश्चिमी क्षत्रपों का जोर वढ़ गया। वासुदेव की मृत्यु के वाद कई राजा गद्दी पर बैठे परन्तु वे इतने शक्तिहीन थे कि साम्राज्य को छिन्न-भिन्न होने से वचा न सके। कुशान-वंश के राजा उसके वाद भी अधिक समय तक भारत के सीमान्त देश तथा कावुल की घाटी में शासन करते रहे।

पश्चिमी क्षत्रप—पश्चिमी क्षत्रपों के वंश का संस्थापक चष्टन था। उसने शातवाहन राजा पुलोमावि से, जिसका पहले वर्णन हो चुका है, उसका प्रदेश छीन लिया। चष्टन को गौतमीपुत्र के साथ भी युद्ध करना पड़ा। गौतमीपुत्र शकों, यवनों और पल्लवों का नाश करनेवाला कहा गया है। चष्टन ने दूसरे देशों को जीतकर अपना राज्य बढ़ाया और १४० ई० के लगभग उज्जयिनी पर अपना अधिकार स्थापित किया। उसका पोता रुद्रदामा एक योग्य शासक हुआ। जूनागढ़ के लेख में उसकी विजय का विवरण मिलता है। उसने लिखा है कि उसके राज्य का दक्षिणी भाग शातकर्णि सम्राट् से छीना गया था। रुद्रदामा

एक प्रतापी शासक था। सुदर्शन झील के बाँध की मरम्मत कराने में उसने बहुत-सा धन खर्च किया। इस बाँध को चन्द्रगुप्त मौर्य ने बनवाया था और १५० ई० में वह एक तूफ़ान से टूट गया था। वह एक सुशिक्षित राजा था। व्याकरण, राजनीति, संगीत और तर्कशास्त्र का वह बड़ा विद्वान् था। उसका शिष्टाचार उच्च कोटि का था। स्वभाव से वह बड़ा दयालु था। युद्ध के अतिरिक्त अपने दैनिक जीवन में वह अहिंसा-व्रत का पालन करता था। रुद्रदामा के चरित्र से पता लगता है कि विदेशी लोग कितनी शीघ्रता के साथ हिन्दू विचारों को ग्रहण करते थे।

रुद्रदामा के वंश का गौरव अधिक समय तक न रहा। परन्तु शक राजा मध्य-भारत में गुप्त-काल तक शासन करते रहे। अन्त में वे चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के हाथ से पराजित हुए।

विदेशियों और शातवाहनों के समय की सामाजिक दशा—उत्तरी भारत में (२७ ई० पू० से ३०० ईसवी तक) जाति-व्यवस्था पहले की तरह बनी रही। क्षत्रियों की प्रभुता का विरोध बन्द नहीं हुआ था। ब्राह्मणों का बहुत आदर होता था। उनके विचार उदार थे और इसका प्रमाण यह है कि ब्राह्मण होते हुए भी शातकर्णि राजाओं ने शक-वंश की राजकुमारियों के साथ विवाह किया। शातवाहन राजा ब्राह्मण-धर्म के अनुयायी थे परन्तु वे बौद्ध धर्म के विरोधी न थे। कहा जाता है कि शातकर्णि प्रथम तथा उसकी रानी ने कम से कम २० यज्ञ किये, जिनमें से तीन अश्वमेध यज्ञ थे। वैदिक काल के बहुत से देवताओं को लोग भूल चुके थे परन्तु इन्द्र की अब भी पूजा होती थी। विदेशियों को भी ब्राह्मण-धर्म स्वीकार करने की आज्ञा दी गई। अपना धर्म बदल देने से कोई मनुष्य जाति-च्युत नहीं किया जाता था। कोई भी ब्राह्मण अपनी जाति में रहता हुआ भी बौद्ध हो सकता था। लोग एक दूसरे के धर्म का आदर करते थे। राजा लोग ब्राह्मणों और बौद्धों को समान रूप से दान देते थे। बौद्ध धर्म में दो सम्प्रदाय हो गये थे। उनका उल्लेख पहले हो चुका है। ब्राह्मण और बौद्ध धर्म दोनों साथ ही साथ अपनी उन्नति कर रहे थे। दक्षिण में श्रीकृष्ण की पूजा का प्रचार हो रहा था। शिव, भागवत और विष्णु की उपासना भी सर्वसाधारण में प्रचलित थी। जैन धर्म के अनुयायी, बौद्धों की तरह, उपासना करने लगे। उन्होंने अपने तीर्थङ्करों के मन्दिर बनवाये और उनमें मूर्त्तियाँ स्थापित कीं। देश में धार्मिक सहिष्णुता इतनी थी कि बौद्ध और जैन धर्म के अनुयायी घरेलू धार्मिक क्रियाओं को वैदिक नियमों के अनुसार करते थे।

दक्षिण में समाज मनुष्य के पद अथवा रुतबे के अनुसार विभक्त था। सर्वोच्च श्रेणी के लोग महारथी, महाभोज और महासेनापति कहलाते थे। उनसे कुछ नीचे अमात्य, महामात्र आदि थे। श्रेष्ठी अथवा व्यापार-समिति के अध्यक्षों

नगर बसाया और उसे अपनी राजधानी बनाया। वहाँ उसने एक सुन्दर चैत्य तैयार कराया जिसे देखकर विदेशी यात्री चकित हो जाते थे। कडफ़िसीज़ द्वितीय चीन के आधिपत्य से मुक्त न हो सका था परन्तु कनिष्क ने कर देना बन्द कर दिया। चीनी यात्री ग्वानच्वाँग लिखता है कि कनिष्क के दरबार में चीनी राजकुमार बन्धक के रूप में रख लिया गया था।

अशोक की तरह कुशान-सम्राट् भी युद्ध के भीषण दृश्यों को देखकर बौद्ध धर्म का अनुयायी हो गया। उसके सिक्कों से इस बात का प्रमाण मिलता है। बौद्ध धर्म के माननेवालों में कुछ समय से बड़ा मतभेद चला आता था। कनिष्क ने काश्मीर में कुण्डलवन नामक स्थान पर बौद्धों की सभा की। इस सभा ने बौद्धों को दो सम्प्रदायों में विभाजित कर दिया। एक सम्प्रदाय का नाम हीनयान पड़ा और दूसरे का महायान। हीनयान-सम्प्रदायवाले महात्मा बुद्ध के सरल सिद्धान्त की रक्षा करना चाहते थे। महायान सम्प्रदाय के लोग उनकी मूर्त्ति बनाकर पूजना चाहते थे और उन्हें देवता मानते थे।

कनिष्क के दरबार में बहुत-से कवि और विद्वान् थे। अश्वघोष संस्कृत का एक बड़ा कवि था। उसने भगवान् बुद्ध के जीवन पर कुछ नाटक और महाकाव्य रचे। आयुर्वेद का प्रसिद्ध विद्वान् चरक भी कनिष्क के दरबार में रहता था।

कनिष्क के उत्तराधिकारी—कनिष्क के बाद वाशिष्क गद्दी पर बैठा और उसने १३८ ई० तक राज्य किया। अफ़ग़ानिस्तान कुशान-साम्राज्य के अन्तर्गत बना रहा किन्तु मध्यभारत के विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता। वाशिष्क के बाद हुविष्क सिंहासन का अधिकारी हुआ। उसने काश्मीर में अपने नाम पर हुविष्कपुर नामक नगर बसाया। वासुदेव प्रथम कुशान-वंश का अन्तिम प्रतापी सम्राट् था। उसने शैव धर्म ग्रहण कर लिया था। उसके शासन-काल में साम्राज्य के अनेक सूबे स्वाधीन हो गये और पश्चिमी क्षत्रपों का ज़ोर बढ़ गया। वासुदेव की मृत्यु के बाद कई राजा गद्दी पर बैठे परन्तु वे इतने शक्तिहीन थे कि साम्राज्य को छिन्न-भिन्न होने से बचा न सके। कुशान-वंश के राजा उसके बाद भी अधिक समय तक भारत के सीमान्त देश तथा काबुल की घाटी में शासन करते रहे।

पश्चिमी क्षत्रप—पश्चिमी क्षत्रपों के वंश का संस्थापक चष्टन था। उसने शातवाहन राजा पुलोमावि से, जिसका पहले वर्णन हो चुका है, उसका प्रदेश छीन लिया। चष्टन को गौतमीपुत्र के साथ भी युद्ध करना पड़ा। गौतमीपुत्र शकों, यवनों और पल्लवों का नाश करनेवाला कहा गया है। चष्टन ने दूसरे देशों को जीतकर अपना राज्य बढ़ाया और १४० ई० के लगभग उज्जयिनी पर अपना अधिकार स्थापित किया। उसका पोता रुद्रदामा एक योग्य शासक हुआ। जूनागढ़ के लेख में उसकी विजय का विवरण मिलता है। उसने लिखा है कि उसके राज्य का दक्षिणी भाग शातकर्णि सम्राट् से छीना गया था। रुद्रदामा

एक प्रतापी शासक था। सुदर्शन झील के बाँध की मरम्मत कराने में उसने बहुत-सा धन खर्च किया। इस बाँध को चन्द्रगुप्त मौर्य ने बनवाया था और १५० ई० में वह एक तूफ़ान से टूट गया था। वह एक सुशिक्षित राजा था। व्याकरण, राजनीति, संगीत और तर्कशास्त्र का वह बड़ा विद्वान् था। उसका शिष्टाचार उच्च कोटि का था। स्वभाव से वह बड़ा दयालु था। युद्ध के अतिरिक्त अपने दैनिक जीवन में वह अहिंसा-व्रत का पालन करता था। रुद्रदामा के चरित्र से पता लगता है कि विदेशी लोग कितनी शीघ्रता के साथ हिन्दू विचारों को ग्रहण करते थे।

रुद्रदामा के वंश का गौरव अधिक समय तक न रहा। परन्तु शक राजा मध्य-भारत में गुप्त-काल तक शासन करते रहे। अन्त में वे चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के हाथ से पराजित हुए।

विदेशियों और शातवाहनों के समय की सामाजिक दशा—उत्तरी भारत में (२७ ई० पू० से ३०० ईसवी तक) जाति-व्यवस्था पहले की तरह बनी रही। क्षत्रियों की प्रभुता का विरोध बन्द नहीं हुआ था। ब्राह्मणों का बहुत आदर होता था। उनके विचार उदार थे और इसका प्रमाण यह है कि ब्राह्मण होते हुए भी शातकर्णि राजाओं ने शक-वंश की राजकुमारियों के साथ विवाह किया। शातवाहन राजा ब्राह्मण-धर्म के अनुयायी थे परन्तु वे बौद्ध धर्म के विरोधी न थे। कहा जाता है कि शातकर्णि प्रथम तथा उसकी रानी ने कम से कम २० यज्ञ किये, जिनमें से तीन अश्वमेध यज्ञ थे। वैदिक काल के बहुत से देवताओं को लोग भूल चुके थे परन्तु इन्द्र की अब भी पूजा होती थी। विदेशियों को भी ब्राह्मण-धर्म स्वीकार करने की आज्ञा दी गई। अपना धर्म बदल देने से कोई मनुष्य जाति-च्युत नहीं किया जाता था। कोई भी ब्राह्मण अपनी जाति में रहता हुआ भी बौद्ध हो सकता था। लोग एक दूसरे के धर्म का आदर करते थे। राजा लोग ब्राह्मणों और बौद्धों को समान रूप से दान देते थे। बौद्ध धर्म में दो सम्प्रदाय हो गये थे। उनका उल्लेख पहले हो चुका है। ब्राह्मण और बौद्ध धर्म दोनों साथ ही साथ अपनी उन्नति कर रहे थे। दक्षिण में श्रीकृष्ण की पूजा का प्रचार हो रहा था। शिव, भागवत और विष्णु की उपासना भी सर्वसाधारण में प्रचलित थी। जैन धर्म के अनुयायी, बौद्धों की तरह, उपासना करने लगे। उन्होंने अपने तीर्थङ्करों के मन्दिर बनवाये और उनमें मूर्त्तियाँ स्थापित कीं। देश में धार्मिक सहिष्णुता इतनी थी कि बौद्ध और जैन धर्म के अनुयायी घरेलू धार्मिक क्रियाओं को वैदिक नियमों के अनुसार करते थे।

दक्षिण में समाज मनुष्य के पद अथवा रुतबे के अनुसार विभक्त था। सर्वोच्च श्रेणी के लोग महारथी, महाभोज और महासेनापति कहलाते थे। उनसे कुछ नीचे अमात्य, महामात्र आदि थे। श्रेष्ठी अथवा व्यापार-समिति के अध्यक्षों

का दर्जा अमात्य के बराबर समझा जाता था। किसान, चिकित्सक तथा लेखक (मुंशी) नीचे दर्जे के समझे जाते थे। सबसे नीची श्रेणी में बढ़ई, माली, लुहार आदि गिने जाते थे। मध्य श्रेणी अनेक गृहों, कुलों या कुटुम्बों में विभक्त थी और प्रत्येक गृह का प्रधान गृहपति या कुटुम्बी कहलाता था।

आर्थिक दशा—लोग सुखी और संतुष्ट थे। वाणिज्य और व्यवसाय उन्नत दशा में थे। अधिकांश जनता उद्योग-धन्धों में लगी हुई थी। प्राचीन लेखों में व्यवसाय-समितियों अथवा श्रेणियों का उल्लेख मिलता है। वे देश के प्रत्येक भाग में मौजूद थीं। वे अपना प्रबन्ध आप करती थीं। उनका काम केवल व्यापार का प्रबन्ध करना ही न था बल्कि वे बैङ्क का भी काम देती थीं। लोग उनके पास रुपया जमा कर सकते थे और ९ से १० फ़ी सदी तक सूद पाते थे।

प्राचीन काल से भारत बाहर के देशों के साथ जल तथा स्थल के मार्ग से व्यापार करता था। ई० पू० आठवीं शताब्दी में भारतीय व्यापारी मेसोपोटामिया, अरब, मिस्र, फ़िनीशिया आदि सुदूर देशों तक जहाज़ों द्वारा जाते थे। इससे पता लगता है कि भारत का जहाजी बेड़ा खूब व्यवस्थित था। पहली शताब्दी के एक उल्लेख से पता चलता है कि मसाला, सुगन्धित चीज़ें, जड़ी-बूटियाँ, बहु-मूल्य कपड़े, मोती, रेशमी तथा अनेक प्रकार के कपड़े और चीनी मिट्टी के बर्तन विदेशों को भेजे जाते थे। पश्चिमी देशों से जहाज़ बैरीगाज़ा (भड़ौच) तथा मलाबार के बन्दरगाहों तक आते थे। रोम को भारत से—विशेषतः सुदूर दक्षिण से—बहुत माल भेजा जाता था। रोम की महिलाओं को भारतीय मलमल बहुत पसन्द थी। रोम का प्रसिद्ध इतिहासकार प्लिनी इस बात पर बड़ा खेद प्रकट करता है कि उसके देश का बहुत सा धन भारत चला जाता है।

कला—इस काल में कला की अच्छी उन्नति हुई। स्तूप बनवाये गये, नगरों की स्थापना हुई। सम्राट् कनिष्क ने एक स्तूप पेशावर नगर के बाहर बनवाया और उसमें भगवान् बुद्ध के कुछ स्मृति-चिह्न रख दिये। पत्थर की खुदाई भी उच्च कोटि की हुई। स्तूपों के फाटकों को सजाने में विशेष कुशलता दिखाई गई। तक्षण-कला के चार प्रथम केन्द्र थे—गान्धार, मथुरा, सारनाथ और अमरावती। अमरावती गन्तूर ज़िले में है। वहाँ की पत्थर की उभड़ी हुई मूर्त्तियाँ बहुत प्रसिद्ध हैं। मध्यभारत में भरहुत का पत्थर का घेरा तत्कालीन कला का एक उत्कृष्ट नमूना है।

गान्धार शैली—यूनानियों के साथ सम्पर्क होने के कारण भारतीय कला में कुछ परिवर्तन हुआ। उनके प्रभाव से एक नई शैली प्रचलित हुई, जिसे गान्धार शैली कहते हैं। इसका विकास उत्तर-पश्चिम भारत में हुआ। भारतीय और यूनानी संस्कृतियों का मेल होने पर भारतीय विषयों में यूनानी भावों का समावेश

होने से इस नवीन शैली का जन्म हुआ। इस शैली के अनुसार पत्थर पर अद्भुत खुदाई हुई और उसका तत्कालीन कला पर भी बड़ा प्रभाव पड़ा।

मूर्त्तियाँ अधिकाधिक संख्या में बनने लगीं। तक्षशिला के पास जो मूर्त्तियाँ पाई जाती हैं उन पर यूनानी कला का प्रभाव दिखाई पड़ता है। बौद्धों की भाँति ब्राह्मण भी मूर्त्तियों की पूजा करने लगे। मथुरा मूर्त्ति-निर्माण-कला का एक भारी केन्द्र हो गया। पशुपति (शिव) और भागवत (विष्णु) की मूर्त्तियाँ अधिक बनती थीं। कुशान राजाओं ने अपनी इमारतें बनवाने के लिए यूनानियों को नौकर रक्खा। पेशावर के बाहर जो कनिष्क का स्तूप था वह यूनानियों द्वारा बनवाया गया था।

साहित्य—इस काल में भी राज्य का काम संस्कृत भाषा द्वारा होता था। विद्वान् लोग संस्कृत से ही काम लेते थे। बौद्ध और जैन विद्वानों ने अपने ग्रन्थों को संस्कृत में लिखना आरम्भ कर दिया था। पहले-पहल शातवाहनों के समय में बोल-चाल की भाषा प्राकृत का साहित्यिक ग्रन्थों में प्रयोग किया गया। सप्तशती प्राचीन मराठी में लिखी गई थी। इसमें गाथाओं का संग्रह है। कहा जाता है कि यह ग्रन्थ शातवाहन राजा हल का बनवाया हुआ है। सम्भव है, राजा ने स्वयं इस ग्रन्थ को लिखा हो अथवा किसी दूसरे विद्वान् ने लिखकर उसे समर्पित किया हो। सौदागरों और धर्म-प्रचारकों द्वारा भारतीय संस्कृति इस काल में दूर-दूर के देशों में पहुँच गई।

उपनिवेशों का स्थापन—इस काल के भारतवासी जहाजों पर व्यापार करने के लिए यूरोप, मिस्र और अफ्रीका आदि देशों को गये। ब्राह्मणों और बौद्धों के धर्म-प्रचारक भी अपनी सभ्यता-संस्कृति का प्रचार करने के लिए उन देशों में पहुँचे। भारतीय ग्रन्थों का विदेशी भाषाओं में अनुवाद हुआ और इस प्रकार सारी एशिया में भारतीय विद्या फैल गई।

बहुत प्राचीन काल से ही सुदूर पूर्व में भारतीय उपनिवेशों की स्थापना प्रारम्भ हो गई थी। ईसा की पहली शताब्दी में दक्षिणी अनाम में चम्पा राज्य की स्थापना हुई थी। इसी समय के लगभग जहाज में बैठकर ब्राह्मण फुनाम गया और यहाँ की राजकुमारी के साथ अपना विवाह किया। इस विवाह-सम्बन्ध से सारे देश पर उसका अधिकार हो गया। इसके अतिरिक्त कम्बोडिया राज्य की स्थापना हुई। जावा, सुमात्रा, बाली तथा बोर्नियों में भी भारतीयों ने अपने उपनिवेश बनाये।

हाल की खोजों से यह पता लगा है कि भारत के लोग मध्य एशिया खुतन और तुर्किस्तान में भी बसे थे। गोबी के रेगिस्तान में भारतीय देवी-देवताओं की मूर्त्तियाँ, कुछ सिक्के और भारतीय लिपि में लिखे हुए कुछ लेख मिले हैं।

इससे यह प्रमाणित होता है कि भारतवासी मिस्र और मेसोपोटामिया तक गये थे और सम्पूर्ण एशिया पर भारतीय संस्कृति का प्रभाव पड़ा था।

संक्षिप्त सनूवार विवरण

मेनेंडर का आक्रमण	..	..	ई० पू० ११०
कनिष्क का गद्दी पर बैठना	..	..	१२८ ई०
वाशिष्क के शासन-काल का अन्त	..	..	१३८ ई०
चष्टन की उज्जयिनी पर विजय	..	..	१४० ई०
रुद्रदामा द्वारा सुदर्शन झील की मरम्मत	..	..	१५० ई०

अध्याय ६

गुप्त-साम्राज्य

चन्द्रगुप्त प्रथम—तीसरी शताब्दी ईसवी को हम प्राचीन भारतीय इतिहास का अन्धकाल कह सकते हैं क्योंकि उस काल की ऐतिहासिक घटनाओं का हमें कुछ पता नहीं चलता।*चतुर्थ शताब्दी के आरम्भ में मगध देश में एक प्रतापशाली राज-वंश की उत्पत्ति हुई। यह वंश गुप्त-वंश के नाम से प्रसिद्ध है। इसका पहला प्रतापी राजा चन्द्रगुप्त प्रथम हुआ। उसने अपने राज्याभिषेक (३१९ ई०) के समय से गुप्त-संवत् चलाया जिसे उसके उत्तराधिकारियों ने भी जारी रक्खा। उसने महाराजाधिराज की पदवी धारण की और प्रयाग तक के सब प्रदेशों को जीतकर अपने राज्य में मिला लिया। लिच्छवि-वंश की एक राजकुमारी के साथ विवाह करके उसने अपनी शक्ति और भी बढ़ा ली।

समुद्रगुप्त (३३५–३७५ ई०)—चन्द्रगुप्त प्रथम के बाद उसका बेटा समुद्रगुप्त ३३५ ई० के लगभग गद्दी पर बैठा। यमुना नदी तक उत्तरी भारत के सब राजाओं को हराकर वह दक्षिण की ओर बढ़ा और समुद्र के किनारे बिलासपुर और विजगापट्टम के बीच के जंगली देश में पहुँचा और वहाँ के राजाओं को पराजित किया। इस विजय के बाद वह आगे बढ़ा और कृष्णा नदी तक पहुँच गया। कहते हैं कि दक्षिण के १२ राजाओं ने उसका आधिपत्य स्वीकार किया।

---

* इसको भारतीय इतिहास का नेपोलियन कहना अनुचित न होगा। इसकी विजयों का हाल हमें प्रयागवाले अशोक के स्तम्भ पर खुद हुए लेख से मिलता है। यह लेख उसके राज-कवि हरिषेण की रचना है।

गुप्त साम्राज्य
काबुल
पेशावर
तक्षशिला
काश्मीर
श्रीनगर
लाहौर
जालन्धर
इन्द्रप्रस्थ
मथुरा
कान्यकुब्ज
श्रावस्ती
कुशीनगर
कपिलवस्तु
कोशल
अयोध्या
ल्हासा
कामरूप
ग्वालियर
पद्मावती
नाग प्रदेश
प्रयाग
काशी
वैशाली
पाटलिपुत्र
गया
बोधगया
चम्पा
मन्दसौर
मालवा
गुजरात
विदिशा
साँची
उज्जैन
धार
ताम्रलिप्ति
द्वारका
वल्लभी
जूनागढ़
सोमनाथ
सूरत
नासिक
देवगिरि
पैठन
महाकोशल
सोनपुर
पुरी
महेन्द्रगिरि
बंगाल की खाड़ी
वेङ्गीपुर
अरब सागर
कांची
मदरास
नेल्लोर
उरैयूर
तंजोर
मदुरा
कोरकई
सिंहल या ताम्रपर्णी
समुद्र गुप्त की दिग्विजय
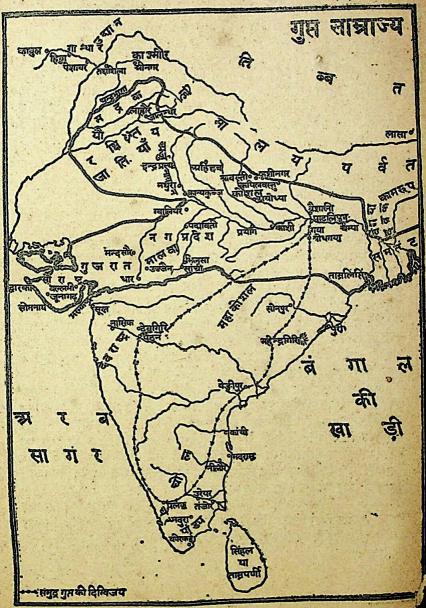
परन्तु लौटते समय पराजित राजाओं को फिर उसने उनके राज्य लौटा दिये और उनसे कर लेकर सन्तुष्ट हो गया। यह अनुमान ठीक नहीं है कि उसने मलाबार, महाराष्ट्र और पश्चिमी घाट को भी जीत लिया था। दक्षिण के जिन राज्यों का इलाहाबाद की प्रशस्ति में वर्णन है वे सब पूर्वीय तट पर हैं। परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि उसका प्रभाव सुदूर दक्षिण तक फैला हुआ था। उसके निकटवर्ती राजा, पंजाब तथा राजपूताना के प्रजातन्त्र राज्य भी उसके अधीन थे।

दिग्विजय करने के बाद जब समुद्रगुप्त अपनी राजधानी पाटलिपुत्र को वापस आया तब उसने अश्वमेध यज्ञ किया। इस प्रकार उसने अपने समकालीन राजाओं पर अपना आधिपत्य स्थापित किया। इस यज्ञ के अवसर पर उसने ब्राह्मणों को सोने के सिक्के दक्षिणा में दिये।

समुद्रगुप्त वास्तव में एक बड़ा प्रतिभाशाली सम्राट् था। वह एक महान् कवि तथा चतुर गायक था। विद्वानों ने उसे 'कविराज' की पदवी प्रदान की थी। उसे वीणा बजाने का बड़ा शौक़ था। अपने सिक्कों पर वह इसी रूप में प्रदर्शित किया गया है। वह पहला सम्राट् था जिसने मुद्राओं पर संस्कृत के श्लोक अंकित कराये। उसके उत्तराधिकारियों ने भी इस प्रथा को प्रचलित रक्खा। समुद्रगुप्त स्वयं विद्या-प्रेमी था और विद्वानों के सत्संग में उसे बड़ा आनन्द आता था। वह एक वीर योधा था परन्तु उसका हृदय कोमल था। दीन-दुखियों की सहायता करने को वह हमेशा उद्यत रहता था। स्वयं ब्राह्मण-धर्म का अनुयायी था, जैसा कि उसके अश्वमेध यज्ञ से प्रकट होता है। परन्तु धर्म के मामलों में वह उदारता से काम लेता था और बौद्धों का भी आदर करता था। जब लंका के राजा ने बुद्ध-गया में [illegible] विहार बनवाने की इच्छा प्रकट की तो सम्राट् ने शीघ्र आज्ञा दे दी। यह [illegible] उसकी धार्मिक सहिष्णुता का एक उदाहरण है।

चन्द्रगुप्त विक्रमादि[illegible] द्वितीय (३७५-४१३ ई०)—समुद्रगुप्त के बाद उसका बेटा चन्द्रगुप्त (द्वितीय) गद्दी पर बैठा।* उसने बड़ी योग्यतापूर्वक अपने पिता की कीर्ति और गौरव को क़ायम रक्खा। पिता के समान ही उसमें अदम्य साहस तथा उच्च अभिलाषाएँ थीं। उसने पहले मथुरा के सिदियन राजा को परास्त किया और फिर उसके बाद पश्चिमी भारत के क्षत्रपों की ओर बढ़ा। क्षत्रप बड़े शक्तिशाली हो गये थे। चन्द्रगुप्त ने मालवा तथा काठियावाड़ के प्रान्तों को जीत लिया। शक-वंश के अन्तिम क्षत्रप राजा को पराजित करके उसके राज्य को अपने साम्राज्य में मिला लिया। बरार और महाराष्ट्र के राजा

* कुछ विद्वानों का मत है कि समुद्रगुप्त के बाद रामगुप्त गद्दी पर बैठा। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने उसे मारकर बलपूर्वक सिंहासन पर अपना अधिकार जमा लिया।

वाकटक के साथ उसने अपनी कन्या प्रभावती गुप्त का विवाह किया। अब उसका साम्राज्य अरब सागर तक फैल गया था और सौराष्ट्र (गुजरात) का प्रान्त उसका एक अङ्ग बन गया। गुजरात के बन्दरगाहों पर अधिकार हो जाने से साम्राज्य की आमदनी बहुत बढ़ गई। यूरोपीय देशों के साथ भी व्यापार होने लगा। इस व्यापारिक सम्पर्क का परिणाम यह हुआ कि भारतीय संस्कृति को उन देशों में फैलने का अवसर मिला।

शकों पर विजय प्राप्त करने के बाद चन्द्रगुप्त द्वितीय ने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की। अपने असीम बल एवं साहस के कारण वह इस उपाधि के सर्वथा उपयुक्त भी था। अनेक इतिहास-लेखकों का मत है कि यह चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य वही राजा विक्रमादित्य है जिसके सम्बन्ध में बहुत सी दन्त-कथाएँ अब तक प्रचलित हैं। जन-श्रुति-प्रसिद्ध राजा विक्रमादित्य को संस्कृत में शकारि की पदवी दी गई है। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने भी शकों का नाश किया था। इस कारण सम्भव है कि यह बात ठीक हो। परन्तु निश्चित रूप से यह बतलाना कि उज्जैन का विक्रमादित्य—जिसके दरबार में कालिदास आदि विद्वान् रहते थे—कौन था, भारतीय इतिहास की एक जटिल समस्या है। सम्भव है, कालिदास इस समय रहा हो; क्योंकि वह चतुर्थ अथवा पञ्चम शताब्दी के एक तर्कशास्त्र के बौद्ध विद्वान् दिङ्नाग का समकालीन कहा गया है।

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य अपने पिता के समान कला और साहित्य का परिपोषक तथा विद्वानों का आश्रयदाता था। वह विष्णु का अनन्य भक्त था किन्तु वैष्णव होते हुए भी अन्य मतावलम्बियों का आदर करता था। उसने अनेक उपाधियाँ धारण की थीं जिनमें से महाराजाधिराज विक्रमादित्य, श्रीविक्रम, सिंहविक्रम, परमभट्टारक, परमभागवत तथा राजाधिराजर्षि आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। इन सब उपाधियों से यह स्पष्ट प्रकट होता है कि वह बड़ा पराक्रमी तथा यशस्वी राजा था। उसके गार्हस्थ्य जीवन पर धर्म की छाप लगी थी। उसने सोने, चाँदी तथा ताँबे के अनेक सिक्के ढलवाये जिनसे यह अनुमान होता है कि उसका राजत्वकाल शान्तिमय तथा उन्नतिशील था। व्यापार तथा उद्योग-धन्धे बड़ी उन्नत अवस्था में थे।

चीनी यात्री फ़ाह्यान—चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समय में फ़ाह्यान नामक एक चीनी यात्री भारत में आया था। वह एक बौद्ध भिक्षु था और बौद्ध धर्म के तीर्थ-स्थानों के दर्शनार्थ ही भारत-भ्रमण करने निकला था। वह इस देश में कुल ६ वर्ष तक रहा। उसने पेशावर, तक्षशिला, मथुरा, कन्नौज, कपिलवस्तु, श्रावस्ती, पाटलिपुत्र, बुद्धगया, राजगृह, वैशाली तथा अन्य स्थानों की यात्रा की। यद्यपि उसने अपना सारा समय बौद्ध-तीर्थों के दर्शन तथा धार्मिक विषयों की खोज में ही बिताया, तो भी उसके यात्रा-विवरण से देश की तत्कालीन

सामाजिक तथा राजनीतिक स्थिति का भी बहुत कुछ पता चलता है। उसके वर्णन से पता चलता है कि उस समय के लोग सुखी थे, उन्हें कर अधिक नहीं देने पड़ते थे। अपराधियों को प्रायः जुर्माने का ही दण्ड मिलता था। किन्तु बार-बार अपराध करने पर अङ्गच्छेद का दण्ड दिया जाता था। चाण्डालों को नगर के बाहर रहना पड़ता था। उन्हें लोग घृणा की दृष्टि से देखते थे। न तो कोई सूअर या मुर्ग़ी पालता था और न देश में कहीं गोश्त या शराब की दूकानें थीं। चाण्डालों के सिवा न कोई मदिरा पिता था और न लहसुन-प्याज ही खाता था। देश भर में बौद्ध-विहारों का जाल-सा फैला हुआ था। इनसे लगे हुए खेत तथा बग़ीचे भी होते थे जिनसे उनका ख़र्च चलता था। विहारों में हर प्रकार का सुख मिलता था और भिक्षुजन अतिथि-सत्कार को अपना कर्तव्य समझते थे।

कन्नौज, श्रावस्ती आदि स्थानों में होता हुआ फ़ाह्यान पाटलिपुत्र पहुँचा। वहाँ अशोक के बनवाये हुए विशाल भवन को देखकर वह चकित रह गया और उसने समझा कि यह देवों का बनाया हुआ होगा। पाटलिपुत्र में एक औषधालय भी था जिसमें अनाथ और दीन-दुखियों को मुफ़्त दवा दी जाती थी। वहाँ उनके लिए भोजन का भी प्रबन्ध था। इस औषधालय के खर्च का सारा भार नगर के कुछ धनाढ्य तथा दानशील निवासियों पर था। इतिहासकार विंसेंट स्मिथ का कथन है कि शायद इतना सुन्दर और व्यवस्थित औषधालय उस समय संसार के किसी देश में नहीं था। यात्री लिखता है कि लोग इतने धनाढ्य थे कि दिया और दानशीलता में एक दूसरे की बराबरी करते थे। वैश्यों ने ऐसी अनेक संस्थाएँ स्थापित की थीं जहाँ लोगों को दान मिलता था और ओषधि भी मुफ़्त दी जाती थी।

फ़ाह्यान लिखता है कि प्रजा राजा से प्रेम करती थी। उसका शासन शान्तिमय था। वह प्रजा के मामलों में हस्तक्षेप नहीं करता था। देश में धन-धान्य की प्रचुरता थी। अनाज आदि खाने-पीने की चीज़ों की कभी कमी नहीं होती थी। खाद्य-पदार्थ इतने सस्ते थे कि बाज़ारों में मोल-तोल कौड़ियों में होता था। ब्राह्मण और बौद्ध ख़ूब सुशिक्षित थे। शास्त्रार्थ में उनकी बड़ी रुचि थी। भिन्न-भिन्न धर्मों के अनुयायियों को अपना धर्म पालने की पूर्ण स्वतन्त्रता थी। बौद्ध-धर्म की इस समय अवनति हो रही थी परन्तु फ़ाह्यान इसके विषय में कुछ भी नहीं लिखता। देश का शासन अच्छा था। मार्ग में चोर-डाकुओं का ज़रा भी डर न था। यात्री कई वर्ष तक धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन करता रहा और अन्त में ताम्रलिप्ति* के बन्दरगाह से जहाज़ में सवार होकर चीन को वापस चला गया।

* ताम्रलिप्ति बंगाल के मिदिनापुर ज़िले में था। आज-कल उसे तामलुक कहते हैं।

इंडो बैक्ट्रियन के सिक्के

गोंडोजेन के सिक्के

कनिष्क के सिक्के

गुप्त-वंश के सिक्के
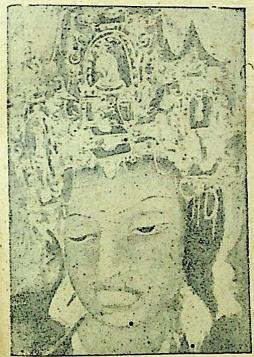
अजन्ता की नक्काशी

गुप्त ज़माने की नक्काशी का नमूना

प्राचीन हिन्दुस्तानी जहाज़

नालन्द यूनिवर्सिटी के खंडहर

लोहे का स्तम्भ (दिल्ली)
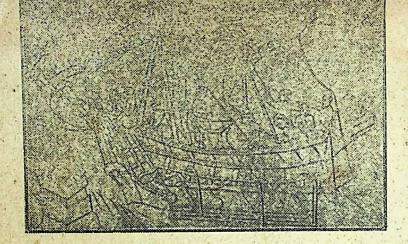
शासन-प्रबन्ध—शासन का प्रधान राजा होता था। अपने उत्तराधिकारी को वह स्वयं नामज़द करता था। उसकी सहायता के लिए एक मन्त्रि-परिषद् होती थी। मन्त्रियों का पद प्रायः मौरूसी होता था। माल और फ़ौज के विभागों में कोई भेद नहीं था। एक ही अफ़सर दोनों विभागों का काम कर सकता था। सारा साम्राज्य प्रान्तों में विभक्त था। प्रान्त को देश या भुक्ति कहते थे। प्रान्त ज़िलों में विभक्त थे जो प्रदेश या विषय कहलाते थे। गाँव का प्रबन्ध ग्रामिक करता था। वह हर एक मामले में बड़े-बूढ़ों की सलाह लेता था। नगरों का प्रबन्ध नागरिक स्वयं करते थे परन्तु उनके प्रधान कर्मचारी को प्रान्तीय शासक नियुक्त करता था। प्रान्तीय शासक प्रायः राजकुल के व्यक्ति होते थे। राज्य के ओहदों पर सभी श्रेणी और सम्प्रदायों के लोग नियुक्त किये जाते थे। चन्द्रगुप्त द्वितीय का सेनापति बौद्ध था और उसका मन्त्री शैव धर्म का अनुयायी था। ज़मीन की नाप बड़ी सावधानी से की जाती थी, फिर उस पर नियमानुसार लगान लगाया जाता था। किसानों को पैदावार का छठा भाग देना पड़ता था। राज्य की आमदनी के और ज़रिये भी थे; जैसे अधीनस्थ देशों से कर, जुरमाना तथा जंगल की आय। चमड़ा, लोहा, खानों और औषधियों पर भी महसूल लगाया जाता था। राजवंश के लोग सदा दान और परोपकार किया करते थे। दान का पृथक् विभाग था। ज़मीन भी लोगों को मुफ़्त दी जाती थी और राज्य के कर्मचारी उसमें कुछ भी हस्तक्षेप नहीं कर सकते थे। साम्राज्य की एकता का भाव लोगों के हृदयों में पूर्ण रीति से जम गया था। सम्राट् के प्रति अधीनस्थ राजाओं की श्रद्धा और भक्ति तथा प्रजातन्त्र राज्यों का साम्राज्य में सम्मिलित होना इस बात के काफ़ी प्रमाण हैं।

पिछले समय के गुप्त-सम्राट् और साम्राज्य का अन्त—चन्द्रगुप्त द्वितीय के बाद उसका पुत्र कुमारगुप्त गद्दी पर बैठा। उसका राज्यकाल ४१३-१४ ई० से ४५५ ई० तक माना जाता है। उसके राज्य के अन्तिम भाग में साम्राज्य की शक्ति छिन्न-भिन्न होने लगी। गुप्त का उत्तराधिकारी उसका बेटा स्कन्दगुप्त (४५५-४६७) हुआ। स्कन्दगुप्त बड़ा साहसी तथा पराक्रमी था। उसने जी तोड़कर पुष्यमित्रों के साथ युद्ध किया, यहाँ तक कि उसे एक दिन युद्ध-क्षेत्र में खाली ज़मीन पर सोकर सारी रात बितानी पड़ी थी।* देश भर में उसकी बड़ी प्रशंसा हुई। उसके राजत्वकाल में मध्य एशिया की हूण जाति ने भारतवर्ष पर अनेक आक्रमण किये। उनके साथ भी वह खूब लड़ा।

---

* भिटारी के स्तम्भ-लेख में लिखा है कि पुष्यमित्रों की पराजय के बाद स्कन्दगुप्त अपनी माता के पास गया था जिस प्रकार कंस को मारकर कृष्ण देवकी के पास गये थे।

स्कन्दगुप्त का अल्पकालीन राज्यकाल हूणों को पराजित कर भगाने में ही व्यतीत हुआ। हूण बार-बार हमला करते थे इसलिए राज-कोष का बहुत सा धन उनको रोकने में खर्च हो गया। इसका परिणाम यह हुआ कि स्कन्दगुप्त को अपने बाप की तरह खराब सोने के सिक्के चलाने पड़े। स्कन्दगुप्त की मृत्यु के बाद ४८४ ई० में हूणों ने तोरमाण के नेतृत्व में पञ्जाब, राजपूताना तथा मध्यदेश के कुछ भागों को जीतकर अपने अधिकार में कर लिया।

स्कन्दगुप्त के उत्तराधिकारियों में इतनी शक्ति नहीं थी कि साम्राज्य पर आनेवाले भीषण संकट को रोक सकें। फिर क्या था, धीरे-धीरे गुप्त-साम्राज्य की शक्ति क्षीण होने लगी। बुद्धगुप्त इस वंश का अन्तिम प्रभावशाली राजा था। उसने ४९५ ई० तक राज्य किया और बंगाल से मालवा तक उसका साम्राज्य फैला हुआ था। किन्तु उसकी मृत्यु के बाद हूणों ने तोरमाण और मिहिरकुल की अध्यक्षता में मालवा पर चढ़ाई की और भानुगुप्त को हरा दिया। मालवा के निकल जाने से सारे साम्राज्य का विस्तार कम हो गया। भानुगुप्त की मृत्यु के साथ ही साथ गुप्त-वंश का गौरव-सूर्य भी सदा के लिए अस्त हो गया। साम्राज्य के विनाश का प्रधान कारण हूणों का आक्रमण था।

आर्थिक दशा—गुप्त-काल भारतीय इतिहास में एक स्वर्ण-युग है। कला, साहित्य की असाधारण उन्नति तथा ब्राह्मण-धर्म का पुनरुत्थान तो इस काल में हुआ ही था, साथ ही साथ लोगों की आर्थिक दशा भी अच्छी हो गई। गुप्त-काल में हमारा देश धन-धान्य-सम्पन्न था और लोग बड़े सुख-शान्ति से अपना जीवन व्यतीत करते थे। समुद्रगुप्त तथा चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने बहुत सा धन लोगों को दान कर दिया था और जनता के हित के लिए अनेक कार्य किये थे। वाणिज्य-व्यापार भी उन्नत अवस्था में था। उस काल के बहुसंख्यक सिक्कों से इस कथन की पुष्टि होती है। विभिन्न प्रकार के उद्योग-धन्धों तथा दस्तकारियों का प्रबन्ध संघों द्वारा होता था। प्रत्येक संघ के पास अपनी मुहरें होती थीं जिनसे सेठ और व्यापारी लोग काम लेते थे। स्कन्दगुप्त के समय में—४६५ ई० के लगभग—एक ब्राह्मण ने सूर्यदेव के मन्दिर के लिए एक दीपक प्रदान किया था और उसका प्रबन्ध तेलियों के संघ को सौंप दिया था। ये संघ आधुनिक बैंकों का भी काम करते थे। वे लोगों का रुपया जमा करते थे और उन्हें ब्याज देते थे।

पश्चिमी देशों के साथ जो व्यापार होता था वह रोम-साम्राज्य के पतन के कारण धीरे-धीरे ढीला पड़ने लगा। किन्तु पूर्वी द्वीप-समूह के साथ वाणिज्य बराबर जारी रहा और ताम्रलिप्ति का बन्दरगाह सम्पत्तिशाली हो गया।

विक्रम-संवत्—साधारणतया लोगों का विश्वास है कि इस संवत् को उज्जैन के विक्रमादित्य नामक किसी राजा ने प्रचलित किया था। उसने

सिदियन लोगों पर विजय प्राप्त की थी। उसी के उपलक्ष में उसने इस संवत् को चलाया था। इसका आरम्भ ई० पू० ५७ से होता है। कुछ विद्वानों की राय है कि इस संवत् को मालव-जाति के लोगों ने चलाया था। यह वही जाति है जिसका प्रजातन्त्र राज्य सिकन्दर के आक्रमण के समय पंजाब में मौजूद था। छठी शताब्दी के बाद यह संवत् विक्रम-संवत् के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

गुप्तकालीन संस्कृति—कला—यों तो विदेशी शासकों के समय में ही, उनका आश्रय और प्रोत्साहन प्राप्त कर कला और साहित्य ने काफ़ी उन्नति कर ली थी किन्तु गुप्त-काल में उनकी उन्नति चरम सीमा तक पहुँच गई। गुप्त-काल की बहुत-सी इमारतें नष्ट हो गई हैं परन्तु जो कुछ अभी मौजूद हैं उनसे हमें तत्कालीन कला का हाल मालूम होता है। झाँसी ज़िले के देवगढ़ गाँव में गुप्त-काल का बनवाया हुआ एक विष्णु-मन्दिर अब तक खड़ा है। कानपुर ज़िले में भिटारगाँव में ईंटों का बना हुआ एक विशाल मन्दिर भी गुप्त-काल का माना जाता है। इसी तरह मध्यदेश के नागौर राज्य में भुमरा के समीप उसी काल का एक शिव-मन्दिर मौजूद है। ये तीनों मन्दिर गुप्तकालीन स्थापत्य-कला के उत्कृष्ट नमूने हैं। इन मन्दिरों की दीवारों पर जो मूर्त्तियाँ खोदकर बनाई गई हैं वे अत्यन्त सुन्दर हैं। उनकी कारीगरी अपूर्व है।

ग्वालियर के पास उदयगिरि की पहाड़ियों की गुफाओं में जो मन्दिर बने हैं उन पर विष्णु-वाराह देव तथा गंगा-यमुना की सुन्दर मूर्त्तियाँ खुदी हुई हैं। यहीं, पथरी के पास, कृष्ण के जन्म का चित्र पत्थर में खोदा गया है। इस काल में जैसी सुन्दर मूर्त्तियाँ बनीं वैसी अब तक भारत के इतिहास में शायद ही कभी बनी हों। उनकी गणना संसार की सर्वोत्कृष्ट मूर्त्तियों में की जा सकती है। गुप्त-काल की अनेक मूर्त्तियाँ सारनाथ के अजायबघर में मौजूद हैं। इन मूर्त्तियों को देखने से हम इस बात का अनुमान कर सकते हैं कि उस काल के कलाविदों ने कितनी बारीकी, सफ़ाई तथा सुन्दरता के साथ अपने भावों को प्रकट करने का सफल प्रयास किया है। लोहा, ताँबा आदि धातुओं पर भी उच्च कोटि की कारीगरी उस काल में दिखाई गई। दिल्ली में क़ुतुबमीनार के निकटस्थ लोहे का स्तम्भ गुप्तकालीन कला का आश्चर्यजनक स्मारक है। गुप्त-वंशीय राजाओं के सिक्के—विशेषकर चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की स्वर्ण-मुद्राएँ—बनावट तथा आकृति में अत्यन्त सुन्दर हैं। गुप्त-काल में चित्रण-कला की भी बड़ी उन्नति हुई। अजन्ता की गुफाओं की चित्रकारी उच्च कोटि की कारीगरी का नमूना है। पाश्चात्य कला-विशारदों नें भी अजन्ता के चित्रों की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है।

साहित्य—गुप्त-काल में साहित्य की भी खूब उन्नति हुई। संस्कृत-साहित्य के महाकवि कालिदास ने अपने काव्यों तथा नाटकों की रचना शायद इसी काल

में की थी। उसने रघुवंश, मेघदूत तथा कुमारसम्भव नामक काव्य तथा शकुन्तला, विक्रमोर्वशीय और मालविकाग्नि-मित्र तीन नाटक-ग्रन्थ रचे। हरिषेण और वीरसेन नामक दो संस्कृत के प्रसिद्ध कवि समुद्रगुप्त तथा चन्द्रगुप्त-विक्रमादित्य के दरबार में रहते थे। मृच्छकटिक नाटक का रचयिता शूद्रक तथा मुद्रा-राक्षस का प्रणेता विशाखदत्त भी इसी काल में हुए थे। इसी काल में रामायण और महाभारत काव्यों की चरना समाप्त हुई और पुराणों का अन्तिम सम्पादन हुआ। आर्यभट्ट तथा वराहमिहिर ने ज्योतिष के कतिपय ग्रन्थ रचे जिनसे उस विद्या की बहुत कुछ उन्नति हुई।

धर्म—गुप्तवंशीय सम्राट् वैष्णव-धर्म के अनुयायी थे। उनकी संरक्षकता में ब्राह्मण-धर्म का प्रभाव फिर से जाग्रत हुआ जैसा कि उनके अश्वमेध यज्ञों से विदित होता है। ब्राह्मण-धर्म की प्रधान विशेषता भक्ति थी। ईश्वर की उपासना, वर्ण-व्यवस्था तथा यज्ञ, यही इस धर्म के मुख्य अंग थे। विष्णु की उपासना का बहुत प्रचार था। विष्णु के अनेक मन्दिर भी बने। यद्यपि इस काल में ब्राह्मण-धर्म की ही प्रधानता थी, परन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि बौद्ध तथा जैन धर्मावलम्बियों पर किसी प्रकार का अत्याचार किया जाता था। उन्हें अपना धर्म पालने की पूर्ण स्वतन्त्रता थी। शिव, विष्णु, बुद्ध, सूर्य तथा अन्य देवताओं की उपासना के लिए बहुत से मन्दिर बनवाये गये। ४६० ई० का एक लेख मिला है जिससे प्रकट होता है कि पाँच जैन साधुओं की मूर्त्तियाँ और एक स्तम्भ इस काल में बनवाये गये। इनका बनवानेवाला एक ब्राह्मण था जो गुरुओं और साधुओं का विशेष सम्मान करता था।

हूण जाति—गुप्त-साम्राज्य के छिन्न-भिन्न हो जाने के बाद उत्तरी भारत अनेक स्वतन्त्र राज्यों में विभक्त हो गया। गुप्त सम्राटों ने हूणों के आक्रमणों को रोकने के लिए बड़ी वीरता से युद्ध किया परन्तु वे असफल रहे। ५१० ई० के लगभग तोरमाण का बेटा मिहिरकुल हूणों का राजा हुआ। वह बड़ा अत्याचारी शासक था। वह स्वयं शैव था परन्तु बौद्ध-धर्म के अनुयायियों के साथ उसने बड़ा कठोर बर्त्ताव किया। उसने सैकड़ों स्तूपों और विहारों को ढहा दिया। उसके अत्याचारों को रोकने के लिए मध्यभारत के एक शक्तिशाली राजा यशोधर्मन् ने एक संघ बनाया। मगध के राजा नरसिंह बालादित्य की सहायता से उसने सिन्धु नदी के तट पर हूणों को बुरी तरह पराजित किया और (५३० ई० के लगभग) मिहिरकुल को काश्मीर की ओर भगा दिया।

मध्यभारत में मन्दसोर नामक स्थान पर उसके दो लेख पाये गये हैं। इन लेखों से पता चलता है कि उसने भारत के प्रत्येक भाग को जीता था और उसका साम्राज्य गुप्त-सम्राटों के साम्राज्य से बड़ा था। कुछ विद्वानों का मत है कि उसने विक्रमादित्य की पदवी धारण की थी। किन्तु इस कथन की पुष्टि के

लिए कोई प्रमाण नहीं मिलता। यह नहीं कहा जा सकता कि उसकी मृत्यु के बाद साम्राज्य की क्या दशा हुई।

संक्षिप्त सन्‌वार विवरण

चन्द्रगुप्त प्रथम का गद्दी पर बैठना और गुप्तकाल का प्रारम्भ	..	.. ३१९ ई०
समुद्रगुप्त का गद्दी पर बैठना	..	.. ३३५ "
चन्द्रगुप्त द्वितीय	..	.. ३७५ "
कुमारगुप्त	..	.. ४१४ "
स्कन्दगुप्त	..	.. ४५५ "
तोरमाण की पंजाब पर विजय	..	.. ४८४ "
तोरमाण-द्वारा गुप्त-राज्य की पराजय	..	.. ५१० "
मिहिरकुल की पराजय	..	५३० ई० के लगभग।

अध्याय १०

उत्तरी भारत—थानेश्वर का अभ्युदय

गुप्त राजाओं के बाद उत्तरी भारत—पहले कह चुके हैं कि छठी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में यशोधर्मन् भारत का बड़ा प्रतापी राजा हुआ। उसकी मृत्यु के बाद सारा देश फिर अनेक स्वतन्त्र राज्यों में विभक्त हो गया। संयुक्त-प्रान्त तथा बिहार के कुछ भागों पर मौखरी-वंश का आधिपत्य स्थापित हो गया। उत्तर-कालीन गुप्त राजाओं के साथ इन मौखरी लोगों ने घोर युद्ध किया। यह युद्ध अधिक काल तक चलता रहा किन्तु हार-जीत का निर्णय न हुआ। कभी एक पक्ष जीतता था और कभी दूसरा। उत्तर-काल के गुप्त राजा महासेन गुप्त ने लड़ाई करना बन्द कर दिया और बंगाल तथा आसाम में अपना अधिकार बढ़ाने की चेष्टा की। इसी समय पूर्वी पंजाब में थानेश्वर में एक राजवंश का अभ्युदय हुआ। मौखरियों ने इस वंश के साथ मित्रता कर ली।

थानेश्वर का राजवंश—इस वंश का पहला राजा प्रभाकरवर्द्धन (लगभग ५८० से ६०५ तक) था। उसने हूणों को पराजित किया और सिंध, गुजरात तथा मालवा आदि देशों को जीतकर एक छोटा-सा साम्राज्य बनाया। महासेन गुप्त की बहिन के साथ विवाह करके उसने गुप्तवंश से मित्रता कर ली। इसके अतिरिक्त अपनी बेटी राज्यश्री का विवाह गृहवर्मन् मौखरी के साथ करके उसने

अपनी शक्ति को अधिक बढ़ा लिया। प्रभाकरवर्द्धन के दो बेटे थे—राज्यवर्द्धन और हर्षवर्द्धन। उसकी मृत्यु के बाद ज्योंही राज्यवर्द्धन गद्दी पर बैठा, मालवा के एक गुप्तवंशीय राजा ने गृहवर्मन् मौखरी को मारकर राज्यश्री को कारागार में डाल दिया। राज्यवर्द्धन ने अपने बहनोई की मृत्यु का बदला लेने की चेष्टा की परन्तु बंगाल के शक्तिशाली राजा शशांक ने बीच ही में उसे क़त्ल कर दिया।

हर्षवर्द्धन—(६०६-६४७ ई०) राज्यवर्द्धन के बाद उसका भाई हर्षवर्द्धन ६०६ ई० में थानेश्वर की गद्दी पर बैठा। उसका पहला काम अपनी बहन राज्यश्री को मुक्त करना था। वह कारागार से निकलकर विन्ध्याचल पर्वत की ओर भाग गई थी। वहाँ जाकर हर्षवर्द्धन ने उसे चिता में जलकर मरने से रोका और अपने साथ थानेश्वर ले आया। गृहवर्मन् की मृत्यु के बाद उसके मन्त्रियों ने कन्नौज की गद्दी पर बैठने के लिए हर्षवर्द्धन को निमन्त्रित किया। उसने अपनी बहिन के संरक्षक रूप में उसे स्वीकार किया और जब तक राज्यश्री जीवित रही तब तक उसने राजा की पदवी नहीं धारण की। इसके पश्चात् महाराज हर्ष ने बंगाल के राजा शशांक पर चढ़ाई की किन्तु जब तक शशांक जीता रहा, उसे सफलता प्राप्त न हो सकी। उसके शासन के प्रथम ६ वर्ष मालवा, बिहार, संयुक्तप्रान्त तथा पंजाब के एक बड़े भाग को जीतने में बीते। विन्ध्याचल पर्वत को पार कर उसने महाराष्ट्र के प्रतापी चालुक्य राजा पुलकेशिन् द्वितीय पर चढ़ाई की। परन्तु इस युद्ध में उसे करारी हार खानी पड़ी। उसने कामरूप (आसाम) तथा वल्लभी (गुजरात) के राजाओं के साथ मैत्री-सम्बन्ध स्थापित किया। उसके साम्राज्य में संयुक्त-प्रान्त, बिहार और सम्भवतः मालवा तथा पंजाब का कुछ भाग सम्मिलित था। गुप्त-साम्राज्य की अपेक्षा उसका राज्य-विस्तार कम था। अपने शासन-काल के अन्तिम भाग में उसने गंजाम* के राजा के साथ युद्ध किया परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि उसका परिणाम क्या हुआ।

य्वानच्वांग (ह्वेनसांग) का विवरण—हर्ष का शासन-प्रबन्ध—चीनी यात्री य्वानच्वांग या ह्वेनसांग महायान सम्प्रदाय का बौद्ध था। वह ६३० ई० में भारत में आया और १४ वर्ष तक देश में घूमता रहा। वह स्थल-मार्ग से गोबी के रेगिस्तान को पार कर खुतन होता हुआ अफ़ग़ानिस्तान पहुँचा और वहाँ से खैबर के दर्रे में होकर पंजाब में प्रविष्ट हुआ। उसने इस देश तथा राजाओं और जनता के विषय में अनेक बातें विस्तारपूर्वक लिखी हैं। हर्ष का शासन-

---

* गंजाम मद्रास अहाते में है। कुछ विद्वानों का मत है कि हर्ष के साम्राज्य में पूर्वी पंजाब, प्रायः सम्पूर्ण संयुक्त-प्रान्त, बिहार, बंगाल, उड़ीसा तथा गंजाम प्रदेश सम्मिलित थे।

प्रबन्ध अच्छा था। अपराधियों को कड़ी सज़ाएँ दी जाती थीं। जो मनुष्य राजा के साथ विश्वासघात करता था उसे जीवन-पर्यन्त कारागार का दण्ड भोगना पड़ता था। घोर अपराधों के बदले में हाथ-पैर, नाक-कान काट लिये जाते थे। लोगों को कर अधिक नहीं देना पड़ता था। मन्त्रियों तथा प्रान्तीय शासकों को वेतन के बदले ज़मीन दी जाती थी किन्तु फ़ौजी अफ़सरों को नक़द वेतन मिलता था। बेगार की प्रथा बिलकुल न थी। राज्य की प्रधान आय राजकीय भूमि (खालसा की ज़मीन) से होती थी। किसान पैदावार का छठा भाग राज्य को देते थे। व्यापार से भी राज्य को आमदनी होती थी। इसके सिवा घाटों के कर और चुंगी से भी बहुत सा रुपया मिल जाता था। सेना बहुत बड़ी थी और उसके चार विभाग थे—हाथी, रथ, अश्वारोही तथा पैदल। सैनिक लोग हथियार चलाने में बड़े निपुण थे। विशाल सेना तथा कठोर दण्ड-विधान के होते हुए भी जान और माल सुरक्षित न थे। इस काल का शासन उतना संगठित तथा सुव्यवस्थित न था जितना कि गुप्त-काल का। ह्वानच्वाँग स्वयं कई बार डाकुओं के हाथों में पड़ गया था।

सामाजिक स्थिति—ह्वानच्वाँग लिखता है कि देश के अधिकांश भागों में लोग सीधे और ईमानदार थे। जाति-व्यवस्था का पूर्ण विकास हो चुका था और अन्तर्जातीय विवाह का निषेध था। ऐसा प्रतीत होता है कि बाल-विवाह की प्रथा प्रचलित थी। हर्ष की बहिन राज्यश्री का विवाह बारह वर्ष की अवस्था में हुआ था। पद का नियम कड़ा नहीं था। राज्यश्री सार्वजनिक सभाओं में सम्मिलित होती थी और धार्मिक वाद-विवाद में भाग लेती थी। इससे मालूम होता है कि देश में स्त्री-शिक्षा का प्रचार काफ़ी था।

उच्च वर्णों की स्त्रियों में पति के मरते समय अथवा मरने के बाद चिता में जलकर मर जाने की प्रथा थी। हर्ष की माता अपने पति के जीते-जी उसके शोक में जल मरी थी और राज्यश्री को चिता में जलने से उसके भाई ने बचाया था।

लोगों का भोजन साधारण था। वे दूध, घी, भुने हुए चने तथा मीठी रोटी का इस्तेमाल करते थे। लहसुन और प्याज़ खाने का रवाज बहुत कम था। मांस भी लोगों का नित्य का भोजन नहीं था। यद्यपि देश में तरह-तरह के कपड़े तैयार होते थे तो भी लोगों की पोशाक सादी थी। समुद्र-यात्रा का निषेध नहीं था। ब्राह्मण भी जहाज़ों में बैठकर विदेशों को जाते थे। उन्हीं के द्वारा भारतीय संस्कृति और सभ्यता का प्रचार जावा और दूसरे देशों में हुआ था।

ब्राह्मण अपनी विद्या और धर्म-परायणता के लिए प्रसिद्ध थे। शिक्षित समाज की भाषा संस्कृत थी। बौद्ध भी संस्कृत में लिखते-पढ़ते थे। ह्वानच्वाँग ने भारतीय संन्यासियों की बड़ी प्रशंसा की है। वे राजाओं की भी कुछ पर्वाह नहीं

करते थे और निन्दा अथवा प्रशंसा का उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता था। उन्हीं के द्वारा लोगों में ज्ञान का प्रकाश फैलता था।

आर्थिक दशा—चीनी यात्री ने लोगों की आर्थिक दशा के बारे में भी कुछ लिखा है। बौद्ध-धर्म की उन्नतावस्था में जो नगर बहुत प्रसिद्ध थे उनकी अब अवनति हो रही थी परन्तु उनकी शानदार इमारतों को देखकर वह भी चकित हो गया था। ब्राह्मण लोग उद्योग-धंधों में भाग नहीं लेते थे। वे केवल आध्यात्मिक कृत्यों में लगे रहते थे। व्यापार वैश्यों के हाथ में था और अधिकांश लोग खेती करके अपना जीवन व्यतीत करते थे। शूद्र और चाण्डाल नगर के बाहर रहते थे। लोगों की रहन-सहन का तरीक़ा ऊँचे दर्जे का था क्योंकि ह्वानच्वाँग लिखता है कि ग़रीब आदमियों के घर भी ईंट या लकड़ी के बने रहते थे। दीवारों पर चूने का पलास्टर होता था और उन पर अनेक प्रकार के फूल कढ़े हुए होते थे। देश में सोने-चाँदी की कमी न थी। बहुमूल्य धातुओं की बनी हुई बुद्ध भगवान् की अनेक प्रतिमाएँ ह्वानच्वाँग जाते समय अपने साथ ले गया था।

शिक्षा और बौद्ध धर्म—ह्वानच्वाँग के विवरण से हमें पता लगता है कि बौद्ध-धर्म का पतन आरम्भ हो गया था और वह अनेक उप-सम्प्रदायों में विभक्त हो गया था। बौद्धों का एक अद्भुत विहार नालन्दा* का विश्वविद्यालय था जिसमें दस हज़ार विद्यार्थी पढ़ते थे। अनेक राजा उसके संरक्षक थे। उसके खर्चे के लिए राज्य की ओर से १०० गाँव लगे हुए थे। चीन, मंगोलिया आदि सुदूर देशों से विद्यार्थी आकर वहाँ विद्याध्ययन करते थे; उनके रहने, खाने और पढ़ने का प्रबन्ध मुफ़्त में होता था। भारत के प्रसिद्ध विद्वान् इस विश्वविद्यालय में अध्यापक थे। यद्यपि विश्वविद्यालय बौद्ध-धर्म की शिक्षा के लिए स्थापित हुआ था परन्तु वहाँ अन्य धर्मों की भी पढ़ाई होती थी। रात-दिन विद्वत्तापूर्ण वाद-विवाद की धूम रहती थी। छोटे-बड़े सब विद्वान् अध्ययन में तत्पर रहते थे और उच्च कोटि की योग्यता प्राप्त करने में एक दूसरे की सहायता करते थे। महाराज हर्ष शिव और सूर्य के उपासक थे। परन्तु पीछे से उनकी प्रवृत्ति बौद्ध-धर्म की ओर अधिक हो गई थी। ह्वानच्वाँग लिखता है कि राजा ने अपने सारे राज्य में पशु-वध का निषेध कर दिया था।

प्रयाग की सभा—६४३ ई० में हर्ष ने धार्मिक विषयों पर वाद-विवाद करने के लिए अपनी राजधानी कन्नौज में एक बड़ी सभा की। अनेक राजा और विद्वान् इस सभा में सम्मिलित हुए थे। ह्वानच्वाँग को राजा ने बड़े आदर के साथ निमन्त्रण भेजा था। प्रति पाँचवें वर्ष हर्ष प्रयाग में एक सभा करता था

---

* नालन्दा पटना ज़िले में राजगृह के निकट है।

जिसमें सब श्रेणी के लोग शामिल होते थे। पाँच वर्ष में जो कुछ धन इकट्ठा करता था उसे इस अवसर पर दान कर देता था। अपने वस्त्र-आभूषण इत्यादि सब कुछ दान करने के बाद वह अपनी बहन से एक पुराना कपड़ा माँगता था और उसे पहनकर भगवान् बुद्ध की उपासना करता था। ब्राह्मण, भिक्षुक और विशेषतः बौद्ध, राजा से अनेक प्रकार के उपहार पाते थे। हर्ष किसी खास धर्म को नहीं मानता था। वह बारी-बारी से बुद्ध, सूर्य तथा शिव की पूजा करता था। प्रतिदिन बुद्ध की मूर्त्ति का जुलूस निकाला जाता था।

ह्वानच्वाँग का अपने देश को लौटना—इसके बाद ह्वानच्वाँग अपने देश को वापस लौट गया। हर्ष ने उसे विविध प्रकार के उपहार भेंट किये और पश्चिमोत्तर सीमा-प्रान्त तक पहुँचाने के लिए कुछ सिपाही भी साथ कर दिये। सन् ६६४ ई० में उसका देहान्त हो गया। वह बौद्ध-धर्म का एक प्रकाण्ड विद्वान् था और अपने साहस तथा धार्मिक उत्साह के लिए भी बहुत प्रसिद्ध था।

हर्ष का चरित्र—हर्ष स्वयं विद्वान् पुरुष था। उसने अनेक विद्वानों को अपने यहाँ आश्रय दिया था। संस्कृत का प्रसिद्ध गद्य-लेखक बाण उसके दरबार में रहता था। उसने कादम्बरी तथा हर्ष-चरित्र नामक दो ग्रन्थों की रचना की। कादम्बरी एक कथा-पुस्तक है और हर्ष-चरित्र में हर्ष का जीवन-चरित्र है। ये दोनों ग्रन्थ बहुत ऊँचे दरजे के हैं और इस प्रकार के ग्रन्थों में सर्वश्रेष्ठ हैं। हर्ष स्वयं नाटककार था। कहा जाता है कि रत्नावली, प्रियदर्शिका और नागानन्द नामक नाटक उसी के के बनाये हुए हैं। वह गद्य और पद्य दोनों आसानी से लिखता था। उसने व्याकरण की भी एक पुस्तक लिखी थी। चित्र-कला का भी उसे ज्ञान था, एक पत्र पर उसका चित्र-लेख मिला है। धार्मिक मामलों में हर्ष के विचार उदार थे। वह बौद्ध तथा ब्राह्मण दोनों धर्मों का समान आदर करता था। हर्ष ने अपने शासन-द्वारा हिन्दू राजधर्म का एक उत्कृष्ट आदर्श जनता के सामने रक्खा। वह प्रजा के साथ दया का वर्त्ताव करता था। और उसकी सेवा में खाने और सोने की भी कुछ पर्वाह नहीं करता था। उसने देश भर में पुण्यशालाएँ स्थापित की थीं जहाँ लोगों को मुफ्त में भोजन, शर्बत और औषधि इत्यादि वस्तुएँ बाँटी जाती थीं। लोग सुखी और संतुष्ट थे, यद्यपि कभी-कभी ब्राह्मणों और बौद्धों में झगड़ा हो जाता था।

४२ वर्ष के शासन के बाद, ६४७ ई० में, हर्ष की मृत्यु हो गई। उसके देहान्त के बाद उसका साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया।

संक्षिप्त सन्‌वार विवरण

थानेश्वर के राजवंश का अभ्युदय	५८० ई०
हर्षवर्द्धन का जन्म	५९० ,,
प्रभाकरवर्द्धन की मृत्यु	६०५ ,,

गृहवर्मन् की मृत्यु और राज्यवर्द्धन की प्राणहत्या	..	६०५ ई०
हर्ष का गद्दी पर बैठना और हर्ष का संवत् ..	..	६०६ ,,
पुलकेशिन् द्वितीय से युद्ध ..	..	६१२ ,,
ह्वानच्वांग का भारत में आगमन ..	..	६२९ ,,
ह्वानच्वांग की हर्ष से भेंट ..	..	६४२ ,,
कन्नौज और प्रयाग की सभाएँ ..	..	६४३ ,,
हर्ष की मृत्यु ..	..	६४७ ,,

अध्याय ११

उत्तरी राजवंश—राजपूत

(६५० से १२०० ई० तक)

हर्ष की मृत्यु के बाद भारत—हर्ष की मृत्यु के बाद भारत के इतिहास में फिर एक वार अराजकता फैल गई। हर्ष का साम्राज्य ऐसा लुप्त हो गया कि उसका कोई चिह्न बाक़ी न रहा। हर्ष के जीवन-काल में ही दुर्लभवर्द्धन ने काश्मीर में कारकोट वंश की स्थापना कर ली। मैत्रक राजाओं ने गुजरात में अपना स्वाधीन राज्य स्थापित कर लिया। मगध पिछले गुप्त राजाओं की शक्ति का केन्द्र बन गया और इस वंश के आदित्य-सेन नामक राजा ने अपने को बड़ा शक्तिशाली बना लिया। उसने ६७५ ई० के लगभग बंगाल को जीत लिया। परन्तु कन्नौज के राजा यशोवर्मन् ने मगध की शक्ति को नष्ट कर दिया। यशो-वर्मन् एक बड़ा विजयी पुरुष तथा कवियों का आश्रयदाता था। संस्कृत-साहित्य का महाकवि और उत्तर-रामचरित का रचयिता भवभूति उसी के दरबार में रहता था। यशोवर्मन् ने एक बड़ा साम्राज्य स्थापित कर लिया। काश्मीर का राजा ललितादित्य (७२४-६० ई०) उसका घोर शत्रु और प्रतिद्वन्द्वी था। दोनों में युद्ध आरम्भ हो गया जिसमें यशोवर्मन् की हार हुई और वह मारा गया। राजनीतिक सत्ता कन्नौज से काश्मीर को चली गई।

ललितादित्य एक वीर, उत्साही और निरंकुश शासक था। विजय और गौरव प्राप्त करने के लिए उसने मगध, बंगाल तथा कन्नौज पर आक्रमण किया। वह दक्षिण भारत में भी पहुँचा और कहते हैं कि उसने गुजरात और मालवा को भी जीता। उसके विशाल साम्राज्य को देखकर लोगों को मौर्य सम्राटों के दिन

याद आने लगे। सैकड़ों वर्ष तक अपने राजा की विजयों की खुशी में वे उत्सव मनाते रहे।

सन् ७६० ई० में ललितादित्य की मृत्यु हो गई। उसके बाद कई शक्ति-हीन राजा हुए। उनमें इतने बड़े साम्राज्य को सँभालने की शक्ति नहीं थी। जिस समय काश्मीर की ऐसी दशा थी उसी समय उत्तरी भारत में दो नये राज्य बने। इनमें से एक बंगाल में पाल-वंश का राज्य था और दूसरा गुर्जर-प्रतिहारों का। जिस समय यशोवर्मन् के शासन में कन्नौज उन्नति कर रहा था और गुर्जर-प्रतिहार राजपूताना में अपनी शक्ति बढ़ा रहे थे उसी समय अरब के मुसलमानों ने सिन्ध पर आक्रमण किया। सिन्ध के बहुत से भाग पर उनका अधिकार स्थापित हो गया। भारत पर मुसलमानों का यह पहला आक्रमण था।

सिन्ध पर अरबों का आक्रमण—अरब के मुसलमान हज़रत मुहम्मद के अनुयायी थे। उनको वे ईश्वर का पैग़म्बर अर्थात् दूत मानते थे। उनका जन्म ५७० ई० में मक्का में हुआ था। उनके माता-पिता की आर्थिक दशा अच्छी न थी। इसलिए उनके चचा ने उनका पालन-पोषण किया। बाल्या-वस्था से ही मुहम्मद ईश्वरभक्त थे और धार्मिक मामलों में बड़ी रुचि रखते थे। लगभग ३० वर्ष की अवस्था में उनको अरब-निवासियों के धर्म से घृणा हो गई और वे एकेश्वरवादी हो गये। उन्होंने अपने नये सिद्धान्त का प्रचार करना आरम्भ किया और वे अपने को ईश्वर का पैग़म्बर कहने लगे। मक्का के निवासियों ने उनके नये मत का विरोध किया और उन्हें इतना सताया कि सन् ६२२ ई० में वे मक्का छोड़कर मदीना को चले गये। इसी समय से मुसल-मानों के हिजरी संवत्* का आरम्भ होता है। मदीना में हज़रत को अच्छी सफ-लता हुई और धीरे-धीरे सारे मदीने के ही नहीं, बल्कि अन्य अनेक नगरों और स्थानों के लोगों ने भी उनके धर्म को स्वीकार कर लिया।

धीरे-धीरे उनके अनुयायियों की संख्या बढ़ गई और उन्हें ईश्वर का

---

* हिजरी संवत् का आरम्भ १६ जूलाई सन् ६२२ से होता है। मरते समय हज़रत मुहम्मद ने किसी को अपना उत्तराधिकारी नामज़द नहीं किया। अतः इस बात पर झगड़ा उठ खड़ा हुआ कि उनके अनुयायियों का नेता कौन बनाया जाय। अबूबक्र, जो पैग़म्बर के साथियों में से थे, खलीफ़ा चुने गये। हज़रत मुहम्मद के दामाद अली ने भी खलीफ़ा होने के लिए अपना दावा पेश किया था। परन्तु उस पर कुछ ध्यान न दिया गया। इस कारण हज़रत मुहम्मद के अनुयायियों में दो दल हो गये। जो लोग अली के पक्ष का समर्थन करते थे वे शिया कहलाये। खलीफ़ा मुसलमान जगत् का अध्यक्ष माना जाने लगा और उसका पद बड़े महत्त्व का हो गया।

पैग़म्बर या दूत मानने लगे। हज़रत ने बड़े परिश्रम के साथ अपना जीवन व्यतीत किया। लड़ते भिड़ते और अपने धर्म का प्रचार करते हुए अन्त में वे सन् ६३२ ई० में मर गये। क़ुरान में उनकी शिक्षाओं का वर्णन है। मुसलमान लोग उसे ईश्वर-वाक्य समझते हैं।

पैग़म्बर की मृत्यु के बाद भी उनके साहसी अनुयायियों ने उनका काम जारी रक्खा। उन्होंने बीस वर्ष के भीतर सीरिया, पैलेस्टाइन, मिस्र तथा ईरान को जीत लिया। ईरान पर विजय प्राप्त करने के बाद उनकी इच्छा पूर्व की ओर बढ़ने की हुई। फलत: ६३७ ई० में उन्होंने भारत पर आक्रमण करने की आयोजना की। परन्तु ख़लीफ़ा ने समझा कि इसका परिणाम मुसलमानों के लिए बड़ा भयंकर होगा। अत: यह विचार छोड़ दिया गया।

अरब के मुसलमानों का पहला उल्लेखनीय आक्रमण मुहम्मद बिन क़ासिम की अध्यक्षता में ७१२ ई० में हुआ। यह आक्रमण सिन्ध देश पर हुआ, जहाँ दाहिर नाम का एक ब्राह्मण राजा राज्य करता था। राजा ने बड़े साहस के साथ युद्ध किया किन्तु उसकी हार हुई और वह मारा गया। इसके बाद उसकी रानी ने अपने पति की सेना का संगठन किया और १५,००० सैनिकों को लेकर विदेशियों के साथ युद्ध छेड़ दिया। किन्तु सफलता की आशा न देखकर वह राजकीय वंश की अन्य महिलाओं के साथ आग में जल मरी। दाहिर के राज्य पर मुसलमानों का अधिकार हो गया। इस विजय के बाद विजेताओं ने ब्राह्मणवाद और मुल्तान को जीता और इस प्रकार प्राय: सम्पूर्ण सिन्ध प्रदेश मुसलमानों के अधिकार में चला गया।

मुहम्मद बिन क़ासिम के शासन-काल में हिन्दुओं पर अत्याचार नहीं किया गया। उन्हें काफ़ी स्वतन्त्रता प्रदान की गई, यद्यपि उन्हें जज़िया देना पड़ा। जो लोग इस्लाम धर्म को ग्रहण कर लेते थे वे ग़ुलामी से मुक्त कर दिये जाते थे। ब्राह्मणों के साथ अच्छा बर्ताव किया गया और उनके पद-गौरव की रक्षा की गई। हिन्दू-मन्दिरों को कोई हानि नहीं पहुँचाई गई और लोगों को पूजा करने की आज्ञा प्रदान की गई। इतनी विजय पाने पर भी उसके शत्रुओं ने उसके विरुद्ध षड्यन्त्र किया। ख़लीफ़ा से उसकी बहुत-सी शिकायतें की गईं और उसका परिणाम यह हुआ कि उसको फाँसी की सज़ा दी गई। सिन्ध की विजय अधूरी रह गई और अरबवालों की स्थिति बहुत कमज़ोर हो गई। सिन्ध पर अरब के मुसलमानों ने जो विजय प्राप्त की, उसके विषय में कहा गया है कि यह भारत और इस्लाम के इतिहास की एक रोचक घटना है और परिणाम-शून्य विजय है। इसके कई कारण हैं। मुहम्मद बिन क़ासिम की अध्यक्षता में जितनी सेना भेजी गई थी वह काफ़ी नहीं थी। सिन्ध का प्रान्त बिलकुल रेगिस्तान और अनुपजाऊ था। सबसे प्रधान कारण यह था कि
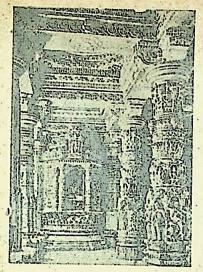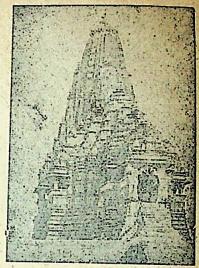
आबू पहाड़ पर जैन-मन्दिर का भीतरी भाग

खंडरिया महादेव का मन्दिर—खजुराहो
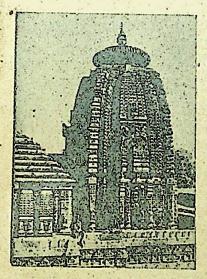
जगन्नाथ—पुरी

बुध—गया
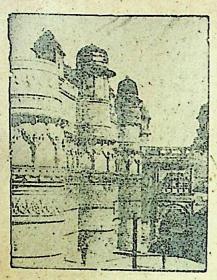
ग्वालियर का किला

एक राजपूत सिपाही

बोधि-सत्व (नालन्द)
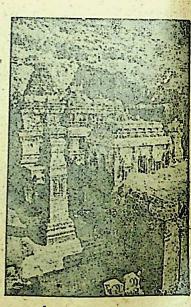
एलोरा का कैलाश मन्दिर

उत्तर तथा पूर्व में राजपूतों के बड़े-बड़े राज्य थे और दक्षिण राष्ट्रकूटों के अधिकार में था। ये सब हिन्दू राजा आक्रमणकारियों से लड़ने को तैयार थे। ऐसी परिस्थिति में मुसलमानों के लिए यहाँ पर स्थायी राज्य स्थापित करना प्रायः असम्भव था।

मुसलमानों की विजय का एक महत्त्वपूर्ण प्रभाव वर्णन करने योग्य है। अरब के लोगों ने हिन्दू-सभ्यता और संस्कृति को बहुत पसन्द किया। अनेक मुसलमान विद्वानों ने ब्राह्मण पंडितों से उनकी प्राचीन विद्याएँ सीखीं। ज्योतिष, गणित, दर्शन-शास्त्र, आयुर्वेद तथा अन्य विद्याओं के जो ग्रंथ संस्कृत में थे उनका अनुवाद अरबी भाषा में किया गया। यह उस सामय के मुसलमानों की गुण-ग्राहकता है कि उन्होंने अपने से भिन्न मतवालों की सुन्दर संस्कृति को घृणा की दृष्टि से नहीं देखा। मुसलमानों ने संस्कृत-भाषा का भी ज्ञान प्राप्त किया और अरबी के ग्रंथों का अनुवाद किया। हिन्दू-चिकित्सक बग़दाद गये और वहाँ के औषधालयों की देख-भाल उनके सुपुर्द की गई। अरब-निवासियों ने हिन्दुओं से शतरञ्ज का खेल तथा एक से नौ तक के अंक सीखे। पीछे से यूरोप वालों ने इन्हीं अंकों को अरबवालों से सीखा। इन सब बातों में खलीफ़ाओं के विचार उदार थे। कहा जाता है कि एक खलीफ़ा ने तो हिन्दू वैद्य से अपनी चिकित्सा कराके स्वास्थ्य लाभ किया था।

प्रतिहार-साम्राज्य—गुर्जर-प्रतिहार एक विदेशी जात के लोग थे। जब ब्राह्मणों ने उन्हें हिन्दू बना लिया तब भारतीय समाज में उनका प्रवेश हुआ। आजकल वे परिहार के नाम से प्रसिद्ध हैं। चौहानों की तरह उनका भी कहना है कि वे अर्वली पर्वत की चोटी पर ब्रह्मा के अग्नि-कुण्ड से उत्पन्न हुए हैं। वे पहले-पहल राजपूताना में भीनमल नामक स्थान में बसे थे। जिस समय (७१२ ई०) सिन्ध को अरबवालों ने जीता था उस समय प्रतिहार बड़े शक्ति-शाली थे। उन्होंने अरबों को सिन्ध से आगे बढ़ने से रोका। आठवीं शताब्दी के मध्य-काल में वत्सराज नामक प्रतिहार राजा ने सारे उत्तरी भारत को रौंद डाला और कन्नौज तथा बंगाल राज्यों को जीत लिया। प्रतिहारों को राष्ट्र-कूटों के साथ युद्ध करना पड़ा और अन्त में राजा ध्रुव द्वितीय से हार खानी पड़ी। वत्सराज (८१५-३४ ई०) के बेटे नागभट्ट द्वितीय ने बंगाल के पास राजा धर्मपाल को पराजित किया और कन्नौज पर अपना अधिकार जमा लिया। धर्मपाल के पुत्र देवपाल ने थोड़े काल के लिए प्रतिहारों की शक्ति को क्षीण कर दिया, किन्तु राजा भोज प्रथम (८४०–९० ई०) के समय में प्रतिहार फिर सबल बन गये। उसने कन्नौज को फिर जीत लिया और अपना साम्राज्य स्थापित किया जिसमें पंजाब, राजपूनाना, मध्यभारत, गुजरात तथा संयुक्त-प्रान्त सम्मिलित थे। उसके बेटे महेन्द्रपाल (८९०–९०८ ई०) ने बिहार को भी

अपने साम्राज्य में मिला लिया। प्रतिहारों का शासन अब समस्त उत्तरी भारत में स्थापित हो गया। परन्तु महेन्द्रपाल के दूसरे बेटे महिपाल (९१०–४० ई०) को दक्षिण के राष्ट्रकूट राजा इन्द्र तृतीय के हाथ से गहरी हार खानी पड़ी। इस समय से प्रतिहारों की शक्ति का ह्रास होने लगा। धीरे-धीरे अनेक छोटे-छोटे राज्य बन गये। इसका परिणाम यह हुआ कि अन्त में—प्रतिहारों के अधिकार में केवल कन्नौज के चारों ओर का प्रदेश ही शेष रह गया। पीछे से इस वंश में राज्यपाल (९९०–१०१८ ई०) नामक एक राजा हुआ। उसने महमूद ग़ज़नवी के आधिपत्य को स्वीकार किया। १०९० ई० के कुछ ही पहले गहरवारों ने कन्नौज को जीत लिया और प्रतिहारों का नाम-निशान भी बाक़ी न रहा।

स्थानीय राजवंश—पहले कह चुके हैं कि जब प्रतिहारों के साम्राज्य का पतन हुआ तब उनके अधिकृत प्रदेश कई छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त हो गये। उनमें से जैजाक-भुक्ति के चन्देले, दहल के कलचुरि, मालवा के परमार, गुरात के चालुक्य, शाकम्भरी के चौहान, कन्नौज के गहरवार तथा ग्वालियर के कच्छपघट बहुत प्रसिद्ध थे।

जैजाक-भुक्ति के चन्देले—दसवीं शताब्दी के पहले भाग में यशोवर्मन् की अध्यक्षता में चन्देले लोग प्रतिहार-साम्राज्य से अलग हो गये और जैजाक-भुक्ति* में उन्होंने अपना एक छोटा-सा राज्य स्थापित कर लिया। यशोवर्मन् एक योग्य तथा युद्ध-प्रिय राजा था। प्रतिहार-साम्राज्य के पतन से उसे अपने छोटे राज्य का विस्तार करने का अच्छा अवसर मिला। उसने कई राजाओं के साथ युद्ध किया और कालिंजर पर्वत को जीत लिया जो चन्देलों का प्रधान क़िला बन गया। धंग (९५-९०) राजा के शासन-काल में इस वंश का गौरव बहुत बढ़ा और चन्देलों का राज्य यमुना नदी तक फैल गया। ग़ज़नी के बादशाह सुबुक्त-गीन के साथ युद्ध करने के लिए इस समय जो संघ स्थापित किया गया था उसमें धंग भी सम्मिलित था। उसने खजुराहो के प्रसिद्ध मन्दिर को बनवाया। उसके बेटे गण्ड ने महमूद ग़ज़नवी के साथ युद्ध करने में राजा आनन्दपाल का साथ दिया। बिना युद्ध किये महमूद की अधीनता स्वीकार करने पर उसने राज्यपाल पर चढ़ाई की और उसे मार डाला। परन्तु जब महमूद ने इसका बदला लेने के लिए चढ़ाई की तब राजा गण्ड बिना उसका सामना किये ही मैदान से भाग निकला। इस वंश का दूसरा प्रतापी राजा कीर्तिवर्मन् हुआ। उसने अपने वंश के क्षीण होते हुए गौरव को फिर से बचाया। अन्तिम राजा

---

* जैजाक-भुक्ति आजकल का बुन्देलखण्ड है। मध्यप्रदेश के जबलपुर ज़िले के चारों ओर का प्रदेश उस समय दहल कहलाता था।

परमर्दिन् अथवा परमल (११६५-१२०३ ई०) हुआ। सन् ११८२ ई० में पृथ्वी-राज चौहान ने उसे पराजित किया। अन्त में क़ुतुबुद्दीन ऐबक ने १२०३ ई० में चन्देलों के राज्य पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। किन्तु परमर्दिन के पुत्र ने फिर अपनी खोई शक्ति को प्राप्त किया और मुसलमानों को निकाल बाहर किया।

ग्वालियर के कच्छपघट—ग्वालियर पहले प्रतिहार-साम्राज्य का एक भाग था। विजयपाल (९६०-९० ई०) के शासन-काल में कच्छपघट के सरदार वज्र-दमन ने उसे जीत लिया और एक नया राज्य स्थापित किया। सन् ११२८ ई० तक ग्वालियर का क़िला इस वंश के अधिकार में रहा। ग्वालियर के राजा ने चन्देलों की अधीनता स्वीकार कर ली और कन्नौज के प्रतिहार-सम्राट राज्यपाल को पराजित करने में उनकी सहायता की।

दहल (बघेलखण्ड) के कलचुरि—कलचुरि अथवा चेदि लोगों का राज्य चन्देल-राज्य के दक्षिण में था और उनकी राजधानी जबलपुर के पास त्रिपुरी थी। उनका सबसे शक्तिशाली राजा गांगेयदेव विक्रमादित्य (१०१०-४० ई०) हुआ। उसने अपने राज्य को ख़ूब बढ़ाया। उसके उत्तराधिकारी राजा कर्ण (१०४०-७० ई०) को चन्देल राजा कीर्तिवर्मन् ने पराजित किया। उसने बनारस में शिवजी का मन्दिर बनवाया और त्रिपुरी के पास कर्णवती नामक एक नई राजधानी स्थापित की। उसकी मृत्यु के बाद चेदियों की शक्ति का ह्रास हो गया। अन्तिम चेदिराजा विजयसिंह ११६९ ई० में देवगिरि के यादव राजा के हाथ पराजित हुआ और मारा गया।

मालवा के परमार—चन्देलों की भाँति मालवा के पास परमार राजा भी प्रतिहार-साम्राज्य के अधीन थे। इस वंश का संस्थापक उपेन्द्र अथवा कृष्णराज था। परन्तु पहले-पहल स्वाधीन होनेवाला राजा वाक्पतिराज द्वितीय था जिसने गुजरात के चालुक्य राजाओं के साथ निरन्तर युद्ध किया। उसके बाद भोज प्रथम (१०१८-६० ई०) गद्दी पर बैठा और यही इस वंश का सबसे अधिक प्रसिद्ध शासक हुआ। भारतीय जनश्रुति में उसका नाम अभी तक प्रसिद्ध है। उसने ज्योतिष तथा साहित्य को प्रोत्साहन दिया और विद्वानों का सम्मान किया। उसने कला, काव्य तथा नाटक में एक नई शैली का आविष्कार किया। उसने पत्थर के टुकड़ों पर काव्य, ज्योतिष तथा अलंकार के ग्रन्थ खुदवाये और धार के विद्यालय में रख दिये। जब मुसलमानों ने मालवा को जीता तब उन्होंने इन बहुमूल्य पत्थरों को मसजिद में लगा दिया जहाँ वे अब भी दिखाई देते हैं। राजा भोज को गुजरात तथा चेदिराज्यों से युद्ध करना पड़ा। इस युद्ध में वह पराजित हुआ और मारा गया। भोज के उत्तराधिकारी कई वर्ष तक अपने शत्रुओं से लोहा लेते रहे। कभी उनकी विजय हुई, कभी उनके विपक्षियों की।

मालवा का अन्तिम परमार राजा भोज द्वितीय था। अलाउद्दीन खिलजी ने उसे पराजित किया और मालवा को दिल्ली-साम्राज्य का एक सूबा बना दिया।

गुजरात के चालुक्य अथवा सोलंकी—चन्देलों और परमारों की तरह सोलंकी भी प्रतिहार-सम्राटों के अधीन थे। इस वंश का संस्थापक मूलराज प्रथम था। लगभग दसवीं शताब्दी के मध्य में उसने अपना एक स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया और अन्हलवाड़ को अपनी राजधानी बनाया। इस वंश का दूसरा प्रसिद्ध राजा भीम प्रथम हुआ। उसके शासन-काल में महमूद ग़ज़नवी ने गुजरात पर आक्रमण किया। सोलंकियों का सबसे प्रतापी राजा कुमारपाल (११४३-७४ ई०) हुआ। उसने कई देशों को जीत कर अपने राज्य का विस्तार बढ़ाया। वह जैन विद्वान् हेमचन्द्र सूरि का बड़ा भक्त था। उसी के प्रभाव में आकर उसने जैन-धर्म के अनेक आदेशों का अनुसरण किया यद्यपि उसने स्वयं जैन-धर्म स्वीकार नहीं किया परन्तु जैन-धर्म की बहुत-सी बातों को वह मानता था। विद्वानों का वह आश्रयदाता था। अनेक प्रसिद्ध विद्वान् उसके दरबार में रहते थे। कुमारपाल की मृत्यु के बाद सोलंकियों की शक्ति का ह्रास हो गया। उनके अन्तिम राजा कर्णदेव द्वितीय* को अलाउद्दीन खिलजी के सेनापतियों ने पराजित किया और इसके बाद गुजरात भी दिल्ली-साम्राज्य का एक सूबा हो गया।

कन्नौज के गहरवार—कन्नौज के गहड़वाल या गहरवार लोगों का राज्य उस समय प्रारम्भ हुआ जब प्रतिहारों की शक्ति एकदम विलुप्त हो गई। यह ग्यारहवीं शताब्दी की बात है। इस वंश का सबसे शक्तिशाली राजा गोविन्दचन्द्र (१११४-५४ ई०) था। उसने बिहार के पश्चिमी भाग पर अपनी प्रभुता स्थापित की और मुसलमान आक्रमणकारियों के साथ खूब युद्ध किया। उसका पोता जयचन्द्र (११७०-९४ ई०) था, जिसे चौहानों के राजा पृथ्वीराज के साथ लड़ना पड़ा था। वह एक प्रतिभाशाली राजा था। उसका राज्य बनारस तक विस्तृत था। दिल्ली के राजा पृथ्वीराज चौहान के साथ उसकी घोर शत्रुता थी। जब मुहम्मद ग़ोरी ने पृथ्वीराज पर चढ़ाई की, तब जयचन्द्र ने चौहान राजा को कुछ भी सहायता नहीं पहुँचाई। तराइन (११९२ ई०) के युद्ध में पृथ्वीराज पराजित हुआ और दिल्ली के हिन्दू-साम्राज्य का अन्त हो गया। इसके एक वर्ष बाद मुहम्मद ने कन्नौज पर आक्रमण किया और जयचन्द्र को हराया। चँदवार के युद्ध में वीरता के साथ लड़ते हुए उसकी मृत्यु हुई। उसके बाद उसका बेटा राजगद्दी पर बैठा परन्तु अब कन्नौज-राज्य का विस्तार बहुत कम हो गया।

तोमर और चौहान—तोमर राजपूत हरियांक प्रदेश में राज्य करते थे।

---

* मुसलमान इतिहासकारों ने उसका उल्लेख राय करन बघेला के नाम से किया है।

इसे आजकल हरियाना कहते हैं। यह दिल्ली तथा गुड़गाँव के जिलों में शामिल है। वे लोग भी पहले प्रतिहारों के अधीन थे और कर देते थे। शाकम्भरी या साँभर के राजा विग्रहराज चतुर्थ (बीसलदेव) ने उनके राज्य को जीत लिया था। उसने ११६४ ई० में दिल्ली पर अपना अधिकार जमाया। वह एक वीर योद्धा तथा अच्छा कवि था। कहा जाता है कि हरकेलिनाटक का रचयिता वही है। उसका उत्तराधिकारी पृथ्वीराज तृतीय उत्तरी भारत का १२वीं शताब्दी में बड़ा ही प्रतापी राजा हुआ। वह इतिहास तथा जनश्रुति दोनों में प्रसिद्ध है। मुहम्मद ग़ोरी ने उसे युद्ध में पराजित कर दिल्ली और अजमेर पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। चौहानों ने राजपूताना में रणथम्भौर को अपनी राजधानी बनाया। वहाँ अनेक वर्ष तक वे मुसलमानों के आक्रमणों को रोकते रहे। चौहान राज्य के पतन के बाद मुसलमानों के लिए पूर्व की ओर बढ़ना सहज हो गया।

राजपूतों की उत्पत्ति—राजपूत संस्कृत शब्द राजपुत्र का अपभ्रंश है। राजकुमार तथा राजवंशीय लोगों के लिए प्राचीन काल में राजपुत्र शब्द का प्रयोग किया जाता था। प्राचीन काव्यों तथा शिला लेखों में यह शब्द मिलता है। जब मुसलमान इस देश में आये तब वे राजकुल के क्षत्रियों को राजपूत कहने लगे। राजपूत अपने को प्राचीन वैदिक क्षत्रियों की संतान बतलाते हैं। वे कहते हैं कि हमारी आदि-उत्पत्ति सूर्य और चन्द्रमा से हुई है। चौहान, सोलंकी, प्रतिहार, परमार आदि राजपूतों का कहना है कि हमारे आदि-पुरुष आबू पर्वत के अग्निकुंड से उत्पन्न हुए थे। किन्तु यूरोपीय विद्वान् तथा कुछ भारतीय इतिहासकार इन सब बातों को स्वीकार नहीं करते। उनका मत है कि राजपूत लोग हूण, सिदियन आदि उन विदेशी लोगों की सन्तान हैं जिन्होंने भारत पर आक्रमण किया और हिन्दू-धर्म को स्वीकार करके ब्राह्मणों की सहायता से हिन्दुओं की भाँति भारतीय समाज में स्थान प्राप्त किया। जब उन लोगों के हाथों में राज्य-शक्ति आई तब ब्राह्मणों ने उनकी कल्पित वंशावलियाँ तैयार करके उन्हें क्षत्रियों में सम्मिलित कर लिया। किन्तु अनेक भारतीय विद्वान् इस मत से सहमत नहीं हैं। उनका कथन है कि राजपूत प्राचीन क्षत्रियों की सन्तान हैं। परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि वे विशुद्ध आर्य क्षत्रिय हैं। भारत की अन्य जातियों की तरह राजपूत भी मिश्रित जाति हैं।

राजपूतों का चरित्र—भारतीय इतिहास में राजपूतों ने बड़ी वीरता दिखलाई है। उन्होंने हिन्दू-शासन के आदर्श को अपने सामने रक्खा और प्राचीन संस्कृति की रक्षा की। शत्रु के सामने वे कभी पीछे नहीं हटते थे और अपने जातीय सम्मान तथा प्रतिष्ठा के लिए प्राण तक देने के लिए सदा तैयार रहते थे। राजपूत-समाज के आदर्श उच्चकोटि के थे। राजपूत अपनी बात के पक्के

मुसलमानों के आक्रमण के पूर्व उत्तर भारत
काबुल
गज़नी
पेशावर
काश्मीर
लाहौर
कांगड़ा
मुलतान
भटिंडा
हांसी
दिल्ली
मेरठ
जैसलमेर
नगरकोट
मथुरा
कन्नौज
शाकम्भरी
ग्वालियर
कालिंजर
अन्हलवाड़
उज्जैन
नागौर
धार
बनारस
द्वारका
सोमनाथ
प र मा र
पा ल
चा लु क्य रा ज्य
मलखेद
अ र ब
सा ग र
बं गा ल
की
खा ड़ी
काञ्ची
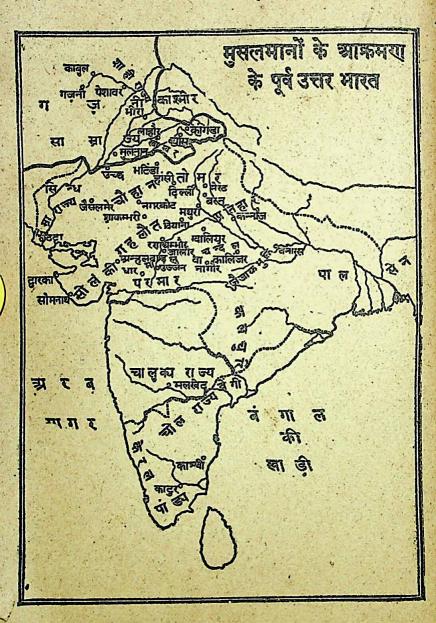
होते थे और युद्ध के समय भी विश्वासघात नहीं करते थे। शरण में आये हुए शत्रु के साथ भी वे दया का बर्त्ताव करते थे। किसी को धोखा देना, झूठ बोलना और नीचता-पूर्ण चालाकी चलना उनके स्वभाव के विरुद्ध था। कभी-कभी अपनी सचाई के कारण उन्हें बड़ी-बड़ी आपत्तियों का सामना करना पड़ता था। लड़ाई में वे कभी स्त्रियों और बच्चों पर हाथ नहीं उठाते थे। राजपूत स्त्रियों का आदर करते थे। स्त्रियाँ भी वीरता में मर्दों से कम न थीं। कठिन समय में उन्होंने भारतीय मान-मर्यादा की रक्षा की। कुल और जाति के गौरव के लिए राजपूत अपने निजी हिताहित की पर्वाह नहीं करते थे। इसी के कारण उनमें जौहर* की भीषण प्रथा का प्रचलन हुआ। जौहर उस समय किया जाता था जब वे देखते थे कि शत्रु से बचने की कोई आशा नहीं है।

राजपूतों के दोष भी उनके गुणों की तरह प्रसिद्ध हैं। उनकी युद्ध में बड़ी रुचि थी और कीर्ति लाभ करने की उन्हें प्रबल इच्छा रहती थी। ईर्ष्या, द्वेष, फूट, सहयोग का अभाव तथा जातीय स्वार्थ उनके लिए हानिकारक सिद्ध हुआ। शासन-प्रबन्ध की ओर उन्होंने कुछ भी ध्यान न दिया और न अपनी शक्ति को दृढ़ बनाने के लिए कोई उपाय निकाला। वे अफ़ीम खाते थे और इसका उनके स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ा। इन्हीं दोषों के कारण उन्होंने अपनी प्राचीन शक्ति तथा गौरव को खो दिया।

बंगाल का पाल-वंश—नवीं शताब्दी में जिस समय बंगाल में अराजकता फैली हुई थी, लोगों ने गोपाल नामक व्यक्ति को अपना राजा चुना। उसके बाद उसका लड़का धर्मपाल गद्दी का अधिकारी हुआ। धर्मपाल ने कन्नौज के राजा इन्द्रायुध को पराजित किया और अपने अधीनस्थ चक्रायुध को गद्दी पर बैठाया। इन्द्रायुध ने मारवाड़ के गुर्जर-प्रतिहार राजा नागभट्ट द्वितीय से सहायता माँगी। नागभट्ट ने राजपूताना तथा पंजाब के गुर्जर सर्दारों का एक संघ बनाया और धर्मपाल तथा कन्नौज के राजा चक्रायुध को पराजित कर उत्तरी भारत में अपना प्रभुत्व स्थापित किया। उसका पुत्र और उत्तराधिकारी देवपाल कला और साहित्य का आश्रयदाता था। उसने नालन्दा के मन्दिर को फिर से बनवाया और उसमें सुन्दर प्रतिमाएँ स्थापित कीं। पालवंशीय राजा, भोज प्रथम (प्रतिहार) के आक्रमणों के सामने नहीं ठहर सके। भोज ने बंगाल की सेना को परास्त कर कन्नौज को जीत लिया।

महिपाल प्रथम ने इस वंश के नष्ट होते हुए गौरव का फिर से पुनरुद्धार किया। जब राजेन्द्र चोल प्रथम ने उसके राज्य पर आक्रमण किया तब उसे पराजित होकर लौटना पड़ा। महिपाल ने अपने राज्य का बिस्तार बनारस तक

* जौहर—जब राजपूत योद्धा देखते थे कि शत्रु से बचना कठिन है तो पहले स्त्रियों को अग्नि में जला देते थे, फिर युद्ध करके अपने प्राण दे देते थे।

बढ़ा दिया। उसके बाद शत्रुओं से बराबर युद्ध होता रहा और साम्राज्य की शक्ति क्षीण होती गई। महिपाल द्वितीय के छोटे भाई रामपाल ने अपने वंश के गौरव का पुनरुद्धार करने की चेष्टा की, परन्तु उसके उत्तराधिकारी शक्तिहीन थे। विजयसेन ने उनको बंगाल से निकाल बाहर किया और अपना एक स्वाधीन राज्य स्थापित कर लिया।

पाल राजा बड़े शक्तिशाली थे। उन्होंने एक विशाल साम्राज्य बनाया और बंगाल को विदेशी आक्रमणकारियों के उत्पात से बचाया। कला और साहित्य को उनसे बहुत प्रोत्साहन मिला। उनके शासनकाल में विक्रमशिला और उद्दान-पुर के विहार बने। उन्हीं के आश्रय में रहकर कुछ बड़े-बड़े कवि-लेखकों ने अपने ग्रन्थ रचे। यद्यपि पालवंश के राजा बौद्ध-धर्म के अनुयायी थे तथापि उन्होंने अन्य मतवालों के साथ सहिष्णुता का बर्त्ताव किया और ब्राह्मणों को अपना मन्त्री बनाया।

सेन-वंश—सेन-वंश का संस्थापक विजयसेन था जिसने पाल-साम्राज्य का विध्वंस किया था। सेन लोग व्यवसाय की खोज में दक्षिण से आये थे। विजय-सेन के बाद उसका बेटा बल्लालसेन राज्य का अधिकारी हुआ। उसका शासन अधिक काल तक न रहा। बंगाल में कुलीन-प्रथा का प्रचार उसी ने किया था। सेन-वंश के राजा हिन्दू थे। उन्हीं के काल में ब्राह्मण-धर्म का फिर से अभ्युदय हुआ। बल्लालसेन के बाद उसका पुत्र लक्ष्मणसेन ११११ ई० में गद्दी पर बैठा। वह एक उत्साही तथा पराक्रमशील पुरुष था। उसने मगध और कन्नौज के राज्यों को जीत कर पाल-साम्राज्य के पुनरुद्धार की चेष्टा की। पाल राजाओं की भाँति उसने भी कला और साहित्य को आश्रय दिया। गीत-गोविन्द के रचयिता जयदेव तथा धोयी जैसे कवि भी उसके दर्बार में रहते और विविध प्रकार के उपहार पाते थे। बारहवीं शताब्दी के अन्तिम काल में मुसलमानों ने बंगाल पर आक्रमण किया। सेन-वंश के राजा सफलतापूर्वक उनका सामना न कर सके। इस हार से उनका पूर्व गौरव नष्ट हो गया परन्तु वे १३वीं शताब्दी तक पूर्वी बंगाल में राज्य करते रहे।

संक्षिप्त सन्‌वार विवरण

आदित्यसेन का बंगाल जीतना	..	..	६७५ ई०
ललितादित्य की मृत्यु	..	..	७६० "
बीसलदेव द्वारा दिल्ली-विजय	..	..	११६४ "
पृथ्वीराज की परमाल पर विजय	..	..	११८२ "
तराइन की लड़ाई	..	..	११९२ "

अध्याय १२

दक्षिण तथा सुदूर दक्षिण के राज्य

(६००—१२०० ई०)

वातापि के चालुक्य—लगभग २०० ई० के शातवाहनों की राज्य-शक्ति के नष्ट हो जाने के बाद दक्षिण का मध्य भाग अभीर आदि जातियों के हाथ में चला गया। २५० ई० के लगभग उस प्रदेश में वाकाटक जाति के लोगों का आधिपत्य स्थापित हो गया। उनके एक राजा रुद्रसेन ने गुप्त-वंश के राजा चन्द्रगुप्त द्वितीय की बेटी के साथ अपना विवाह किया। इस वंश का राज्य ५५० ई० तक रहा। इसके बाद पुलकेशिन् प्रथम की अध्यक्षता में चालुक्यों ने उसे पराजित किया। वातापि* पर पुलकेशिन् का अधिकार स्थापित हो गया। उसके उत्तराधिकारियों ने अपने राज्य को खूब बढ़ाया। सम्पूर्ण बंगाल तथा हैदराबाद का काफ़ी भाग उनके अधीन हो गया। इस वंश का सबसे शक्तिशाली राजा पुलकेशिन् द्वितीय (६०८-६४२ ई०) था। उसने गुजरात तथा मद्रास के तेलगू ज़िलों को भी जीत लिया। उसने कन्नौज के राजा हर्षवर्धन की सेना को भी मार भगाया। अपने पराक्रम द्वारा उसने बड़ा यश प्राप्त किया। किन्तु ६४२ ई० में पल्लव राजा नरसिंह वर्मन् प्रथम के साथ युद्ध में वह पराजित हुआ और मारा गया। पुलकेशिन् के उत्तराधिकारियों ने पल्लव राजाओं से इसका बदला लिया और अपनी शक्ति को खूब बढ़ाया। इस वंश का अन्तिम राजा कीर्तिवर्मन् (७४६-८५३ ई०) था। उसे राष्ट्रकूट-नरेश दन्तिदुर्ग ने पराजित किया।

मान्यखेत के राष्ट्रकूट—राष्ट्रकूटों का राज्य दन्तिदुर्ग की अध्यक्षता में प्रारम्भ हुआ। उसने मान्यखेत† को अपनी राजधानी बनाया और ७५३ से ७६० ई० तक राज्य किया। उसके चचा कृष्ण प्रथम (७६०-७५ ई०) ने एलोरा का कैलाश का प्रसिद्ध मन्दिर बनवाया। यह मन्दिर बड़ा विशाल है और चट्टान को काटकर बनाया गया है। राजा ध्रुव (७८०-७९३ ई०) अपनी सेना-सहित उत्तर की ओर पहुँचा और भीनमल के प्रतिहार राजाओं को पराजित किया। एक दूसरे राजा कृष्ण तृतीय (९४०-९६५ ई०) ने चोल राजा राजादित्य को ९४० ई० में मार डाला। उसके बाद उसका छोटा भाई गद्दी पर बैठा। फिर इस वंश में

---

* वातापि का आधुनिक नाम बादामि है। यह बीजापुर ज़िले में है।
† मान्यखेत का आधुनिक नाम मालखेद है और वह निज़ाम के राज्य में है।

कोई प्रभावशाली राजा नहीं हुआ। कक्क द्वितीय (७९२-९३ ई०) को द्वितीय चालुक्य-वंश के संस्थापक तैल के हाथ हार खानी पड़ी। कक्क के पश्चात् कृष्ण तृतीय का एक पुत्र राज्याधिकारी हुआ और ९८२ ई० तक शासन करता रहा। वह राष्ट्रकूट वंश का अन्तिम राजा था। उसकी मृत्यु के वाद कल्याणी के चालुक्यों ने दक्षिण पर अपना आधिपत्य जमा लिया।

पश्चिमी चालुक्य—इस वंश का संस्थापक तैल था। उसके बाद उसका बेटा गद्दी पर बैठा। उसे चोल राजा राजराज ने पराजित किया। छठवें विक्रमादित्य (१०७६-११२६ ई०) ने चोलों को हराकर इस अपमान का बदला लिया और एक नया संवत् चलाया। उसने विद्वानों को बड़ा आश्रय दिया। प्रसिद्ध कवि विल्हण और धर्मशास्त्र का ज्ञाता विज्ञानेश्वर उसके दरबार में थे। उसकी मृत्यु के बाद इस वंश का पतन हुआ और उसके स्थान में तीन नये वंश स्थापित हो गये:—द्वार-समुद्र के हौयसल, देवगिरि के यादव तथा बंगाल के काकतीय।

लिंगायत सम्प्रदाय—द्वितीय चालुक्य-वंश के राजा विज्जल (११५६-६७ ई०) के शासन-काल में लिंगायत नाम का एक नया धार्मिक सम्प्रदाय उठ खड़ा हुआ। इस सम्प्रदाय का प्रवर्तक वासव था। लिङ्गायत सम्प्रदाय के लोग आजकल भी प्रचुर संख्या में दक्षिण में पाये जाते हैं। वे शिव की उपासना करते हैं। भक्ति तथा अन्त में ईश्वर में तल्लीन हो जाने के सिद्धान्तों में उनका दृढ़ विश्वास है। पहले तो वे वर्ण-व्यवस्था और श्राद्ध आदि रस्मों को बुरा समझते थे परन्तु आज-कल के लिंगायत ब्राह्मण धर्म की बहुत-सी बातों को मानने लगे हैं।

देवगिरि के यादव—देवगिरि के यादवों में प्रसिद्ध राजा सिंघन (१२१०-४७) हुआ। उसका राज्य विन्ध्याचल पर्वत से कृष्णा नदी तक विस्तृत था। उसके पोते रामचन्द्र को १२९४ ई० में अलाउद्दीन खिलजी ने पराजित कर अपने अधीन कर लिया। उसे फिर मलिक काफ़ूर ने हराया और कर देने पर विवश किया। रामचन्द्र की मृत्यु के बाद उसका बेटा शंकरदेव राज्य का अधिकारी हुआ। उसने दिल्ली को कर भेजना बन्द कर दिया। इस काफ़ूर ने देवगिरि पर चढ़ाई की और उसे जीत लिया। शंकर के उत्तराधिकारी हरपालदेव ने विद्रोह किया। उसे मुसलमानों ने युद्ध में हराया और दिल्ली के खिलजी सुलतान क़ुतुबुद्दीन मुबारक ने सन् १३१८ ई० में उसकी खाल खिंचवाई।

वरंगल के काकतीय—देवगिरि के यादवों की भाँति काकतीय लोग भी पहले-पहल पश्चिमी चालुक्यों के अधीन थे। वे तैलंगाना पर राज्य करते थे जिसमें उस समय निज़ाम-राज्य का पूर्वी भाग भी सम्मिलित था। बारहवीं शताब्दी के अन्तिम काल में गणपति इस वंश का राजा हुआ। उसने ६२ वर्ष तक शासन किया और आसपास के राजाओं को युद्ध में पराजित किया। उसके कोई पुत्र न था इसलिए उसकी मृत्यु के बाद उसकी बेटी रुद्रमा गद्दी पर बैठी। उसने

३० वर्ष तक शासन किया। चौदहवीं शताब्दी के आरम्भ में जिस समय दिल्ली का साम्राज्य दक्षिण की ओर फैल रहा था, काकतीयों पर मुसलमानों का आक्रमण हुआ। उसके राजा प्रतापरुद्रदेव प्रथम को मलिक काफ़ूर ने १३१० ई० में युद्ध में परास्त किया और कर देने पर विवश किया।

द्वार-समुद्र का हौयसल-वंश—हौयसल-वंश के राजा द्वार-समुद्र* को अपनी राजधानी बनाकर मैसूर में राज्य करते थे। इस वंश का एक प्रसिद्ध राजा विट्टिग (१११०-४०) ई० था। वह वैष्णव-धर्म के आचार्य रामानुज का शिष्य था। इस वंश का अन्तिम शक्तिशाली राजा वीरवल्लाल तृतीय (१२९१-१३४२ ई०) हुआ। उसने निकटस्थ हिन्दू और मुसलमान राजाओं के साथ जीवन-पर्यन्त युद्ध किया। परन्तु सन् १३१० ई० में उसे भी मलिक काफ़ूर ने हरा दिया। अन्त में विवश होकर उसने दिल्ली सुलतान का आधिपत्य स्वीकार कर लिया।

पूर्वी गंग-वंश—पूर्वी गंग-वंश का अभ्युदय ग्यारहवीं शताब्दी के आरम्भ में कलिंग देश में हुआ। इस वंश का राजा अनन्तवर्मन् चोड गंग १०७६ ई० में गद्दी पर बैठा। उसने कलिंगनगरम्† पर अपना पूर्ण अधिकार जमा लिया। उसका साम्राज्य गंगा से लेकर गोदावरी नदी तक फैला हुआ था। उसने उड़ीसा को जीतकर अपने राज्य में मिला लिया। वह धर्मात्मा पुरुष था। पुरी के प्रसिद्ध जगन्नाथ मन्दिर को उसी ने बनवाया था। सन् ११४७ ई० में उसकी मृत्यु हो गई। गंग-वंश का राज्य दो सौ वर्ष से अधिक समय तक रहा। इस वंश का जो अन्तिम खुदा हुआ लेख मिला है वह १३८४ ई० का है। यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि इस वंश का पतन कैसे हुआ। परन्तु ऐसा मालूम होता है कि बहमनी राजाओं के समय में किसी दूसरे वंश ने उसे अधिकार-च्युत कर दिया।

पल्लव-वंश—पल्लव राज्य की स्थापना ३०० ई० के लगभग काञ्ची (काञ्जीवरम्) में हुई थी। छठवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में, सिंहविष्णु के शासन-काल में, इस वंश ने बड़ी उन्नति की। उसके बाद राजा महेन्द्रवर्मन् (६००-६२५ ई०) गद्दी पर बैठा। उसे चालुक्य राजा पुलकेशिन् द्वितीय ने पराजित किया। महेन्द्रवर्मन् के उत्तराधिकारी राजा नरसिंहवर्मन् (६२५-६४५ ई०) ने ६४२ ई० में चालुक्यों को बड़ी बुरी तरह से हराया और १३ वर्ष तक उनकी राजधानी को अपने अधिकार में रक्खा। पल्लवों को चालुक्यों के ही साथ नहीं बल्कि मैसूर के पश्चिमी गंग और पाण्ड्य वंशवालों के साथ भी लड़ना पड़ा जो उत्तर की ओर बढ़ते आ रहे थे। नवीं शताब्दी के प्रायः अन्त में पाण्ड्य तथा चोल वंशों ने मिलकर पल्लवों को पराजित किया। इस प्रकार उनकी दक्षिण में आधिपत्य स्थापित करने की लालसा का अन्त हो गया।

---

* द्वार-समुद्र का आधुनिक नाम हलेविद है।

† कलिंगनगरम् गंजाम ज़िले में है।

चोल-वंश—चोल-वंश के लोग भारत में प्राचीन काल से रहते थे। अशोक के समय मे भी वे काफ़ी प्रसिद्ध थे। नवीं शताब्दी के अन्त मे उनका राज्य प्रसिद्ध हुआ, जब आदित्य ने पल्लव-राज्य के प्रदेशों को जीत लिया। राजराज महान् (९८५-१०१८ ई०) इस वंश का बड़ा पराक्रमी राजा था। अपनी सेना तथा नाविक बेड़े की सहायता से उसने लंका, मैसूर, क़ुर्ग तथा उड़ीसा को जीत लिया। उसके पुत्र राजेन्द्र चोल प्रथम (१०१८-३५ ई०) ने पीगू, मर्तबान एवं नीकोबार द्वीप-समूह तथा गंगा तक विस्तृत बंगाल की खाड़ी के तट-प्रदेश को जीत लिया। गंगा तक प्रस्थान करने के उपलक्ष मे उसने गंगकोंड की उपाधि धारण की और गंगकोंड-चोल-पुरम् नामक एक नगर बसाया। वह केवल एक बड़ा विजयी ही न था वरन् शासन-प्रवन्ध मे भी कुशल था और उसका चरित्र उच्च कोटि का था। खेतों की सिंचाई के लिए उसने एक बड़ा तालाब बनवाया था जिसकी लम्बाई १६ मील थी। अपने पिता के द्वारा स्थापित की हुई संस्थाओं को उसने फिर से संगठित किया। १३वीं शताब्दी में चोल-वंश की शक्ति का ह्रास होने लगा। निकटवर्ती राजाओं के वैमनस्य, सरदारों के विद्रोह और मुसलमानों की बढ़ती हुई शक्ति ने चोल-साम्राज्य का अन्त कर दिया।

चोल-राज्य का शासन-प्रवन्ध उत्तम था। दक्षिण के अन्य राज्यों ने उसे आदर्श मानकर उसी प्रकार की शासन-व्यवस्था करने की चेष्टा की। राजा निरंकुश था, किन्तु उसकी सहायता के लिए मन्त्री नियुक्त थे जो उसे परामर्श देते थे। स्थानीय स्वायत्त-शासन की प्रणाली भी सुन्दर और संगठित थी। शासन की व्यवस्था का आधार ग्राम था। प्रत्येक ग्राम अथवा ग्राम-समूह में एक सभा होती थी। गुप्त रीति से चिट्ठियाँ डालकर तीस सदस्य चुने जाते थे। चुनाव के नियम बने हुए थे। इस समिति के सदस्य कमेटियों में विभक्त थे। ये कमेटियाँ न्याय, सिक्के, दान, मन्दिर इत्यादि का प्रबन्ध करती थीं। ज़मीन की पैमाइश की जाती थी। किसान पैदावार का $\frac{1}{6}$ भाग लगान में देते थे। राजाओं ने तालाब और बाँध बनवाये और खेती की सुविधा के लिए नहरें खुदवाई थीं।

पाण्ड्य-राज्य—सुदूर दक्षिण में एक दूसरा प्रसिद्ध राज्य पाण्ड्यवंश का था। इस राज्य में आधुनिक मदुरा तथा तिनेवेली के ज़िले तथा ट्रावन्कोर राज्य के कुछ भाग सम्मिलित थे। पहली और दूसरी शताब्दी में पाण्ड्यों का रोम के साम्राज्य से भी कुछ सम्बन्ध था। ह्वानच्वांग ने लिखा है कि मदुरा के लोग मोती का व्यापार करते हैं। दसवीं शताब्दी में राजराज चोल ने पाण्ड्यों को पराजित किया। विवश होकर पाण्ड्य राजाओं ने अपने विजयी शत्रु की अधीनता स्वीकार कर ली। दो सौ वर्ष तक पाण्ड्य राजा चोल राजाओं के अधीन रहे, किन्तु तेरहवीं शताब्दी में जातवर्मन् सुन्दर पाण्ड्य के शासन-काल (१२५१-७० ई०) में उन्होंने अपनी शक्ति को फिर प्राप्त कर लिया। सुन्दर पाण्ड्य
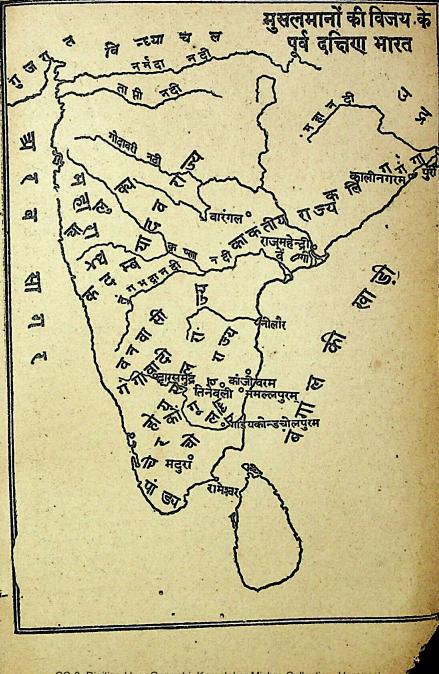
एक बड़ा शक्तिशाली राजा था। उसका राज्य नीलौर से कुमारी अन्तरीप तक सम्पूर्ण पूर्वी तट-प्रदेश पर फैला हुआ था। पाण्डच राज्य के बन्दरगाहों से प्रजा को बड़ा लाभ होता था। चीन और पश्चिमी देशों से विदेशी व्यापारी व्यापार करने के लिए यहाँ आते थे। कुछ अरब-निवासी भी आकर दक्षिण में बस गये थे और घोड़ों का व्यापार करते थे। १३वीं शताब्दी के अन्त में दो भाइयों में राज-सिंहासन के लिए झगड़ा होने पर सन् १३१० ई० में मलिक काफ़ूर ने पाण्डच-राज्य पर चढ़ाई की और उसका अन्त कर दिया।

चेर-वंश—चेर-राज्य का उल्लेख अशोक के शिलालेखों में मिलता है। उस समय इसे केरलपुत्र कहते थे। चेर-वंश का शृंखलाबद्ध इतिहास जानने के लिए हमारे पास पर्याप्त सामग्री नहीं है। किन्तु खुदे हुए लेखों से इस बात का पता चलता है कि पाण्डच लोगों की भाँति चेर-वंशवाले भी बाहर के देशों से व्यापार करते थे। १३वीं शताब्दी के अन्तिम काल में चेर बड़े शक्तिशाली थे। सन् १३१० ई० में मलिक काफ़ूर ने दक्षिण पर चढ़ाई की तब उसके विरुद्ध हिन्दू राजाओं ने एक बड़ा संघ बनाया। इस संघ में चेर-वंशीय राजा रविवर्मन् भी सम्मिलित था।

अध्याय १३

भारतीय सभ्यता

(६००-१२०० ई० तक)

सामाजिक विभाग—बौद्ध-धर्म तथा जैन-धर्म ने वर्ण-व्यवस्था का विरोध किया था। वे समाज को इस प्रकार अलग-अलग जातियों में विभक्त करना अनिष्टकारी समझते थे। ह्वानच्वाँग ने चार वर्णों का उल्लेख किया है। जातियों में ब्राह्मण सबसे अधिक विद्वान् तथा आदरणीय समझे जाते थे। प्रायः वे ही मन्त्रि-पद पर नियुक्त किये जाते थे और कभी-कभी सेनानायक भी होते थे। भारत में आनेवाले अरब यात्रियों ने भी उनकी धार्मिक तथा दार्शनिक विद्वत्ता की प्रशंसा की है। ब्राह्मण कभी तो अपने गोत्र से जाने जाते थे और कभी अपने निवास-स्थान से। १२वीं शताब्दी के बाद वे दो शाखाओं में विभक्त हो गये। पंच गौड और पंच द्राविड़ यह विभाग भोजन और रीति-रवाज के आधार पर ही हुआ था। पीछे से उत्तर

तथा दक्षिण में अनेक उपशाखाएँ पैदा हो गईं। समाज में क्षत्रियों का भी स्थान ऊँचा था। धारा के राजा भोज तथा शाकम्भरी के विग्रहराज चतुर्थ की तरह इनमें भी कुछ लोग विद्वान् और योद्धा दोनों होते थे। ह्वानच्वांग अपने समय के ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों के विषय में लिखता है कि वे किसी को धोखा नहीं देते थे, उनका जीवन बड़ा पवित्र तथा सादा था। पहले क्षत्रिय उपजातियों में विभक्त नहीं थे। महाभारत के काल में सूर्यवंशी और चद्रवंशी दो प्रकार के क्षत्रिय थे। किन्तु पीछे से उनकी भी कई शाखाएँ हो गईं, इनका उल्लेख पहले किया जा चुका है। इसी प्रकार वैश्यों तथा शूद्रों के भी उपविभाग हो गये। बौद्ध-धर्म तथा जैन-धर्म के अनुयायी कृषिकर्म को अच्छा नहीं समझते थे। इसलिए बहुत से वैश्यों ने व्यापार करना आरम्भ कर दिया और राज्य की नौकरी कर ली। शूद्रों के नीचे अछूत लोग थे जो चारों वर्णों से अलग थे।

समाज चार वर्णों में विभक्त था किन्तु एक वर्ण के लोग दूसरे वर्ण के साथ विवाह कर सकते थे। आगे चलकर अन्तर्जातीय विवाह की प्रथा उठ गई और एक वर्ण के लोगों का दूसरे वर्ण में मिलना असम्भव हो गया। हिन्दुओं में बाल-विवाह तथा सती आदि प्रथाएँ प्रचलित हो गईं।

स्त्रियों की स्थिति—समाज में स्त्रियों का आदर था। वे तरह-तरह की विद्याएँ सीखती थीं और विद्वानों तथा धार्मिक आचार्यों के साथ वादविवाद करती थीं। प्रसिद्ध विद्वान् शंकराचार्य को एक ब्राह्मण की स्त्री ने शास्त्रार्थ में हराया था। संगीत तथा नृत्य-कला का अभ्यास भी किया जाता था। राजाओं और योद्धाओं की लड़कियों को घोड़े की सवारी तथा तलवार चलाना सिखाया जाता था। पर्दा का रवाज नहीं था, राजपूत राजकुमारियों को अपना पति पसन्द करने का अधिकार था। स्वयंवर की प्रथा १२वीं शताब्दी तक प्रचलित रही। कन्नौज के राजा जयचन्द की बेटी का स्वयंवर इस प्रथा का अन्तिम उदाहरण था।

धर्म—बौद्ध-धर्म का ह्रास—गुप्तकाल के बाद बौद्ध-धर्म अपनी जन्मभूमि भारत से लुप्त हो गया। बंगाल के पाल ही भारत के अन्तिम राजा थे जिन्होंने उसे आश्रय दिया। पाल-वंश के उत्तराधिकारी सेन राजाओं के काल में बौद्ध-धर्म को कुछ भी प्रोत्साहन नहीं मिला और वह धीरे-धीरे यहाँ से लुप्त होने लगा। अन्त में मुसलमान आक्रमणकारियों ने भारत में बौद्ध-धर्म का अन्त ही कर दिया। उन्होंने विहार से सब बौद्धों को निकाल भगाया।

यद्यपि बौद्ध-धर्म का लोप १२वीं और १३वीं शताब्दियों में हुआ परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि उसका ह्रास बहुत दिन पहसे से आरम्भ हो गया था। विदेशी आक्रमण, भिक्षुओं का पारस्परिक वैमनस्य तथा राजकीय आश्रय का अभाव ये तीन उसके पतन के प्रधान कारण थे। इसके अतिरिक्त बौद्ध-संघ में धर्म-परायणता की कमी थी। भिक्षुगण विहारों में बुरी तरह जीवन व्यतीत

करते थे। कुमारिलभट्ट (७५० ई०) तथा शंकराचार्य (जन्म ७८८ ई०) के नेतृत्व में ब्राह्मण-धर्म का पुनरुत्थान हुआ। शङ्कराचार्य दक्षिणी भारत के नामबूद्री ब्राह्मण थे। वे बड़े उच्च कोटि के विद्वान् तथा दार्शनिक थे।

ब्राह्मण-धर्म का पुनरुद्धार—बौद्ध-धर्म के ह्रास के साथ ही साथ ब्राह्मण-धर्म की शीघ्रता से उन्नति होने लगी। वैदिक यज्ञ बन्द हो गये और वासुदेव (कृष्ण) की उपासना होने लगी। आगे चलकर वैष्णवों ने अहिंसा के सिद्धान्त को भी अपना लिया। वे विष्णु के २४ अवतार मानने लगे। श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में बहुत-सी कथाएँ प्रचलित हो गईं और पुराणों में उनका समावेश हो गया। विष्णु, शिव, शक्ति तथा अनेक देवी-देवताओं के मन्दिर बन गये।

ब्राह्मण-धर्म के पुनरुत्थान का श्रेय उस काल के कुछ आचार्यों को है। शङ्कराचार्य ने अपने अद्वैतवाद के सिद्धान्त का प्रचार किया जिसका आशय यह है कि ब्रह्म तथा आत्मा में कोई भेद नहीं है। दोनों एक ही हैं। दक्षिण में रामानुज स्वामी ने भक्ति का उपदेश किया और विष्णु की उपासना पर ज़ोर दिया। उनका जन्म १२वीं शताब्दी में, दक्षिण-कुल में हुआ था। उनके अनुयायी श्री वैष्णव के नाम से प्रसिद्ध हुए।

दक्षिण में शिव की पूजा का भी काफ़ी प्रचार हुआ। वहाँ लिंगायत नाम का एक नया सम्प्रदाय उठ खड़ा हुआ। लिंगायत सम्प्रदायवाले न तो वेदों को मानते थे और न ब्राह्मण-धर्म के रीति-रवाजों का ही आदर करते थे। दक्षिण में अब भी वे काफ़ी संख्या में मौजूद हैं।

जैन-धर्म—दक्षिण के अनेक राजाओं ने जैन-धर्म को आश्रय दिया और मन्दिर तथा विहार बनवाये। राष्ट्रकूटों ने जैन-धर्म को ग्रहण किया और उसकी उन्नति के लिए बड़ा उद्योग किया। उत्तर-कालीन चालुक्य राजाओं ने शैव मत को स्वीकार किया और ब्राह्मण-धर्म को प्रोत्साहन दिया। १२वीं शताब्दी में जिस समय रामानुज ने अपने सिद्धान्तों का प्रचार करना आरम्भ किया, जैन-धर्म को बड़ा धक्का पहुँचा। परन्तु दक्षिण में इस प्रकार जो हानि हुई उसकी पूर्ति गुजरात, राजपूताना और मालवा में हो गई। गुजरात में सोलंकी राजाओं ने जैन-धर्म के सिद्धान्तों तथा रवाजों को अपनाया। जैन-धर्म-द्वारा एक उत्तम कला का प्रचार हुआ जिसके नमूने आज भी मौजूद हैं।

इस्लाम धर्म—इस्लाम धर्म अरब-निवासियों के साथ आठवीं शताब्दी के आरम्भ में भारत में आया। इसका मुख्य सिद्धान्त यह है कि ईश्वर एक है। उसके अतिरिक्त और कोई मनुष्य पूजा के योग्य नहीं है। ऐसे ईश्वर के लिए मनुष्य को अपना सर्वस्व त्याग करना चाहिए। इस्लाम धर्म की क्रियाएँ बड़ी सरल हैं। प्रतिदिन पाँच बार नमाज़ पढ़ना, रमज़ान के महीने में उपवास-व्रत (रोज़ा) रखना और मक्का की यात्रा करना, यही सारा कर्मकांड है। इस सर-

लता और भ्रातृभाव के होते हुए भी इस काल में हिन्दुओं पर इस्लाम का अधिक प्रभाव न पड़ा। ऐसा प्रतीत होता है कि थोड़े से हिन्दुओं ने ही इस धर्म को स्वीकार किया होगा।

आर्थिक दशा—भारत बड़ा समृद्धिशाली तथा धन-धान्य-पूर्ण देश था। वाणिज्य-व्यापार की खूब उन्नति थी। कला और कारीगरी की सारे देश में धूम थी। भारतीय साहित्य को पढ़ने से पता लगता है कि प्राचीन हिन्दुओं का जीवन कितना प्रसन्न और सुखमय था। ७वीं शताब्दी से ही अरब के व्यापारी भारत में रहते थे। दक्षिण के हिन्दू राजा, विशेषत: पांड्य-वंशवाले, उनको बड़ी मदद देते थे। सोना, चाँदी तथा जवाहिरात की कमी नहीं थी। महमूद ग़ज़नवी ११वीं शताब्दी में भारत के मन्दिरों को लूटकर अतुल सम्पत्ति अपने देश को ले गया था। इसी से हम इस बात का अनुमान कर सकते हैं कि हमारा देश उस समय कितना धनी था।

शासन-प्रबन्ध—राजपूत राजा निरंकुश थे किन्तु उनको परामर्श देने के लिए मन्त्री नियुक्त रहते थे। ये मन्त्री राज्य के बड़े-बड़े विभागों का निरीक्षण करते थे। शासन-सम्बन्धी मामलों में राजा मन्त्रियों से सलाह लेता था। राज्य के सर्वोच्च कर्मचारी राजामात्य, पुरोहित महाधर्माध्यक्ष, महासन्धिविग्रहक (युद्ध-सचिव) तथा महासेनापति थे। इनके अतिरिक्त और बहुत से कर्मचारी उनकी अधीनता में काम करते थे।

सारा राज्य भुक्तियों अथवा प्रान्तों में विभक्त था। प्रान्त विषयों अथवा ज़िलों में बँटे रहते थे। विषय के अन्तर्गत बहुत से गाँव होते थे। गाँव के मामलों का प्रबन्ध स्थानीय कर्मचारी करते थे जिन्हें ग्रामिक (मुखिया), शौल्किक (टैक्स वसूल करनेवाला) तथा तलवत्कर (पटवारी) कहते थे। उत्तर काल के सम्बन्ध में लिखते हुए कर्नल टाड ने राजपूत राज्यों में पंचायतों का उल्लेख किया है। प्रत्येक नगर में नागरिकों द्वारा चुने हुए पंच मुक़दमों का फ़ैसला करते थे। पंच सम्मानित व्यक्ति होते थे। पटैल और पटवारी भी न्याय करने में उनकी सहायता करते थे। राज्य की ज़मीन में गाँव के बाहर चबूतरे होते थे जिन पर बैठकर पंचायत के मेम्बर झगड़ों का फ़ैसला करते थे।

ज़मीन नापी जाती थी और उस पर उचित मालगुज़ारी ली जाती थी। राज्य की ओर से उपज का छठा भाग किसानों से लिया जाता था। प्रत्येक गाँव में पशुओं के चरने के लिए चरागाह होते थे। सिंचाई की सुविधा के लिए तालाब और नहरें बनवाई गई थीं।

युद्ध अकसर हुआ करते थे, इसलिए राजपूत राजा सुव्यवस्थित सेनाएँ रखते थे। काम पड़ने पर अधीनस्थ सरदारों के योग से सैनिकों की संख्या बहुत बढ़ जाती थी। राजकीय सेना के चार अंग होते थे—हाथी, रथ, घोड़े तथा पैदल।

युद्ध में हाथी बहुत काम के जानवर समझे जाते थे किन्तु कभी-कभी उनसे बड़ी गड़बड़ी मच जाती थी। राजा अपनी सेना का नायक होता था। उसकी वीरता और बुद्धिमानी पर प्राय: हार-जीत निर्भर रहती थी। यदि वह युद्ध-क्षेत्र में मार डाला जाता अथवा मैदान छोड़कर भाग निकलता तो सारी सेना भयभीत हो जाती और हलचल मच जाती थी।

राजा अपने राज्य का प्रधान न्यायाधीश (जज) होता था। उसके नीचे उसके कर्मचारी होते थे जो मुक़दमों का फ़ैसला करते थे। क़ानून अधिकांश रवाजों के आधार पर बनते थे। कभी-कभी राजा लोग नियम बनाते थे जो लिख लिये जाते थे। ये नियम, व्यापार, कृषि, कर, एकाधिकार और व्यावसायिक संघों के सम्बन्ध में होते थे। सज़ा कठोर दी जाती थी और यह कठोरता १२वीं शताब्दी के अन्त तक जारी रही। क़ानून के सामने सब बराबर नहीं समझे जाते थे। ब्राह्मणों और क्षत्रियों को फाँसी नहीं दी जाती थी। अग्नि-परीक्षा आदि द्वारा दैवी न्याय करने की प्रथा भी प्रचलित थी किन्तु इसका उपयोग बहुत कम होता था। राजस्थान के कई राज्यों में ऐसे नियम प्रचलित थे, जैसे अमावस्या के दिन बैल न जोते जायँ। मेवाड़ के पुराने काग़ज़ात को देखने से पता लगता है कि प्रजा के आचरण सुधारने के लिए कभी-कभी राज्य की ओर से नियम बना दिये जाते थे। इनमें एक नियम यह भी था कि कोई मनुष्य दावत में से खाने की सामग्री अपने घर को न ले जाय।

राजा पर बहुत कुछ निर्भर था। यदि वह सबल होता तो राज्य उन्नति करता था और यदि वह बलहीन होता तो राज्य की अवनति होने लगती थी। जब विदेशी आक्रमण का भय नहीं होता था तब राजपूत राजा परस्पर लड़ते थे। इस प्रकार राज्य में उपद्रव मच जाता था। अनेक जातियों के आपस के झगड़ों के कारण देश में अधिक काल तक शान्ति नहीं रह सकती थी। यही कारण है कि राजपूत कोई स्थायी राजनीतिक संगठन न कर सके।

साहित्य—राजपूत राजा विद्या-प्रेमी थे, वे विद्वानों को आश्रय देते थे। सब प्रकार की विद्याओं का अध्ययन होता था। काव्य, गीत, नाटक, उपन्यास, इतिहास, राजनीति, गणित, ज्योतिष, आयुर्वेद आदि अनेक विषयों पर ग्रन्थ रचे गये। काव्यों में माघ का शिशुपालवध, भर्तृहरि का भट्टिकाव्य तथा श्रीहर्ष का नैषध-चरित बहुत प्रसिद्ध हैं। गीतकाव्य का सबसे बड़ा कवि जयदेव है जिसने १२वीं शताब्दी में गीत-गोविन्द की रचना की है। इस काव्य का विषय राधा के प्रति कृष्ण का प्रेम, उसका वियोग तथा अन्तिम मिलन है। आदि से अन्त तक इस ग्रन्थ में कवि ने अपना काव्य-प्रतिभा का अद्भुत चमत्कार दिखाया है। नाटककार भी इस युग में कई हुए। उनमें भवभूति अधिक प्रसिद्ध है। उसने उत्तर-रामचरित, मालती-माधव तथा महावीर-चरित नाम के तीन नाटक रचे। वह

कन्नौज के राजा यशोवर्मन के दर्बार में रहता था। उसने प्रकृति का अत्यन्त सुन्दर वर्णन किया है। १०वीं शताब्दी म कन्नौज के राजदर्बार म कर्पूरमञ्जरी का रचयिता राजशेखर कवि रहता था। भारतीय साहित्य में इस नाटक की गणना उच्च कोटि के सुखान्त नाटकों में है। बारहवीं शताब्दी म कृष्ण मिश्र ने वैष्णव-धर्म की स्तुति मे प्रबोध-चन्द्रोदय नाम का नाटक बनाया।

कहानियों तथा कल्पित आख्यायिकाओं के द्वारा कुछ लेखक लोगों को सांसारिक ज्ञान की शिक्षा दिया करते थे। इस श्रेणी का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ पञ्चतन्त्र है जो बड़ा ही रोचक है। इसम व्यावहारिक ज्ञान तथा नैतिक आचरण की शिक्षा देनेवाली कई कथाएँ हैं। विशेषकर नवयुवकों के लिए यह पुस्तक बहुत उपयोगी है। इसी ग्रन्थ के आधार पर १०००-१३०० ई० के बीच हितोपदेश की रचना हुई थी। इसके अतिरिक्त एक उल्लेखनीय ग्रन्थ और है। ११वीं शताब्दी में काश्मीर देश के कवि सोमदेव ने कथा-सरित्सागर की रचना की।

कल्हण ने १२वीं शताब्दी म राजतरङ्गिणी नामक एक इतिहास-ग्रन्थ लिखा। इसमें काश्मीर के राजाओं का वर्णन है। कई जीवन-चरित भी लिखे गये जिनमें विल्हण का विक्रमाङ्कचरित, बल्लाल का भोजप्रबन्ध तथा सनाढ्यकरनन्दी का रामचरित बहुत प्रसिद्ध हैं। विक्रमाङ्कचरित में चालुक्य-वंश के राजा छठे विक्रमादित्य का जीवन-चरित है और रामचरित में बंगाल के एक पाल राजा की जीवनकथा वर्णित है।

प्रसिद्ध ज्योतिषी भास्कराचार्य भी इसी काल में हुए। चिकित्सा-शास्त्र पर ग्रन्थ लिखनेवालों में वाग्भट्ट का नाम प्रसिद्ध है। उसने ८०० ई० के लगभग अपने ग्रन्थ रचे।

इस काल में धर्म-शास्त्र का सबसे प्रसिद्ध लेखक विज्ञानेश्वर था। उसने धर्म-शास्त्र पर एक भाष्य लिखा जो मिताक्षरा के नाम से प्रसिद्ध है। भारत के कुछ भागों में यह आज भी काम में लाया जाता है।

जैनियों ने भी एक बड़े साहित्य का निर्माण किया। हरिभद्र नाम का एक प्रसिद्ध लेखक नवीं शताब्दी में उत्पन्न हुआ। उसने कई ग्रन्थ रचे। बड़े-बड़े महन्तों, योगियों तथा तीर्थङ्करों के जीवन-चरित लिखे गये। इन ग्रंथों का उद्देश्य जनता को नैतिक शिक्षा देना था। इस काल का सबसे प्रसिद्ध विद्वान् हेमचन्द्र था जो गुजरात के सोलंकी राजा कुमारपाल के दरबार में रहता था।

ऊपर जो कुछ लिखा गया है उससे यह ज्ञात होता है कि उस काल के साहित्य का क्षेत्र बहुत विस्तृत था। अनेक विषयों पर ग्रंथ रचे गये और जीवन के हर एक पहलू पर विद्वानों ने अपने विचार प्रकट किये। प्राचीन हिन्दुओं की प्रतिभा बड़ी प्रखर थी। ज्ञान और विद्या की वृद्धि के लिए उन्होंने जो कुछ किया वह मानव-जाति के लिए अमूल्य वस्तु है।

कला—इस काल में राजपूतों के बनवाये हुए मन्दिर वास्तु-कला के अच्छे नमूने हैं। इन मन्दिरों के बनवाने में बहुत धन व्यय किया गया। तीन प्रसिद्ध शैलियाँ प्रचलित थीं—नगर, वेसर तथा द्रविड़। इनमें से प्रथम दो को यूरोपीय लेखक क्रमश: इन्डो-आर्यों तथा चालुक्यों की शैली कहते हैं। वेसर शैली में एक शिखर होता है। बौद्ध गया से लेकर उत्तरी-पश्चिमी सीमान्त-प्रान्त तक तथा काँगड़ा से धारवाड़ तक ऐसे शिखर पाये जाते हैं। द्रविड शैली में छोटे-बड़े कई बुर्ज रहते हैं और सिरे पर एक अर्द्धचन्द्राकार गुम्बज रहता है। इस शैली के नमूने तामिल देश तथा दक्षिण में पाये जाते हैं। चालुक्य-शैली इन दोनों के मिश्रण से बनी है और इसके नमूने बम्बई अहाते के मध्यभाग में पाये जाते हैं।

उड़ीसा में भुवनेश्वर का मन्दिर, बुन्देलखण्ड में खजुराहो का मन्दिर तथा आबू पर्वत का जैन-मन्दिर प्रसिद्ध इमारतें हैं। ये तीनों नगर शैली के उत्कृष्ट नमूने हैं। आबू का जैन-मन्दिर सफ़ेद संगमरमर का बना हुआ है। उसमें पत्थर की खुदाई का काम अत्यन्त उच्च कोटि का है।

ममल्लपुरम के रथ-मन्दिर, काँची के पल्लव-मन्दिर, एलौरा का कैलाश मन्दिर तथा १००० ई० के लगभग राजराज चोल का बनवाया हुआ तञ्जौर का मन्दिर द्रविड़-शैली के उत्कृष्ट नमूने हैं।

चालुक्यों ने भी अनेक मन्दिर बनवाये। १२वीं शताब्दी में होयसल-वंश के राजा विष्णुवर्द्धन का बनवाया हुआ बेलूर का मन्दिर एक दर्शनीय इमारत है। किन्तु हलेविद (प्राचीन द्वारसमुद्र) का मन्दिर चालुक्यों की स्थापत्य-कला का सबसे बढ़िया नमूना है। इसका बनना सन् १२०० ई० में आरम्भ हुआ था परन्तु कभी पूरा न होने पाया। इस दशा में भी इसकी गणना उच्च कोटि के मन्दिरों में है।

देश भर में असंख्य मन्दिर बने हुए थे। महमूद ग़ज़नवी भी मथुरा के मन्दिरों को देखकर चकित रह गया था।

जहाज और उपनिवेश—भारतीय लोग जहाज़ बनाने की कला जानते थे। आदि-काल से ही वे समुद्री मार्ग से बाहर के देशों के साथ वाणिज्य करते थे। ह्वानच्वाँग हर्ष के समय का वर्णन करता हुआ एक स्थान पर लिखता है कि सौराष्ट्र (गुजरात) के लोग जहाज के द्वारा व्यापार करके ही अपनी जीविका उपार्जन करते थे। ग्यारहवीं शताब्दी में भी पञ्जाब के जाटों ने महमूद ग़ज़नवी को मार भगाने के लिए नावों का एक बहुत बड़ा बेड़ा तैयार किया था।

हर्ष की मृत्यु के बाद हिन्दुओं ने उपनिवेश स्थापित करने का काम बन्द नहीं किया। कम्बोडिया इस समय तक हिन्दू राजाओं के अधिकार में था। बारहवीं शताब्दी में एक हिन्दू राजा ने अङ्कोरवट नाम का प्रसिद्ध विष्णु-मंदिर बनवाया। इन उपनिवेशों में ब्राह्मण-धर्म तथा बौद्ध-धर्म दोनों का साथ-साथ

प्रचार हुआ। किन्तु जावा में बौद्ध-धर्म का बड़ा प्रभाव पड़ा। बोरोबुदुर के ध्वंसावशेष से इसका पता लगता है।

अध्याय १४

ग़ज़नवी सुलतान और भारत पर मुसलमानों के आक्रमण

ग़ज़नी में तुर्कों का राज्य—अरबों का प्रयत्न सिन्ध में असफल रहा। मुसलमानी प्रभुत्व का फैलाव कुछ समय के लिए रुक गया। परन्तु १०वीं शताब्दी में तुर्कों ने भारत की तरफ़ ध्यान किया। उस समय खलीफ़ा की शक्ति कम हो गई थी और कितने ही राजवंश स्थापित हो गये थे। इन राजवंशों में एक सामानीवंश था, जिसके राज्य में आधुनिक फ़ारस, मध्यएशिया और वर्तमान अफ़ग़ानिस्तान का अधिकांश भाग शामिल था। परन्तु सामानी शासकों की शक्ति उतनी ही शीघ्रता से नष्ट हो गई, जितनी शीघ्रता से उसकी वृद्धि हुई थी। उनके तुर्क ग़ुलाम, जिनके हाथों में उन्होंने अपना सारा राज-काज सौंप दिया था, इतने बलवान् बन बैठे कि उनको क़ाबू में करना कठिन हो गया। यहाँ तक कि उनमें से अलप्तगीन नाम के एक ग़ुलाम ने सन् ९३३ ई० में ग़ज़नी को जीत लिया और वहाँ स्वतंत्र शासक की तरह राज्य करने लगा; सन् ९६३ ई० में अलप्तगीन की मृत्यु हुई, उसके बाद उसका बेटा ग़ज़नी की गद्दी पर बैठा। परन्तु वह इतना शक्तिहीन था कि उसका राज्य उसके बाप के ग़ुलामों के हाथ में चला गया। उन ग़ुलामों म से एक का नाम सुबुक्तगीन था जो सन् ९७७ ई० में ग़ज़नी के सिंहासन पर बैठा। वह एक उत्साही एवं साहसी पुरुष था। उसने अपने राज्य की सीमा बढ़ाने का प्रयत्न किया और गद्दी पर बैठने के एक ही दो साल बाद भारत की ओर ध्यान किया।

मुसलमान इतिहास-लेखकों ने सुबुक्तगीन को एक धार्मिक पेशवा कहा है, जिसने इसलाम का प्रचार करने और मूर्त्ति-पूजकों को दण्ड देने के लिए भारत पर आक्रमण किया। पर उनका यह कथन ठीक नहीं। वास्तव में सुबुक्तगीन अपने राज्य को बढ़ाना चाहता था। इसी कारण शाही वंश के हिन्दू-राजा जयपाल से, जिसका राज्य लमग़ान से लेकर चिनाब नदी तक के देश पर था, उसकी मुठभेड़ हुई। सन् ९९६ ई० में सुबुक्तगीन को दण्ड देने के लिए जयपाल

ने ग़ज़नी पर चढ़ाई की, परन्तु उसे सन्धि करने के लिए विवश होना पड़ा। उसने जुरमाने में बहुत-सा द्रव्य देना और सरहद के कुछ क़िलों को छोड़ देना स्वीकार किया। परन्तु उसने शीघ्र ही अपना वादा तोड़ दिया और सुबुक्तगीन के उन अफ़सरों को क़ैद कर लिया जो उसके दिये हुए शहरों का प्रबन्ध करने को आये थे। इस पर सुबुक्तगीन एक बड़ी सेना लेकर फिर भारत में आया, जयपाल ने उत्तरी भारत के हिन्दू राजाओं का एक संघ बनाया और १,००,००० आदमियों को लेकर वह युद्ध करने के लिए चला। दोनों दलों में घोर युद्ध हुआ। जयपाल पराजित हुआ और लमग़ान तथा पेशावर के बीच के ज़िले उसे सुबुक्तगीन को देने पड़े। सन् ९९४ ई० में उसने खुरासान का सूबा जीत लिया और अपने बेटे महमूद को वहाँ का सूबेदार बनाया। तीन वर्ष बाद अपने उत्तराधिकारी के लिए एक विशाल साम्राज्य छोड़कर वह स्वर्गवासी हुआ।

सुबुक्तगीन की मृत्यु के बाद उसके बेटे इस्माइल और महमूद ने गद्दी के लिए झगड़ा किया। महमूद बड़ा था। उसने अपने प्रतिद्वन्द्वी को हरा दिया और ग़ज़नी-राज्य पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया।

महमूद ग़ज़नवी—जिस समय महमूद गद्दी पर बैठा, ग़ज़नी के राज्य में आधुनिक अफ़ग़ानिस्तान, खुरासान और फ़ारस देश के पूर्वीय प्रान्त शामिल थे। महमूद ने अपनी विजयों से इस राज्य को बहुत बढ़ाया। एक ही साल बाद उसने सीस्तान को अपने राज्य में मिला लिया। उसकी विजयों का हाल सुनकर खलीफ़ा ने उसे यमीनुद्दौला की उपाधि दी, जिससे उसका हौसला बढ़ गया और उसने हिन्दुस्तान पर प्रतिवर्ष आक्रमण करने का संकल्प किया। वह इन हमलों को "जिहाद" अर्थात् पवित्र युद्ध समझता था। १००० ई० से लेकर १०२६ ई० तक उसने इस देश पर १७ आक्रमण किये और यहाँ से अतुल धन लूटकर ले गया, जिसने उसके साम्राज्य के ऐश्वर्य को कई गुना बढ़ा दिया।

जयपाल की पराजय—सन् १००० ई० के अपने पहले ही धावे में महमूद ने सीमान्त-प्रान्त के अनेक क़िलों और ज़िलों पर अधिकार स्थापित कर लिया और वहाँ अपना सूबेदार नियुक्त कर दिया। दूसरी बार (१००१ ई०) उसने जयपाल के राज्य पर धावा किया। जयपाल उस समय प्रायः सारे पंजाब का शासक था। उसकी राजधानी भटिण्डा थी। पेशावर के क़रीब युद्ध हुआ जिसमें हिन्दुओं की हार हुई। जयपाल अपने कई रिश्तेदारों के साथ पकड़ा गया, और सन्धि करने पर विवश हुआ। इस सन्धि के अनुसार उसे हरजाने में एक बहुत बड़ी रक़म और ५० हाथी सुलतान को देने पड़े। वह इतना दबाया गया कि सन्धि की शर्तों को पूरा करने के लिए उसने अपने एक बेटे और पोते को ग़ज़नी भेजना स्वीकार किया। जयपाल स्वाभिमानी था। इस प्रकार जीने से मरना अच्छा समझकर उसने चिता में जलकर अपने अपमानित जीवन का अन्त कर दिया।

आनन्दपाल के साथ युद्ध—जयपाल का बेटा आनन्दपाल महमूद की बढ़ती हुई शक्ति को देखकर बड़ा चिन्तित हुआ। उसने उसे हिन्दुस्तान की तरफ़ बढ़ने से रोकना चाहा। परन्तु वह जानता था कि उसमें इतनी शक्ति नहीं है, इसलिए उसने अपने आसपास के राजाओं से सहायता के लिए प्रार्थना की। कहा जाता है कि स्त्रियों तक ने अपने आभूषण बेचकर देश के दूर-दूर के स्थानों से सहायता के लिए धन भेजा। निर्धन औरतों ने दिन-रात चर्खा चलाकर अपनी शक्ति के अनुसार मदद दी। इन तैयारियों की ख़बर पाकर ३१ दिसम्बर १००८ को महमूद ने सिन्धु नदी को पार किया और भारतीय सेना का सामना किया। पहले ही धावे में ५,००० मुसलमान मारे गये और सुलतान ने भी घबराहट में भागने का निश्चय किया, परन्तु अकस्मात् आनन्दपाल का हाथी भाग खड़ा हुआ। उसके सिपाहियों की हिम्मत टूट गई और वे आसानी से पराजित हो गये। महमूद ने काँगड़ा के निकट पहाड़ी पर बने हुए नगरकोट क़िले तक भागनेवालों का पीछा किया। ज्वालामुखी के मन्दिर को, जो सारे भारतवर्ष में प्रसिद्ध था, ख़ूब लूटकर वह ग़ज़नी को वापस हुआ।

अन्य आक्रमण—महमूद को भारत में अच्छी सफलता प्राप्त हुई। अब उसने प्रतिवर्ष हमला करना आरम्भ कर दिया। सन् १०१८ ई० में उसने कन्नौज के राजा पर आक्रमण किया। रास्ते में उसने बरन (आधुनिक बुलन्दशहर) को घेर लिया। कहा जाता है कि बरन के हिन्दू राजा ने महमूद की अधीनता स्वीकार की और वह दस हज़ार आदमियों के साथ मुसलमान हो गया। वहाँ से महमूद मथुरा की तरफ़ बढ़ा और मन्दिरों को देखकर चकित रह गया। उसने शहर को ख़ूब लूटा, और मन्दिरों को नष्ट किया। कहते हैं कि इस लूट में उसे ५०,००० दीनार का माल मिला।

अपनी सेना का एक बड़ा भाग पीछे छोड़कर सुलतान कन्नौज की ओर बढ़ा और सन् १०१८ के दिसम्बर में शहर के फाटक के सामने पहुँचा। प्रतिहार राजा राज्यपाल बिना युद्ध के ही भाग गया। उसका क़िला जीत लिया गया और लूट का अतुल धन लेकर सुलतान ग़ज़नी को लौट गया।

राज्यपाल की कायरता से अन्य राजा बहुत अप्रसन्न हुए। कालिञ्जर के चन्देल राजा गण्ड ने अपने बेटे को उसके विरुद्ध भेजा। राज्यपाल की युद्ध में हार हुई और वह मारा गया। जब महमूद ने राज्यपाल की मृत्यु का समाचार सुना तो वह आगबबूला हो गया और चन्देल राजा को दण्ड देने के लिए फिर भारत पर चढ़ आया। परन्तु चन्देल-नरेश अपनी जान बचाने के लिए भाग खड़ा हुआ। सुलतान फिर दूसरी बार १०२१–२२ में आया और उसने चन्देल राजा को सन्धि करने के लिए विवश किया।

सोमनाथ की चढ़ाई—सन् १०२६ का सोमनाथ का हमला महमूद के

प्रसिद्ध हमलों में से है। सोमनाथ का मन्दिर काठियावाड़ में था और अपनी पवित्रता और सम्पत्ति के लिए सारे भारतवर्ष में विख्यात था। महमूद की चढ़ाई का समाचार पाते ही चारों ओर से हिन्दू अपने मन्दिर की रक्षा के लिए एकत्र हो गये और ऐसी वीरता से लड़े कि मुसलमान-दल निराश हो गया। ऐसी कठिन स्थिति में महमूद ने धर्म के नाम पर मरने के लिए अपने सिपाहियों को उत्साहित किया। वे भी असाधारण जोश और साहस से युद्ध में पिल पड़े और सोमनाथ के सहस्रों उपासक थोड़ी देर में तलवार के घाट उतार दिये गये। मन्दिर की सारी सम्पत्ति लूट ली गयी और महमूद की आज्ञा से वह गिरा दिया गया।

महमूद की अन्तिम चढ़ाई मुलतान के निकटवर्ती प्रदेश के जाटों पर हुई। जिस समय सोमनाथ के आक्रमण के वाद महमूद ग़ज़नी को लौट रहा था, इन जाटों ने उसकी सेना को तंग किया था। महमूद इस समय इसका वदला लेने के लिए आया था। जाट बड़ी वीरता से लड़े परन्तु अन्त में उनकी हार हुई। सन् १०२७ ई० के जून के महीने में सुलतान ग़ज़नी लौट गया।

महमूद की मृत्यु—जाटों की लड़ाई के वाद ग़ज़नी लौटते समय महमूद को मलेरिया ज्वर आ गया था। धीरे-धीरे उसे क्षयरोग हो गया। यद्यपि वह इस भीषण रोग से दो वर्ष तक अपने स्वाभाविक साहस से लड़ता रहा परन्तु दिन पर दिन उसकी दशा बिगड़ती ही गई और सन् १०३० ई० में ५९ वर्ष की अवस्था में उसकी मृत्यु हो गई।

महमूद की सफलता के कारण—भारत की अतुल सम्पत्ति महमूद और उसके साथियों को प्रतिवर्ष हमला करने के लिए बाध्य करती थी। अनेक छोटी-छोटी स्वतन्त्र रियासतों की स्थापना के कारण यहाँ की राजनैतिक एकता नष्ट हो गई थी। राजपूत राजा हमेशा एक दूसरे से लड़ा करते थे। आपस की फूट और वैमनस्य के कारण वे कभी मिलकर शत्रुओं का सामना नहीं कर सकते थे। उनके सामने न तो देश-प्रेम का ऊँचा आदर्श था और न मिलकर काम करने की ही योग्यता उनमें थी। उनमें सैनिक संगठन की कमी थी। वे एक सेनापति के अनुशासन में लड़ने का महत्त्व नहीं जानते थे। महमूद के सिपाही धार्मिक जोश से प्रेरित हो युद्ध में प्राण तक देने को तैयार रहते थे। उधर उन्हें महमूद-जैसा सेनापति मिला था, जिसका सेना पर बड़ा प्रभाव पड़ता था। धर्म के लिए युद्ध करना महमूद के जीवन का ध्येय था। उसके प्रति सैनिकों की बड़ी श्रद्धा थी। इसका नतीजा यह हुआ कि वे लड़ने में ज़रा भी नहीं डरते थे और विशेषकर हिन्दुओं के साथ लड़ने में उनका जोश और भी बढ़ जाता था।

महमूद का चरित्र—मुसलमान इतिहासकारों ने महमूद की बड़ी प्रशंसा की है। उन्होंने उसे महात्मा तक कह डाला है, परन्तु ऐसा कहना सही नहीं है। हाँ, इसमें सन्देह नहीं कि उसकी गिनती महान् योद्धाओं में है। उसने केवल

अपनी असाधारण प्रतिभा ही के कारण अपने पिता के छोटे से राज्य को ऐसे विशाल साम्राज्य में परिणत किया। वह युद्ध-विद्या में कुशल था और स्वय भी एक असाधारण सेनानायक था। न्याय करते समय वह किसी का पक्षपात नहीं करता था। दीन-दुखियों की सहायता करने को वह सदा उद्यत रहता था और उसके अफ़सर तथा अमीर जब ग़लती करते थे तो वह उन्हें दण्ड देता था। उसे रुपये से बड़ा प्रेम था और मरते समय उसने बहुत बड़ा ख़ज़ाना छोड़ा था। वह सुन्नी मुसलमान था और नियमित रूप से नित्य नमाज़ पढ़ता था और रमज़ान के महीने में अपनी सम्पत्ति का २½ प्रति सैकड़ा ख़ैरात के लिए अलग रख देता था। उसमें मज़हबी जोश की मात्रा अधिक थी और अपने सिपाहियों को उत्तेजित करके वह हमेशा उनके जोश से लाभ उठाता था। एक आधुनिक मुसलमान लेखक का कहना है वह इस्लाम-धर्म का प्रचार करना चाहता था, परन्तु इसका कोई प्रमाण नहीं है। जिन देशों में उसने लूट-मार की उनके निवासियों को मुसलमान बनाने का उसने कुछ भी प्रयत्न नहीं किया।

यद्यपि महमूद ने मन्दिरों को लूटा, फिर भी हम यह नहीं कह सकते कि वह एक असभ्य पुरुष था। उसके दरबार में अनेक कवि और विद्वान् थे जो एशिया भर में प्रसिद्ध थे। उसके दरबार में अलबरूनी जैसे दार्शनिक और संस्कृत के ज्ञाता तथा उतबी जैसे अद्वितीय इतिहासकार के अलावा कितने ही अन्य विद्वान् भी रहते थे। उसके दरबार के कवियों में 'शाहनामा' का रचयिता फ़िरदौसी बहुत प्रसिद्ध था। कहा जाता है कि फ़िरदौसी ने इस महाकाव्य की रचना में बड़ा परिश्रम किया, परन्तु उनसुरी नाम के एक दूसरे कवि की ईर्ष्या के कारण उसे वह पुरस्कार न मिल सका जिसे देने का सुलतान ने वादा किया थ *।

यद्यपि फ़िरदौसी के साथ महमूद का वर्त्ताव कठोर था फिर भी यह मानना पड़ेगा कि विद्वानों तथा साधुओं के प्रति वह बड़ी उदारता दिखलाता था। विद्या-प्रचार करने के लिए उसने ग़ज़नी में एक विद्यापीठ स्थापित किया। उसने अनेक सुन्दर मस्जिदें बनवाईं और भव्य भवनों से अपनी राजधानी को अलंकृत किया। इसी के कारण ग़ज़नवी की गणना एशिया के प्रसिद्ध नगरों में होने लगी। भारतीय संगतराशों और कारीगरों ने, जिन्हें महमूद मथुरा तथा अन्य स्थानों से

---

* कहा जाता है महमूद ने फ़िरदौसी को 'शाहनामा' के लिए ६०,००० सोने के सिक्के देने का वादा किया था, परन्तु जब वह महाकाव्य समाप्त हो गया तो उसने ६०,००० चांदी के सिक्के देना चाहा। फ़िरदौसी बहुत दुखी हुआ और उसने कुछ न लिया। अन्त में सुलतान ने अपने वादे के अनुसार सोने के सिक्के भेजे। परन्तु जब महमूद का दूत पुरस्कार लेकर पहुँचा तो फ़िरदौसी मर चुका था और लोग उसकी लाश को घर के बाहर ले जा रहे थे।

अपने साथ ग़ज़नी ले गया था, अनेक सुन्दर इमारतें बनाईं और उस वास्तु-कला को जन्म दिया जो "इंडो सारसिनिक"* (Indo-Sarcenic) के नाम से प्रसिद्ध है।

अलबरूनी—दसवीं शताब्दी में भारत की सामाजिक स्थिति—अलबरूनी एक विद्वान् पुरुष था जो महमूद ग़ज़नवी के समय में भारत में आया था। इस देश में कुछ काल तक रहकर उसने भारतीय दर्शन, ज्योतिष और कतिपय अन्य शास्त्रों का अध्ययन किया था। हिन्दुओं के विषय में उसने लिखा है कि ये लोग अभिमानी हैं, वे विदेशियों को म्लेच्छ कहते हैं और उनसे किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखते। यद्यपि वे एकेश्वरवादी हैं, परन्तु मूर्तिपूजा सारे देश में प्रचलित है। वर्ण-व्यवस्था के सम्बन्ध में वह लिखता है कि देश में भिन्न-भिन्न जातियाँ तो हैं परन्तु सब लोग एक ही शहर या गाँव में रहते हैं और परस्पर मिलते-जुलते भी हैं। बाल-विवाह की प्रथा है। विवाह बहुधा माता-पिता ही करते हैं। दहेज की प्रथा है। एक बार विवाह हो जाने पर पति पत्नी को छोड़ नहीं सकता। विधवा-विवाह नहीं है। विधवाएँ या तो अग्नि में जलकर मर जाती हैं या आजन्म वैधव्य व्यतीत करती हैं। प्रायः राजवंश की स्त्रियाँ ही सती होती हैं। न्याय करने में दया से काम लिया जाता है। परन्तु कभी-कभी जलते तवे पर खड़े होकर अथवा आग पर चलकर अभियुक्तों को निर्दोष होने का प्रमाण देना पड़ता है। कर अधिक नहीं देने पड़ते, राजा पैदावार का केवल ⅙ भाग लेता है। ब्राह्मणों से कर नहीं लिया जाता। अलबरूनी ने अनेक त्योहारों और उत्सवों का वर्णन किया है जिससे प्रतीत होता है कि साधारण जनता भी उस समय समृद्धिशाली थी।

अलबरूनी को संस्कृत सीखने में बड़ी अड़चन पड़ी थी। इसी लिए उसने लिखा है कि हिन्दू विद्वान् विदेशियों को अपनी विद्या सिखाने में संकोच करते हैं।

ग़ज़नी-राज्य का पतन—महमूद ग़ज़नवी को हम एक प्रतिभाशाली तथा दूरदर्शी शासक नहीं कह सकते। जिन देशों को उसने जीता, उनको वह शान्त तथा संगठित करने में असफल रहा। उसने न कोई नियम बनाये और न शासन का ही समुचित प्रबंध किया। उसकी शासन-प्रणाली ऐसे विशाल साम्राज्य को संगठित करने के लिए उपयुक्त न थी। इसी लिए उसके मरते ही अशान्ति के लक्षण दिखाई देने लगे और कुछ ही दिनों बाद उसके साम्राज्य की जड़ हिल गई।

महमूद के उत्तराधिकारी शक्तिहीन थे। उनमें कोई ऐसा न था जो अशान्ति के कारणों को दूर करके साम्राज्य की रक्षा करता। महमूद के बाद मसऊद गद्दी पर बैठा। सन् १०४० ई० में सालजूक तुर्कों ने उसे बुरी तरह पराजित

---

*'इंडो-सारसिनिक' का आशय है 'जिसमें हिन्दू-मुसलमान-कला का मिश्रण हो।'

किया। फलतः फ़ारस का देश महमूद के साम्राज्य से निकल गया। सन् १०४३ ई० में लाहौर में हिन्दुओं ने भी फिर अपनी शक्ति बढ़ा ली। परन्तु ग़ज़नी की सेना ने उन्हें फिर से दबा दिया। इसके बाद साल्जूक तुर्कों ने ग़ज़नी पर धावा किया और अपना प्रभुत्व स्थापित किया।

किन्तु ग़ज़नी सुलतानों का अंतिम पतन ग़ोर के सूर अफ़ग़ानों-द्वारा हुआ। महमूद के समय में सूर अफ़ग़ान उसके अधीन थे। परन्तु उसकी मृत्यु के बाद उन्होंने स्वाधीन होने का प्रयत्न किया। जब ग़ज़नी के सुलतान बहराम ने उसके एक सरदार को मरवा डाला तब उन्हें राजविद्रोह का अच्छा अवसर मिला। बहराम ने जिस सरदार को मरवा डाला था, उसके भाई अलाउद्दीन ने बदला लेने के लिए सन् ११५० में बहराम को युद्ध में परास्त किया। ग़ज़नी की शक्ति शीघ्र ही क्षीण हो गई और ग़ोर-वंश का प्रभुत्व स्थापित हो गया। अलाउद्दीन के भतीजे ग़यासुद्दीन ने सन् ११७३ ई०.में ग़ज़नी को पूर्णतया अपने अधीन कर लिया और उसे अपने भाई मुईज़ुद्दीन-बिनसाम के सुपुर्द कर दिया। मुईज़ुद्दीन इतिहास में मुहम्मद ग़ोरी के नाम से विख्यात है।

ग़ज़नी के वंश ने पंजाब पर अपना अधिकार कुछ दिन और क़ायम रक्खा। परन्तु इस वंश के अंतिम शासक ख़ुसरो मलिक को मुहम्मद ग़ोरी ने पराजित किया और सुबुक्तगीन के वंश का अन्त कर दिया।

संक्षिप्त सन्‌वार विवरण

अलप्तगीन का ग़ज़नी पर अधिकार करना	९३३ ई०
अलप्तगीन की मृत्यु	९६३ "
सुबुक्तगीन का गद्दी पर बैठना	९७७ "
जयपाल का ग़ज़नी पर धावा	९८६ "
सुबुक्तगीन का ख़ुरासान पर अधिकार करना ..	९९४ "
महमूद की सीमान्त दुर्गों पर पहली चढ़ाई.. ..	१००० "
महमूद की आनन्दपाल पर चढ़ाई	१००८ "
महमूद का कन्नौज पर धावा	१०१८ "
महमूद की गण्ड से सन्धि	१०२१–२२ "
सोमनाथ का आक्रमण	१०२६ "
महमूद की मृत्यु	१०३० "
दूसरे महमूद की पराजय	१०४० "
अलाउद्दीन का बहराम को हराना	११५० "
ग़यासुद्दीन की ग़ज़नी पर विजय	११७३ "

अध्याय १५

मुहम्मद ग़ोरी और उसकी भारतीय विजय

प्रारम्भिक हमले—ग़ज़नी ने अपना प्रभुत्व स्थापित करनेके वाद मुहम्मद ग़ोरी ने हिन्दुस्तान की ओर ध्यान दिया। सन् ११७५ ई० में उसने उच्छ और मुलतान को जीत लिया। फिर गुजरात पर धावा किया, परन्तु नहरवाल के राजा भीमदेव ने उसे पराजित किया। जैसा पहले कह चुके हैं, उसने सन् ११८६ में खुसरो मलिक को हराकर उससे पंजाव छीन लिया और सुबुक्तगीन द्वारा स्थापित किये हुए राजवंश का अन्त कर दिया। इस प्रकार पंजाव और सिंध पर उसने अपना अधिकार जमा लिया।

राजपूत-साम्राज्य का अन्त—यद्यपि मुहम्मद ग़ोरी ने सीमान्त प्रदेश को जीत लिया था तो भी भारतवर्ष का अधिपति कहलाना अभी उसके लिए दूर की वात थी। भारत के भीतरी भागों में राजपूतों के राज्य थे। वे जीते-जी एक अंगुल जमीन भी किसी को न देनेवाले थे। वे शूरवीर, साहसी, युद्ध-प्रेमी थे और रणक्षेत्र में लड़कर प्राण देने को हमेशा तैयार रहते थे।

पंजाब की सरहद से आगे बढ़कर चौहान राजपूतों का विशाल राज्य था। इस समय पृथ्वीराज उनका राजा था, दिल्ली उसकी राजधानी थी और अजमेर उसके राज्य का एक सरहदी सूवा था। पृथ्वीराज अपने समय का एक प्रसिद्ध सेनानायक और योद्धा था। सन् ११९१ ई० में जब मुहम्मद ग़ोरी ने सरहिन्द की ओर कूच किया तो उसे इस वीर राजा का सामना करना पड़ा। लड़ाई में मुहम्मद ग़ोरी बुरी तरह से पराजित हुआ और उसके कई घाव लगे। उसका एक स्वामिभक्त सिपाही उसे युद्धक्षेत्र से बचाकर बाहर ले गया नहीं तो उसका प्राण बचना भी कठिन था। ग़ोरी की सेना छिन्न-भिन्न हो गई और उसके सिपाही प्राण बचाने के लिए इधर-उधर भाग गये। इससे पहले कभी मुसलमानों ने हिन्दुओं से ऐसी हार नहीं खाई थी। मुहम्मद इस अपमान को न भूला और इसका बदला लेने के लिए उसने एक बहुत बड़ी सेना एकत्र की। जब सब तैयारियाँ हो गईं तो उसने १,२०,००० सवार लेकर सन् ११९२ ई० में हिन्दुस्तान पर आक्रमण किया।

पृथ्वीराज इस चढ़ाई का समाचार पाकर बड़ा चिन्तित हुआ। उसने भारत के अन्य राजपूत राजाओं से सहायता की प्रार्थना की। लगभग १५० राजा युद्ध के लिए तैयार होकर उसकी मदद के लिए आये। कन्नौज का राठौर राजा जयचन्द्र उससे शत्रुता रखता था। वह अलग ही रहा। दोनों दलों में फिर एक

बार तराइन के रणक्षेत्र में, सन् ११९३ में, मुठभेड़ हुई परन्तु हिन्दुओं की हार हुई। चौहान-सम्राट् पृथ्वीराज पकड़ लिया गया और मारा गया।

चौहानों की पराजय राजपूतों की शक्ति के ह्रास का कारण सिद्ध हुई। हिन्दुओं का साहस जाता रहा। मुसलमानों ने थोड़े ही दिनों में अजमेर, हाँसी, सरस्वती, दिल्ली और कोल (अलीगढ़) पर अधिकार जमा लिया। मुहम्मद ग़ोरी इस विजय के बाद भारतीय-राज्य का शासन-भार अपने ग़ुलाम क़ुतुबुद्दीन ऐबक को सौंपकर ग़ज़नी को वापस चला गया।

क़ुतुबुद्दीन की विजय—एक-एक करके भारत के अनेक प्रदेशों पर मुसलमानी प्रभुत्व स्थापित करने में क़ुतुबुद्दीन अपने स्वामी से कुछ कम नहीं था। उसने हाँसी, मेरठ और दिल्ली को जीता और फिर दोआब में धावा करके कोल* पर अपना आधिपत्य स्थापित किया। इसके एक ही दो महीने बाद वह अपने स्वामी मुहम्मद ग़ोरी के पास जा पहुँचा, जब वह ११९४ ई० में एक बड़ी सेना लेकर कन्नौज के राठौर राजा जयचन्द्र से लड़ने के लिए भेजा गया।

राठौरों की पराजय—जयचन्द्र और उसके सिपाहियों ने यद्यपि बड़ी वीरता से शत्रुओं का सामना किया, फिर भी उनकी हार हुई। जयचन्द्र मारा गया और सारा ख़जाना, जो असी के क़िले में सुरक्षित था, मुसलमानों के हाथ आ गया। इस महान् विपत्ति के बाद राठौर राजपूत राजपूताना को चले गये। वहाँ जाकर उन्होंने जोधपुर में अपना नया राज्य स्थापित किया। राठौरों को पराजित करके मुहम्मद ग़ोरी काशी की ओर बढ़ा। वहाँ जाकर उसने नगर को ख़ूब लूटा और मन्दिरों को तुड़वाकर मिट्टी में मिला दिया। इस प्रकार दिल्ली से काशी तक का विस्तृत राज्य उसके अधिकार में आ गया।

अन्य देशों की विजय—जयचन्द्र को पराजित करने के बाद मुहम्मद ग़ोरी ग़ज़नी को लौट गया। परन्तु उसके प्रतिनिधि (वाइसराय) ने विजय का कार्यक्रम जारी रक्खा। अजमेर को जीतकर उसने पहले राजा को, जो सुलतान का आधिपत्य स्वीकार कर चुका था, वापस कर दिया। सन् ११९५ ई० में उसने नहरवाला के राजा भीमदेव पर चढ़ाई की और उसे युद्ध में पराजित किया। इसी समय उसने ग्वालियर, बियाना और अन्य कई देशों को भी जीत लिया।

बिहार और बंगाल की विजय—एक ओर तो क़ुतुबुद्दीन ऐबक उत्तर-पश्चिमीय भारत में मुसलमानी राज्य का झण्डा फहरा रहा था और दूसरी ओर मुहम्मद का एक दूसरा सेनापति इख़्तियारउद्दीन मुहम्मद-बिन-बख़्तियार बिहार और बंगाल की विजय करने को अग्रसर हो रहा था। इख़्तियारउद्दीन मुहम्मद ने सन् ११९७ ई० में २,००० सिपाहियों के साथ बिहार को जीता और वहाँ

* कोल संयुक्त-प्रान्त के अलीगढ़ ज़िले में है।

के बौद्ध-मन्दिरों और पुस्तकालयों को नष्ट किया। बिहार के बाद उसने बंगाल पर चढ़ाई की। उस समय बंगाल का राजा लक्ष्मणसेन था जिसकी राजधानी नदिया (नवद्वीप) थी। मुहम्मद ने नदिया पर एकाएक धावा किया। राजा लक्ष्मणसेन भाग गया। कहा जाता है कि मुहम्मद ने केवल १८ सवारों को लेकर नदिया पर अधिकार कर लिया था। परन्तु यह बात बिलकुल असत्य है। नदिया को जीतकर मुहम्मद ने गौड़ अथवा लखनौती को बंगाल की राजधानी बनाया और खुतबे में मुहम्मद ग़ोरी का नाम पढ़वा कर उसको बंगाल का अधीश्वर स्वीकार किया।

कालिञ्जर की विजय—सन् १२०२ ई० में उत्तरी भारत की शान्ति फिर एक बार भङ्ग हुई जब क़ुतुबुद्दीन ऐबक ने कालिंजर के चन्देल राजा परमाल पर चढ़ाई की। युद्ध में राजा पराजित हुआ और उसने ऐबक को कर देना स्वीकार कर लिया। किन्तु उसकी अकस्मात् मृत्यु हो जाने पर फिर गड़बड़ी मच गई। उसके मन्त्री ने सन्धि की शर्तों का पालन करने से इनकार कर दिया। उसे दण्ड देने के लिए ऐबक ने कालिंजर के क़िले पर चढ़ाई की। क़िला सर हो गया और लूट में अपार धन उसके हाथ लगा। इसके बाद वह महोबा की तरफ़ बढ़ा, और उसे जीतने में भी उसे ज़रा भी कठिनाई न हुई।

सुलतान की मृत्यु—सन् १२०५ ई० में सुलतान मुहम्द ग़ोरी खोखरों के विद्रोह को दबाने के लिए अपनी सेना के साथ फिर भारत में आया। विद्रोह को शान्त कर जब वह १२०६ ई० में ग़ज़नी लौट रहा था, मुलाहिदा सम्प्रदाय के एक आदमी ने उसको क़त्ल कर दिया।

मुहम्मद ग़ोरी की महमूद ग़ज़नवी से तुलना—यद्यपि मुहम्मद ग़ोरी में इतनी धार्मिक कट्टरता नहीं थी जितनी कि महमूद ग़ज़नवी में, फिर भी इस्लाम की उन्नति में ग़ोरी ने ग़ज़नवी से अधिक सहायता पहुँचाई। मुहम्मद ग़ोरी खूब जानता था कि हिन्दुओं का राजनैतिक संगठन अच्छा नहीं है और भिन्न-भिन्न राजपूत-राजा परस्पर युद्ध कर निर्बल हो गये हैं। उसने हिन्दुओं की इस शोचनीय परिस्थिति से लाभ उठाकर भारतवर्ष में मुसलमानी साम्राज्य स्थापित करने का निश्चय कर लिया था। किन्तु महमूद का अभिप्राय कुछ दूसरा ही था। वह भारतवर्ष की अतुल सम्पत्ति को लेना चाहता था और उसे मध्यएशिया के आक्रमणों में खर्च करना ही अपना मुख्य उद्देश्य समझता था। ग़ोरी की तरह वह हिन्दुस्तान में मुसलमानी राज्य स्थापित करना नहीं चाहता था। परन्तु ग़ोरी ने शुरू से ही दूसरा रास्ता पकड़ा था। वह भारतवर्ष में मुसलमानों का राज्य स्थापित करना चाहता था। यही कारण है कि जिन देशों को उसने जीता उन्हें भली भाँति अपने अधीन कर लिया। इस कार्य में उसे पूर्ण सफलता प्राप्त हुई और उसकी मृत्यु के समय तक सारा उत्तरी भारत उसके अधीन हो गया।

मुसलमानों की सफलता के कारण—भारतवर्ष में मुसलमानों की सफलता का कारण उनका बल नहीं वरन् हिन्दुओं में संगठन तथा एकता का अभाव था। असंख्य राजपूत राजा स्वार्थ त्यागकर एक शत्रु के विरुद्ध कभी आपस में संगठित न हो सके। एक दूसरे पर रोब जमाने के लिए वे प्रायः परस्पर लड़ने ही में लगे रहते थे। दिल्ली के चौहान और कन्नौज के राठौर आपस में इतने दिन तक लड़ते रहे कि उनमें से एक भी बाहरी शत्रु का सामना न कर सका। हिन्दुओं में राष्ट्रीयता का भाव बिलकुल नहीं था। विदेशी शत्रु के मुक़ाबिले के लिए राजपूत राजाओं ने जो संघ बनाया उसका उद्देश्य देश को स्वाधीन रखना नहीं वरन् अपने राज्य को बचाने का स्वार्थ था। इसके विपरीत मुसलमानों का संगठन बहुत अच्छा था। धर्म के लिए प्राण देने को वे सदा तैयार रहते थे। महमूद ग़ज़नवी और तैमूर जैसे प्रतिभाशाली सेनापति समय-समय पर अपने सिपाहियों को विचलित देखकर उन्हें धर्म के नाम से उत्तेजित करते थे।

राजनैतिक परिस्थिति की तरह हिन्दुओं की सामाजिक दशा भी बड़ी शोचनीय थी। वे भिन्न-भिन्न जातियों और उपजातियों में विभक्त थे और मिलकर काम नहीं कर सकते थे। लड़ने का काम केवल एक ही जाति पर निर्भर था। अधिकांश लोग न तो युद्ध करना जानते थे और न लड़ने-भिड़ने में ही उनकी रुचि थी। इसका परिणाम यह हुआ कि युद्ध-काल में पर्याप्त संख्या में सिपाहियों का मिलना कठिन हो जाता था। साधारण जनता राजनैतिक विप्लवों से बिलकुल दूर रहती थी। उसको इस बात की कुछ भी परवाह नहीं थी कि किसका राज्य पलट रहा है या किसका नया राज्य स्थापित हो रहा है। किसान लोग केवल अपनी खेती की फ़िक्र करते थे। जब तक उनके व्यवसाय में कोई बाधा नहीं होती थी, राष्ट्रीय हलचल की ओर उनका ध्यान आकृष्ट नहीं होता था। मुसलमान एक होकर काम करते थे। उनमें जातिभेद नहीं था। समानता और भ्रातृ-भाव के कारण उनकी सामाजिक शक्ति, हिन्दुओं से कहीं अधिक थी। लड़ने में भी उनको बड़ी सुविधा रहती थी। पारस्परिक ईर्ष्या, द्वेष तथा जातीय भेदभाव ने हिन्दुओं को अशक्त बना दिया था। वीरता में राजपूत कम नहीं थे। वे अद्भुत साहस और असाधारण पराक्रमवाले थे। बड़े से बड़े संकट के समय अथवा युद्ध-क्षेत्र में वे अपने प्राण देने को उद्यत रहते थे। इसको देखकर उनके शत्रु भी चकित रह जाते थे। परन्तु उनकी युद्ध करने की शैली मुसलमानों की-सी न थी। वे अपने हाथियों और पैदल सिपाहियों पर अधिक भरोसा रखते थे। इसके प्रतिकूल मुसलमानों के पास घुड़सवारों की सेना थी। तुर्की घुड़सवार जब चाहते तभी अपनी जगह छोड़कर शीघ्रता से शत्रु पर, चारों ओर से, धावा कर सकते थे। वे चारों ओर से राजपूत-सेना को दबाते और ज्योंही हाथी, रथ और पैदल सिपाहियों के एक साथ सिमट जाने से गड़बड़ी फैलती, त्योंही वे

बड़े वेग के साथ उन पर टूट पड़ते और सैकड़ों को बात की बात में तलवार के घाट उतार देते थे।

राजपूत राजाओं के यहाँ कोई ऐसा दफ्तर न था जो विदेशी राज्यों का पूरा हाल जानता। पश्चिमोत्तर सीमा के बाहर के देशों का उनको कुछ भी ज्ञान न था। वे न यह जानते थे कि उनकी क्या स्थिति है और न यह जानते थे कि उनके पास कितनी सेना है और क्या उनके पारस्परिक सम्बन्ध हैं। इससे उन्हें बड़ी हानि हुई। सीमा की रक्षा की ओर उन्होंने कभी ध्यान नहीं दिया। जब एक बार विदेशी आक्रमणकारी देश में घुस आये तो उन्हें रोकना असम्भव-सा हो गया।

मुसलमानों की विजय किस प्रकार की थी?—यद्यपि भारतवर्ष का एक बहुत बड़ा भाग मुसलमानों के अधिकार में आ गया था, परन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि हिन्दुओं की सभी संस्थाएँ नष्ट हो गईं। मुसलमानों ने देश को जागीरों में बाँटकर अमीरों को दे दिया। अपने-अपने इलाक़ों में शान्ति रखना उनका काम था। बाक़ी छोटे-छोटे शासन के नियम जैसे हिन्दू राज्यों में थे वैसे ही बने रहे।

मुसलमानी शासन इस काल में फ़ौजी था। मुसलमानों की लड़ने-भिड़ने में अधिक रुचि थी। इसलिए शासन-प्रबन्ध का काम प्रायः हिन्दुओं द्वारा ही होता था। माल के महक़मे और देहातों में हिन्दू अफ़सर ही सरकारी काम करते थे। वे ही लगान वसूल करते और प्रजा की रक्षा का उपाय करते थे। दोआब में बहुत से ऐसे राजा थे जो अपनी इच्छा के अनुसार दिल्ली के सुल्तान को कर देते थे। केंद्रिक शासन के निर्बल होने पर वे उसकी आज्ञा की कुछ भी पर्वाह नहीं करते थे। साधारणतः देश के भीतरी भागों में प्रजा के दिन शान्ति से बीतते थे। जब कोई अत्याचारी सूबेदार होता तो झगड़ा बढ़ता था, नहीं तो लोग बे-रोक-टोक अपना काम करते थे। परन्तु हिन्दू राज्यों की फूट का अभी अन्त नहीं हुआ था। वे तुर्की राज्य को पसन्द नहीं करते थे परन्तु संगठित होकर कभी सफलता के साथ उसका मुक़ाबला भी नहीं कर सकते थे।

संक्षिप्त सन्‌वार विवरण

मुहम्मद ग़ोरी का उच्छ और मुल्तान जीतना ..	..	११७५ ई०
मुहम्मद ग़ोरी का खुसरो मलिक को पराजित करना	..	११८६ "
मुहम्मद ग़ोरी की सरहिन्द पर चढ़ाई ..	..	११९१ "
मुहम्मद ग़ोरी का भारत पर आक्रमण ..	..	११९२ "
तराइन का युद्ध और पृथ्वीराज की पराजय ..	..	११९३ "
मुहम्मद ग़ोरी द्वारा जयचन्द्र की पराजय ..	..	११९४ "

क़ुतुबुद्दीन का भीमदेव को पराजित करना..	..	११९५ ई०
बिहार की विजय ..	..	११९७ "
परमाल की पराजय ..	..	१२०३ "
मुहम्मद ग़ोरी की मृत्यु ..	..	१२०७ "

अध्याय १६

ग़ुलाम-वंश

(१२०६—१२९० ई०)

क़ुतुबुद्दीन ऐबक—(१२०६-१२१० ई०)—मुहम्मद ग़ोरी के कोई लड़का न था जा उसकी मृत्यु के बाद राजसिंहासन पर बैठता। परन्तु उसे इस बात की ज़रा भी चिन्ता न थी, वह बहुधा कहा करता था—"क्या मेरे हज़ारों तुर्क ग़ुलाम मेरे लड़के नहीं हैं जो मेरे जीते हुए प्रदेशों पर राज्य करेंगे और मेरी मृत्यु के बाद ख़ुतबे में मेरा नाम जारी रक्खेंगे।" परन्तु उसके प्रतिनिधि (वाइस-राय) क़ुतुबुद्दीन ने भारत में सुलतान होने की घोषणा कर दी और दिल्ली का पहला मुसलमान बादशाह हो गया। वह स्वयं ग़ोरी सुलतान का ग़ुलाम रह चुका था, इसलिए उसका वंश ग़ुलाम-वंश के नाम से प्रसिद्ध हुआ। क़ुतुबुद्दीन ऐबक बड़ा योग्य शासक था और वह प्रजा की सुख-सम्पत्ति के लिए प्रयत्न करता था। हिन्दुओं के साथ वह दया का बर्ताव करता था और न्याय करने में निष्पक्ष था। अपनी जड़ मज़बूत करने के लिए उसने बड़े-बड़े अमीरों और सरदारों से वैवाहिक सम्बन्ध किये थे। उसने अपनी बहिन का ब्याह क़ुबाचा से किया था और अपने ही एक ग़ुलाम ईल्तुतमिश को अपनी लड़की ब्याह दी थी। स्वयं अपना विवाह उसने ताजुद्दीन एलदौज़ की लड़की के साथ किया था।

क़ुतुबुद्दीन अपनी उदारता और दानशीलता के लिए इतना प्रसिद्ध था कि उसे लोग "लाख-बख़्श" अर्थात् लाख का दान देनेवाला कहते थे। क़ुतुबुद्दीन ने क़ुतुब मीनार का निर्माण आरम्भ किया था किन्तु उसे पूर्ण करने के पहले ही वह मर गया। अन्त में उसे ईल्तुतमिश ने पूरा किया।

सन् १२१० ई० में क़ुतुबुद्दीन चौगान खेलते समय अपने घोड़े से गिरकर मर गया। उसके बाद उसका बेटा आरामशाह गद्दी पर बैठा, किन्तु एक वर्ष

राज्य करने के वाद ईल्तुतमिश ने उसे पराजित करके गद्दी से उतार दिया। ईल्तुतमिश उस समय बदायूँ का सूबेदार था। इस समय मुसलमानों के भारतीय राज्य का संगठन धीरे-धीरे ढीला होने लग गया था। उनके चार स्वाधीन राज्य बन गये थे—सिन्ध में क़ुबाचा, दिल्ली में ईल्तुतमिश, बङ्गाल में खिलजी मलिक (अमीर) और लाहौर में कभी ग़ज़नी और कभी दिल्ली के शासक राज्य करते थे।

शमसुद्दीन ईल्तुतमिश (१२११-१२३६ ई०)—ईल्तुतमिश, जिसका नाम यूरोपीय लेखकों ने ग़लती से अल्तमश लिखा है, इलवारी फ़िर्के का तुर्क था। उसे कुतुबुद्दीन ने खरीदा था। उसका जन्म एक उच्च वंश में हुआ था और अपनी योग्यता के कारण वह शीघ्र ही अपने स्वामी का स्नेह भाजन बन गया था। सन् १२१० ई० में उसने आरामशाह से दिल्ली का सिंहासन छीन लिया। वास्तव में दिल्ली का पहला सुलतान ईल्तुतमिश ही था। ग़ुलामवंश के सुलतानों में वह सबसे प्रभावशाली था। उसमें एक वीर योद्धा और योग्य शासक के गुण भरे हुए थे। इसी लिए उसे राज्य की कठिनाइयों को दूर करने में आसानी हुई। सबसे पहले उसने दिल्ली के विद्रोही अमीरों को दबाया और राज्य को पूर्ण रीति से अपने वश में किया। सन् १२१५ ई० में उसने एलदौज को हराया। एलदौज युद्ध में मारा गया। फिर क़ुबाचा की बारी आई। सन् १२१७ ई० में उसकी पराजय हुई, परन्तु वह १० वर्ष तक लड़ता रहा और सन् १२२७ ई० में उसने ईल्तुतमिश की अधीनता स्वीकार कर ली।

अभी सुलतान अपने शत्रुओं को दबाने में ही लगा हुआ था कि उसे एक भयङ्कर आपत्ति का सामना करना पड़ा। यह मुग़लों का हमला था। मुग़लों ने अपने सरदार चंगेज़ख़ाँ के नेतृत्व में मंगोलिया, चीन और तुर्किस्तान आदि देशों को रौंद डाला था। अब वे ख्वारिज्म के बादशाह जलालुद्दीन का पीछा करते हुए भारत की सीमा तक आ पहुँचे। जलालुद्दीन ने ईल्तुतमिश से सहायता माँगी, परन्तु उसने इनकार कर दिया। साथ ही जो राजदूत शाह के लिए मदद माँगने आया था उसे क़त्ल करा दिया। तब शाह ने जो कुछ सेना इकट्ठी की थी उसे साथ लेकर सिन्धु नदी के तट पर मुग़लों से युद्ध किया। युद्ध में वह हार गया और फ़ारस की तरफ़ भागा जहाँ उसके एक शत्रु ने उसे क़त्ल कर दिया। उसके बाद मुग़ल अपने घर को लौट गये और भारत पर आई हुई एक भयंकर आपत्ति टल गई।

ईल्तुतमिश ने अब अपने भारतीय शत्रुओं को दबाने का प्रयत्न किया। सन् १२२५ ई० में उसने बङ्गाल को जीत लिया और १२२८ ई० में सिन्ध को भी अपने राज्य में मिला लिया। राजपूतों को भी उसने कई युद्धों में हराया और रणथम्भौर, माँडू, ग्वालियर, मालवा और उज्जैन को जीत लिया। मेवाड़ राज्य को जीतने में वह असफल रहा। इस प्रकार १२२५ ई० में मरते समय वह

सारे उत्तरी हिन्दुस्तान का मालिक था और उसका साम्राज्य उत्तर में हिमालय से लेकर नर्मदा नदी तक और पूर्व में बङ्गाल से सिन्धु नदी तक फैला हुआ था।

ईल्तुतमिश के शासन-काल में एक महत्त्वपूर्ण घटना हुई। अब्बासी खलीफ़ा ने मुसलमानों पर शासन करने का उसका अधिकार स्वीकार कर लिया। इस काल में खलीफ़ा की स्वीकृत पाना सुल्तानों के लिए आवश्यक होता था। महमूद ग़ज़नवी जैसे बड़े सुल्तान ने भी यह स्वीकृति प्राप्त की थी। भारतवर्ष के ग़ुलाम बादशाह के लिए इसका प्राप्त करना और भी आवश्यक था। सन् १२२९ ई० में ईल्तुतमिश ने इसके लिए ख़लीफ़ा से प्रार्थना की और उसने अपने दूत के हाथ खिलअत और फ़र्मान भेज दिये और ईल्तुतमिश का अधिकार स्वीकार कर दिया।

रज़िया बेग़म—(१२३६-४०)—ईल्तुतमिश के सभी बेटे निकम्मे थे। उनमें इतने बड़े साम्राज्य का प्रबन्ध करने की योग्यता न थी। इसी कारण ईल्तुतमिश ने अपनी बेटी रज़िया को ही गद्दी की अधिकारिणी बनाया। परन्तु दरबार के अमीरों को एक स्त्री का गद्दी पर बैठना पसन्द नहीं आया। इसलिए उन्होंने ईल्तुततमिश के एक बेटे रुकनुद्दीन को बादशाह बनाया। परन्तु वह इतना विलासी और दुश्चरित्र निकला कि अमीरों को हताश होकर रज़िया को राजगद्दी देनी पड़ी।

रज़िया का पहले अमीरों ने बड़ा विरोध किया परन्तु साहस और चतुरता से उसने सफलतापूर्वक इस परिस्थिति का सामना किया और राज्य में शान्ति स्थापित रखखी। वह एक बुद्धिमती स्त्री थी। प्रजा की उन्नति करना वह अपना प्रधान कर्त्तव्य समझती थी। वह बड़ी न्याय-प्रिय थी और अपने कर्त्तव्य का उचित पालन करती थी। उसने अपनी जनानी पोशाक छोड़ दी थी और मर्दाने कपड़े पहनकर खुले दरबार में बैठती थी। किन्तु स्त्री होना उसका सबसे बड़ा अपराध था। वह याक़ूत नाम के एक ग़ुलाम पर विशेष कृपा रखती थी। भला ये बातें अमीर कहाँ तक सह सकते थे? रज़िया ने परिस्थिति बिगड़ती हुई देखकर अपनी शक्ति बढ़ाने के लालच से अल्तूनिया नाम के तुर्क सरदार के साथ विवाह कर लिया। इससे कुछ भी लाभ न हुआ। उसका अब अधिक विरोध होने लगा। रज़िया और उसके पति दोनों को लोगों ने क़ैद कर लिया और सन् १२४० ई० में किसी हिन्दू ने उन्हें मार डाला।

चालीस अमीरों का दल—"चालीस अमीरों के दल" के सम्बन्ध में कुछ कहना ज़रूरी है। ग़ुलाम-वंश के सुलतानों के शासन-काल में इस दल का बड़ा ज़ोर था। यद्यपि ग़ुलाम-वंश के प्रायः सभी सुलतान गद्दी पर आने के पहले ग़ुलामी से मुक्त कर दिये जाते थे परन्तु फिर भी उन्हें तुर्की अमीरों से काम पड़ता था। इन तुर्की अमीरों में कितने ही पहले ग़ुलाम रह चुके थे। उनको

इल्तुतमिश के समय में
दिल्ली साम्राज्य
गज़नी
पेशावर
कांगड़ा
लाहौर
मुलतान
दिल्ली
बरन
बदायूँ
कन्नौज
अयोध्या
ग्वालियर
प्रयाग
बनारस
लखनौती
गौड़
भक्कर
उच्छ
सिंध
अन्हिलवाड़
उज्जैन
भिलसा
गुजरात
नर्मदा न०
ताप्ती न०
यादव
एलिचपुर
देवगिरि
अरब
सागर
वारंगल
काकतीय
रायचूर
ब्रह्मपुत्र
बंगाल
की
खाड़ी
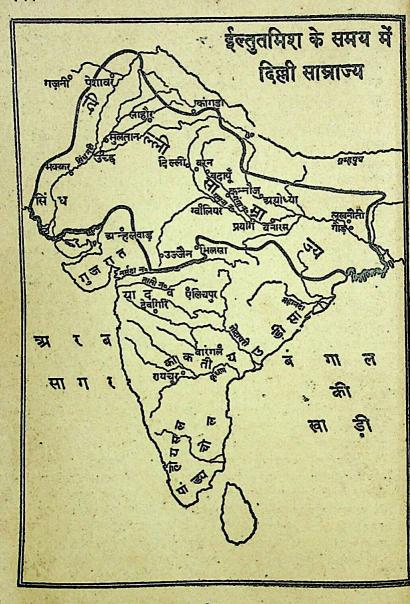
क़ाबू में करना बड़ा कठिन हो गया था। उन्होंने जागीरें आपस में बाँट ली थीं और राज्य के सभी बड़े-बड़े पदों पर अधिकार कर रक्खा था। ईल्तुतमिश ने उन्हें बहुत कुछ दबाकर रक्खा था। परन्तु उसकी मृत्यु के बाद वे फिर शक्तिशाली हो गये। जब राज्य शक्तिहीन और निकम्मे बादशाहों के हाथ में चला गया तब उनका हौसला और भी बढ़ गया। वे ऐसे शक्तिमान् हो गये कि उन्होंने सुलतानों को कठपुतली बना दिया और राज्य का सारा अधिकार अपने हाथ में ले लिया।

नासिरुद्दीन महमूद (१२४६-६६ ई०)—रज़िया के उत्तराधिकारी ऐसे कठिन समय में राज्य का प्रबन्ध करने में निकम्मे और अयोग्य सिद्ध हुए। उसका एक भतीजा और दो भाई थोड़े ही दिनों में गद्दी से उतार दिये गये और मार डाले गये। सन् १२४६ ई० में ईल्तुतमिश का बेटा नासिरुद्दीन महमूद राजसिंहासन पर बैठा। वह एक दरवेश की तरह जीवन व्यतीत करता था और शासन-कार्य के लिए सर्वथा अयोग्य था।

हिन्दुस्तान के लिए मुसलमानी शासन एक नई चीज़ थी और हिन्दुओं को अभी तक उससे सहानुभूति न हो पाई थी। दोआब के ज़मींदार बराबर विद्रोह करते थे। कर न देने के अलावा वे देश में लूट-मार भी करते थे। मुग़लों ने लाहौर का शहर तो १२४१ ई० में पहले ही जीत लिया था। अब वे पश्चिमोत्तर-सीमा पर भी घात लगाये थे। सुलतान की सेना अव्यवस्थित थी। चालीस अमीरों का दल बड़ा शक्तिशाली हो गया। केन्द्रिय शासन के दुर्बल हो जाने के कारण सूबों के हाकिम बे-रोक-टोक मनमानी करने लगे। चारों ओर राज्य में षड्यन्त्र होने लगे। लोगों का सन्देह बढ़ने लगा और शासन-प्रबन्ध कठिन हो गया।

नासिरुद्दीन को बड़ी विकट परिस्थिति का सामना करना पड़ा। परन्तु सौभाग्य से उसे एक योग्य मन्त्री मिल गया जिसने बिगड़ी हुई परिस्थिति को बड़ी बुद्धिमत्ता से सँभाल लिया। यह बलबन था। सबसे पहले उसने मुग़लों के हमले रोके और फिर दोआब के विद्रोही राजा और ज़मींदारों पर कई बार चढ़ाई करके उन्हें परास्त किया। उसने मेवाड़ को भी जीता और चन्देरी, मारवाड़ और कई अन्य प्रदेशों के राजाओं ने पराजित होकर उसकी अधीनता स्वीकार कर ली।

बलबन की सफलता के कारण कितने ही अमीर उससे ईर्ष्या करने लगे। उन्होंने नासिरुद्दीन महमूद से चुग़ली खाई और बलबन को देश से बाहर निकलवा दिया। परन्तु उसके जाने के बाद ऐसी गड़बड़ी शुरू हुई कि महमूद को १२५५ ई० में बलबन को फिर वापस बुलाकर उसे पूर्ववत् सब अधिकार देने पड़े। सन् १२६६ ई० में नासिरुद्दीन की मृत्यु हो गई। उसके कोई बेटा न था। मौक़ा पाकर बलबन ने शीघ्र राजगद्दी पर अपना अधिकार कर लिया।

बलबन (१२६६-८६ ई०)—बलबन का शासन कठोर था। वह देश की दशा

से खूब परिचित था और राजकार्य को अच्छी तरह समझता था। उसने दोआब के हिन्दुओं को बड़ी सख्ती से दबाया। जंगलों को साफ़ कराकर उसने डाकुओं को मरवा डाला और रास्तों को शान्तिमय बनाया। सुल्तान स्वयं दोआब में गया और वहाँ उसने क़िले बनवाये और अपने सूबेदार नियुक्त किये। कटहर के ज़िले में इतनी बाग़ी क़त्ल किये गये कि उनकी लाशों की दुर्गन्ध से गंगा के पास तक की हवा ख़राब हो गई। मुग़लों से भी बलबन बड़ी कठोरता और साहस से लड़ा। उसने अपने बड़े बेटे मुहम्मद को—जो एक बड़ा सुशील, विनम्र तथा सुशिक्षित राजकुमार था—सीमान्त प्रदेश की रक्षा के लिए पंजाब की ओर रवाना किया। पुराने क़िले तुड़वाकर उसने नये किले बनवाये और वहाँ सेना रख दी। सन् १२७९ ई० में बंगाल के सूबेदार तुग़रिल खाँ ने विद्रोह का झंडा खड़ा किया। एक बहुत बड़ी सेना लेकर बलबन बंगाल को गया। तुग़रिल भाग गया। परन्तु शाही अफ़सरों ने उसे पकड़ लिया और मार डाला। उसके साथी लखनौती के बाज़ार में ऐसी बुरी तरह से क़त्ल किये गये कि देखनेवाले तक भय से बेहोश हो गये। अपने बेटे बुग़रा ख़ाँ को बंगाल का सूबेदार बनाकर बलबन दिल्ली लौट आया।

बलबन एक प्रतिभाशाली शासक था। उसने राज्य की भयंकर स्थिति को देखा और उसे ठीक करने का पक्का इरादा किया। न्याय करने में वह किसी का पक्ष नहीं करता था। अमीर-ग़रीब सबको एक समान समझता था और किसी की रू-रियासत नहीं करता था। एक बार उसके एक अमीर ने किसी आदमी को मरवा डाला। बलबन ने उसको ५०० कोड़े लगवाये और मृत व्यक्ति की स्त्री से उस अमीर को मारने के लिए कहा। बड़ी कठिनाई के बाद उस स्त्री का क्रोध शान्त किया गया और रुपया लेकर वह अमीर बचाया गया। बलबन का गुप्तचर-विभाग खूब संगठित था। ये ही गुप्तचर राज्य की सब ख़बर देते थे। उसने यह समझ लिया था कि उसकी बढ़ती हुई शक्ति को रोकनेवाला ४० अमीरों का दल ही है। इसलिए उसने अमीरों को मरवा दिया और इस दल को जड़ से नष्ट कर दिया। इस प्रकार उसने अपने वंश की रक्षा की। बलबन के दर्बार में बड़ी सख्ती रहती थी। वहाँ न कोई हँसी-मज़ाक़ कर सकता था और न कोई उसकी आज्ञा का उल्लङ्घन ही कर सकता था। लोग सुलतान से भयभीत हो गये और दिल्ली राज्य में शान्ति स्थापित हो गई।

बलबन का चरित्र—बलबन बड़े ठाट-बाट से रहता था। उसका दर्बार शान-शौक़त के लिए समस्त एशिया में विख्यात था। दूर देशों से आये हुए लोगों को उसके दर्बार में हमेशा शरण मिलती थी। उसका शासन बड़ा कठोर था। वह नीचे दर्जे के लोगों को नौकरी भी नहीं देता था। उसके दर्बार में असभ्य तथा निम्न श्रेणी के लोग नहीं जा सकते थे। यद्यपि बलबन स्वयं एक

योद्धा था, वह साहित्य-प्रेमी था और विद्वानों को आश्रय देता था। वह दीनों और दुखियों की रक्षा करता था और हमेशा उनके सुख का ध्यान रखता था। यद्यपि वह निरंकुश शासक था तथापि मित्रों और सम्बन्धियों से प्रेम करता था। वह अपने बेटे मुहम्मद को बहुत प्यार करता था और जब वह मुग़लों के साथ सन् १२८५ ई० में युद्ध मे मारा गया, तब बलबन के शोक का वारापार न रहा। वह अधिक दिन तक जीवित न रहा, और एक ही वर्ष बाद सन् १२८६ ई० मे स्वर्गवासी हुआ।

दिल्ली में विद्रोह और ग़ुलाम-वंश का अन्त—बलबन की मृत्यु के बाद, अमीरों ने उसके दूसरे बेटे बुग़रा खाँ को राजगद्दी पर बैठने को कहा, परन्तु उस निकम्मे शाहज़ादे ने दिल्ली-साम्राज्य के भार की अपेक्षा सुदूर बंगाल में रहकर विलासिता का जीवन बिताना अधिक पसन्द किया। तब उसके स्थान में उसका बेटा कैक़ुबाद, जिसकी अवस्था केवल १९ वर्ष की थी, गद्दी पर बिठाया गया। कैक़ुबाद बड़ा विलासिता-प्रिय निकला। वह अय्यासी में डूबा रहता था और अपने कर्त्तव्य की ओर कुछ भी ध्यान नहीं देता था। उसके दर्बारियों ने भी ऐसा ही किया और राज्य का प्रबन्ध गड़बड़ हो गया। राजमन्त्री इस दुर्दशा को देखकर दुखी होकर घर बैठ रहा। परन्तु कैक़ुबाद ने उसे घर से पकड़ मँगाया और एक साधारण अभियुक्त की तरह गधे पर सवार करके सारे नगर में घुमाया। बुग़रा खाँ ये सब बातें सुनकर अपने बेटे को सदुपदेश देने को बंगाल से दिल्ली आया। परन्तु उसके उपदेशों का कैक़ुबाद पर कुछ भी प्रभाव न पड़ा। अय्यासी का फल बादशाह को भोगना पड़ा और उसे लक़्वा मार गया।

इस गड़बड़ी की हालत मे अमीरों के दो दल बन गये। एक खिलजी और दूसरी तुर्क-पार्टी थी। दोनों अपना-अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए परस्पर लड़ने लगे। ख़िलजी-दल का नेता जलालुद्दीन फ़ीरोज़ था। वह शाही फ़ौज का बड़ा अफ़सर था। अपने ज़ोर से ख़िलजी-दलवालों ने तुर्कपार्टी को दबा दिया। एक मनुष्य ने, जिसके पिता को कैक़ुबाद ने मरवाया था, उसको शीशमहल में मारकर यमुना में फेंक दिया। १३ जनवरी सन् १२९० ई० को बिना किसी विरोध के जलालुद्दीन फ़ीरोज़ किलोखरी के महल में दिल्ली का सुलतान हो गया। बलबन के वंश का एकमात्र उत्तराधिकारी मलिक छज्जू कड़े का जागीरदार बनाकर अलग कर दिया गया। इस प्रकार बलबनी-वंश का अन्त हुआ और दिल्ली का राज्य खिलजियों के हाथ में चला गया।

संक्षिप्त सन्‌वार विवरण

क़ुतुबुद्दीन की मृत्यु	..	..	१२१० ई०
ईल्तुतमिश द्वारा एलदौज़ की पराजय	..	..	१२१५ "

क़ुवाचा की हार	१२१७ ई०
चंगेज़ खाँ का आक्रमण	१२२१ ,,
ईल्तुतमिश की बङ्गाल पर विजय	१२२५ ,,
सिन्ध का दिल्ली-साम्राज्य में शामिल होना ..	१२२८ ,,
ईल्तुतमिश का ख़लीफ़ा से फ़र्मान पाना	१२२९ ,,
ईल्तुतमिश की मृत्यु	१२३५ ,,
रज़िया की मृत्यु	१२४० ,,
मुग़लों का लाहौर पर अधिकार	१२४१ ,,
नासिरुद्दीन महमूद की मृत्यु	१२६६ ,,
बलबन का दिल्ली का सुलतान होना	१२६६ ,,
तुग़रिल बेग का विद्रोह	१२७९ ,,
बलबन की मृत्यु	१२८६ ,,
जलालुद्दीन फ़ीरोज़ खिलजी का सुलतान होना ..	१२९० ,,

अध्याय १७

खिलजी-वंश—साम्राज्य-निर्माण

(१२९०—१३२० ई०)

जलालुद्दीन फ़ीरोज़ खिलजी (१२९०-९६)—दिल्ली के सिंहासन पर बैठने के समय जलालुद्दीन की अवस्था ७० वर्ष की थी। उसने तुर्की अमीरों के दल को दबाकर खिलजी-वंश का प्रभुत्व स्थापित किया था, इस कारण पुराना तुर्की दल हमेशा उससे ईर्ष्या रखता था। राज्य के अमीर दो दलों में विभक्त हो गये थे—बलबनी और जलाली। ये दोनों दल हमेशा एक दूसरे को सन्देह की दृष्टि से देखते थे। परन्तु जलालुद्दीन एक दयालु तथा उदार प्रकृति का मनुष्य था। पिछले राजवंश के प्रति उसकी सहानुभूति थी, इसलिए वृद्ध अमीर उसकी तरफ़ आ गये और विरोधियों की संख्या धीरे-धीरे घटने लगी। सुलतान ने रुपया और जागीर देकर अपने शत्रुओं को भी अपना मित्र बना लिया। परन्तु उसकी नरमी के कारण देश में जगह-जगह राज-विद्रोह बढ़ने लगा। सन् १२९१ ई० में कड़ा के सूबेदार मलिक छज्जू ने विद्रोह किया और स्वतंत्र शासक होने

की घोषणा की। किन्तु वह पराजित हुआ और अपने साथियों के साथ पकड़ा गया। सुलतान ने पिछले सुलतानों के प्रति स्वामिभक्ति दिखाने के कारण उनकी प्रशंसा की और उन्हें कुछ भी सज़ा न दी। इस उदारता को खिलजी अमीरों ने नापसन्द किया और अहमद चप नामक एक अफ़सर ने सुलतान को सख़्ती करने की सलाह दी। परन्तु उसने अपने व्यवहार में कोई परिवर्तन नहीं किया। ठगों और डाकुओं के साथ भी उसने वही उदारता और दया का वर्ताव जारी रक्खा।

सुलतान लड़ाई और ख़ून-खच्चर से दूर रहना चाहता था, इसी कारण मालवा और रणथम्भौर की चढ़ाई में उसे सफलता नहीं हुई। उसके समय में केवल एक ही महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ। सन् १२९२ ई० में जब मुग़लों ने भारत पर चढ़ाई की तो सुलतान ने उन्हें पराजित किया। बहुत से मुग़ल दिल्ली के क़रीब आकर बस गये और उनकी बस्ती का नाम 'मुग़लपुर' पड़ा। उन्होंने इस्लाम धर्म स्वीकार किया और वे नौ-मुसलिम अर्थात् नये मुसलमान कहलाने लगे।

अलाउद्दीन का देवगिरि पर हमला (सन् १२९४ ई०)—सुलतान जलालुद्दीन का भतीजा और दामाद अलाउद्दीन, जो कड़े का सूबेदार था, बड़े हौसले का आदमी था। दक्षिण में यादवों की राजधानी देवगिरि के अपार धन और ऐश्वर्य की कहानियाँ सुनकर उसने उसे लूटने का निश्चय किया। इस इरादे का उसने अपने चचा तथा ससुर सुलतान जलालुद्दीन को कुछ भी पता न लगने दिया और यह बहाना करके कि वह मालवा पर चढ़ाई करना चाहता है सुलतान से दक्षिण की ओर जाने की आज्ञा प्राप्त करली। सन् १२९४ ई० में ८००० सवारों के साथ उसने देवगिरि के हिन्दू राजा रामचंद्र पर चढ़ाई की और उसे पूर्ण रीति से पराजित किया। रामचंद्र को संधि करनी पड़ी। अलाउद्दीन ने उससे एलिचपुर लेकर दिल्ली के साम्राज्य में मिला लिया और कई मन सोना, मोती तथा अन्य बहुमूल्य चीज़ें और बहुत-से हाथी-घोड़े हरजाने के रूप में वसूल किये। इस बड़ी विजय के बाद अलाउद्दीन अपने सूबे को लौट आया।

जलालुद्दीन का क़त्ल—अलाउद्दीन की दक्षिण की विजय का समाचार पाकर सुलतान बहुत प्रसन्न हुआ। वह स्वयं उसका स्वागत करने के लिए कड़े की ओर चल दिया। स्वामि-भक्त अहमद चप ने वहाँ न जाने का आग्रह किया। परन्तु सुलतान ने उसकी बात पर कुछ भी ध्यान न दिया। उधर अलाउद्दीन अपने चचा का वध करके राजसिंहासन छीन लेने का पहले ही से निश्चय कर चुका था। जिस समय सुलतान और अलाउद्दीन कड़े में गंगा के आमने-सामने के किनारों से आकर एक नाव में मिले, अलाउद्दीन ने संकेत किया और सुलतान का सिर उसके धड़ से अलग कर दिया गया। उसके सभी साथी क़त्ल कर दिये गये। लोगों को यह दिखाने के लिए कि सुलतान वास्तव में मारा गया, अलाउद्दीन ने उसका सिर भाले में छेदकर लश्कर में घुमाया।

१९ जुलाई सन् १२९६ ई० को अलाउद्दीन दिल्ली की गद्दी पर बैठा और सर्दारों तथा अमीरों ने उसकी अधीनता स्वीकार की।

अलाउद्दीन खिल्जी (१२९६-१३१६ ई०)—अलाउद्दीन बादशाह तो हो गया परन्तु अभी उसकी स्थिति ठीक न थी। जलाली सर्दारों ने शीघ्र जलालुद्दीन के बेटों का पक्ष लिया और उनमें से एक को रुकनुद्दीन के नाम से गद्दी पर बिठाया। उसने अलाउद्दीन को दिल्ली की ओर आने से भरसक रोकने का प्रयत्न किया, परन्तु थोड़े ही समय के बाद उसके सहायकों ने उसे धोखा देना शुरू किया और उनमें से बहुत से अलाउद्दीन से जा मिले। रुकनुद्दीन मुलतान की ओर भाग गया और अलाउद्दीन ने बड़ी धूम-धाम के साथ दिल्ली नगर में प्रवेश किया। उसने रुकनुद्दीन के साथियों का धन और जागीरें छीन लीं और उन्हें क़त्ल करा दिया।

गुजरात की विजय (१२९७ ई०)—दिल्ली में अपनी स्थिति सँभालने के बाद अलाउद्दीन ने देशों को जीतने की इच्छा की। सन् १२९७ ई० में उसने अपने सेनापति उलुग़ खाँ और नुसरत खाँ को गुजरात के बघेल राजा कर्ण के विरुद्ध भेजा। राजा कर्ण रणक्षेत्र से भाग गया और उसने देवगिरि के राजा रामचन्द्र के यहाँ जाकर शरण ली। उसकी रानी कमलादेवी को शत्रुओं ने गिरफ्तार कर लिया। अन्हलवाड़ और खम्भात दोनों शहर खूब लूटे गये। नुसरत खाँ ने खम्भात की लूट में अपार धन प्राप्त किया और काफ़ूर नाम के एक गुलाम को १००० दीनार में खरीदा। इसी कारण उसका नाम काफ़ूर हज़ार दीनारी (एक हज़ार दीनारवाला) पड़ा। काफ़ूर को आगे चलकर राज्य में बड़ा उच्च पद मिला और अलाउद्दीन के लिए अनेक देश जीते।

मुग़लों के आक्रमण—यद्यपि मुग़ल भारत के किसी भी भाग को जीतकर उस पर अपना अधिकार स्थापित न कर सके तो भी उन्होंने आक्रमण करना बन्द नहीं किया। अलाउद्दीन के समय में उनके आक्रमण साम्राज्य के लिए अनिष्ट-कारी प्रतीत होने लगे और उन्हें रोकने के लिए विशेष रूप से तैयारी करनी पड़ी। सन् १२९८ ई० में मुग़लों का सर्दार क़ुतुलुग़ख्वाजा मार्ग के देशों को लूटता हुआ भारतवर्ष पर चढ़ आया। आस-पास के लोगों ने भाग कर दिल्ली में शरण ली और कहा जाता है कि शहर में इतनी भीड़ हुई कि मसजिदों में भी जगह नहीं मिली। सुलतान की सेना ने फ़ौरन मुग़लों का सामना किया और उन्हें देश से बाहर खदेड़ दिया। सन् १३०४ ई० में अलीबेग और ख्वाजाताश के सेनापतित्व में मुग़लों ने फिर भारत पर चढ़ाई की किन्तु इस बार भी वे हार गये और उन्हें बड़ी हानि उठानी पड़ी। मुग़लों का अन्तिम आक्रमण सन् १३०७-८ ई० में इक़बालमदा की अध्यक्षता में हुआ परन्तु फिर उनकी हार हुई और सीमान्त प्रदेश को सुरक्षित रखने के लिए अलाउद्दीन ने उसी नीति से काम लिया

जिस नीति से बलबन काम लेता था। उसने एक विशाल सेना का संगठन किया। सभी पुराने क़िलों की मरम्मत कराई और मुग़लों के मार्ग में पड़नेवाले स्थानों में नये क़िले बनवाये। इन क़िलों को उसने अनुभवी सेनानायकों के सुपुर्द किया। उत्तर में दिपालपुर की चौकी पर ग़ाज़ी मलिक नियुक्त किया गया। वह जाड़े के दिनों में प्रतिवर्ष मुग़लों का सामना करने के लिए फ़ौज लेकर जाता था और उन्हें बड़ी हानि पहुँचाया करता था। यही ग़ाज़ी मलिक आगे चल कर सुलतान ग़यासुद्दीन तुग़लक के नाम से दिल्ली का बादशाह हुआ। अलाउद्दीन के इस प्रबन्ध का परिणाम यह हुआ कि जब तक वह जीवित रहा तब तक मुग़लों ने फिर भारत पर आक्रमण करने का साहस नहीं किया और देश में शान्ति रही।

अलाउद्दीन और नये मुसलमान—पहले कह चुके हैं कि कुछ मुग़लों ने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया था और वे दिल्ली के पास अपनी बस्ती बनकर रहने लगे थे। ये नये मुसलमान बराबर असन्तुष्ट और अधीर रहा करते थे क्योंकि राज्य में इन्हें ऊँचे पद नहीं मिलते थे। अलाउद्दीन इनसे अप्रसन्न हो गया और उसने सबको राज्य की नौकरी से अलग कर दिया। इस पर मुग़लों ने सुलतान के मार डालने के लिये षड्यन्त्र रचा, परन्तु किसी प्रकार इसका पता लग गया। सुलतान ने भयंकर बदला लिया। एक-एक करके नये मुसलमान मार डाले गये और कुल मिला कर दो-तीन हज़ार आदमी क़त्ल करा दिये गये। उनकी स्त्रियाँ और बच्चे उनका वध करनेवालों को दे दिये गये। यह कहना पड़ेगा कि खिलजी-वंश के बादशाहों का शासन निस्संदेह महा कठोर था।

अलाउद्दीन के हौसले—अपने शासन-काल के प्रारम्भिक भाग में अनेक सफलताएँ पाने के कारण अलाउद्दीन की आकांक्षाएँ बहुत बढ़ गईं। उसने मुहम्मद साहब की तरह स्वयं एक नया धर्म चलाने और देशों को जीतकर मैसीडोनिया के सिकन्दर महान् की तरह विश्व-विजयी होने की इच्छा की। इस मामले में उसने दिल्ली के मोटे कोतवाल अलाउल्मुल्क से परामर्श किया। कोतवाल ने सुलतान को धार्मिक मामलों में हाथ डालने के लिए मना किया और समझाया कि धर्म का प्रचार केवल पैग़म्बरों का काम है। बादशाहों के लिए धर्म के मामलों में हस्तक्षेप करना सर्वथा अनुचित है। सुलतान के दूसरे इरादे के सम्बन्ध में उसने कहा कि यह सच है कि बादशाहों की प्रतिष्ठा देश जीतने ही से बढ़ती है। परन्तु दिल्ली की स्थिति इस समय ठीक नहीं है। मुग़लों के बार-बार हमला करने और लूट-मार से प्रजा निर्धन तथा दुखी हो रही है। उधर सुलतान की अनुपस्थिति में राज्य का काम-काज ठीक रखनेवाला कोई सुयोग्य मन्त्री भी नहीं है। इसके अलावा हिन्दुस्तान में ही रणथम्भौर, मेवाड़, चन्देरी, मालवा आदि स्थान अभी जीतने को बाक़ी हैं। फिर बाहरी देशों की विजय किस प्रकार हो सकती है? सुलतान ने कोतवाल की बात मान ली और विश्वविजयी

होने का इरादा छोड़ दिया, यद्यपि अपने सिक्कों पर वह अपने नाम के साथ 'द्वितीय सिकन्दर' शब्द बराबर खुदवाता रहा। दिल्ली के सुलतानों में किसी ने अब तक ऐसी इच्छा नहीं की थी। अलाउद्दीन पहला ही बादशाह है जिसने एक विस्तीर्ण साम्राज्य बनाने का इरादा किया।

उत्तरी भारत में साम्राज्य का विस्तार—सबसे पहले अलाउद्दीन ने सन् १२९९ ई० में रणथम्भौर के प्रसिद्ध क़िले पर आक्रमण किया। राजपूतों ने डटकर मुसलमानों का सामना किया और उनके छक्के छुड़ा दिये। इस पर अलाउद्दीन स्वयं एक बड़ी फ़ौज लेकर रणथम्भौर पहुँचा और सन् १३०१ ई० में उसने क़िले को जीतकर अपने एक सूबेदार को सुपुर्द कर दिया। इसके बाद उसने मेवाड़ पर चढ़ाई की। कहा जाता है कि सुलतान मेवाड़ के राजा रत्नसिंह की रानी पद्मिनी को, जो भारत में अपने सौन्दर्य के लिए प्रसिद्ध थी, लेना चाहता था। यह बात सत्य हो या न हो, इसमें संदेह नहीं कि आक्रमण बड़े ज़ोर का हुआ और सन् १३०३ ई० में एक भयंकर युद्ध के बाद राजपूत पराजित हुए और क़िले पर मुसलमानों का अधिकार स्थापित हो गया। सुलतान अपने बड़े बेटे खिज्र खाँ को चित्तौड़ का क़िलेदार बना कर दिल्ली लौट आया।

इसके बाद माँडू, उज्जैन और चन्देरी के राजाओं पर चढ़ाई की गई। वे एक के बाद एक युद्ध में पराजित हुए और अलाउद्दीन का आधिपत्य स्वीकार करने पर विवश किये गये। इस प्रकार सन् १३०५ ई० के अन्त तक सारा उत्तरी भारत अलाउद्दीन के अधिकार में आ गया।

दक्षिण की विजय—सम्पूर्ण उत्तरी भारत को अपने अधिकार में कर लेने के बाद अलाउद्दीन ने दक्षिण-विजय की ओर ध्यान दिया। विन्ध्याचल-पर्वत, गहरी खाइयाँ, सघन जंगल और नदियों से अलग किये हुए दक्षिणी प्रदेशों पर चढ़ाई करनेवाला यह पहला ही मुसलमान बादशाह था। दूर होने के अतिरिक्त देश की भौगोलिक परिस्थिति और वहाँ के हिन्दू राजाओं की शक्ति तथा सम्पत्ति ने अलाउद्दीन के लिए दक्षिण की विजय बहुत कठिन बना दी। परन्तु अलाउद्दीन कठिनाइयों से घबड़ाकर आरम्भ किये हुए कार्य को छोड़नेवाला न था।

इस समय दक्षिण में पाँच प्रसिद्ध और शक्तिशाली राज्य थे। पहला राज्य देवगिर के यादव राजाओं का था। उसकी राजधानी देवगिरि थी और वहाँ राजा रामचन्द्र (१२७१-१३०९ ई०) राज्य कर रहा था। रामचन्द्र यादव बड़ा प्रतिभाशाली राजा था। दूसरा प्रसिद्ध राज्य काकतीय-वंश का था। तेलंगाना देश इस राज्य में शामिल था और वरंगल उसकी राजधानी थी जो आजकल निज़ाम राज्य के अन्तर्गत है। प्रतापरुद्रदेव प्रथम तेलंगाना का राजा

अलाउद्दीन का साम्राज्य
काबुल
पंजाब
कांगड़ा
लाहौर
मुलतान
दिपालपुर
उच्छ
दिल्ली
बरन
अवध
जैसलमेर
अजमेर
मेवात
रणथम्भौर
सिन्ध
ठट्टा
कड़ा
चित्तौड़
चन्देरी
प्रयाग
लखनौती
गौड़
मालवा
नागौर
बंगाल
अन्हलवाड़
भिलसा
उज्जैन
धार
नर्मदा
गुजरात
ताप्ती
देवगिरि
गोदावरी
वारंगल
तेलंगाना
कृष्णा
अरब सागर
बंगाल की खाड़ी
द्वारसमुद्र
मदुरा
रामेश्वर
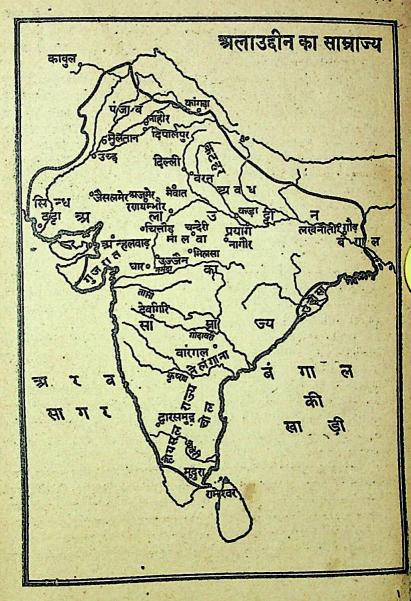
था। यादवों और काकतीयों के राज्यों की सीमा एक ही थी, इस कारण उनमें प्रायः युद्ध हुआ करता था।

तीसरा प्रसिद्ध वंश हौयसल राजाओं का था। वे लोग जिस भू-भाग पर राज्य करते थे वह आजकल मैसूर राज्य के अंतर्गत है। उनकी राजधानी द्वार-समुद्र थी। इस समय हौयसल-वंश का राजा वीर बल्लाल था जो १२९१-९२ ई० में गद्दी पर बैठा था।

चौथा प्रसिद्ध राज्य पाण्ड्य-वंश का था जिसकी राजधानी मदुरा में थी। जिस देश में पाण्ड्यों का राज्य था उसे मुसलमान इतिहासकारों ने माबर लिखा है। कुलशेखर प्रथम (१२६८-१३११ ई०), जो इस समय राजा था, बड़ा योग्य एवं प्रभावशाली था। उसके शासन-काल में विदेशों के साथ व्यापार उन्नत हुआ और राज्य की शक्ति भी बहुत बढ़ गई। पाँचवा राज्य चेर-वंश का था। चोल-वंश का पतन होने पर इसका अभ्युदय हुआ था। राजा रविवर्मन् के समय में चेर-राज्य का प्रभाव बढ़ गया। उसने चोल और पाण्ड्य राजाओं को युद्ध में पराजित किया।

दक्षिण के इन शक्तिशाली राज्यों का अलाउद्दीन को कुछ भी भय न हुआ। सबसे पहले उसके ग़ुलाम सेनापति क़ाफ़ूर ने देवगिरि पर चढ़ाई की। राजा रामचन्द्र नें बहुत दिनों से दिल्ली कर नहीं भेजा था, इसलिए उसे यह सज़ा दी गई। राजा युद्ध में हार गया और उसका सारा देश उजाड़ दिया गया। उसने संधि की प्रार्थना की। काफ़ूर ने उसे दिल्ली भेज दिया और वहाँ उसके साथ शिष्टता का व्यवहार किया गया। सुलतान ने उसे 'राय रायान' की पदवी देकर अपने देश को लौटा दिया।

सन् १३०९ ई० मे काफ़ूर ने तेलंगाना के काकतीय राजा पर चढ़ाई की। प्रतापरुद्रदेव ने बहादुरी से मुसलमानों का सामना किया किन्तु उसकी हार हुई। उसने संधि की प्रार्थना की और काफ़ूर ने उसकी सारी सम्पत्ति लेकर उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। सन् १३१० ई० में काफ़ूर एक हज़ार, ख़ज़ाने से लदे हुए, ऊँटों के साथ दिल्ली वापस आया।

देवगिरि और वरंगल की विजय के बाद अलाउद्दीन का अभिमान कई गुना बढ़ गया। उसने १३१० ई० में काफ़ूर को हौयसल और पाण्डव राजाओं के विरुद्ध एक बड़ी सेना के साथ रवाना किया और देवगिरि और वरंगल के राजाओं ने भी उसकी मदद की। दिल्ली की सेना की शक्ति को देखकर राजा बल्लाल डर गया और उसने सन्धि की चर्चा की। काफ़ूर ने उसका सारा धन माँगा। राजा बल्लाल इसके लिए भी तैयार हो गया और अपनी सम्पत्ति देकर काफ़ूर से सन्धि कर ली। हौयसल राजा से निपट कर काफ़ूर पाण्डव देश की ओर बढ़ा। पाण्डव राजा का भाई उससे लड़कर दिल्ली-दर्बार में चला गया था।

यहीं काफ़ूर की चढ़ाई का बहाना हुआ। दोनों सेनाओं में युद्ध हुआ। राय की सेना हार गई। विजयी काफ़ूर पाण्ड्य राज्य को पराजित कर रामेश्वरम् तक पहुँच गया। वहाँ उसने प्राचीन मन्दिर की जगह एक मसजिद बनाई। दक्षिण से वह सन् १३११ ई० में लौटकर दिल्ली आया। चेर अथवा केरल राजा भी पराजित हुए और उन्होंने सुलतान का आधिपत्य स्वीकार कर लिया।

रामचन्द्र की मृत्यु के बाद उसके बेटे शंकरदेव ने दिल्ली कर भेजना बन्द कर दिया था। राजा शंकरदेव अपने बाप से अधिक पराक्रमी और स्वाभिमानी था। इस बार फिर काफ़ूर उसके विरुद्ध भेजा गया। युद्ध में सन् १३१२ ई० में शंकरदेव की मृत्यु हो गई। देवगिरि को मुसलमानी साम्राज्य में मिलाने के बाद सारा दक्षिणी भारत विजयी काफ़ूर की मुट्ठी में आ गया। अब अलाउद्दीन का साम्राज्य उत्तर में दिपालपुर और लौहौर से दक्षिण में मदुरा और द्वार-समुद्र तक, और पूर्व में बंगाल से पश्चिम में सिन्ध और गुजरात तक फैल गया।

दक्षिण के राज्यों के प्रति सुलतान की नीति—अलाउद्दीन दक्षिण के राज्यों को साम्राज्य में नहीं मिलाना चाहता था। उसकी इच्छा केवल उनके इकट्ठा किये हुए खज़ाने को ही लेने की थी। उसे एक विशाल सेना रखने तथा विद्रोहों का दमन करने के लिए धन की बड़ी आवश्यकता थी। इसका प्रमाण यह है कि सुलतान ने काफ़ूर को हिदायत कर रक्खी थी कि साम्राज्य के लिए इतना ही काफ़ी है कि पराजित राजा धन दें और उसका आधिपत्य स्वीकार करें। दक्षिणी राज्यों के साथ ऐसी ही नीति से काम लेना उपयुक्त भी था। अलाउद्दीन ने यह अच्छी तरह समझ लिया था कि दिल्ली में बैठकर ऐसे दूर देशों का शासन-प्रबन्ध करना असम्भव है।

शासन-प्रबन्ध—वीर सिपाही और कुशल सेनाध्यक्ष होने के अतिरिक्त अलाउद्दीन एक प्रतिभाशाली शासक भी था। षड्यन्त्र और राजद्रोह को अच्छी तरह दबाने के लिए उसने कठोर नियम जारी किये। राज्य की ओर से धार्मिक कामों के लिए वक़्फ़ की हुई यानी बेलगानी ज़मीन उसने ज़ब्त कर ली। दोआब में उसने पैदावार का ५० प्रति सैकड़ा ज़मीन पर कर लगाया और गाँव के नम्बरदारों से सख़्ती के साथ वसूली कर लेने के लिए उसने आमिलों (कलेक्टरों) को नियुक्त किया। इसके अतिरिक्त उसने मवेशियों पर चराई का कर लगाया। मकानों पर भी टैक्स लगाया गया। राज्य में बहुत से गुप्तचर अर्थात् जासूस थे जो सभी ज़रूरी घटनाओं और गुप्त बातों की ख़बर बादशाह को देते थे। राज्य की ओर से शराब पीने की सख़्त मनाही थी। सुलतान की आज्ञा से, शहर के बाहर, बदायूँ दर्वाज़े के क़रीब, एक बड़ा कुँआ खोदा गया था जिसमें शराब के क्रय-विक्रय करनेवाले सभी लोग पकड़े जाने पर फेंक दिये जाते थे। अमीरों को अपने घरों में जलसे करने की मनाही कर दी गई और

हुक्म दिया गया कि बिना सुलतान की अनुमति के वे लड़के-लड़कियों का विवाह न करें।

देश में विद्रोह को शान्त करने तथा मुग़लों के आक्रमण को रोकने के लिए अलाउद्दीन को एक बड़ी सेना रखने की आवश्यकता हुई। परन्तु खाद्य पदार्थ, वस्त्र आदि जीवन की बहुत ज़रूरी चीज़ों के अतिरिक्त कुछ शौक़ की चीज़ों का भी निर्ख कम किये बिना अलाउद्दीन के लिए भी एक बड़ी सेना का रखना कठिन था। इसलिए सुलतान ने बाज़ार की परिस्थिति को सँभालने के लिए कुछ नियम बनाकर सभी चीज़ों का भाव निश्चित कर दिया*।

ग़ुलामों और मवेशियों का दाम भी निश्चित कर दिया गया था। एक खूबसूरत ग़ुलाम बालक का दाम ३० तनका† तक और दूध देनेवाली गाय का २ या ३ तनका होता था। सुई, कंघी, जूते और प्याली जैसी छोटी-छोटी चीज़ों तक का दाम सुलतान ने निश्चित कर दिया था। दोआब की मालगुज़ारी पैदावार के रूप में वसूल की जाती थी और इस प्रकार बहुत-सा अनाज सरकारी ख़त्तियों में जमा हो जाता था। सुलतान ने यह देखने के लिए, कि व्यापारी लोग उसके नियत किये हुए भाव से कम पर तो चीज़ें नहीं तौलते, ईमानदार अफ़सर नियुक्त कर दिये थे। यदि भाव में ज़रा भी फ़र्क़ होता तो व्यापारी को कोड़े लगाये जाते थे और कभी-कभी तो कम तौलनेवाले के शरीर से उतना ही

---

* अलाउद्दीन के समकालीन इतिहास-लेखक ज़ियाउद्दीन बर्नी ने चीज़ों का भाव इस प्रकार दिया है—

गेहूँ	प्रतिमन	७½ जीतल
जौ	,,	५ ,,
धान	,,	५ ,,
उर्द	,,	५ ,,
चना	,,	५ ,,
मोंठ	,,	५ ,,
शक्कर	प्रतिसेर	१½ ,,
गुड़	,,	१⅓ ,,
घी	२½ सेर	१ ,,
तेल	३ सेर	१ ,,
नमक	२½ सेर	५ ,,

उस समय का मन आजकल के मन के १४ सेर के लगभग होता था और एक जीतल का मूल्य वर्तमान १½ पैसे से कुछ अधिक था।

† एक तनका मूल्य में आजकल के रुपये से कुछ अधिक होता था।

गोश्त काट लिया जाता था। सुलतान स्वयं कभी-कभी इस बात की जाँच करने निकलता था कि नियत भाव से कम पर तो चीजें नहीं बेची जा रही हैं। शहरों तथा देहातों के सभी व्यापारियों के नाम सरकार के दफ़्तर में दर्ज थे। उन्हें अपना नाम दर्ज कराते समय राज्य से इस बात का इक़रार करना पड़ता था कि वे निश्चित भाव पर ही चीज़ों बेचेंगे। हिन्दू मुसलमान में भेद नहीं किया जाता था। बदायूँ दर्वाज़े के समीपवाले मैदान का नाम 'सराय-अदल' रक्खा गया। वहीं पर सब सौदागर अपना-अपना सामान लेकर बेचने आया करते थे। मुलतानी व्यापारियों को व्यापार करने के लिए सरकारी खज़ाने से रुपया भी उधार दिया जाता था। बाज़ार के दीवान की आज्ञा लिये बिना कोई मनुष्य बहुमूल्य चीजें नहीं खरीद सकता था। खाने-पीने और दूसरी तरह की चीज़ों की क़ीमत सस्ती होने ही के कारण सुलतान की सेना में ५ लाख घुड़सवार हो गये थे। अपने सिपाहियों और अमीरों को धोखा देने से रोकने के लिए उसने घोड़े को दागने का नियम बनाया। अलाउद्दीन के बनाये हुए नियम अत्यंत कठोर थे। इनका अधिक काल तक चलना कठिन था। उसकी मृत्यु होते ही सब नियम ढीले पड़ गये और लोग फिर पुराने रास्ते पर चलने लगे।

राजत्व का आदर्श—अलाउद्दीन के राजत्व के आदर्श के सम्बन्ध में कुछ जानना ज़रूरी है। अलाउद्दीन के पहले सुलतान क़ुरान शरीफ़ और हदीस के नियमों पर चलते थे और राज्य के मामलों में धर्म के आचार्यों से परामर्श करते थे। बात असल में यह थी कि वह ऐसा युग था जिसमें धर्म के आगे राजनीति कोई चीज़ नहीं समझी जाती थी। बादशाहों को सलाह देनेवाले प्रायः मुल्ला-मौलवी लोग ही होते थे। वे उन्हें हमेशा इस्लामी क़ानून का अनुसरण करने का आदेश करते थे। परन्तु अलाउद्दीन ने एक नया सिद्धान्त निकाला। उसने मुल्लाओं का निर्देश स्वीकार करने से इनकार कर दिया और साफ़-साफ़ कह दिया कि उसकी समझ में राज्य के लिए जो बातें समयानुकूल और हित-कर होंगी उन्हें वह, किसी की सलाह लिये बिना, करेगा। इस प्रकार अलाउद्दीन के इस नये कार्य-क्रम ने राजनीति में एक विशेष परिवर्तन कर दिया। राज्य की नीति धर्म से भिन्न हो गई। अलाउद्दीन ने कठोर दण्ड ज़रूर दिये परन्तु धार्मिक कट्टरता इनका कारण न थी, राज्य का हित ही उसका प्रधान लक्ष्य रहता था।

अलाउद्दीन की मृत्यु—अधिक शराब पीने और अनियमित रूप से जीवन व्यतीत करने के कारण अलाउद्दीन का स्वास्थ्य बिगड़ गया और लाचार होकर उसे राज्य का काम-काज बन्द कर देना पड़ा। उसका पारिवारिक जीवन भी सुखमय न था। उसकी स्त्री और लड़के उसकी कुछ भी पर्वाह न करते थे। स्वामि-भक्त सेवकों ने भी अपनी शक्ति बढ़ाने के लिए षड्यन्त्र रचना, आरम्भ

कर दिया था। धीरे-धीरे सुलतान के कमज़ोर होते ही चारों ओर विद्रोह की आग भड़कने लगी। गुजरात, मेवाड़ और देवगिरि के राजाओं ने विद्रोह का झंडा खड़ा कर दिया। एक साथ ही इतनी कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाने के कारण सुलतान कुछ भी न कर सका। उसका स्वास्थ्य दिन पर दिन बिगड़ता गया। अन्त में २ जनवरी सन् १३१६ ई० को उसकी मृत्यु हो गई।

अलाउद्दीन का चरित्र—अलाउद्दीन मनमानी करनेवाला निरंकुश शासक था। वह अपने शत्रुओं पर ज़रा भी दया नहीं करता था और अपराधियों को अत्यंत कठोर दण्ड देता था। वह एक साहसी, वीर और पक्के इरादेवाला मनुष्य था। सेनाध्यक्षों में वह अग्रगण्य था। अपने बाहुबल से ही उसने ऐसे विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी जिसमें लगभग सारा देश शामिल था। उसने मुग़लों के आक्रमणों से देश की रक्षा की और शासन की ऐसी सुव्यवस्था की कि राज्य के कर्मचारी किसानों से एक कौड़ी भी अधिक नहीं ले सकते थे। परन्तु बाज़ार का प्रबन्ध करने और चीज़ों का निर्ख स्थिर करने में उसने अर्थ-शास्त्र के नियमों की ओर कुछ भी ध्यान न दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि सब नियम रद्द हो गये। यद्यपि अलाउद्दीन स्वयं पढ़ा-लिखा नहीं था परन्तु विद्वानों और साधुओं का आश्रयदाता था। वह उन्हें ज़मीन और वज़ीफ़े देता था। अपनी विजयों और शासन-प्रबन्ध के कारण अलाउद्दीन की गणना भारतीय इतिहास के महान् शासकों में होती है।

खिजलियों का पतन—अलाउद्दीन की मृत्यु होते ही निरंकुश शासन के दोष ज़ोरों से प्रकट होने लगे और चारों ओर अशान्ति फैल गई। ऐसे शासन में सदा यह देख गया है कि जब कोई योग्य एवं प्रतिभाशाली मनुष्य राज्य-प्रबन्ध करने के लिए नहीं रहता तो सब काम-काज अव्यवस्थित हो जाता है। अलाउद्दीन ने जिन अमीरों और सुलतानों को अपने बल और धाक से दबा लिया था, समय पाते ही वे फिर अपनी पहले की शक्ति प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करने लगे। हिन्दू राजा और ज़मींदार, जिनके कर बढ़ा दिये गये थे और जिनसे मन्त्री ने खूब रुपया वसूल किया था, इस कठोर शासन के अन्त की प्रतीक्षा कर रहे थे। राज्य के बड़े-बड़े पदाधिकारियों से लेकर गाँव के पटवारी और मुक़दमों तक के हृदय पर सुलतान के शासन का आतंक जमा हुआ था। उसके मरने पर उन्होंने बड़ी खुशियाँ मनाईं; क्योंकि उन्हें रिश्वतखोरी से रोकनेवाला अब कोई नहीं रहा। व्यापारियों को चीज़ों के भाव नियत हो जाने के कारण बड़ी हानि हुई थी। उन्हें भी अब बड़ा सन्तोष हुआ। अलाउद्दीन के बेटे निकम्मे थे। इतने बड़े साम्राज्य का शासन-प्रबन्ध करने की उनमें योग्यता ही नहीं थी। न तो उन्हें ठीक शिक्षा मिली थी और न राज-कार्य का ही उन्हें कुछ व्यावहारिक ज्ञान था। ऐसी दशा में साम्राज्य का पतन अवश्यम्भावी था।

मलिक काफ़ूर ने सुलतान के बड़े बेटे शाहज़ादा खिज्र खाँ को हटाकर शहाबुद्दीन उमर को, जो केवल पाँच-छः वर्ष का बालक था, गद्दी पर बिठा दिया। उसकी इच्छा राज्य का सारा अधिकार अपने हाथ में लेने की थी। परन्तु ३५ दिन के बाद वह मार डाला गया और अमीरों ने अलाउद्दीन के एक दूसरे बेटे मुबारक खाँ को गद्दी पर बिठाया। इस सुलतान ने मुस्तैदी के साथ शासन-कार्य आरम्भ किया। उसने सबसे पहले अपने बाप के बाजारी नियमों को रद्द कर दिया और क़ैदियों को छोड़ दिया। अलाउद्दीन ने जिन लोगों की जागीरें ज़ब्त कर ली थीं, उन्हें वे फिर से वापस दे दी गईं। दूर के सूबों में अमन-चैन स्थापित हो गया। सन् १३१८ ई० में देवगिरि का विद्रोही राजा हरपाल-देव पकड़ा गया और सुलतान की आज्ञा से जीते जी उसकी खाल खींची गई। परन्तु इस समय सुलतान हसन नाम के एक आदमी के प्रभाव में आ गया था। हसन गुजरात का रहनेवाला एक नीच जाति का हिन्दू था और मुसलमान हो गया था। सुलतान ने उसे खुसरो खाँ की उपाधि दी और राज्य का प्रधान मन्त्री नियुक्त किया।

मुबारक की प्रारम्भिक सफलताओं ने उसका आचरण चौपट कर दिया। वह बिल्कुल बेहयाई के साथ विलासिता में लिप्त हो गया। वह दिन-रात मस-ख़रों और नीच प्रकृति के दुराचारी चापलूसों से घिरा रहता था और राज्य के बड़े-बड़े अमीरों का अपमान करता था। दरबार की ऐसी उच्छृङ्खलता का शासन पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। हाकिम विद्रोही होने लगे। खुसरो ने भी राज्य को हड़प लेने का षड्यन्त्र रचा और अपने नीच कृत्य में वह सफल हुआ। एक दिन रात के समय अपने साथियों को लेकर वह महल में घुस गया और उसने सुलतान को क़त्ल कर डाला। उसके साथियों ने बेगमों की बेइज्ज़ती की, बच्चों को मार डाला और शाही खज़ाने को लूट लिया।

इस प्रकार खुसरो ने अपने स्वामी तथा उसके बच्चों की हत्या कर राज्य प्राप्त किया। सन् १३१६ ई० में उसने अपने को खलीफ़ा का 'दाहिना हाथ' घोषित किया और दो वर्ष बाद 'पृथ्वी और आकाश में खुदा का खलीफ़ा' की पदवी ग्रहण की। यह एक ऐसी विचित्र घटना थी जो दिल्ली-राज्य के इतिहास में पहले कभी नहीं हुई थी। यह नहीं कहा जा सकता कि खुसरो ने सनक में आकर अथवा अपने व्यक्तिगत दुराचारों को छिपाने के लिए धर्म का यह आडम्बर रचा था।

खुसरो नासिरुद्दीन के नाम से दिल्ली के सिंहासन पर बैठा और उसने अमीरों को दरबार में हाज़िर होने के लिए विवश किया। अमीरों ने उसकी आज्ञा का पालन किया। परन्तु फ़ख़रुद्दीन जूना, जो आगे चलकर इतिहास में सुलतान मुहम्मद तुग़लक के नाम से प्रसिद्ध हुआ, किसी तरह दिल्ली से निकलकर अपने

बाप ग़ाज़ी मलिक के पास दिपालपुर पहुँचा। वहाँ जाकर उसने सारा हाल कह सुनाया। ग़ाज़ी मलिक को दिल्ली की दुर्घटनाओं का हाल सुनकर बहुत दुःख हुआ। कई मुसलमान इतिहासकारों ने लिखा है कि खुसरो छिपा हुआ हिन्दू था और उसने मसजिदों में मूर्त्तियाँ स्थापित की थीं, परन्तु यह बात ग़लत है। ग़ाज़ी मलिक एक बड़ी सेना लेकर, खिलजी-वंश के साथ किये गये अत्याचारों और अपमानों का खुसरो से बदला लेने के लिए, दिल्ली की तरफ़ रवाना हुआ। खुसरो ने अपनी सेना एकत्र की और दोनों का 'इंदरपत' के मैदान में सामना हुआ। युद्ध में खुसरो की सेना पराजित हुई। खुसरो रणक्षेत्र से भागकर कहीं जा छिपा, परन्तु पकड़ा गया और उसका सिर काट लिया गया।

दिल्ली के हज़ार खम्भोंवाले महल में सभी अमीरों और सरदारों ने ग़ाज़ी मलिक का हार्दिक स्वागत किया परन्तु उसने राज्य लेने की विशेष इच्छा प्रकट नहीं की। सुलतान अलाउद्दीन के वंश में अब कोई नहीं रहा था, इसलिए सभी अमीरों ने एकमत होकर ग़ाज़ी मलिक को दिल्ली का बादशाह बनाया। ग़ाज़ी मलिक ने उनकी बात मान ली और शासन-भार अपने हाथ में ले लिया। इस घटना से यह बात सिद्ध होती है कि मुसलमान राज्याधिकार देते समय मनुष्य की योग्यता पर ध्यान देते थे। वे उसके कुल अथवा वंश की कुछ भी पर्वाह नहीं करते थे।

संक्षिप्त सन्वार विवरण

मुग़लों का भारत पर आक्रमण	१२९२ ई०
अलाउद्दीन की देवगिरि पर चढ़ाई	१२९४ "
जलालुद्दीन का क़त्ल और अलाउद्दीन का गद्दी पर बैठना ..	१२९६ "
गुजरात की विजय	१२९७ "
तुग़लक ख्वाजा की चढ़ाई	१२९८ "
रणथम्भौर का घेरा	१२९९ "
चित्तौर की विजय	१३०३ "
अलीबेग और ख्वाजा ताश का आक्रमण	१३०४ "
इक़बालमन्दा का आक्रमण	१३०७-०८ "
तेलङ्गना की विजय	१३०९ "
हौयसल और पाण्ड्य राजाओं की पराजय	१३१० "
शङ्करदेव की मृत्यु	१३१२ "
अलाउद्दीन की मृत्यु	१३१६ "
देवगिरि के हरपालदेव का क़ैद होना	१३१८ "

खुसरो द्वारा क़ुतुबुद्दीन मुबारक का क़त्ल १३२० ई०
ग़ाज़ी तुग़लक़ का सुलतान होना .. .. १३२० "

अध्याय १८

तुग़लक़-वंश

(१३२०—१४१२ ई०)

ग़यासुद्दीन तुग़लक़ (१३२०-२५ ई०)—ग़यासुद्दीन जिस समय दिल्ली का सुलतान हुआ, साम्राज्य बिलकुल छिन्न-भिन्न हो रहा था। शाही खज़ाना खाली था। राज्य की धाक जाती रही थी। नये सुलतान ने मुस्तैदी के साथ तुर्की अमीरों को अपनी ओर मिला लिया और राज्य में फिर शान्ति स्थापित की। वृद्ध फ़ीरोज़ भी खिलजी की भाँति धार्मिक किन्तु अमन-चैन का प्रेमी मुसलमान था। उसे सादगी पसन्द थी और प्रजा के हित का बड़ा ध्यान था। खुसरो ने लोगों को अपना साथी बनाने के लिए शाही खज़ाने का धन बाँट दिया। इस धन को वापस लेने का ग़यासुद्दीन ने प्रयत्न किया। बहुत से लोगों ने रुपया लौटा दिया। परन्तु शेख निज़ामुद्दीन औलिया नामक दिल्ली के एक प्रसिद्ध फ़क़ीर ने ऐसा करने से इनकार कर दिया जिससे सुलतान उससे अप्रसन्न हो गया। इसके अतिरिक्त निज़ामुद्दीन की चाल-ढाल उसे बिलकुल पसन्द न थी। उसने उसके सूफ़ी अनुयायियों का गाना बन्द करने की आज्ञा निकाली किन्तु शेख भी एक प्रभावशाली व्यक्ति था। इस सम्बन्ध में विचार करने के लिए धार्मिक पुरुषों की एक सभा हुई जिसमें सूफ़ी फ़क़ीरों का यह व्यवहार ग़ैरक़ानूनी नहीं ठहराया गया। लोगों का यह हाल देखकर सुलतान चुप हो गया।

क़ुतुबुद्दीन और खुसरो के समय का शासन-प्रबन्ध अत्यन्त शिथिल हो गया था। ग़यासुद्दीन ने दाग़ की प्रथा फिर जारी की और सेना का सङ्गठन किया। खेती की हालत सुधारने के लिए उसने भरसक प्रयत्न किया और अपने अफ़सरों को ताक़ीद की कि किसानों से अधिक कर न लिये जायँ। उसने पैदावार का आधा भाग राज्य का अंश निश्चित किया था, परन्तु उसकी मृत्यु के बाद इसमें कुछ कमी हो गई थी। ग़यासुद्दीन ने आज्ञा दी कि प्रजा पर पैदावार के दसवें या ग्यारहवें भाग से अधिक लगान न बढ़ाया जाय। लगान की सुव्यवस्था की

गई और ठेकेदारों की निरानी का भी उचित प्रबन्ध हुआ। हर साल बन्दोवस्त करने का रवाज बन्द किया गया। मुखियों और मुक़दमों की हालत सुधर गई वे आराम से रहने लगे। सूबेदारों को आज्ञा मिल गई कि वे अपने वेतन के अतिरिक्त थोड़ी सी आमदनी कर लें। परन्तु ऐसा न हो कि किसानों को किसी प्रकार की असुविधा हो।

देश में शान्ति स्थापित कर देने के बाद ग़यासुद्दीन ने तेलङ्गाना के काकतीय राजवंश की ओर ध्यान दिया। राजा ने दिल्ली-सुलतान को कर भेजना बन्द कर दिया था। सुलतान ने अपने बेटे जूना खाँ को एक बड़ी सेना के साथ वरङ्गल भेजा, परन्तु क़िला जीतने के पहले यह अफ़वाह फैल गई कि दिल्ली में सुलतान की मृत्य हो गई है। शाहज़ादा जूना तत्काल दक्षिण से चल दिया परन्तु दिल्ली पहुँचकर उसने देखा कि सुलतान जीवित हैं। जूना खाँ ने किसी तरह अपना अपराध सुलतान से क्षमा कराया और सन् १३२३ ई० में वह फिर तेलङ्गाना की ओर चल दिया। युद्ध में काकतीय राजा की हार हुई और क़िले पर मुसलमानों का अधिकार हो गया। राजा का कुटुम्ब तथा उसकी सारी सम्पत्ति मुसलमानों के हाथ लगी। वरङ्गल का नाम बदलकर सुलतानपुर रक्खा गया और शासन-प्रवन्ध के लिए मुसलमान अफ़सर नियुक्त किये गये। बङ्गाल में बलबनी-वंश के एक शाहज़ादा नासिरुद्दीन ने अपने भाई के विरुद्ध सुलतान से सहायता की प्रार्थना की। सन् १३२४ ई० में सुलतान बङ्गाल को रवाना हुआ। युद्ध में नासिरुद्दीन का भाई बहादुर पराजित हुआ और क़ैद किया गया। पश्चिमी बंगाल की राजगद्दी नासिरुद्दीन को मिल गई।

इधर राजधानी में सुलतान की अनुपस्थिति से लाभ उठाकर उनके विरोधी दल ने एक भीषण षड्यन्त्र की तैयारी की। शाहज़ादा जूना राजसिंहासन पर बैठने के लिए अधीर हो रहा था। शेख निज़ामुद्दीन औलिया उसका सहायक था। जिस समय सुलतान दिल्ली लौट रहा था, शाहज़ादा जूना ने दिल्ली से ६ मील की दूरी पर उसके स्वागत के लिए एक महल बनवाया। सुलतान आकर उस महल में ठहरा। कहा जाता है कि इस महल को इस तरह बनाया गया था कि जूना खाँ के संकेत करने पर सारी इमारत एकदम गिर पड़ी और सुलतान अपने एक दूसरे बेटे के साथ उसके नीचे दब कर मर गया। शेख औलिया की "हिनोज़ देहली दूरस्त" वाली भविष्य वाणी* सत्य सिद्ध हुई।

---

* निज़ामउद्दीन औलिया से अप्रसन्न होकर सुलतान ने बङ्गाल से ख़बर भेजी थी कि दिल्ली पहुँचने पर शेख को दण्ड दिया जायगा। कहा जाता है कि यह बात सुनकर निज़ामुद्दीन ने अपने शिष्यों के सामने कहा था—"हिनोज़ देहली दूरस्त"—अर्थात् "अभी दिल्ली दूर है"।

मुहम्मद तुग़लक़—(१३२५-५१ ई०)—अपने पिता ग़यासुद्दीन की मृत्यु के बाद शाहज़ादा जूना मुहम्मद तुग़लक़ के नाम से दिल्ली की गद्दी पर बैठा। दिल्ली के सुलतानों में वह सबसे अधिक विद्वान् और योग्य पुरुष था। उसकी स्मरण-शक्ति और बुद्धि अलौकिक थीं और मस्तिष्क बड़ा परिष्कृत था। अपने समय की कला तथा विज्ञान का वह ज्ञाता था और बड़ी आसानी तथा खूबी के साथ फ़ारसी भाषा बोल और लिख सकता था। उसकी मौलिकता, वक्तृत्वशक्ति और विद्वत्ता देखकर लोग दङ्ग रह जाते थे और उसे सृष्टि की एक अद्भुत चीज़ समझते थे। तर्कशास्त्र का वह बड़ा पण्डित था और उस विषय के प्रकाण्ड विद्वान् भी उससे शास्त्रार्थ करने का साहस नहीं करते थे।

वह अपने धर्म का पाबन्द था, परन्तु विधर्मियों पर अत्याचार नहीं करता था। वह मुल्लाओं और मौलवियों की राय की पर्वाह नहीं करता था और प्राचीन सिद्धान्तों और परिपाटियों को आँख बन्द करके नहीं मानता था। उसने हिन्दुओं के साथ धार्मिक अत्याचार नहीं किया और सती की प्रथा को रोकने का प्रयत्न किया। वह न्याय करने में किसी की रू-रियायत नहीं करता था और छोटे-बड़े सब के साथ एक-सा बर्ताव करता था। विदेशियों के प्रति वह बड़ा औदार्य्य दिखलाता था। राज्य से उन्हें बड़ी-बड़ी जागीरें और ओहदे मिलते थे। परन्तु इन गुणों से मुहम्मद को कुछ लाभ नहीं हुआ। उसमें ठीक निश्चय तक पहुँचने की शक्ति की कमी थी और वह यह भी नहीं जानता था कि किस समय क्या करना चाहिए। उसे क्रोध जल्दी आता था और ज़रा-सी देर में वह आपे से बाहर हो जाता था। वह चाहता था कि लोग उसके सुधारों को शीघ्र स्वीकार कर लें। जब उसकी आज्ञा के पालन में आनाकानी होती अथवा विलम्ब होता था तो वह निर्दय होकर कठोर से कठोर दण्ड देने के लिए तैयार हो जाता था।

विद्वान् होने के साथ ही साथ मुहम्मद एक वीर सिपाही और कुशल सेनापति भी था। सुदूर प्रान्तों में कई बार उसने युद्ध में महत्त्वपूर्ण विजय प्राप्त की थी। कई आधुनिक इतिहास-लेखकों ने उसे पागल और रक्त-पिपासु कहा है। परन्तु ऐसा कहने के लिए कोई प्रमाण नहीं है। अपने समकालीन लोगों को वह एक विचित्र आदमी मालूम होता था। उसमें भिन्न-भिन्न प्रकार के गुण तथा दोष मौजूद थे। वह कठोरहृदय होते हुए भी उदार था; अपने धर्म का पाबन्द होते हुए भी कट्टरता और पक्षपात से दूर रहता था और अभिमानी होते हुए भी उसका विनय प्रशंसनीय था।

साम्राज्य की सीमा—गद्दी पर बैठने के कुछ ही वर्ष बाद सम्पूर्ण उत्तरी भारत तथा दक्षिण मुहम्मद के अधिकार में आ गया। उसका साम्राज्य उत्तर में लाहौर और दिल्ली से दक्षिण में द्वार-समुद्र तक; तथा पूर्व में बङ्गाल से पश्चिम में सिन्ध तक विस्तृत था। सारा राज्य २३ सूबों में विभक्त था जिनमें

दिल्ली, गुजरात, लाहौर, तिरहुत, लखनौती, कन्नौज, देवगिरि तथा मावर अधिक प्रसिद्ध थे।

सुधारों की नवीन योजना—दोआवा में कर-वृद्धि—सन् १३२६ ई० में सिंहासनारूढ़ होते ही मुहम्मद ने दोआवे में कर बढ़ा दिया। वास्तव में दोआवा एक उपजाऊ प्रदेश था और उससे राज्य को अच्छी मालगुज़ारी मिलने की सम्भावना थी; किन्तु दुर्भाग्य-वश जिस समय मुहम्मद ने दोआवे के किसानों का लगान बढ़ाया उस समय वहाँ दुर्भिक्ष पड़ रहा था। किसान वेचारे लगान न दे सके और अफ़सरों के दुर्व्यवहार से बचने के लिए खेत छोड़कर भाग गये। इस पर मुहम्मद के क्रोध का ठिकाना न रहा। उसने किसानों के साथ बड़ी क्रूरता का व्यवहार किया और वरन (आधुनिक बुलन्दशहर) के आस-पास के ज़िलों के लोगों को महाकठोर दण्ड दिया। वास्तव में अकाल का समाचार मिलते ही सुलतान को कर में कमी कर देनी चाहिए थी परन्तु वह अपनी ज़िद पर अड़ा रहा। शीघ्र ही अफ़सरों की सख्ती तथा दुर्भिक्ष की भयंकरता के कारण प्रजा में हाहाकार मच गया और जब सुलतान ने इस दुर्दशा की ओर ध्यान दिया तब परिस्थिति क़ाबू के बाहर हो गई।

राजधानी का परिवर्तन—लगभग इसी समय (१३२६-२७ ई०) में सुलतान ने अपनी राजधानी दिल्ली से हटाकर देवगिरि ले जानी चाही। वास्तव में दिल्ली नगर, सुदूर उत्तर में होने के कारण, राजधानी के लिए उतना उपयुक्त न था। देवगिरि का शहर साम्राज्य के बीच में था। मुहम्मद ऐसी जगह चाहता था, जो साम्राज्य के भिन्न-भिन्न भागों से बराबर की दूरी पर हो। इसके अतिरिक्त वह समझता था कि दिल्ली से राजधानी हटाने में अब कोई भय की बात भी नहीं है। क्योंकि देश का उत्तरी भाग पूर्णतया अधीन हो चुका था और उत्तर-पश्चिम के कोने से मुग़लों के आक्रमण का भय भी कम हो गया था। सुलतान ने पुरुष, स्त्री, बच्चे सब को देवगिरि के लिए रवाना करा दिया। देवगिरि का नाम दौलताबाद रक्खा गया। रास्ते के कष्टों को दूर करने के लिए सुलतान ने यात्रियों की सुविधा का पूरा ध्यान रक्खा और उन्हें रुपया भी दिया। परन्तु लोगों ने उसे देश-निर्वासन ही समझा। परिणाम-स्वरूप इतना प्रयत्न करने पर भी सुलतान की योजना सफल न हुई। इस पर उसने फिर प्रजा को दिल्ली लौट जाने की आज्ञा दी। बहुत से लोग नैराश्य-ग्रसित होकर मर गये। सुलतान ने पुरानी राजधानी को एक बार फिर से आबाद करने की चेष्टा की, परन्तु वह उसे पूर्ववत् सम्पन्न बनाने में असफल ही रहा।

ताँबे का सिक्का—राजधानी हटाने से सुलतान को जो हानि हुई थी, उससे कई गुनी अधिक हानि ताँबे के सिक्के चलाने से हुई। दोआवा में कर-वृद्धि से पैदा हुई हानि तथा राजधानी के हटाने के व्यय और सबसे अधिक सुलतान की

उदारता के कारण शाही खजाने में से बहुत-सा रुपया निकल गया। परन्तु सुल्तान की महान् अभिलाषाएँ तो अभी पूर्ण ही नहीं हुई थीं। वह अपनी शक्ति की वृद्धि करके देशों को जीतने के लिए आतुर हो रहा था। खजाने की कमी को पूरा करने के अतिरिक्त ताँबे के सिक्के चलाने का एक दूसरा कारण भी था। अब तक दिल्ली-साम्राज्य में सोने और चाँदी के ही सिक्के चलते थे। अलाउद्दीन के शासन-काल में दक्षिण से दिल्ली में बहुत-सा सोना आने के कारण सोने-चाँदी के मूल्य में बहुत फ़र्क़ आ गया था। इसके अलावा संसार में चाँदी की कमी होने के कारण हिन्दुस्तान में भी चाँदी कम हो गई। सिक्कों की वृद्धि करने के लिए सुल्तान ने ताँबे के सिक्के चलाये और सोने-चाँदी के सिक्कों की तरह उन्हें स्वीकार करने की प्रजा को आज्ञा दी। इस नवीन योजना के कारण पहले तो प्रजा में बड़ी सनसनी फैली किन्तु टकसाल पर राज्य का सर्वाधिकार न होने के कारण घर-घर में सिक्के बनने लगे। लोगों ने सोने-चाँदी के सिक्कों को अपने घरों में छिपा लिया और राज्य का कर ताँबे के सिक्कों में देना आरम्भ कर दिया। फलतः व्यापार बन्द हो गया और राज्य को बड़ी हानि हुई। सुल्तान प्रजा को धोखा देना नहीं चाहता था। जब उसने अपनी योजना को विफल होते देखा तो ताँबे के सिक्कों का चलन बन्द कर दिया और हुक्म दिया कि जो चाहे ताँबे के सिक्कों के बदले में सोने-चाँदी के सिक्के बदल ले जाय। देश के कोने-कोने से हज़ारों लोग आकर ताँबे के घटिया सिक्कों के बदले में शाही खजाने से सोने-चाँदी के सिक्के ले गये। तुग़लक़ाबाद के पास ताँबे के सिक्कों का ढेर लग गया, सुल्तान को बड़ी निराशा हुई और प्रजा असन्तुष्ट हो गई।

शासन-प्रबन्ध—मुहम्मद स्वेच्छाचारी था, परन्तु उसकी चित्तवृत्ति उदार थी। शासन-प्रबन्ध के सम्बन्ध में वह धर्माधिकारियों को ज़रा भी हस्तक्षेप नहीं करने देता था और हिन्दुओं के प्रति उसका व्यवहार अन्य सुल्तानों की अपेक्षा अधिक निष्पक्ष और सौजन्य-पूर्ण था। वह बड़ा न्याय-प्रिय था। शासन के छोटे-बड़े सभी कामों की स्वयं देख-भाल करता था और फ़क़ीर तथा गृहस्थ सभी को न्याय की दृष्टि से समान समझता था। सुल्तान की आज्ञा से अदालतों में उसका भाई भी क़ाज़ी के साथ बैठता था और शक्तिशाली अमीरों को क़ानून तोड़ने पर कड़ा दण्ड दिलवाने का विधान करता था। देश में उच्च श्रेणी की योग्यता का अभाव होने के कारण सुल्तान विदेशियों को बड़े-बड़े ओहदे देता था। इसी कारण तुर्किस्तान, ईरान, खुरासान तथा एशिया के अन्य प्रदेशों से योग्य पुरुष उसके दरबार में आते और सम्मान पाते थे। उनके द्वारा राज्य को लाभ तो होता था। परन्तु साथ ही उनका महत्त्व बढ़ाने का एक घातक परिणाम भी था। प्रायः वे अपना प्रभाव बढ़ाने की चेष्टा करते थे और राज्य की सारी

शक्ति को अपने हाथ में रखना चाहते थे। उनके षड्यन्त्रों के कारण कभी-कभी साम्राज्यों में उपद्रव भी उठ खड़े होते थे।

शासन के अतिरिक्त राज्य का ध्यान और भी उपयोगी कार्यों की ओर रहता था। व्यापार और कारीगरी को यथेष्ट प्रोत्साहन मिलता था। राज्य की ओर से दस्तकारी का अलग विभाग स्थापित था। सरकारी कारखानों में राजवंश के लोगों और अमीरों की पोशाकें और सामान तैयार होते थे।

दुर्भिक्ष का प्रबन्ध—जैसा कि पहले कहा जा चुका है, मुहम्मद के गद्दी पर बैठने के कुछ ही समय बाद दोआबे में भयङ्कर अकाल पड़ा था। एक मुसलमान इतिहास-लेखक का कहना है कि उसके कुछ ही वर्ष बाद फिर एक भयङ्कर अकाल पड़ा जो सात वर्ष तक रहा। दिल्ली में एक सेर अनाज सोलह सत्रह जीतल का मिलने लगा। चारों ओर हाहाकार मच गया। कहते हैं कि क्षुधा-पीड़ित मनुष्य मनुष्य का मांस तथा चमड़ा उबालकर खा जाते थे। प्रजा की रक्षा के विचार से सुलतान अपना दर्बार दिल्ली से हटाकर फ़र्रुखाबाद ज़िले में 'सरगद्वारी' (स्वर्ग का फाटक) नामक स्थान को गया। वहाँ उसने अवध के ज़िलों से काफ़ी अनाज और चारा मँगवाया अकाल की भीषणता कम करने के लिए कुएँ खुदवाये गये और किसानों को तक़ावी बाँटी गई। 'सरगद्वारी' से दिल्ली लौट आने पर उसने कृषि-सुधार के लिए एक अफ़सर नियुक्त किया। किसानों को रुपया उधार दिया गया परन्तु सरकारी कर्मचारी ऐसे लालची निकले कि वे उसे आपस ही में बाँटकर खा गये। प्रजा का कष्ट बराबर जारी रहा और सहस्रों स्त्री-पुरुष भूखों मर गये।

विदेशीय नीति—मुहम्मद एक उत्साही सेना-नायक था। अपने राज्य के प्रारम्भिक काल में उसने खुरासान की विजय का विचार किया था और युद्ध के लिए एक बड़ी सेना संगठित करने में काफ़ी रुपया खर्च किया था। परन्तु कई अड़चनों के कारण वह खुरासान पर चढ़ाई न कर सका। हाँ, हिमालय प्रदेश के एक राजा के विरुद्ध उसने सेना भेजी थी और उसे दिल्ली का आधिपत्य स्वीकार करने के लिए विवश किया था। वास्तव में यह वही चढ़ाई थी, जिसे अनेक इतिहासकारों ने ग़लती से मुहम्मद की चीन की चढ़ाई लिखा है।

साम्राज्य में विद्रोह—अपनी योजनाओं के असफल होने के कारण मुहम्मद की धाक उठ गई थी। उधर दुर्भिक्ष पड़ जाने से किसानों से कर नहीं वसूल हुआ और सरकारी आय में कमी हो गई। सूबेदारों ने सुलतान की कठिनाइयों से लाभ उठाना आरम्भ कर दिया। सबसे पहले सन् १३३५ ई० और १३३७ ई० में माबर और बङ्गाल स्वतन्त्र हो गये। सन् १३३६ ई० में दक्षिण के हिन्दू सर्दारों ने विजयनगर का स्वाधीन राज्य स्थापित किया। सन् १३४०-४१ ई० में अवध के सूबेदार ऐनुल्मुल्क के साथ सुलतान ने ऐसा बर्ताव किया

कि उसे विद्रोह करना पड़ा। वह पराजित हुआ और अपने ओहदे से वञ्चित किया गया। इसके थोड़े दिन बाद सिन्ध में भी विद्रोह हुआ, परन्तु सुलतान ने उसे दबा दिया और शान्त स्थापित कर दी।

दक्षिण की दशा अधिक शोचनीय थी। विदेशीय अमीर, जो राज्य के कर्मचारी थे, सदा झगड़ा किया करते और दूसरे अमीरों को विद्रोह के लिए उकसाया करते थे। सन् १३४३ ई० में वरङ्गल में कृष्णनायक ने अपने देश को मुसलमानों से मुक्त करने के लिए हिन्दू राजाओं का एक संघ बनाया। कृष्णनायक अपने प्रयत्न में सफल हुआ और वरङ्गल, द्वार-समुद्र तथा कम्पिल दिल्ली-साम्राज्य से अलग हो गये। उधर विदेशीय अमीरों ने भी एका किया और दिल्ली-सुलतान के नियुक्त किये हुए अफ़सर को निकाल दिया और दौलताबाद पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया।

उन्होंने अपने एक नेता हसन काँगू को १३४७ ई० में राजा बनाया। उसने बहमनशाह की अपाधि धारण की और उसका राजवंश बहमनी के नाम से प्रसिद्ध हुआ। सुलतान इन अमीरों से निपटने के लिए आगे बढ़ा परन्तु गुजरात में विद्रोह हो जाने के कारण उसे तत्काल दौलताबाद से हट जाना पड़ा। जिस समय गुजरात के विद्रोहियों को खदेड़कर वह सिन्ध में उनका पीछा कर रहा था, ठट्ठा से कुछ मील की दूरी पर वह बीमार हो गया और वहीं सन् १३५१ ई० में मर गया।

असफलता के कारण—मुहम्मद को असाधारण कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। उसके क्रोधी और उतावले स्वभाव तथा विचित्र योजनाओं के कारणा प्रजा उससे अप्रसन्न हो गई। दुर्भिक्ष ने राज्य की सम्पूर्ण आय सोख ली जिससे सुधार-कार्य्य पूरा न हुआ। उधर सुलतान की निष्पक्षता और न्याय-प्रियता के कारण कट्टर मुल्ला लोग उससे मन ही मन जल रहे थे और उसका विरोध करते थे। मध्यभारत और गुजरात तथा दक्षिण में विदेशी अमीरों ने विद्रोह किया और सन् १३४७ ई० तक सारे साम्राज्य में बग़ावत की आग फैल गई। इस विरोध से सुलतान रुष्ट हो गया। अपराधियों के प्रति नर्मी की अपेक्षा उन्हें निर्दयतापूर्वक दण्ड देना ही उसकी दृष्टि में विद्रोह के भयङ्कर रोग का एकमात्र उपाय था। परन्तु यह ओषधि रोग से भी अधिक अनिष्टकारी सिद्ध हुई। अपनी स्थिति सँभालने के लिए मुहम्मद ने खलीफ़ा से फ़र्मान प्राप्त किया परन्तु तो भी साम्राज्य में शान्ति स्थापित न हो सकी।

इब्नबतूता—इब्नबतूता उत्तरी अफ़्रीका के तंजा नामक स्थान का रहने-वाला था। सन् १३३३ ई० में वह भारत आया और मुहम्मद तुग़लक के दर्बार में पहुँचा। सुलतान ने उसके साथ बड़ी शिष्टता का व्यवहार किया और उसे दिल्ली का क़ाज़ी नियुक्त किया। सन् १३४२ ई० तक वह भारत में रहा और अपने देश

में पहुँचने के बाद उसने अपनी यात्रा का विवरण लिखा। उसने मुहम्मद तुग़लक़ के शासन तथा प्रजा की दशा का अच्छा वर्णन किया है। यद्यपि उसके वर्णन में विद्रोहों और षड्यन्त्रों का ही हाल अधिक मिलता है। फिर भी वह पुस्तक बड़ी महत्त्वपूर्ण है। उसमें शासन-प्रबन्ध, राज-दर्बार तथा सामाजिक जीवन के सम्बन्ध में बहुत-सी बातें मिलती हैं। इब्नबतूता ने जो कुछ लिखा है उसका अधिकांश भाग सत्य और प्रामाणिक है।

फ़ीरोज़ का सिंहासनारोहण—फ़ीरोज़, तुग़लक़शाह के भाई सिपहसालार रजब का बेटा था। उसका जन्म सन् १३०९ ई० में हुआ था। मुहम्मद तुग़लक़ की उस पर बड़ी कृपा रहती थी। उसी के समय में उसने शासन का अनुभव प्राप्त किया था। मुहम्मद तुग़लक़ के कोई बेटा न था, इस कारण उसने अपने चचेरे भाई फ़ीरोज़ को ही अपना उत्तराधिकारी बनाया था। परन्तु फ़ीरोज़ एक धार्मिक वृत्ति का मनुष्य था। वह साम्राज्य के शासन का भार उठाने के लिए तैयार न था। परन्तु अमीरों के बहुत समझाने-बुझाने पर उसने मुहम्मद की वसीयत स्वीकार की। राजगद्दी से उसे वंचित रखने के लिए दो षड्यन्त्र रचे गये, परन्तु वे असफल रहे और फ़ीरोज़ का राज्याभिषेक हो गया। अपने ३८ वर्ष के शासन-काल में फ़ीरोज़ ने साम्राज्य के विस्तार को बढ़ाने का कोई प्रयत्न नहीं किया, परन्तु उसने प्रजा के हित के लिए शासन-प्रबन्ध में कुछ आवश्यक सुधार किये।

राजनीतिक आदर्श में परिवर्तन—अलाउद्दीन और मुहम्मद तुग़लक़ दोनों शक्तिशाली सुलतान थे। वे केवल राज्य के हित का ध्यान रखते थे और मुल्ला-मौलवियों की कुछ भी पर्वाह नहीं करते थे। परन्तु फ़ीरोज़ एक दूसरी तरह का मनुष्य था। वह स्वयं ही कहा करता था कि मुझे सुलतान के पद की अपेक्षा दरवेश का जीवन अच्छा मालूम होता है। वह अक्षरशः क़ुरान का अनुसरण करता था और मौलवियों तथा मुफ्तियों की बात मानता था। वह पक्का सुन्नी था और शियाओं तथा प्रजा के बहकानेवाले फ़िर्क़ों के मुसलमानों का दमन करता था। कभी-कभी वह युद्ध में अपनी विजय निश्चित समझकर भी मुसलमानों का खून बहाने से डरता था और पीछे हट जाता था। यह नीति अन्त में साम्राज्य के लिए अनिष्टकारी सिद्ध हुई।

फ़ीरोज़ का चरित्र—फ़ीरोज़ एक दयालु तथा उदार शासक था, जिसने प्रजा के लिए अनेक हितकर कार्य किये। परन्तु अलाउद्दीन अथवा मुहम्मद की तरह न तो यह वीर ही था और न हौसलामन्द। वह कमज़ोर तबीअत का आदमी था, इसी लिए उसके बहुत से काम असफल होते थे। उसने महलों की सजावट को बन्द किया और सोने-चाँदी के बर्तनों के स्थान में मिट्टी के बर्तनों का उपयोग किया। बिना क़ुरान का फ़ाल लिये वह कोई काम नहीं करता

था। दरवेशों का वह सत्कार करता था। जब किसी दरवेश या फ़क़ीर के आने का समाचार पाता तो वह उससे मिलने जाता था। शिकार में उसकी बड़ी रुचि थी। कभी-कभी वह बदायूँ के जङ्गल में शिकार खेलने जाता था। उसे प्रजा के साथ बड़ी सहानुभूति थी। वह सदैव उसके हित का ध्यान रखता था। वह दानशील था और दीन, धन-हीन लोगों की मदद करता था। वह स्वयं ईश्वर-भक्त था और दूसरों को भी ईश्वर की आराधना करने का आदेश करता था।

विदेशी नीति—सुलतान फ़ीरोज़ वीर योद्धा नहीं था। उसने न तो देश जीते और न साम्राज्य का विस्तार ही बढ़ाया। साम्राज्य बढ़ाने की तो बात दूर रही, उसने खोये हुए सूबों तक को फिर से लेने का उद्योग नहीं किया। उसने दो बार बङ्गाल पर चढ़ाई की परन्तु कुछ नतीजा न निकला। सन् १३५३ ई० में उसने हाजी इलियास के विरुद्ध सेना भेजी और इकदला के क़िले पर आक्रमण किया, परन्तु स्त्रियों के रोने, चिल्लाने का सुलतान के कोमल हृदय पर इतना प्रभाव पड़ा कि सरदारों के लाख मना करने पर भी वह लड़ाई बन्द कर दिल्ली वापस चला गया। सन् १३५९-६० ई० में उसने एक बार फिर बङ्गाल पर चढ़ाई की, परन्तु अपनी कमज़ोरी के कारण उसे कोई सफलता प्राप्त न हुई। लौटने के समय उड़ीसा के राजा और कई अन्य सरदारों ने सुलतान की अधीनता स्वीकार कर ली।

सन् १३६० ई० में फ़ीरोज़ ने नगरकोट के राय पर आक्रमण किया। छः महीने के घेरे के बाद राय पराजित हुआ। इस चढ़ाई में सुलतान को कई अमूल्य पुस्तकें प्राप्त हुईं, जिनमें ज्योतिष का एक ग्रंथ था। इस ग्रन्थ का बाद में सुलतान ने फ़ारसी में अनुवाद कराया।

सन् १३६२-६३ ई० में ठट्टा (सिंध) पर चढ़ाई हुई। इस युद्ध से सिद्ध हो गया कि सुलतान के सेनाध्यक्षों में न सैनिक योग्यता थी और न उन्हें भौगोलिक ज्ञान था। रास्ता भूलकर छः महीनों तक सुलतान कच्छा के दलदल में भटकता फिरा। यदि उसका प्रधान मन्त्री दिल्ली में शासन-कार्य का समुचित प्रबन्ध न करता और रसद तथा सेना न भेजता तो सुलतान को बड़ी भयङ्कर परिस्थिति का सामना करना पड़ता। परन्तु सौभाग्य से उसे अधिक अड़चन नहीं उठानी पड़ी। सिन्ध पर फिर हमला हुआ और वहाँ का राजा, पराजित होकर, दिल्ली चला आया और सुलतान ने उसकी पेन्शन नियत कर दी।

फ़ीरोज़ का शासन-प्रबन्ध—गद्दी पर बैठते ही फ़ीरोज़ को तीन कठिन समस्याओं का सामना करना पड़ा—(१) इस्लामी क़ानून के अनुसार राज्य-प्रबन्ध, (२) राज्य की आय की वृद्धि, (३) प्रजा का कल्याण।

फ़ीरोज़ को सिंहासन पाने में अमीरों से अधिक सहायता मिली थी, इसलिए उसने उन्हें जागीरें प्रदान कीं जिससे अलाउद्दीन द्वारा बन्द की हुई जागीर-प्रथा

का फिर से प्रचार हुआ। उसने सब अनुचित कर बन्द कर दिये और केवल चार कर रक्खे। किसानों की सुविधा के लिए उसने सतलज और यमुना नदियों में से चार नहरें खुदवाईं और दस फ़ीसदी आबपाशी का कर लिया। बहुत सी बञ्जर ज़मीन आबाद की गई जिससे राज्य की आय में वृद्धि हुई। सरकारी अफ़सरों को हुक्म हुआ कि प्रजा से एक पैसा भी अधिक न लें। किसान सुखी हो गये और कृषि की उन्नति हुई।

प्रजा के हित का सुलतान को बराबर ध्यान रहता था। उसने कठोर शारीरिक यातनाओं को बन्द कर दिया और क़ानून की कठोरता को कम कर दिया। पिछले शासन में जिन लोगों की हानि हुई थी उनको उसने आर्थिक सहायता दी। उसने विद्वानों और फ़क़ीरों को वज़ीफ़े दिये, मदरसे बनवाये और बेकार लोगों को रोज़गार दिये। ग़रीब मुसलमानों की लड़कियों के विवाह कराने के लिए उसने एक अलग दफ्तर क़ायम किया, जिसका नाम दीवान खैरात था। दिल्ली में उसने एक औषधालय भी खुलवाया था जहाँ दीन-दुखियों को ओषधि और भोजन मुफ्त दिये जाते थे।

फ़ीरोज़ को इमारत बनाने का भी बड़ा शौक़ था। उसने अनेक प्राचीन इमारतों की मरम्मत कराई और अनेक नवीन इमारतों का भी निर्माण कराया। उसने १२०० बाग़ लगवाये, अनेक महल और यात्रियों के आराम के लिए कितने ही तालाब खुदवाये। फ़तहाबाद, फ़ीरोज़ाबाद और जौनपुर नगर उसने बसाये और आबाद किये।

पिछले काल के तुग़लक़ सुलतान और तैमूर का आक्रमण—सन् १३८८ ई० में फ़ीरोज़ तुग़लक़ के मरते ही अशान्ति फैल गई। गद्दी के लिए कई शाहज़ादों में युद्ध आरम्भ हो गया। ऐसे अवसर पर राज-दरबार के अमीरों की बन आई। बादशाह बनाना या उसे गद्दी से उतारना उन्हीं के हाथ का खेल हो गया। तुग़लक़-वंश का अन्तिम शासक महमूद तुग़लक़ अयोग्य और शक्तिहीन था। अमीरों की दलबन्दी को तोड़ने या विद्रोही हिन्दू राजाओं और प्रान्तीय सूबेदारों को दबाने में वह असमर्थ हुआ। इसी गड़बड़ी के समय तैमूरलङ्ग ने भारतवर्ष पर आक्रमण किया और तुग़लक़-वंश की रही-सही प्रतिष्ठा का नाश कर दिया।

तैमूर बरलास वंश का तुर्की योद्धा था। वह एक महान् विजेता था, जिसने क़रीब-क़रीब समस्त पश्चिमी एशिया को जीतकर एक विस्तीर्ण साम्राज्य स्थापित किया था। एक बड़ी सेना लेकर वह समरक़न्द से चला और सितम्बर सन् १३९८ ई० में सिन्धु नदी के तट पर आकर उसने घेरा डाल दिया। मुलतान को जीतकर उसने भटनेर पर चढ़ाई की और उसे भी जीत लिया। इस संग्राम में हिन्दुओं की बड़ी हानि हुई। भटनेर से चलकर तैमूर रास्ते के प्रदेशों को उजाड़ता हुआ दिल्ली पहुँचा। ४० हज़ार पैदल, १० हज़ार सवार और १२०

तैमूर के आक्रमण के समय का भारत
काबुल
पेशावर
जम्मू
लाहौर
मुलतान
दिपालपुर
भटनेर
समाना
दिल्ली
हरद्वार
बदायूँ
आगरा
अयोध्या
कालपी
प्रयाग
गौड़
बंगाल
गिरनार
गोंडवाना
चौल
वारंगल
बीदर
गोलकुंडा
गुलबर्गा
विजयनगर
विजयनगर राज्य
अरब सागर
बंगाल की खाड़ी
तैमूर के आक्रमण का मार्ग
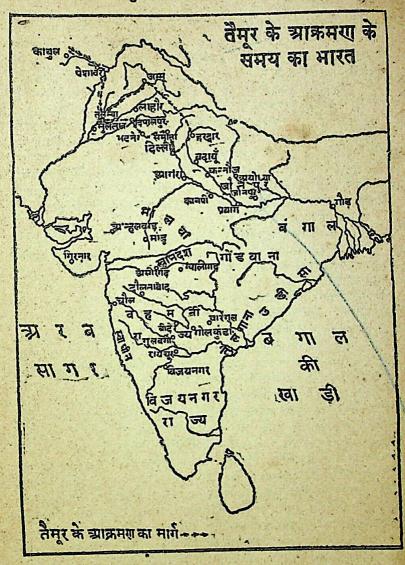
हाथियों की एक विशाल सेना ने यहाँ उसका सामना किया, परन्तु तैमूर के तुर्कों ने उसे हरा दिया। सुलतान महमूद तुग़लक़ भयभीत होकर गुजरात की ओर भाग गया।

विजयी तैमूर ने नगर में प्रवेश कर एक दरबार किया, जिसमें दिल्ली के प्रतिष्ठित पुरुष उपस्थित थे। नगर के दरवेशों ने उससे प्रार्थना की कि लोगों को प्राण-दण्ड न दिया जाय। उनकी प्रार्थना स्वीकार हुई, परन्तु उसके सैनिकों ने खूब लूट-मार की और शहर के लोगों को क़त्ल किया। दिल्ली के भव्य भवनों को देखकर तैमूर दङ्ग रह गया और अपने साथ अनेक भारतीय कारीगरों को ले गया जिन्होंने समरक़न्द में उसकी प्रसिद्ध मसजिद बनाई।

लौटते समय तैमूर ने मेरठ पर चढ़ाई की और हरिद्वार के आस-पास के हिन्दुओं को पराजित किया। वहाँ से वह अपने देश को लौट गया। किसी आक्रमण में भारतवर्ष को धन, जीवन और सम्पत्ति की इतनी क्षति पहले कभी नहीं उठानी पड़ी थी।

तैमूर के आक्रमण का भयङ्कर परिणाम हुआ, देश में चारों ओर गड़बड़ी फैल गई। दिल्ली नष्ट हो गई। तुर्कों ने सुन्दर भवनों और महलों को उजाड़ दिया। दुर्भिक्ष और महामारी के प्रकोप से लोगों को घोर कष्ट हुआ और सहस्रों काल के ग्रास हुए।

साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया और प्रान्तों के हाकिम स्वाधीन होने लगे। महमूद तुग़लक़ ने फिर अपनी शक्ति को सँभालने का प्रयत्न किया परन्तु वह कुछ भी न कर सका। तैमूर के प्रतिनिधि पञ्जाब के सूबेदार खिज्र खाँ ने उसका सामना किया और उसे आगे बढ़ने से रोका। अभागा महमूद २० वर्ष के असफल शासन के बाद कैथल में, सन् १४१२ ई० में, मर गया और उसकी मृत्यु के साथ ही तुग़लक़-वंश की राज्य-श्री सदा के लिए विदा हो गई।

तुग़लक़-वंश के पतन का कारण—यद्यपि तुग़लक़-वंश में कई योग्य और प्रतिभाशाली शासक हुए परन्तु वे स्थायी साम्राज्य न बना सके। इसके कई कारण हैं। मुहम्मद तुग़लक़ की नीति से देश में अशान्ति फैल गई थी और राज-विद्रोह होने लगा था। साथ ही दुर्भिक्ष और दैवी-प्रकोप से प्रजा को अधिक दुःख हुआ। विदेशी अमीरों ने भी राज्य को बड़ी हानि पहुँचाई। उन्होंने साम्राज्य के हित का कुछ भी खयाल नहीं किया और बराबर अपने षड्यन्त्र जारी रक्खे। फ़ीरोज़ उदार और दयालु शासक अवश्य था, परन्तु वह इरादे का पक्का न था और मुल्ला-मौलवियों की सलाह से काम करता था। यही कारण है कि उसके सुधार अधिक लाभ-प्रद सिद्ध न हो सके। शासन-सूत्र ढीले पड़ गये। साम्राज्य का रोब-दाब जाता रहा। जिस साम्राज्य की धाक दिल्ली से मदुरा तक जमी हुई थी, उसकी अब दोआबे में भी कोई अधिक पर्वाह नहीं करता था। सुलतान

का लोगों के हृदय में ज़रा भी डर न था। राज्य के वड़े-वड़े अफ़सर परस्पर लड़ते थे और मनमानी करते थे। ग़ुलामों की संख्या १,८०,००० हो गई थी। इनका एक अलग दफ्तर था, जिस पर बहुत सा रुपया व्यय किया जाता था। ग़ुलामों को वड़े-वड़े ओहदे दिये जाते थे जिसके कारण अमीरों तथा अन्य कर्मचारियो में असन्तोष फैल गया था।

फ़ीरोज़ के वाद के सुलतान बिलकुल ही अशक्त थे। वे दरवारी अमीरों की दलवन्दी को न रोक सके। केन्द्रिक शासन के दुर्बल होते ही सूबेदारों ने अपने स्वाधीन राज्य स्थापित कर लिये और दिल्ली से सम्बन्ध तोड़ दिया। इन कारणों के अतिरिक्त, तुग़लक़-वंश के नाश के कुछ अन्य आभ्यंतरिक कारण भी थे। सन् १३२७ ई० में तुग़लक़-साम्राज्य दिल्ली से दक्षिण में द्वार-समुद्र तक और ठट्टा से पूर्व में गौड़ तक विस्तृत था। इतने विस्तीर्ण साम्राज्य के प्रान्तों की दूरी और एक स्थान से दूसरे स्थान को आने-जाने की कठिनाइयों के कारण सूबेदारों को स्वाधीन होने में आसानी होती थी और वे साम्राज्य से अलग हो जाते थे।

इसके अतिरिक्त हिन्दू राजा अपनी पराजय को भूल नहीं गये थे और अशान्ति से लाभ उठाना चाहते थे। साम्राज्य के प्रति उनकी कुछ भी श्रद्धा अथवा भक्ति नहीं थीं। वे उसकी अवनति देखकर प्रसन्न होते थे और उसके नष्ट होने की बाट देखते रहते थे। सीमान्त-प्रदेश की चौकसी तो अलाउद्दीन के समय से ही वन्द थी। तुग़लक़ों का शायद यह विश्वास था कि पश्चिम के देशों से कोई खतरा नहीं बाक़ी रहा है। इसलिए न तो उन्होंने सीमा की रक्षा की ओर कुछ भी ध्यान दिया और न विदेशियों को देश में आने से रोका ही।

राज्य के अनेक कर्मचारियों में कोई भी ऐसा न था जो पश्चिमी एशिया के देशों की हालत से भली भाँति परिचित हो। इसका नतीजा यह हुआ कि जब तैमूर ने देश पर आक्रमण किया तो कोई उसे रोक न सका। इस काल में देश का शासन प्रवंध सुलतान की व्यक्तिगत योग्यता पर ब ुत कुछ निर्भर था। उसकी शक्ति क्षीण होने पर राज-वंश का पतन अवश्यम्भावी था। कोई शक्ति-हीन सुलतान लड़ने-भिड़नेवाले विद्रोही राजाओं और सरदारों के बीच में नहीं ठहर सकता था। इसके अतिरिक्त एक कारण यह था कि साम्राज्य का रूप वास्तव में फ़ौजी था। विना सैनिक शक्ति के, इसका स्थायी होना सर्वथा असम्भव था।

संक्षिप्त सनूवार विवरण

फ़ीरोज़ तुग़लक़ का जन्म	१३०९ ई०
तेलङ्गाना की विजय	१३२३ ”

ग़यासुद्दीन तुग़लक़ की मृत्यु	.. ..	१३२५ ई०
राजधानी का दौलताबाद को बदलना	.. ..	१३२६-२७ "
तांबे के सिक्कों का चलन	.. ..	१३३० "
इब्नबतूता का भारत में आना	.. ..	१३३३ "
मावर की स्वाधीनता	.. ..	१३३५ "
विजयनगर की स्थापना	.. ..	१३३६ "
बङ्गाल की स्वाधीनता	.. ..	१३३७ "
कृष्णनायक का विद्रोह	.. ..	१३४३ "
बहमनी राज्य की स्थापना	.. ..	१३४३ "
मुहम्मद तुग़लक़ की मृत्यु	.. ..	१३५१ "
फ़ीरोज़ की बङ्गाल पर पहली चढ़ाई	.. ..	१३५३ "
बङ्गाल की दूसरी चढ़ाई	.. ..	१३५९-६० "
नगरकोट की विजय	.. ..	१३६० "
ठट्टा की चढ़ाई	.. ..	१३६२-६३ "
फ़ीरोज़ की मृत्यु	.. ..	१३८८ "
तैमूर का आक्रमण	.. ..	१३९८ "
मुहम्मद तुग़लक़ की मृत्यु और तुग़लक़-वंश का अवसान	..	१४१२ "

अध्याय १६

प्रान्तीय राज्य

एकता का विनाश—तुग़लक़-साम्राज्य के पतन के बाद भारतवर्ष अनेक स्वाधीन राज्यों में विभाजित हो गया, जिनमें से कई यथार्थतः बहुत विस्तृत और शक्ति-सम्पन्न थे। साम्राज्य के इस तरह छिन्न-भिन्न हो जाने के कारण देश की एक-सूत्रता का विनाश तो अवश्य हो गया, परन्तु अशान्ति और विप्लव नहीं फैलने पाये। इसका प्रधान कारण यह था कि इन नवीन राज्यों का शासन-प्रबन्ध समुचित तथा सुव्यवस्थित था। इन राज्यों से प्रान्तीयता की प्रवृत्ति अवश्य फैली जिससे उनमें परस्पर स्पर्धा और असहिष्णुता का भाव बढ़ गया और लड़ाई-झगड़े अनिवार्य हो गये। प्रत्येक राज्य अपनी उन्नति का अलग मार्ग निश्चित

करता था। इन प्रान्तीय राज्यों में बङ्गाल, जौनपुर, मालवा, राजपूताना के राज्य और दक्षिण में बहमनी तथा विजय-नगर के राज्य अत्यन्त प्रसिद्ध थे।

बङ्गाल—सुलतान मुहम्मद तुग़लक़ के समय में बङ्गाल के स्वाधीन राज्य की स्थापना हुई। फ़ीरोज़ ने बङ्गाल को दिल्ली-साम्राज्य में पुनः मिला लेने का भरसक प्रयत्न किया था परन्तु उसके नम्र तथा अदूरदर्शी स्वभाव के कारण विजय से कोई लाभ न हुआ और बङ्गाल फिर भी स्वाधीन ही बना रहा। सन् १४९३ ई० में बङ्गाल में हुसैनशाह राज्य करता था, जिससे हुसैनी राजवंश की स्थापना हुई। हुसैनशाह एक योग्य और प्रतिभाशाली शासक था, उसके समय में देश में पूर्ण शान्ति स्थापित थी। उसकी मृत्यु के बाद उसका बेटा नुसरतशाह (१५१८-३० ई०) गद्दी पर बैठा। नुसरतशाह ने तिरहुत को जीतकर अपने राज्य में मिलाया और दिल्ली के मुग़ल बादशाह बाबर से मैत्री का व्यवहार रक्खा। किन्तु नुसरतशाह के पश्चात् हुसैनी राजवंश के दुर्दिन आ गये और उसे अशक्त पाकर शेरशाह सूरी ने बङ्गाल और बिहार पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। अफ़ग़ानों ने कुछ दिन बङ्गाल को अपने अधिकार में रक्खा। किन्तु अकबर ने सन् १५७६ ई० में उन्हें वहाँ से निकाल बाहर किया और बङ्गाल को मुग़ल-साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया।

बङ्गाल के सुलतान कला और विद्या के बड़े प्रेमी तथा संरक्षक थे। उन्होंने अनेकानेक उत्कृष्ट मसजिदें बनवाईं और दान की अनेक संस्थाएं स्थापित कीं। गौड़ नगर में भव्य भवन उन्हीं की कीर्ति के स्मारक हैं। वहाँ की प्रसिद्ध इमारतों में हुसैनशाह का मक़बरा और क़दम-रसूल सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं। इनकी बनावट की विशेषता यह है कि इनमें अधिकाधिक ईंट का ही प्रयोग किया गया है। अदीना की मसजिद भी बनावट और सौन्दर्य में अद्वितीय है। साहित्य को भी इन सुलतानों ने बड़ा प्रोत्साहन दिया था। रामायण और महाभारत का बँगला अनुवाद इन्हीं के संरक्षण में हुआ था। मालाधार वसु ने श्रीमद्भागवत का बँगला में अनुवाद किया और वह भी बङ्गाल के तत्कालीन सुलतान की सहायता से हुआ था। मैथिली के महान् कवि विद्यापति ने भी नुसरतशाह की प्रशंसा में कुछ पद लिखे हैं।

जौनपुर—मलिक सरवर ख्वाजाजहाँ ने, जिसे महमूद तुग़लक़ ने सन् १३९४ ई० में कन्नौज से बिहार तक के विस्तृत देश का सूबेदार नियुक्त किया था, जौनपुर-राज्य की स्थापना की। सुलतान की ओर से उसे मलिक-उस्-शर्क़ (पूर्व के सरदार) की उपाधि मिली, जिसके कारण यह नवीन राजवंश शर्क़ी (पूर्वी) नाम से प्रसिद्ध हुआ। वास्तव में तैमूर के आक्रमण के बाद जो अराजकता फैली, उसके कारण मलिक सरवर को जौनपुर राजधानी बनाकर अपने को उस प्रदेश का स्वतन्त्र मालिक घोषित करने में बड़ी आसानी हुई। इस राजवंश का सबसे

प्रतिभाशाली शासक इब्राहीमशाह शर्क़ी था। वह सन् १४०२ ई० में गद्दी पर बैठा था। इब्राहीमशाह विद्या-व्यसनी तथा बुद्धिमान् पुरुष था। वह कला और विद्या का अनन्य प्रेमी था। उसने मालवा और दिल्ली के शासकों से संग्राम किया और सुलतान मुबारकशाह को सन्धि करने पर विवश किया। इस वंश का अन्तिम शासक हुसेनशाह हुआ। हुसेनशाह सुलतान बहलोल लोदी द्वारा युद्ध में पराजित हुआ और इसके बाद जौनपुर का राज्य दिल्ली-साम्राज्य में मिला लिया गया।

शर्क़ी सुलतान विद्या के बड़े प्रेमी थे। तैमूर के आक्रमण के समय दिल्ली से भागे हुए विद्वान् पुरुषों को इन्होंने जौनपुर में आश्रय दिया और उन्हें सम्मान के साथ रक्खा, जिससे जौनपुर उस काल में विद्या का एक प्रधान केन्द्र हो गया और लोग उसे पूर्व का शीराज़ कहने लगे। शर्क़ी सुलतानों को भी इमारत बनाने का बड़ा शौक़ था। उनकी बनाई हुई इमारतों में अटाला मसजिद, लाल-दर्वाज़ा मसजिद और जाम मसजिद अब भी विद्यमान हैं जो अपने सौंदर्य और बनावट के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। हाँ, शर्क़ी सुलतानों के राज-महल अब मौजूद नहीं हैं क्योंकि दिल्ली के लोदी सुलतानों ने उनको नष्ट कर डाला था। फिर भी जो कुछ अभी बचा है वह उनकी कीर्त्ति को बहुत समय तक अक्षुण्ण रखने में समर्थ है।

मालवा—तैमूर के आक्रमण के बाद की अशान्ति के समय में ही मालवा के स्वतन्त्र राज्य की भी स्थापना हुई। इसका संस्थापक था दिलावर ख़ाँ ग़ोरी, जो अपने को मुहम्मद ग़ोरी का वंशज कहता था और जिसे फ़ीरोज़ तुग़लक़ ने धार की जागीर दी थी। सन् १४०१ ई० में उसने मालवा पर अधिकार जमा-कर एक स्वाधीन राज्य स्थापित किया। दिलावरशाह की मृत्यु के बाद उसका बेटा हुशङ्गशाह (१४०५-३४ ई०) गद्दी पर बैठा। उसने उज्जैन के स्थान में माँडू को अपनी राजधानी बनाया और उसे अनेकानेक भवनों से सुशोभित किया। सन् १४३५ ई० में उसके मन्त्री महमूद खिलजी ने स्वयं गद्दी को छीनकर उस पर अपना अधिकार जमाया और दिलावर ख़ाँ के वंश का अन्त कर दिया। महमूद खिलजी अपनी वीरता और सिपहगरी के लिए सारे हिन्दुस्तान में प्रसिद्ध था। उसके शासन-काल में मालवा राज्य सम्पन्न तथा शक्तिशाली राज्य बन गया। सन् १५३१ ई० में महमूद द्वितीय को गुजरात के बादशाह बहादुरशाह ने युद्ध में पराजित किया और इसके बाद मालवा का राज्य गुजरात में मिला लिया गया। हुमायूँ द्वारा विजित होने के समय तक मालवा गुजरात राज्य का ही एक अङ्ग बना रहा।

मालवा के शासकों को भी इमारतें बनाने का बड़ा शौक़ था। उन्होंने अपनी राजधानी माँडू को अनेकानेक इमारतों से सुसज्जित किया था, जिनमें
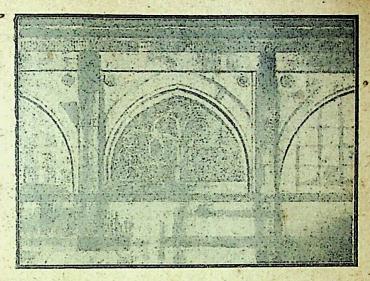
अहमदाबाद की मस्जिद में नक्काशी
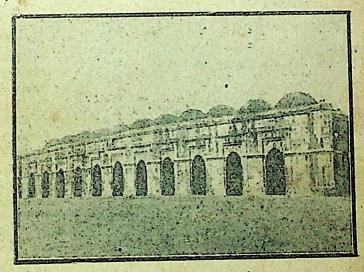
बड़ा सोना मस्जिद गौड़
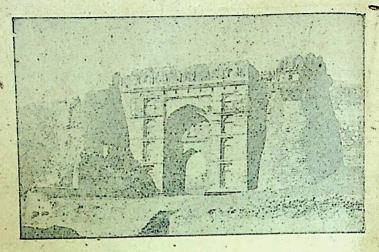
बीदर का किला

काउन्सिल चेम्बर विजयनगर

हुसेनशाह का मक़बरा, महमूदशाह की मसजिद, हिंडोला-महल और जहाज़-महल अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। ये इमारतें लाल पत्थर की बनी हुई हैं और बीच-बीच में सजावट के लिए इनमें सङ्गमरमर का भी खूब प्रयोग किया गया है।

गुजरात—सन् १४०१ ई० में ज़फ़रखाँ ने, जिसे दिल्ली-सुलतान ने गुजरात का सूबेदार नियुक्त किया था, गुजरात पर अपना अधिकार जमाकर एक स्वाधीन राज्य स्थापित किया। उसकी मृत्यु के बाद सन् १४११ ई० में उसका बेटा अहमदशाह गद्दी पर बैठा। अहमदशाह वीर, युद्ध-कुशल सेनानायक तथा योग्य शासक हुआ। वास्तव में गुजरात की स्वतन्त्रता इसी के हाथों सुदृढ़ हुई। इसने साबरमती नदी के तट पर अहमदाबाद नगर बसाया और उसे अनेकानेक इमारतों से सुशोभित किया। सन् १४२१ ई० में उसने मालवा के सुलतान को पराजित किया किन्तु ख़िराज देने का वादा करने पर उसे छोड़ दिया। अहमदशाह एक पक्का मुसलमान था। उसने हिन्दुओं के साथ युद्ध किया, उसके मन्दिर तुड़वाये और उन्हें मुसलमान बनने के लिए प्रेरित किया।

गुजरात का सबसे प्रसिद्ध सुलतान महमूद बीगड़ था जो सन् १४५९ ई० में गद्दी पर बैठा। वह स्वयं एक वीर योद्धा और सैन्यकला में दक्ष सिपाही था। उसने चम्पानेर और जूनागढ़ के राजपूत राजाओं को पराजित किया और उन्हें अपना आधिपत्य स्वीकार करने पर विवश किया। उसने गुजरात के समुद्री डाकुओं का भी दमन किया। परन्तु सन् १५०७ ई० में पुर्तगालियों द्वारा वह पराजित हुआ। उस समय भारत के पश्चिमी समुद्री तटों पर पुर्तगालियों की शक्ति बहुत बढ़ी-चढ़ी थी और वे समुद्री व्यवसाय पर अपना एकछत्र अधिकार स्थापित करने का उद्योग कर रहे थे। स्वतन्त्र गुजरात का अन्तिम प्रसिद्ध शासक बहादुरशाह (१५२६—३७ ई०) था। उसने मालवा के सुलतान को युद्ध में परास्त करके उसका राज्य गुजरात में मिला लिया और मेवाड़ के राना को भी पराजित किया। हुमायूँ को उसकी शक्ति और महत्त्वाकांक्षा का बड़ा भय हुआ और उसने गुजरात पर चढ़ाई कर दी किन्तु अन्त में वह स्वयं परास्त हुआ। बहादुरशाह ने पुर्तगालियों को गोआ से निकाल बाहर करने का भरसक प्रयत्न किया परन्तु वह अपने इस उद्योग में सफल न हो सका। पुर्तगालियों ने उसके विरुद्ध महान् षड्यन्त्र रचकर उसकी हत्या करा डाली। उसकी मृत्यु होते ही गुजरात में अशान्ति और गड़बड़ी फैल गई। अन्त में (१५७२—७३ ई०) में मुग़ल-सम्राट् अकबर ने गुजरात पर चढ़ाई की और उसे अपने साम्राज्य में मिला लिया।

गुजरात के कई बादशाहों ने सुन्दर तथा भव्य इमारतें बनवाईं। मुसलमानों की गुजरात-विजय के पहले वहाँ जैनियों के बनवाये हुए पाँच प्रसिद्ध मन्दिर थे। मुसलमान शासकों ने अपनी इमारतों के बनवाने में उन मन्दिरों की सामग्री

का प्रयोग किया। जिन कारीगरों से इमारतें बनवाई गईं उन्होंने हिन्दू और मुसलमानी दोनों शैलियों का सम्मिश्रण करके वास्तु-कला की एक नवीन शैली का आविर्भाव किया, जिसे मुसलमानों ने पसन्द किया। गुजरात के शासकों द्वारा बनवाई हुई इमारतें प्रायः इसी शैली के अनुसार बनाई गई हैं। उनकी बनाई हुई बहुत-सी बावलियाँ, मक़बरे, मसजिदें और महल अब भी विद्यमान हैं जिन्हें देखनेवाले उनकी उत्कृष्ट कला की प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकते। इन सुलतानों के समय में अहमदाबाद नगर की बड़ी उन्नति हुई और वह रुई तथा रेशम की कारीगरी और व्यवसाय का एक प्रसिद्ध केन्द्र बन गया।

मेवाड़ का राजवंश—भारतवर्ष के अन्य भागों की तरह राजपूताना पर भी अलाउद्दीन ने आक्रमण किया था। उसने रणथम्भौर के दुर्ग पर अधिकार कर लिया था और राजपूताने के सबसे अधिक शक्तिशाली और प्रतिष्ठित राज्य मेवाड़ को भी जीत लिया था; किन्तु उसकी मृत्यु के पश्चात् राजपूतों ने चित्तौड़ की मुसलमानी छावनी तोड़ डाली जिससे मेवाड़ की खोई हुई स्वाधीनता उसे पुनः प्राप्त हो गई। राना हम्मीर ने अपनी शक्ति का पर्याप्त सङ्गठन किया और कहा जाता है कि युद्ध में एक बार उसने या तो स्वयं दिल्ली-सुलतान को अथवा उसके किसी सेनापति को पराजित किया था। राना कुम्भा (१४३३-६८ ई०) के समय में मेवाड़ की शक्ति बहुत बढ़ गई। इस राना ने मेवाड़ और गुजरात के मुसलमान शासकों से अनेक बार युद्ध किया जिनमें विजय कभी उसकी और कभी उसके शत्रुओं की होती रही। सन् १४३७ ई० में राना कुम्भा ने मालवा के सुलतान महमूद खिलजी को पराजित करके उसे पकड़ लिया और वन्दी बनाकर वह चित्तौड़ ले गया। राना ने उसे ६ महीने तक चित्तौड़ के क़िले में क़ैद रक्खा और फिर बिना किसी प्रकार का हरजाना लिये ही उसे मुक्त कर दिया। मालवा और गुजरात के सुलतान मेवाड़ का उन्मूलन करने के इरादे से राना पर बराबर आक्रमण करते रहते थे किन्तु राना सदैव वीरतापूर्वक उनका सामना करके उन्हें पीछे खदेड़ता रहता था।

राना कुम्भा प्रतिभाशाली शासक था। वह रण-प्रवीण योद्धा और राज-नीतिज्ञ होने के अतिरिक्त एक अद्वितीय विद्वान् और दार्शनिक भी था। कला और विज्ञान का स्वयं ज्ञाता होने के कारण वह विद्वानों और गुणीजनों का समुचित आदर करता था। अनेक भिन्न भिन्न विषयों पर उसकी लिखी हुई पुस्तकें अब भी उपलब्ध हैं। वह काव्य की रचना कर लेता था और बाँसुरी बजाने में अत्यन्त दक्ष था। उसने अनेक मन्दिर, तालाब और कुएँ बनवाये। उसकी बनवाई हुई इमारतों में चित्तौड़ का 'जय-स्तम्भ' सबसे प्रसिद्ध है जो कितनी शताब्दियों बाद भी आज तक ज्यों का त्यों खड़ा-खड़ा उसकी विमल कीर्ति और महत्ता का मूक साक्ष्य दे रहा है।

राना कुम्भा के उत्तराधिकारियों में राना संग्रामसिंह (राना साँगा) का इतिहास में विशिष्ट स्थान है। राना साँगा सन् १५०९ ई० में गद्दी पर बैठा। वह अभूतपूर्व साहसी और पराक्रमशील योद्धा था। उसने दिल्ली, मालवा और गुजरात के सुलतानों से अनेक बार युद्ध करके उन्हें पराजित किया। उसकी वीरता की कहानियाँ चारों ओर प्रचलित थीं और सारा हिन्दू-समाज उसे एक स्वर से अपना वीर नेता स्वीकार करता था। उसने स्वयं एक बहुत बड़ी सेना का संगठन किया था जिसकी सहायता से उसने राजस्थान के अनेक सरदारों को अपने अधीन किया था। सन् १५२६ ई० तक राना साँगा हिन्दुस्तान के राजाओं में सबसे अधिक शक्तिमान् और प्रभावशाली राजा हो गया था। उसकी शक्ति इतनी अधिक और महत्त्वपूर्ण थी कि मुग़ल-विजेता बाबर भी खानवा के रणक्षेत्र में उससे युद्ध करते समय दहल गया था। बाबर उससे इतना प्रभावित हुआ कि उसने अपनी प्रसिद्ध 'आत्म-कथा' में राना साँगा का वर्णन किया है और उसे हिन्दुस्तान के प्रतिभाशाली शासकों में स्थान दिया है।

उड़ीसा—उड़ीसा के राज्य पर गङ्ग जाति के राजपूत राजा राज्य करते थे। वे अपने को चन्द्रवंशी कहते थे। इस वंश का सबसे प्रसिद्ध राजा अनन्तवर्मन् चोड गङ्ग हुआ, जिसने अपनी शक्ति का सङ्गठन कर अपनी छोटी-सी रियासत को एक विस्तृत राज्य में परिवर्तित कर दिया। इसी महान् शासक ने जगन्नाथ-पुरी का प्रसिद्ध मन्दिर बनवाया। किन्तु सन् १४३४-३५ ई० में इस राज-वंश का अन्त हो गया और राजगद्दी कपिलेन्द्र के हाथ में चली गई। कपिलेन्द्र ने अपने राज्य की सीमा को गङ्गा से कावेरी नदी तक विस्तृत किया। सन् १५६८ ई० में बङ्गाल के मुसलमान बादशाहों ने उड़ीसा के राज्य को जीत लिया परन्तु उसके कुछ ही दिनों बाद अकबर ने उसे अपने अधीन कर मुग़ल-साम्राज्य में मिला लिया।

बहमनीराज्य—मुहम्मद तुग़लक़ के समय में सन् १३४७ ई० में विदेशीय अमीरों ने सङ्गठित होकर दक्षिण में एक स्वाधीन राज्य स्थापित किया था। उन्होंने अपने नेताओं में से एक को, जिसका नाम हसन था, अपना बादशाह निर्वाचित किया था। हसन अपने को फ़ारस के बहमन-बिन-इसफ़न्दियार का वंशज बतलाता था। इसी लिए उसने अलाउद्दीन बहमनशाह की उपाधि धारण की थी और उसके वंश का नाम 'बहमनी' प्रसिद्ध हुआ। यह कहानी बिलकुल ग़लत है कि हसन ने अपने वंश का नाम 'बहमनी' दिल्ली के गंगू नामक ब्राह्मण ज्योतिषी के सम्मान में रक्खा जिसने उसके उज्ज्वल भविष्य के सम्बन्ध में कुछ भविष्य-वाणी की थी।

हसन योग्य शासक था। उसने अपने नाम के सिक्के चलाये। राज्य को उसने चार सूबों (तरफ़) में विभाजित किया और अपने अफ़सरों के अनुसरण

के लिए कुछ नियमों का विधान किया। गुलवर्गा को उसने अपने राज्य की राजधानी बनाया।

किन्तु विजयनगर का नवीन साम्राज्य बहमनी राज्य का कठोर प्रतिद्वन्द्वी सिद्ध हुआ। विजय-नगर-साम्राज्य की स्थापना हरिहर और बुक्का नामक दो भाइयों ने सन् १३३६ ई० में की थी। विजयनगर और बहमनी राज्यों में परस्पर वड़ी स्पर्धा थी। प्रभुत्व के लिए इनमें बराबर युद्ध होते रहते थे और जीत कभी इस पक्ष की और कभी उस पक्ष की होती थी।

बहमनी शासक बिलकुल स्वेच्छाचारी तथा निरंकुश थे। हसन के उत्तराधिकारी, मुहम्मदशाह प्रथम (१३५८-७३ ई०) और फ़ीरोज़ (१३३७-१४२२ ई०) दोनों ने, कृष्णा और तुङ्गभद्रा नदियों के मध्य की भूमि रायचूर-दोआब के लिए, विजयनगर के रायों से युद्ध किया। फ़ीरोज़ के उत्तराधिकारी अहमदशाह (१४२२-३५) ई०ने विजयनगर के राय और वरङ्गल तथा कोंकण के सरदारों से युद्ध किया। इस युद्ध में उसने असंख्य हिन्दुओं का वध किया और इस्लाम-धर्म के प्रति अपनी इस अपूर्व सेवा के उपलक्ष में 'वली' की उपाधि धारण की। उसने गुलवर्गा को छोड़कर बीदर को राजधानी बनाया और उसे अनेक इमारतों से अलंकृत किया। किन्तु मुहम्मदशाह तृतीय (१४६३-८२ ई०) के शासन-काल में बहमनी राज्य की अवनति के लक्षण दृष्टिगोचर होने लगे। उसका प्रधान वज़ीर महमूद गावान एक योग्य, सच्चरित्र तथा कुशल राजनीतिज्ञ था। शासन-सुधारों द्वारा उसने हुकूमत और अधिकार की बिखरी हुई डोर को समेटकर फिर सुलतान के हाथ में इकट्ठा कर दिया था। परन्तु दक्षिणी अमीरों ने षड्यन्त्र रचकर उसका विरोध किया और उसके तथा सुलतान के बीच मनोमालिन्य पैदा करा दिया। परिणाम-स्वरूप उसके शत्रुओं ने एक मिथ्या अपराध का आरोप करके उसे प्राणदण्ड दिलवा दिया।

महमूद गावान को क़त्ल कराकर सुलतान ने राज्य के एक सच्चे सेवक और कुशल राजनीतिज्ञ को खो दिया। बहमनी राज्य की गिरती दशा को सुधारने की योग्यता रखने वाला व्यक्ति उस समय महमूद गावान ही था। परन्तु मुहम्मदशाह को इसका क्या पता था? उसने इस बात की जाँच भी नहीं की कि मन्त्री का अपराध था भी या नहीं और बिना सोचे-समझे उसे दण्ड दे दिया।

महमूद गावान की गणना मध्य-युग के महान् राजनीतिज्ञों में होती है। उसका जीवन अत्यन्त पवित्र और आडम्बर-रहित था। वह सदा राज्य की शुभ-कामना में ही लीन रहता था। उसने बीदर में एक विद्यालय की स्थापना की थी और वहीं उसने अपने पुस्तकालय की ३००० पुस्तकें रख दी थीं। विद्वान् और गुणी जनों के संसर्ग में रहना उसे बहुत प्रिय लगता था। अवकाश मिलने

...र वह अपने विद्यालय में जाता और विद्वानों के साथ विविध विषयों पर वार्तालाप करता था।

मुहम्मद की मृत्यु के वाद सन् १४८२ ई० में उसका बेटा महमूदशाह गद्दी पर बैठा। परन्तु वह बिलकुल निकम्मा और अयोग्य निकला। उसके सिंहासनारूढ़ होने के थोड़े ही समय वाद वहमनी राज्य का पतन हो गया और उसके स्थान में पाँच नये राज्य स्थापित हो गये :—

(१) इमादुल्मुल्क ने बरार में इमादशाही राज्य की स्थापना की। यह राज्य सन् १५७४ ई० में अहमदनगर में मिला लिया गया।

(२) निज़ामशाह ने अहमदनगर में सन् १४९८ ई० में, निज़ामशाही राज्य की स्थापना की। अकबर ने इसे मुग़ल-साम्राज्य में मिला लिया।

(३) आदिलशाह ने बीजापुर में, सन् १४८४ ई० में, आदिलशाही राज्य की स्थापना की। सन् १६८६ ई० में औरङ्गज़ेब ने इसे मुग़ल-साम्राज्य में मिला लिया।

(४) क़ुतुबशाह ने गोलकुण्डा में, सन् १५१८ ई० में, क़ुतुबशाही राज्य की स्थापना की। सन् १६८७ ई० में औरङ्गज़ेब ने इसे मुग़ल-साम्राज्य में मिला लिया।

(५) क़ासिम बरीद ने वीदर में, सन् १५२६ ई० में, बरीदशाही राज्य की स्थापना की। यह राज्य भी पीछे से बीजापुर में मिला लिया गया था।

यद्यपि वहमनी वंश के सुलतानों की रुचि युद्ध और रक्त-पात में ही अधिक थी, फिर भी उनमें कई ऐसे थे जो विद्वानों और साधु पुरुषों को आश्रय देते थे। उन्होंने अनेक स्कूल स्थापित किये और उनके दिये हुए दानपत्र दक्षिण के गाँवों में कहीं-कहीं अब तक पाये जाते हैं। उन्होंने अनेक क़िले बनवाये थे जिनमें ग्वालीगढ़ और नारनल्ला के दुर्ग अब तक प्रसिद्ध हैं। अहमदशाह ने बीदर नगर वसाकर, उसे दक्षिण की राजधानियों में अत्यन्त सुन्दर बनाने के अभिप्राय से, वहाँ जितने सुन्दर भवन और अन्य इमारतें बनवाईं, उनमें से अनेक अब भी दर्शनीय हैं।

विजयनगर का राज्य—जैसा पहले कहा जा चुका है, सन् १३३६ ई० में हरिहर और बुक्का ने विजयनगर-राज्य की स्थापना की थी। वे अनागुन्दी के सरदार थे और दक्षिण में एक ऐसे शक्तिशाली राज्य की स्थापना करना चाहते थे, जिससे वहाँ के मुसलमानी वहमनी राज्य का प्रभाव सीमित रहे। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने अपना शक्तिशाली राज्य बनाया था। थोड़े ही समय में विजयनगर-राज्य की आशातीत उन्नति हुई और अनेक हिन्दू राजाओं पर अधिकार जमा लेने के कारण शीघ्र ही यह एक विस्तृत साम्राज्य में परिणत हो गया। अपनी उन्नति की प्रौढ़ावस्था में यह साम्राज्य आजकल के मद्रास अहाता, मसूर तथा दक्षिण की कतिपय अन्य रियासतों के सम्मिलित विस्तार के

बराबर था। इसकी सीमा पूर्व में कटक तथा पश्चिम में सालसट थी और दक्षिणी सीमा प्रायद्वीप (भारत) के सिरे को छूती थी। इस साम्राज्य की अभूतपूर्व उन्नति देखकर बहमनी शासकों के हृदय में बड़ी ईर्ष्या उत्पन्न हुई और उसे दबाने के लिए वे बार-बार युद्ध करने लगे।

इस वंश का प्रथम शासक हरिहर था। हरिहर की मृत्यु के बाद सन् १३५३ ई० में उसका भाई बुक्का गद्दी पर बैठा। बुक्का ने विजयनगर को समाप्त किया और अनेक विजयों द्वारा उसकी प्रतिष्ठा को बढ़ाया। बुक्का के बाद दूसरा प्रतिभाशाली शासक देवराय (सन् १४१९-४९ ई०) हुआ। उसके समय में दो विदेशी—निकोलो कौण्टी (Nicolo Conti) नामक एक इटलीनिवासी और अब्दुर्रज्जाक नामक फ़ारस का एक राजदूत—विजयनगर आये थे। दोनों विदेशी यात्रियों ने इस नगर के सौन्दर्य और समृद्धि का अत्यन्त सुन्दर वर्णन लिखा है। देवराय के बाद उसके उत्तराधिकारी अपनी प्रतिष्ठा को स्थिर न रख सके और उनकी अयोग्यता के कारण सन् १५०५ ई० में साम्राज्य पर एक अन्य राजवंश का अधिकार स्थापित हो गया।

इस नवीन राजवंश का सबसे योग्य राजा कृष्णदेवराय था। वह सन् १५०९ ई० में राजसिंहासनारूढ़ हुआ। वह एक गुणग्राही राजा था और विद्वानों तथा कवियों का आश्रयदाता था। उसका धार्मिक दृष्टिकोण उदार और सहनशीलतापूर्ण था। उसके दरबार में विदेशियों का आदर होता था। उसने उड़ीसा के राजा और बीजापुर के सुलतान को युद्ध में पराजित किया और पुर्तगालियों से मैत्री का व्यवहार रक्खा। सन् १५२९ ई० में, उसकी मृत्यु हो जाने के पश्चात्, शक्तिहीन राजाओं का शासन-काल आरम्भ हुआ। कृष्णदेवराय के एक उत्तराधिकारी सदाशिवराय के शासन में, उसकी निर्बलता के कारण, उसके मन्त्री रामराजा ने सारा अधिकार अपने हाथ में कर लिया। उसके अशिष्ट व्यवहार से शत्रु-मित्र सब उससे अप्रसन्न और असन्तुष्ट हो गये। बरार को छोड़कर दक्षिण के अन्य चारों प्रधान मुसलमानी राज्यों ने, संघ बनाकर, विजयनगर के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया। उन्होंने तालीकोट के मैदान में, सन् १५६५ ई०, में रामराजा को भीषण पराजय दी। युद्ध में रामराजा की पराजय का प्रधान कारण, उसके दो असन्तुष्ट मुसलमान सेनाध्यक्षों का शत्रुओं से मिल जाना था। सेना की भगदड़ में रामराजा घायल हुआ। शत्रुओं ने उसका पीछा किया। वह पकड़ा गया और क़त्ल कर दिया गया। विजयनगर के चारों ओर मुसलमान सेना ने घेरा डाल दिया और उसे जीतकर नगर की सुन्दर तथा विशाल इमारतों को ढहवा दिया। राजकीय कोष लूटा गया और विजयनगर का सर्वनाश हो गया।

तालीकोट की पराजय के बाद विजयनगर-साम्राज्य का ध्वंस हो गया।

दक्षिण के पाँच मुसलमानी राज्य और विजयनगर राज्य
असीरगढ़
बुरहानपुर
ग्वालीगढ़
नरनाल
एलिचपुर
बालापुर
नासिक
दौलताबाद
मेहकार
जालना
माहुर
जुनार
पैठन
अहमदनगर
पथरी
नन्देर
सोनपट
चौल
कन्धार
कोलास
इन्दुर
वारंगल
गोदावरी नदी
बीदर
नलदुर्ग
गुलबर्गा
गोलकुंडा
दभोल
राजमहेन्द्री
गो ल कुं डा
बीजापुर
कोंडावीर
तालीकोट
मुदगल
रायचूर
विनुकोंडा
मछलीपट्टन
बी जा पु
अनागुंदी
गोआ
विजयनगर
उदयगिरि
पनार नदी
नीलौर
बेदनूर
पेन्नाकोंडा
वि ज य न ग र
कांची
पालर नदी
श्रीरंगपट्टन
रा ज्य
कावेरी नदी
कालीकट
त्रिचनापल्ली
तंजौर
नेगापट्टन
कोचीन
मदुरा
रामेश्वर
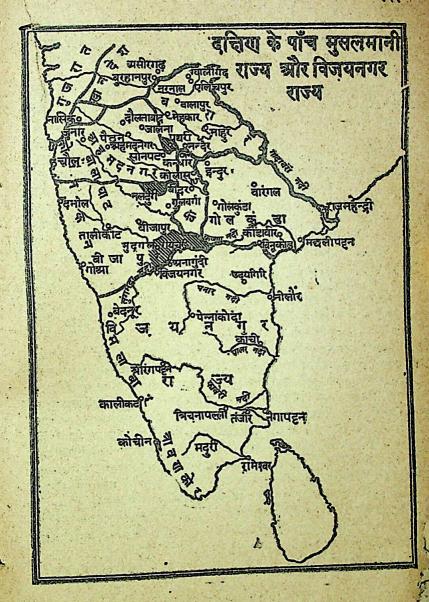
किन्तु विजयनगर के उन्मूलन का मुसलमानों पर बड़ा ही घातक प्रभाव पड़ा। अब तक विजयनगर के अस्तित्व के कारण उन्हें सदा एक प्रबल शत्रु से भयभीत रहना पड़ता था, जिसके कारण परस्पर सहानुभूति रहने से आपस में वे ऐक्य-सूत्र से बँधे रहते थे; किन्तु विजयनगर का नाश होते ही उन्हें किसी बाह्य शत्रु का भय नहीं रह गया। धीरे-धीरे उनमें परस्पर कलह और द्वेष बढ़ने लगा। वे परस्पर लड़-लड़कर निर्बल हो गये और उत्तर के मुग़ल सम्राटों को उन्हें अपने अधीन करने में कुछ भी कठिनाई न हुई।

अब्दुर्रज्ज़ाक़ का वर्णन—जैसा पहले कहा जा चुका है, अब्दुर्रज्ज़ाक फ़ारस का राजदूत था। वह सन् १४४२ ई० में विजयनगर आया था। उसने विजयनगर के ऐश्वर्य की बड़ी प्रशंसा की है। उसका कहना है कि विजयनगर जैसा नगर न तो आँखों ने कहीं देखा और न कानों ने संसार में कहीं सुना। रक्षा करनेवाली सात प्राचीरों के अन्दर यह नगर बसा हुआ है। बाज़ार के दोनों किनारों पर दूकानें लगी रहती हैं जिनमें हीरे, लाल, जवाहिर आदि बहुमूल्य माणिक जौहरियों द्वारा खुले-आम विक्रय होते हैं। प्रत्येक वर्ग के व्यवसायियों और कारीगरों की दूकानें पास-पास रहती हैं।

वह लिखता है कि देश प्रायः उपजाऊ और खेती से सम्पन्न है। साम्राज्य की सीमा के अन्तर्गत लगभग ३०० बन्दरगाह हैं। सेना की संख्या ११ लाख है। सारे भारतवर्ष में विजयनगर के राय के समान समृद्धिशाली तथा ऐश्वर्यवान् राजा कोई दूसरा नहीं है।

शासन-प्रबन्ध—विजयनगर-सम्राट् निरंकुश तथा अपरिमित अधिकार रखनेवाले शासक थे। किन्तु इसके साथ ही उनकी सहायता के लिए भिन्न-भिन्न विभागों के कई मन्त्री हुआ करते थे, जो अपने विभाग की कार्यवाहियों पर पूरा अधिकार रखते थे। साम्राज्य अनेक प्रान्तों (नाडू) में विभक्त किया गया था, जिनकी संख्या लगभग २०० थी। इन ज़िलों में प्रायः राजवंश के लोग अथवा अन्य सरदार, सम्राट् के प्रतिनिधि की हैसियत से शासन-कार्य करने के लिए नियुक्त किये जाते थे। प्रायः प्रजा से कर अधिक वसूल किया जाता था। ऐसे तो राज्य की सेना यों ही बहुत बड़ी थी, किन्तु युद्ध के समय उसकी संख्या बहुत बढ़ जाती थी। प्रान्तों के सूबेदारों को युद्ध-काल में सेना भेजनी पड़ती थी। 'दण्डनायक' अदालतों में न्याय करते थे और उनके फ़ैसलों की अपील राय के दर्बार में हो सकती थी। फ़ौजदारी का क़ानून बड़ा कठोर था। छोटे-छोटे अपराधों के लिए अभियुक्तों के हाथ-पैर काट लिये जाते थे। शारीरिक दण्ड का ख़ूब प्रचार था। विजयनगर-साम्राज्य का उत्कर्ष होने पर देहात की प्राचीन पंचायत-प्रथा नष्ट हो गई। इसलिए गाँवों के मामले भी राज्य के अफ़सरों

द्वारा ही तय होते थे। विजयनगर के शासक स्वयं वैष्णव थे, किन्तु अन्य धर्म्मों के अनुयायियों को भी उन्होंने पूर्ण स्वतन्त्रता दे रक्खी थी।

सामाजिक जीवन—विजयनगर में उच्च श्रेणी के लोगों का जीवन प्रायः सुखी और विलासिता-पूर्ण था, किन्तु निर्धन जनता दुःख और कष्ट का जीवन व्यतीत करती थी। साम्राज्य के अनेक भागों में अत्यधिक कर वसूल किया जाता था। व्यवसायों और कारीगरियों का वर्गों में संगठन किया गया था और प्रत्येक वर्ग के मुखिया का राजदर्बार में बड़ा प्रभाव रहता था, जिससे वह अपने वर्ग के व्यवसाय अथवा दस्तकारी के करों को सरकार से कम करा लेता था। परन्तु किसानों के करों में कमी कराने के लिए ऐसा कोई सङ्गठन नहीं था। समाज में ब्राह्मणों का अधिक सम्मान था। वे खूब धन-सञ्चय करते थे और राज्य में ऊँचे-ऊँचे पदों पर नियुक्त किये जाते थे। सती की प्रथा प्रचलित थी किन्तु स्त्रियों का समाज में बड़ा मान था। कितनी ही स्त्रियाँ विदुषी होती थीं। वे सुन्दर कविताओं की रचना करती थीं और बड़े-बड़े कवियों तथा नाटककारों की कृतियों को खूब समझती थीं और उनका आशय बतला सकती थीं। वे गाना-बजाना और नृत्य करना जानती थीं। उनमें से कुछ कुश्ती का भी अभ्यास रखती थीं। एक बार एक स्त्री ने एक मन्दिर के सम्बन्ध में देवराय द्वितीय से भेंट की थी और उससे मन्दिर के लिए एक गाँव प्राप्त किया था।

कला और साहित्य—विजयनगर-नरेशों को अपने समकालीन हिन्दू-मुसलमान शासकों की तरह, इमारतें बनाने का बड़ा शौक़ था। उन्होंने अनेक मन्दिर, महल और क़िले बनवाये और चित्रकला की उन्नति में बड़ा मनोयोग दिया। हाम्पी में उनके महलों के जो ध्वंसावशेष मिले हैं उनसे चित्रकारों और संगतराशों के उत्कृष्ट कला-कौशल का पता लगता है। इन विद्या-प्रेमी राजाओं के समय में साहित्य का भी अच्छा अभ्युदय हुआ। इन्हीं के समय में सायण ने वेदों पर अपना अद्भुत भाष्य लिखा और माध्व के दर्शन-ग्रन्थ भी इसी समय लिखे गये।

संक्षिप्त सन्‌वार विवरण

मालवा के स्वतन्त्र होने की घोषणा ..	१४०१ ई०
गुजरात की स्वाधीनता	१४०१ ,,
इब्राहीमशाह शर्क़ी का सिंहासनारूढ़ होना	१४०२ ,,
अहमदशाह का गुजरात की गद्दी पर बैठना	१४११ ,,
अब्दुर्रज्ज़ाक़ की विजयनगर-यात्रा	१४२२ ,,
महमूद खिलजी का मालवा का राज्य हड़पना ..	१४३५ ,,
महमूद बीगड़ का गद्दी पर बैठना	१४५९ ,,

आदिलशाही राज्य की स्थापना	..	..	१४८४ ई०
निज़ामशाही राज्य की स्थापना	..	..	१४९८ "
राना साँगा का सिंहासनारूढ़ होना	..	..	१५०९ "
क़ुतुबशाही राज्य की स्थापना	..	..	१५१८ "
बरीदशाही राज्य की स्थापना	..	..	१५२६ "
बहादुरशाह (गुजरात) का मालवा के महमूद द्वितीय को पराजित करना	..	..	१५३१ "
तालीकोट का संग्राम	..	..	१५६५ "
बङ्गाल के मुसलमानी सुलतानों का उड़ीसा को जीतना	..		१५६८ "

अध्याय २०

सैयद और लोदी-वंश

(१४१४—१५२६ ई०)

सैयद सुलतान—महमूद तुग़लक़ की मृत्यु के बाद खिज्र ख़ाँ ने, जिसे तैमूर ने लाहौर और मुल्तान की जागीर दी थी, १४१४ ई० में दिल्ली की गद्दी पर अपना अधिकार जमा लिया। परन्तु यह अशान्ति और गड़बड़ी का समय था। दिल्ली-सुलतान की प्रतिष्ठा और धाक बिलकुल नहीं के बराबर थी। हिन्दू सरदार धीरे-धीरे अपनी विगत शक्ति को पुनः प्राप्त करने का उद्योग कर रहे थे। सन् १४२१ ई० में खिज्र ख़ाँ सैयद की मृत्यु के बाद उस वंश के तीन और शासक दिल्ली के सिंहासन पर आसीन हुए, किन्तु वे सबके सब शक्तिहीन और निकम्मे थे। उनमें से किसी में भी यह योग्यता न थी कि शान्ति स्थापित करके दिल्ली-सुलतान की पहले-जैसी मर्यादा फिर से स्थापित कर सके। इस वंश का अन्तिम सुलतान आलमशाह था जो सन् १४४३ ई० में गद्दी पर बैठा था। परन्तु पञ्जाब के सूबेदार बहलोल लोदी ने उसका आधिपत्य स्वीकार करने से इनकार कर दिया। बहलोल लोदी ने सन् १४५१ ई० में दिल्ली का सिंहासन स्वयं अपने अधिकार में कर लिया और सुलतान बन बैठा। आलमशाह चुपचाप बदायूँ को चला गया और वहाँ शान्तिपूर्वक अपना जीवन व्यतीत करने लगा। सन् १४७८ ई० में वहीं उसकी मृत्यु हो गई।

बहलोल लोदी—सुलतान बहलोल वीर तथा उदारहृदय मनुष्य था। युद्ध-कला का उसे अच्छा ज्ञान था। पिछले काल के तुग़लक़ सुलतानों की अपेक्षा वह कहीं अधिक योग्य शासक था। उसके सिंहासनारोहण के साथ दिल्ली-साम्राज्य में एक नवीन जीवन का प्रवेश हुआ। सुलतान बहलोल ने अदम्य साहस के साथ विद्रोही अमीरों का दमन किया और अशान्ति को दूर किया फिर से देश सुखी तथा समृद्धिशाली हो गया। आन्तरिक झगड़ों का विनाश कर लेने के बाद उसने निकटवर्ती राज्यों को दबाने का उद्योग किया। सबसे पहले उसने अपना ध्यान जौनपुर राज्य की ओर दिया। बहुत दिन तक दृढ़ता के साथ युद्ध करने के बाद अन्त में उसने जौनपुर के शर्क़ी सुलतान को पराजित किया और अपने बेटे बारबकशाह को जौनपुर का सूबेदार नियुक्त किया। सुलतान की इस विजय से उसकी शक्ति और प्रतिष्ठा दोनों बढ़ गई। इसके बाद क्रमशः कालपी, धौलपुर और अन्य कई स्थानों के विद्रोही सरदारों को भी सुलतान में पराजित करके उन्हें अपनी अधीनता स्वीकार करने पर विवश किया।

बहलोल पवित्र विचारोंवाला धार्मिक मूसलमान था। वह क़ुरान का अक्षरशः अनुसरण करता था। वह सीधस्वभाव का मनव्य था और शाही-शान शौकत के प्रदशन से दूर रहता था। वह अपन पहले साथियों के साथ बारबर पूववत् व्यवहार करता और उन्हें कभी यह अनुभव नहीं होन देता था कि वह सुलतान है और वे उसकी प्रजा हैं। वह बड़ा न्याय-प्रिय था और प्रजा की फ़रियादों को स्वयं सुनता था। वह दीनों के प्रति दया का व्यवहार करता और दान-पुण्य में पर्याप्त धन व्यय करता था। वह विद्वानों और सज्जनों के सत्सङ्ग का प्रमी था और उनकी सहायता के लिए सदैव उद्यत रहता था।

सिकन्दर लोदी—सन् १४९८ ई० में सुलतान बहलोल लोदी की मृत्यु के पश्चात् उसका बटा निज़ाम खाँ, सिकन्दर लोदी के नाम से, सिंहासनारूढ़ हुआ। सुलतान सिकन्दर लोदी बड़ी तीव्र गति से काम करनेवाला व्यक्ति था। उसने शासन के भिन्न-भिन्न विभागों के सङ्गठन का कार्य बड़ी तत्परता से आरम्भ किया। उसके भाई बारबकशाह ने दिल्ली की गद्दी पर अपना अधिकार करने की चेष्टा और और सुलतान की उपाधि ग्रहकी; परन्तु सिकन्दर लोदी ने उसे पराजित कर क़ैद कर लिया। इसके बाद उसने हुसेनशाह शर्क़ी को बुरी तारह परास्त करके बिहार को दिल्ली-साम्राज्य के अन्तर्गत मिला लिया। उसने बङ्गाल के सुलतान से सन्धि ककर ली जिसके अनुसार दोनों में मैत्री स्थापित हो गई अब सुलतान की धाक अच्छी तरह जम गई और धौलपुर, ग्वालियर, चन्देरी तथा अन्य स्थानों के राजाओं ने उसका आधिपत्य स्वीकार कर लिया। सन् १५०४ ई० में उसने स्थान पर, जहाँ वर्तमान आगरा नगर स्थिति है, एक नवीन

नगर की नींव डाली और उसे बसाकर अपनी राजधानी वनाया। सन् १५०५ ई० में एक भयङ्कर भूकम्प आया, जिसके कारण वहुत-सी इमारतों के गिरने और लोगों के मर जाने से इस नगर की बड़ी क्षति हुई।

वास्तव में सुलतान सिकन्दर लोदी सुलतानों में सबसे अधिक योग्य और प्रतिभाशाली शासक था। उसने विद्रोही अफ़ग़ान अमीरों और अभिमानी सरदारों को दवाकर अपने अधिकार की अच्छी धाक जमाई। साम्राज्य में अमन-चैन स्थापित करने में, उसे पूर्ण सफलता हुई। अपने पिता के विपरीत वह शान-शौकत के साथ दर्वार करता था और राजसी ठाट-वाट में किसी प्रकार की कमी नहीं होने देता था। उसके अफ़सर और अमीर उससे भयभीत रहते थे और उसकी आज्ञा का हृदय से पालन करते थे। न्याय-प्रिय ऐसा था कि दीन-दुखियों की फ़रियाद वह स्वयं सुनता था और उनकी सहायता का प्रबन्ध करता था। परन्तु सुलतान फ़ीरोज़ तुग़लक़ की तरह उसमें धार्मिक पक्षपात था। हिन्दुओं के प्रति उसका वर्ताव कठोर होता था। उसने अनेक मन्दिरों को गिरवा-कर उनके स्थान पर मसजिदें वनवाई थीं।

इब्राहीम लोदी—सन् १५१७ ई० में, सिकन्दर लोदी की मृत्यु के पश्चात्, उसका बेटा इब्राहीम लोदी गद्दी पर बैठा। कुछ स्वार्थी अमीरों ने साम्राज्य को दो भागों में विभक्त कर देने का विचार करके इब्राहीम के छोटे भाई जलाल को जौनपुर की गद्दी पर विठा दिया। परन्तु इब्राहीम ने शीघ्र वड़े साहस के साथ इसको रोकने की चेष्टा की और उसके कारण स्वार्थी अमीरों का षड्यन्त्र सफल नहीं हुआ। जलाल युद्ध में पराजित हुआ। वह रणक्षेत्र से भागा परन्तु पकड़ा गया और सुलतान की आज्ञा से क़त्ल कर दिया गया। धीरे-धीरे इब्राहीम अत्यन्त अभिमानी और निर्दय हो गया और अफ़ग़ान अमीरों के साथ अत्यन्त असभ्यता का व्यवहार करने लगा। वह इन्हें प्रायः विना हिले-डुले चुपचाप अपने सामने खड़ा रहने की आज्ञा देता था और विना किसी अपराध के क़ैदखाने में डाल देता था। अफ़ग़ानों को अपने ऊपर सरदार या सुलतान का होना पसन्द होता है और वे भक्ति-पूर्वक उसकी आज्ञाओं का पालन भी करते हैं, परन्तु वे इब्राहीम जैसे किसी व्यक्ति का अपने ऊपर स्वामित्व सहन नहीं कर सकते। दरिया खाँ नामक एक प्रभावशाली अमीर ने विहार में अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी। उधर पञ्जाब के सूवेदार दौलत खाँ ने, इब्राहीम के अत्याचारों से त्रस्त होकर, काबुल के अधिपति वावर को भारतवर्ष पर आक्रमण करने का निमन्त्रण भेजा। सुलतान के चचा आलम खाँ ने भी काबुल पहुँचकर वावर से अपने भतीजे के विरुद्ध सहायता माँगी। वावर ने झटपट चढ़ाई की तैयारी कर दी। वह एक वड़ी सेना लेकर हिन्दुस्तान के सुलतान के विरुद्ध काबुल से रवाना हो गया। सन् १५२६ ई० में पानीपत के प्रसिद्ध मैदान में लड़ाई हुई।

इब्राहीम लोदी की पराजय हुई और दिल्ली का साम्राज्य मुग़ल-विजेता के आधिपत्य में चला गया।

लोदी सुलतानों का पतन—लोदी सुलतानों में न तो तुर्कों की सी राजनीतिक योग्यता थी और न उनमें वैसी सैनिक स्फूर्ति ही थी। वे शक्तिहीन शासक थे और सर्वदा अपने अमीरों और सरदारों से दबे रहते थे। उन्होंने सारे साम्राज्य को अनेक जागीरों में बाँट दिया था और बहलोल लोदी की सादगी से जागीरदारों ने इतना लाभ उठाया था कि वे प्राय: सुलतान की आज्ञा की अवहेलना किया करते थे। कभी-कभी केन्द्रीय सरकार की ओर से जब उन पर कुछ नियन्त्रण किया जाता तो वे मन ही मन कुढ़ जाते और सुलतान् को हानि पहुँचाने का उपाय करने लगते थे। इब्राहीम की निर्दयता और दुराग्रह ने उसकी स्थिति को और भी खराब कर दिया। उसके दुर्व्यवहारों से उत्पीड़ित होकर अमीरों ने उसके विनाश के लिए षड्यन्त्र रचना आरम्भ कर दिया। परन्तु इब्राहीम को इतनी बुद्धि कहाँ कि वह उनके विरोधों का अर्थ समझकर सावधान हो जाता और अपनी नीति बदल देता। इसके विपरीत उसने अधिक दृढ़ता के साथ उन्हें अपनी आज्ञा मानने के लिए विवश करना आरम्भ किया और सरकारी रुपये का हिसाब माँगने लगा। जिस आदमी को भी उससे अपना विरोधी समझा उसकी जागीर ज़ब्त कर ली। परन्तु उसकी इस कठोरता का परिणाम और भी अनिष्टकारी सिद्ध हुआ। चारों ओर राजद्रोह अधिकाधिक फैलाने लगा, जिससे साम्राज्य का पतन निश्चित हो गया।

संक्षिप्त सन्‌वार विवरण

खिज्र खाँ का दिल्ली राज्य पर अधिकार करना ..	१४१४ ई०
बहलोल लोदी का सुलतान होना	१४४३ "
आगरा की बुनियाद	१५०४ "
सिकन्दर का सिंहासनारोहण	१५१७ "
पानीपत की पहली लड़ाई	१५२६ "

अध्याय २१

पूर्व-मध्यकालीन सभ्यता और संस्कृति

(१२००—१५०० ई०)

शासन-प्रबन्ध—दिल्ली के सुलतान अपरिमित अधिकार रखनेवाले एक प्रकार के स्वेच्छाचारी सैनिक शासक थे। उनकी स्वेच्छाचारिता को रोकनेवाली

यदि कोई शक्ति थी, तो वह थी 'शरियत' अथवा क़ुरान शरीफ़। परन्तु अधिकांश सुलतान इस प्रतिबन्ध को भी कुछ नहीं समझते थे। कुछ सुलतान, खलीफ़ा की प्रभुता स्वीकार करके, उसके प्रति सम्मान सूचित करते रहते थे; परन्तु व्यावहारिक बातों में वे सर्वथा निरंकुश और स्वतन्त्र शासकों की तरह कार्य करते थे। विरासत अथवा उत्तराधिकार का तुर्कों में कोई ख़ास नियम नहीं था, इसी कारण कभी-कभी सुयोग्य ग़ुलाम भी बादशाह बना दिये जाते थे। कोई-कोई सुलतान तो अपने कर्तव्य का इतना उत्कृष्ट आदर्श सामने रखते थे कि अयोग्य होने के कारण अपने बेटों को भी राज्याधिकार से वंचित कर देते थे। ईल्तुतमिश ने मरते समय वसीयत की थी कि राजगद्दी उसकी बेटी रजिया को दी जाय। राज्य में धार्मिक नियमों के ज्ञाता 'उलमा' (विद्वान्) कहलानेवाले लोगों का बड़ा प्रभाव था। वे सुलतान को राज्य के मामलों में परामर्श देते थे। प्रायः सुलतान उन्हीं की सलाह के अनुसार काम करते थे। परन्तु अलाउद्दीन और मुहम्मद तुग़लक़ ने उनकी सलाह की कभी पर्वाह नहीं की। वे राष्ट्र के हित को ही अपना लक्ष्य समझते थे। कभी-कभी 'उलमा' वर्ग का प्रभाव ख़राब सुलतानों को बुरे मार्ग में जाने से रोकता था परन्तु बहुधा उनका परामर्श राज्य के लिए हितकर नहीं होता था। ये लोग हिन्दुओं के प्रति धार्मिक सहिष्णुता दिखलाने तथा शासन-सुधार के विरोधी होते थे। फ़ीरोज़ तुग़लक़ और सिकन्दर लोदी के शासन-काल में इनका प्रभाव बहुत बढ़ गया था। इसका परिणाम राज्य के लिए बड़ा अनिष्टकारी सिद्ध हुआ। अन्याय और असहिष्णुता के बर्ताव के कारण इन दोनों सुलतानों की लोक-प्रियता घट जाने से उनकी स्थिति बहुत ख़राब हो गई थी।

माल और फ़ौज के विभागों में कोई ख़ास अन्तर नहीं था। एक ही अफ़सर दोनों महकमों में काम कर सकता था। सुलतान की सहायता के लिए वज़ीर (प्रधान मन्त्री), नायब (प्रतिनिधि), सदर (प्रधान न्यायाधीश), अरीज़-ए-म-मालिक (प्रधान सेनाध्यक्ष), कोतवाल, अमीर आख़ुर (घुड़सवार का अध्यक्ष), अमीर कोह (कृषि-विभाग का प्रधान निरीक्षणकर्ता) और दबीर (सेक्रेटरी) आदि अफ़सर रहते थे। इन अफ़सरों के अतिरिक्त बहुत से अन्य ऊँचे दर्जे के कर्मचारी भी राज-काज की सहायता के लिए नियुक्त रहते थे। राज्य के कर्मचारी कई श्रेणियों में विभक्त थे जिनसे उनके दर्जे का पता लगता था। इन लोगों को कभी वेतन, कभी जागीर और कभी ज़मीन की मालगुज़ारी दी जाती थी। माल के महकमे के कर्मचारी प्रायः हिन्दू ही होते थे। देहातों में लगान वसूल करने का काम खूत, चौधरी और मुक़द्दम करते थे। ये लोग एक प्रकार के अर्ध-राजकीय कर्मचारी होते थे और इन्हें राज्य की ओर से एक निश्चित दर के अनुसार, कमीशन दिया जाता था। बाज़ारों का निरीक्षण करने के लिए नियुक्त

किये हुए सरकारी अफ़सर शहना-मण्डी कहलाते थे। वे व्यापारियों और दूकानदारों की देखभाल करते थे। राज्य की ओर से प्रजा के आचरण-सुधार के लिए 'मुहतसिब' नाम के अफ़सरों की नियुक्ति होती थी। मुहतसिब प्रजा के आचरण की देख-रेख रखते थे। राज्य के अनेक निजी कारखाने थे। उनका प्रवन्ध करने के लिए, दान-पुण्य के विभाग की देख-रेख के लिए तथा इमारतों की रक्षा के लिए अलग-अलग अफ़सर नियत थे।

राज्य में ऊँची नौकरी प्राप्त करना बड़ी बात समझी जाती थी। परन्तु इन नौकरियों का कोई ठिकाना नहीं था। सुलतान के इच्छानुसार मनुष्य छोटे पद से उच्च पद पर और उच्च पद से नीचे पद पर कर दिया जाता था। यह बात अक्सर होती थी। जब कोई नया सुलतान गद्दी पर बैठता था तो वह पुराने अफ़सरों को निकाल देता था। प्राय: विदेशी लोगों को सुलतान उच्च पदों पर नियुक्त किया करते थे। परन्तु वे राज्य के हित का कुछ भी खयाल नहीं करते थे और उनके षड्यन्त्रों से देश में अशान्ति फैलती थी।

साम्राज्य अनेक सूबों में विभक्त था। सूबे का प्रवन्ध एक अमीर करता था जिसे नायब (सुलतान का प्रतिनिधि) कहते थे। वह अपना ख़र्च काटकर केन्द्रीय सरकार को मालगुज़ारी का बाक़ी रुपया भेज दिया करता था। कभी-कभी सबसे अधिक रुपया देने का वादा करनेवाले व्यक्ति को ही सूबे का प्रवन्ध सौंप दिया जाता था। ज़मीन के कर का न तो कोई निश्चित नियम था और न वन्दोवस्त का ही कुछ प्रवन्ध था। ज़मीन के कर के अतिरिक्त अन्य अनेकों कर वसूल किये जाते थे। हिन्दुओं से 'जज़िया' वसूल किया जाता था। ज़मीन के कर के लिए यद्यपि किसानों के साथ सख्ती की जाती थी तो भी राज्य की ओर से उनकी रक्षा का उचित प्रवन्ध किया जाता था और उनके साथ अन्याय करनेवाले को सुलतान दण्ड देता था। गाँवों के अधिकांश मामले पञ्चायतों द्वारा ही तय होते थे।

सुलतान के पास एक बड़ी सुसज्जित सेना रहती थी। युद्ध के समय सूबेदारों और अधीन हिन्दू राजाओं की सेनाओं के मिल जाने से उसकी संख्या कई गुनी बढ़ जाती थी। घोड़ों पर दाग़ लगाया जाता था और फ़ौज की क़वायद हुआ करती थी। घोड़े, पैदल, हाथी (हय-दल, पैदल, गज-दल) ये सेना के तीन प्रधान अङ्ग होते थे। सीमा प्रदेश की चौकियों की चौकसी का काम बड़े अनुभवी तथा कुशल सैनिकों को ही सौंपा जाता था। मुग़लों के आक्रमणों को रोकने के लिए अनेक क़िले बनाये गये थे। सेना के अफ़सर माल के महकमे का भी काम किया करते थे। सुलतान के प्रति उनकी भक्ति इसी बात पर निर्भर थी कि वे उसका नमक खाते थे।

आज-कल की तरह उस समय क़ानून के ज़ाब्ते न थे। दीवानी के मामलों

में हिन्दू और मुसलमान दोनों धर्मशास्त्र अथवा हदीस का अनुसरण करते थे। परन्तु फ़ौजदारी के मामलों में राज्य के कर्मचारी अपराध के अनुसार दण्ड देते थे। दण्ड प्राय: कठोर दिये जाते थे। कभी-कभी अपराधियों को कठिन शारीरिक यन्त्रणाएँ भी दी जाती थीं, यद्यपि लोकमत ऐसे दण्डों के विरुद्ध रहता था। इसी लिए फ़ीरोज़ तुग़लक़ ने इन्हें बन्द कर देने का भरसक प्रयत्न किया था। अदालतों में क़ाज़ी इन्साफ़ करते थे और मुक़दमा फ़ैसल करने के आसान तरीक़ों से काम लेते थे। जब कभी क़ाज़ी को किसी बड़े अमीर का मुक़दमा करना होता तो मीरदाद नाम का अफ़सर उसकी सहायता करता था। क़ाज़ी के फ़ैसले की अपील सुलतान के पास होती थी और उचित कारण होने पर उसमें वह उलट-फेर कर देता था।

जनता की सामाजिक दशा—मुसलमान अमीर शान-शौकत से जीवन व्यतीत करते थे। उनकी आमदनी भी बहुत थी। जुआ और शराबखोरी का रवाज था। कभी-कभी सुलतान की ओर से इनको रोकने के लिए कठोर दण्डों का विधान भी किया जाता था। दास-प्रथा थी। सुलतानों और अमीरों के निजी ग़ुलाम हुआ करते थे। कभी-कभी उन्हें शिक्षा भी दी जाती थी और वे राज्य में ऊँचे-ऊँचे पदों तक पहुँच जाते थे। देश में अपार धन था। अलाउद्दीन के दक्षिण से अतुल धन ले आने और यहाँ से तैमूर के सोना-चाँदी तथा जवाहिरात की राशि ले जाने से यह बात भली भाँति सिद्ध होती है। दिल्ली के लोग ईंट-पत्थर के बने हुए पक्के मकानों में रहते थे जिनके फ़र्श सङ्गमरमर जैसे सफ़ेद पत्थर के बने होते थे। मकान दोमंज़िले प्राय: बहुत कम होते थे। हिन्दू-मुसलमान दोनों पीर-औलिया की पूजा करते थे। परन्तु कुछ सुलतानों ने फ़क़ीरों की दरगाहों में औरतों के जाने की मनाही कर दी थी। छोटी अवस्था में लड़की की शादी कर देना प्रतिष्ठा और सम्पन्नता की बात समझी जाती थी। सती की प्रथा थी, यद्यपि किसी-किसी सुलतान ने इसे बन्द करने का उद्योग किया था। क़र्ज़ का क़ानून बड़ा कठोर था। महाजन अपने क़र्ज़दार को ग़ुलाम बनाकर बेच देते थे। जादू-टोने में लोग खूब विश्वास करते थे। कभी-कभी सुलतान भी हिन्दू योगियों की क्रियाएँ देखने जाते थे। दान का कार्य राजा और प्रजा दोनों की ओर से होता रहता था। कुछ सुलतानों को ग़रीबों और कङ्गालों की सहायता का विशेष ध्यान रहता था। वे साल में दो बार ग़रीबों और मँगतों की फ़ेहरिस्त बनवाते थे और छः महीने के लिए एक साथ ही उन्हें भोजन-वस्त्र प्रदान करते थे।

दुर्भिक्ष से प्रजा के धन-जन की प्राय: क्षति होती रहती थी। राज्य की ओर से कृषि की उन्नति के लिए किसानों को अनेक उपाय बतलाये जाते थे और उन्हें कुआँ खोदने के लिए रुपया तथा बीज के लिए शाही खत्तियों से अनाज

दिया जाता था। किसानों की सहायता के लिए मुहम्मद तुग़लक़ ने ७० लाख तनक़ा खर्च किया था। अच्छे समय में सुख-शान्ति अधिक रहती थी और प्रजा तथा राजा दोनों मेहमानों और विदेशी लोगों के साथ के प्रेम का व्यवहार करते थे।

राज्य की ओर से अनेक कारखाने खोले गये थे जहाँ सुलतान, उसकी बेग़मों तथा अमीरों के लिए कमखाब आदि बहुमूल्य वस्त्र और अन्य ऐश्वर्य की सामग्रियाँ तैयार की जाती थीं। उन कारखानों में सहस्रों कारीगर काम करते थे। एक समय शाही कारखाने में केवल सलमा-सितारे का सुनहला काम करनेवाले कारीगर ५०० थे। विदेशों की अपेक्षा भारत का व्यापार उन्नत दशा में था। सूरत और भड़ौच के वन्दरगाहों में दूर-दूर के देशों के व्यापारी भारतीय माल खरीदने के लिए उतरा करते थे।

साहित्य—मुसलमान सुलतान विद्वानों के संरक्षक और आश्रयदाता थे। उनके समय में फ़ारसी के अनेक प्रसिद्ध कवि हुए, जिनमें अमीर खुसरो, मीर हसन देहलवी और वदरचाच के नाम अधिक प्रसिद्ध हैं। हिन्दुओं के विपरीत मुसलमान विद्वानों में प्रायः अनेक क्रम-बद्ध इतिहास के लेखक थे। उस समय के इतिहास-लेखकों में मिनहाज उससिराज, ज़ियाउद्दीन वर्नी और शम्स-सिराज अफ़ीफ़ के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। धर्म, ज्योतिष और स्वास्थ्य-विज्ञान का अध्ययन लोग विशेष रूप से करते थे और उस समय इन विषयों पर अनेक पुस्तकें भी लिखी गई थीं। संस्कृत की अनेक पुस्तकों का फ़ारसी में अनुवाद किया गया। सिकन्दर लोदी ने वैद्यक के एक संस्कृत-ग्रन्थ का फ़ारसी में अनुवाद कराया और उसका नाम तिव्व-सिकन्दरी रक्खा। फ़ीरोज़ ने दिल्ली में एक बहुत बड़ा विद्या-पीठ स्थापित किया था, जिसमें विद्यार्थियों और अध्यापकों के रहने का प्रवंध था।

मिथिला (वर्तमान तिरहुत) में संस्कृत-विद्या की खूब उन्नति हुई। अनेक विद्वानों ने मैथिली भाषा का अध्ययन किया। महाकवि विद्यापति ने अपने पद मैथिली भाषा में लिखे। संस्कृत का समुचित अध्ययन और अध्यापन दक्षिण में विजयनगर के अधिपतियों के संरक्षण में होता था। उनके समय में संस्कृत में अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थ बने जिनका वर्णन पहले किया जा चुका है।

इस समय उत्तरी भारत में हिन्दी-साहित्य की काफ़ी वृद्धि हुई। पृथ्वीराज के दरबारी कवि चन्द बरदाई ने भी इसी काल में कविता की। हिन्दी भाषा का वह पहला कवि कहा जाता है। अमीर खुसरो की पहेलियाँ, जो हिन्दी-साहित्य में सर्वदा अपना एक विशिष्ट स्थान रक्खेंगी, इसी समय लिखी गई थीं। गोरखनाथ तथा अन्य सिद्धों के दोहे, रामानन्द, कबीर और नानक के

पद इसी समय कहे गये। ये जन-साधारण की भाषा में थे। बाद को उनके शिष्यों ने इन्हें लिपिबद्ध किया।

भिन्न-भिन्न प्रान्तों की जनता की भाषा और साहित्य की उन्नति की ओर मुसलमान शासकों की बरावर सहानुभूति रहती थी। बङ्गाल, गुजरात तथा जौनपुर के शासकों ने अपने प्रान्तों में साहित्य को बड़ा प्रोत्साहन दिया। उस समय दिल्ली, आगरा, जौनपुर, बदायूँ और बीदर विद्या के प्रसिद्ध केन्द्र थे। इनमें कुछ तो उतने ही प्रसिद्ध हो गये जितने कि एशिया के बुखारा, समरक़न्द और शीराज़ आदि नगर थे।

कला—दिल्ली के सुलतानों को इमारतें बनाने का बड़ा शौक़ था। वास्तु-कला के सम्बन्ध में उनके अपने विचार थे। परन्तु, आरम्भ में उन्हें हिन्दू और जैन-मन्दिरों की सामग्री से काम लेना पड़ा और कारीगर भी हिन्दू ही मिले, इसलिए मुसलमानी और हिन्दू वास्तु-कला का सम्मिश्रण हो गया। इस सम्मिश्रण से एक नवीन कला का आविर्भाव हुआ जिसे 'हिन्दू-मुसलमानी' कला कहा जा सकता है।

क़ुतुबुद्दीन और ईल्तुतमिश के समय की इमारतों में अजमेर की मसजिद और दिल्ली की क़ुतबी मसजिद तथा क़ुतुब मीनार बहुत प्रसिद्ध है। क़ुतुब-मीनार को, जिसकी उँचाई लगभग ३४२ फ़ीट है, क़ुतुबुद्दीन ने बनवाना आरम्भ किया था परन्तु उसे ईल्तुतमिश ने पूरा किया। अलाउद्दीन एक युद्ध-प्रिय शासक था किन्तु उसने भी अपना ध्यान इमारतों के बनाने की ओर रक्खा और अनेक दुर्ग, महल तथा तालाब बनवाये। सन् १३११ ई० का बना हुआ 'अलाई दर्वाज़ा' उस समय की कला का सुन्दर नमूना है। अलाउद्दीन की मृत्यु के बाद तुग़लकों के समय में वास्तु-कला में कुछ विशेष परिवर्तन हो गये। तुग़लकों के निर्माण किये हुए भवनों में प्रौढ़ता और सादगी स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। तुग़लक़ाबाद का क़िला और तुग़लक़शाह का मक़बरा इस शैली के सर्वोत्कृष्ट नमूने हैं। फ़ीरोज़ को इमारतों में बड़ी रुचि थी। उसने अनेक महल, मसजिदें और तालाब बनवाये और कई नगरों को आबाद किया।

प्रान्तों के स्वाधीन शासकों ने अपनी-अपनी शैली के अनुसार इमारतें बनवाईं जिनका वर्णन पहले किया जा चुका है।

इस्लाम का प्रसार—१२वीं शताब्दी के अन्तिम काल में दिल्ली की जीत के साथ-साथ देश में इस्लाम धर्म का बड़े ज़ोरों से प्रसार होने लगा। इसकी उन्नति के प्रधान कारण ये थे—(१) इस्लाम धर्म की सादगी, उपासना के आडम्बर का अभाव और उसका एक ही ईश्वर के अस्तित्व पर ज़ोर देना तथा यह कहना कि मनुष्य को केवल एक ईश्वर की प्रार्थना करनी चाहिए; (२) हिन्दुओं के अन्तर्गत भिन्न-भिन्न जातियों का एक दूसरे पर अत्याचार करना,
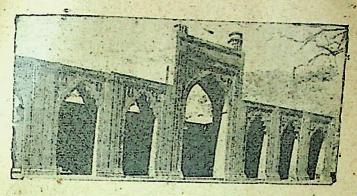
सुल्तान मुहम्मद गोरी का मकबरा
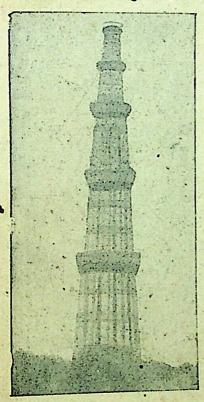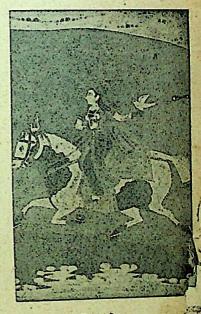
कुतुबमीनार

रजिया बेगम

सुल्तान मुहम्मद गोरी के सिक्के

ईल्तुतमिश के सिक्के

अलाउद्दीन के सिक्के

गयासद्दीन तुगलक़ का मक़बरा

बाबर अपनी जीवनी लिखा रहा है

अकबर के सिक्के

जहाँगीर के सिक्के

नूरजहाँ और जहाँगीर के सिक्के

शाहजहाँ के सिक्के

...ंगजेब के सिक्के
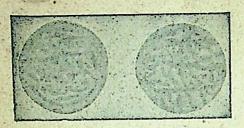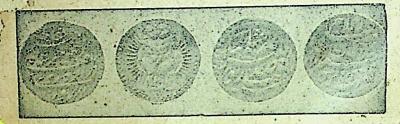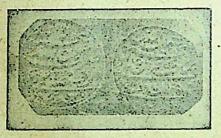
मुहम्मदशाह के सिक्के

गयासुद्दीन तुगलक का र

बाबर का चरित्र—बाबर मध्यकालीन इतिहास के विचित्र पुरुषों में है। वह अदम्य साहसी और शारीरिक बलवाला मनुष्य था। दो आदमियों को दोनों ओर अपनी बाँह के नीचे दबाकर वह बड़ी आसानी से क़िले की दीवार पर दौड़ सकता था। हिन्दुस्तान में, उसके मार्ग में, जितनी नदियाँ पड़ी थीं उन सबको उसने तैरकर पार किया था। घोड़े की पीठ पर वह दिन में ८० मील तक चढ़ा चला जाता था। उसे आखेट से प्रेम था और तलवार तथा तीर चलाने में भी वह अत्यन्त कुशल था। एक बड़ा सैनिक होते हुए भी उसका हृदय कोमल था। विजय के बाद अपने सिपाहियों को वह कभी लूट-खसोट और अत्याचार नहीं करने देता था। अपने कुटुम्बियों के साथ वह प्रेम और दया का व्यवहार करता था। वह स्पष्टवक्ता, हँसमुख और अपनी बात का पक्का था। अपने शत्रुओं को दिये हुए वचन का भी पालन करता था। वह स्वयं पक्का सुन्नी मुसलमान था, परन्तु अन्य धर्मवालों के साथ उदारता का बर्ताव करता था। उसे सङ्गीत-विद्या से बड़ा प्रेम था। आनन्द-प्रमोद के लिए एकत्र हुई मित्रमण्डली और प्रीति-भोजों में उसे बड़ा आनन्द आता था।

इन गुणों के अतिरिक्त बाबर में कुछ और भी गुण थे जो उस समय के अन्य बादशाहों में नहीं पाये जाते। वह बड़ा विद्या-प्रेमी था और कविता भी करता था। उसके क़सीदे और ग़ज़लें अब तक बड़े प्रेम से पढ़ी जाती हैं। वह प्रकृति के सौन्दर्य का अनन्य प्रेमी था। नदियों अथवा पहाड़ों और झरनों के सुन्दर दृश्य को देखकर उसके प्रफुल्लित हृदय के भाव कविता के रूप में प्रकट हो पड़ते थे। वह गद्य भी खूब लिखता था। वह तुर्की और फ़ारसी दोनों भाषाएँ समान-सुगमता के साथ लिख-पढ़ सकता था और एक अनुभवी साहित्य मर्मज्ञ की भाँति अन्य साहित्यिकों की रचनाओं की समालोचना करता था। बाबर की सबसे महत्त्वपूर्ण गद्य-रचना उसकी संसार-प्रसिद्ध आत्मकथा अर्थात् "बाबरनामा" है, जिसमें उसने अपने जीवन की कहानी बड़ी सचाई और स्पष्टता से लिखी है। इस पुस्तक के पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि बाबर की गणना संसार के अत्यन्त योग्य और प्रतिभाशाली बादशाहों में होनी चाहिए।

हुमायूँ की प्रारम्भिक कठिनाइयाँ—बाबर की मृत्यु के बाद उसका बेटा नासिरुद्दीन हुमायूँ सन् १५३० ई० में आगरा में गद्दी पर बैठा। उस समय उसकी अवस्था २३ वर्ष की थी। हुमायूँ के अतिरिक्त बाबर के तीन बेटे और थे—कामरान, अस्करी और हिन्दाल। मरते समय बाबर ने हुमायूँ से अपने भाइयों के साथ दया का बर्ताव करने का आदेश किया था। हुमायूँ ने पिता की अन्तिम इच्छा का बराबर ध्यान रक्खा। परन्तु उसके भाइयों ने उसे सदैव कष्ट दिया। तैमूर के वंश की प्रथा के अनुसार बाबर की मृत्यु के बाद साम्राज्य चार भागों में विभक्त किया गया। साम्राज्य का अधिकांश

हुमायूँ को मिला। काबुल और क़न्धार कामरान को, सम्भल अस्करी को मेवात तथा अलवर हिन्दाल को दिये गये।

नये सम्राट् को बाह्य और आभ्यन्तरिक दोनों प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। बाबर ने एक बहुत बड़े राज्य को अवश्य जीता था। परन्तु उसका यथोचित प्रबन्ध करने का उसे अवसर नहीं मिला था। देश में छोटे-बड़े अनेक राजा और सरदार थे जिनकी नये राजवंश के साथ कुछ भी सहानुभूति न थी। उधर स्वयं बादशाह के कुटुम्ब में हीं ईर्ष्या और वैमनस्य का प्राधान्य था। सम्राट् के भाई आपस में मिलकर उसे हिन्दुस्तान के साम्राज्य से वञ्चित करने का षड्यन्त्र रच रहे थे। सबसे अधिक विश्वासघाती कामरान सिद्ध हुआ। उसने पञ्जाब पर अधिकार स्थापित कर लिया और स्वतन्त्र शासक बन बैठा। सेना की स्वामि-भक्ति का कोई भरोसा नहीं था; क्योंकि उसमें भिन्न-भिन्न देशों के सिपाही भर्ती किये जाते थे। तुर्क, उज़बेग, मुग़ल और ईरानी सैनिकों को प्रेम के एक ही धागे में सम्बद्ध करने का कोई साधन नहीं था। साम्राज्य के बाहरी शत्रु उसके सर्वनाश का अलग उपाय सोच रहे थे। बाबर से पराजित होकर अफ़ग़ान थोड़ी देर के लिए दब अवश्य गये थे परन्तु उसके मरते ही वे बङ्गाल और बिहार में जम गये थे और अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा को पुन: प्राप्त करने का उपाय कर रहे थे। इसके अतिरिक्त गुजरात का सुल-तान बहादुरशाह, जो एक वीर और हौसलामन्द शासक था, दिल्ली को जीतने की हार्दिक इच्छा रखता था।

हुमायूँ और शेरशाह का युद्ध—हुमायूँ ने सबसे पहले अफ़ग़ानों से निपटने की ओर ध्यान किया। सन् १५३१ ई० में उसने अफ़ग़ान सरदार महमूद लोदी को लखनऊ के समीप एक युद्ध में पराजित किया। लड़ाई में महमूद लोदी मारा गया। अब अफ़ग़ानों का नेतृत्व शेर खाँ को मिला। शेर खाँ मुग़लों को हिन्दुस्तान से बाहर निकालने के लिए बहुत दिनों से उत्सुक था। हुमायूँ ने शेर खाँ पर चढ़ाई की परन्तु उसने अधीनता स्वीकार कर ली, इसलिए बादशाह दिल्ली वापस चला आया। हुमायूँ के दिल्ली वापस आने का उस समय एक दूसरा कारण भी था। गुजरात के बादशाह बहादुरशाह ने पराजित होकर भागे हुए लोदी अफ़ग़ानों को अपने यहाँ शरण दे रक्खी थी, इसलिए हुमायूँ को उसकी ओर से शङ्का थी। उसने शीघ्र गुजरात पर चढ़ाई कर दी। बहादुरशाह पराजित हुआ और गुजरात पर हुमायूँ का अधिकार हो गया। परन्तु अधिक समय तक स्थापित न रह सका। ज्योंही हुमायूँ गुजरात से रवाना हुआ त्योंही बहादुरशाह ने आकर सारे देश पर पूर्ववत् अधिकार कर लिया। इसी समय मालवा भी मुग़लों के हाथ से निकल गया।

शेर खाँ का असली नाम फ़रीद था। उसका बाप हसन, शाहाबाद ज़िले में,

सहसराम का जागीरदार था। अपनी सौतेली माँ के दुर्व्यवहार से तङ्ग आ फ़रीद घर छोड़कर जौनपुर चला गया था और वहाँ उसने बड़े परिश्रम लगन से अरबी और फ़ारसी का अध्ययन किया था। कुछ दिनों के बाद जब घर लौटा तो उसके बाप ने उसकी योग्यता से प्रभावित होकर जागीर का सा प्रबन्ध उसके सुपुर्द कर दिया। फ़रीद ने जागीर का बड़ा अच्छा प्रबन्ध किया उसने विद्रोही ज़मींदारों को दबाया और नये सिरे से बन्दोबस्त करके किसा की दशा सुधारने का उद्योग किया। परन्तु इस अच्छे काम के बदले, सौतेल माँ के कुचक्र के कारण, उसे फिर घर छोड़कर बाहर जाना पड़ा। इस बार उसे बिहार के सूबेदार के यहाँ नौकरी मिल गई। यहीं उ एक बार शेर के मारने पर शेर ख़ाँ की उपाधि मिली। धीरे-धीरे अपनी [illegible] और शक्ति के द्वारा उन्नति करते-करते उसने सारे बिहार पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया और सन् १५३५ ई० में बङ्गाल पर चढ़ाई कर दी। बङ्गाल के अफ़ग़ान सुलतान ने उसे एक गहरी रक़म दी, जिससे गौड़ की शहरपनाह के भीतर पहुँचकर भी वह वहाँ से वापस चला आया। लौटने पर उसने रोहतास के क़िले को जीतकर अपने अधिकार में कर लिया, जिससे उसकी शक्ति और भी बढ़ गई।

शेर ख़ाँ की बढ़ती हुई शक्ति को देखकर हुमायूँ भयभीत हुआ। उसने झटपट बिहार की ओर कूच किया और चुनार के क़िले पर क़ब्ज़ा कर लिया। जब शेर ख़ाँ ने देखा कि वह खुले मैदान में युद्ध में न जीत सकेगा तो उसने हुमायूँ को गौड़ की तरफ़ चला जाने दिया। परन्तु वहाँ पहुँचकर हुमायूँ अपनी स्वाभाविक काहिली के कारण बेकाम हो गया और उसने ऐश-आराम में बहुत-सा समय व्यर्थ नष्ट कर डाला। इतने में शेर ख़ाँ ने हुमायूँ [illegible] दिल्ली आने का रास्ता बंद कर दिया। जब हुमायूँ बिहार की ओर लौटा तो गङ्गा के तट पर चौसा नामक स्थान पर, सन् १५३९ ई० में, शेर ने उसे युद्ध में पराजित किया। हुमायूँ अपनी प्राण-रक्षा के लिए नदी में कूद पड़ा और एक भिश्ती ने बड़ी कठिनाई से उसकी जान बचाई। शेर ख़ाँ सारे बङ्गाल और बिहार का मालिक हो गया और उसने शेरशाह की उपाधि धारण की।

हुमायूँ ने आगरा पहुँचकर अफ़ग़ानों से लड़ने की तैयारी शुरू की। इधर शेरशाह कन्नौज तक आ गया था और गङ्गा के तट पर उसने डेरा डाल दिया था। हुमायूँ भी अपनी सेना के साथ उसी ओर चल दिया। मई सन् १५४० ई० में दोनों दलों का सामना हुआ और बड़ी घमासान लड़ाई हुई जिसमें मुग़लों को बुरी तरह हारकर पीछे हटना पड़ा। हुमायूँ अपनी जान बचाने के लिए रण-क्षेत्र से भागा और दिल्ली तथा आगरा में शेरशाह का आधिपत्य स्थापित हो गया।

हुमायूँ का भागना—हिन्दुस्तान का साम्राज्य खोकर हुमायूँ मारवाड़ और सिन्ध के मरुस्थल में मारा मारा भटकता फिरा। जोधपुर के राजा मालदेव ने

को कुछ भी सहायता न की। बड़ी मुसीबत उठाता हुआ अन्त में बादशाह रकोट पहुँचा। वहाँ राना ने उसका स्वागत किया। यहीं पर १५४२ ई० को, दा बानू बेगम के गर्भ से, मुग़ल-वंश के सबसे शक्तिशाली सम्राट् अकबर जन्म हुआ। निर्धन होने के कारण हुमायूँ पुत्र के जन्म पर कोई समुचित सव न मना सका। अपने शत्रुओं से बचने के अभिप्राय से उसने क़न्दहार में ने भाई के यहाँ शरण लेनी चाही; परन्तु वह उसका घोर शत्रु सिद्ध हुआ। त में दुखी और निराश होकर हुमायूँ फ़ारस को चला गया।

शेरशाह सूरी की अन्य विजयें—दिल्ली का सिंहासन लेने के बाद शेरशाह ने अन्य देशों पर विजय प्राप्त करने का उद्योग किया। उसकी सेना ने घक्कड़ों के देश को उजाड़ दिया और उसके सरदारों का दमन किया। इसके बाद उसने मालवा, रायसीन और सिन्ध को जीतकर जोधपुर के राजा मालदेव पर चढ़ाई की और उसे बड़ी चालाकी से युद्ध में पराजित किया; शेरशाह की अन्तिम चढ़ाई कालिञ्जर के राजा पर हुई थी। जिस समय उसकी जीत होनेवाली थी, बारूद में आग लग जाने के कारण, उसका शरीर बुरी तरह जल गया और उसी दिन शाम को (२३ मई सन् १५४५ ई०) उसका प्राणान्त हो गया। शेरशाह की मृत्यु होने पर अफ़ग़ान-साम्राज्य के क़ायम रहने की आशा जाती रही।

शेरशाह सूरी का शासन-प्रबन्ध—मध्यकालीन भारत के शासकों में शेरशाह का नाम अग्रगण्य है। वह राजत्व का बहुत ऊँचा आदर्श रखता था और कहा करता था कि जितना ही बड़ा आदमी हो उसको उतना ही अधिक परिश्रम-शील होना चाहिए। उसके शासन के पाँच प्रधान लक्ष्य थे—(१) अत्याचार से प्रजा की रक्षा करना, (२) जुर्मों का दमन (३) साम्राज्य में सुख-शान्ति की स्थापना, (४) सड़कों को सुरक्षित करना और (५) व्यवसायियों तथा सिपाहियों की सुविधा का प्रबन्ध करना।

सारा साम्राज्य 'सरकारों' में और 'सरकार' परगनों में विभाजित किये गये थे। प्रत्येक परगने में 'शिक़दार' और 'अमीन' दो प्रबन्ध-कर्ता होते थे। इनकी मदद के लिए दो मुंशी और ख़ज़ानची होते थे। दो मुंशियों में से एक हिन्दी में और दूसरा फ़ारसी में लिखता था। 'शिक़दार' मालगुज़ारी का अफ़सर होता था। सम्राट् ने सारे देश की पैमाइश कराई थी और भूमि की नाप के अनुसार साम्राज्य भर में लगान की दर निश्चित की थी। केवल मुलतान के इलाके में यह नियम नहीं जारी किया गया था। वहाँ के स्थानीय अफ़सरों को रवाज के अनुसार लगान वसूल करने की आज्ञा थी। पैदावार का $\frac{1}{4}$ राज्य का भाग समझा जाता था। ऐसा प्रतीत होता है कि किसान इच्छानुसार नक़द रुपया अथवा जिंस के रूप में सरकारी लगान दे सकते थे। मालगुज़ारी

का ठेका अब भी दिया जाता था और ज़मीन देने की शर्तों में कोई रद्द-बदल नहीं किया जाता था। बाद को राजा टोडरमल ने शेरशाह द्वारा चलाई इसी प्रणाली को अकबर के समय में उसके सारे साम्राज्य में प्रचलित किया था।

सेना और माल के दोनों विभाग साथ-साथ काम करते थे। प्रत्येक अमीर को एक निश्चित सेना रखनी पड़ती थी और उसे ठीक दशा में रखने की ताकीद की जाती थी। घोड़े के दागने की प्रथा फिर जारी की गई जिससे अमीर धोखा न दे सकें। बादशाह की स्थायी सेना में एक लाख सवार और २२ हज़ार पैदल थे। सिपाहियों को वह स्वयं देखकर भर्ती करता था और उनकी जाँच करके वेतन नियत करता था। न्याय के विभाग का भी अच्छा प्रवन्ध था। देहात में अपराधों को रोकने की ज़िम्मेदारी मुखियों और मुक़द्दमों पर थी। यदि अपराधी का पता मुखिया न लगा सकते तो उन्हें स्वयं हरजाना देना पड़ता था। राज्य में बहुत-से गुप्तचर थे जो साम्राज्य के प्रत्येक भाग की खबर बादशाह को देते थे। मनुष्य के धन और जीवन की पर्याप्त सुरक्षा थी, यहाँ तक कि यात्रियों को जङ्गल में ठहर जाने में भी किसी प्रकार का भय अथवा अन्देशा नहीं था।

सेना को देश के एक भाग से दूसरे भाग में शीघ्रता से ले जाने के लिए शेरशाह ने पुरानी सड़कों की मरम्मत कराई और कई नई सड़कें बनवाईं। एक सड़क, जिसे आजकल, ग्राण्ड ट्रङ्क रोड, कहते हैं, पञ्जाब से ढाके के पास सुनारगाँव तक जाती थी। एक दूसरी सड़क आगरा से बुरहानपुर तक, तीसरी आगरा से जोधपुर और चित्तौड़ तक, और चौथी सीमान्त-प्रदेश की रक्षा के लिए लाहौर से मुलतान तक बनाई गई थी। सड़कों के किनारों पर हरे वृक्ष लगाये गये थे। और सरायें बनाई गई थीं, जहाँ हिन्दू और मुसलमान दोनों के लिए खाने-पीने का प्रवन्ध रहता था। इन सड़कों के बन जाने से व्यापार की काफ़ी उन्नति हुई। चुङ्गी केवल दो बार ली जाती थी और इसके अतिरिक्त जो कर लिए जाते थे, बन्द कर दिये गये थे। ऐसी दशा में व्यापार की अच्छी उन्नति हुई और देश मालामाल हो गया।

शेरशाह विद्वानों का आश्रयदाता था। उसने कई स्कूल और कालिज स्थापित किये और हिन्दू, मुसलमान दोनों की शिक्षा के लिए रुपया दिया। शेरशाह के नियमों में कोई नई बात नहीं थी। परन्तु इतना अवश्य है कि उसने शासन में इनका अनुसरण बड़ी सावधानी से किया। इसी लिए उसे सफलता भी अच्छी प्राप्त हुई। प्रान्तीय और केन्द्रीय दोनों सरकारें बड़ी मुस्तैदी से काम करती थीं। खेद यही है कि शेरशाह अपना कार्य पूरा करने के पहले ही मर गया। परन्तु उसकी मृत्यु के बाद अकबर ने बड़ी सफलता के साथ उसी के नियमों

काम लिया। यह शेरशाह की प्रतिभा का एक ज्वलन्त प्रमाण है। यदि वह अधिक समय तक जीवित रहता तो मुग़लों का फिर हिन्दुस्तान लौटना असम्भव हो जाता।

चरित्र—भारतीय इतिहास में शेरशाह की गिनती श्रेष्ठ बादशाहों में है। वह कहता था कि राजगद्दी ऐश-आराम के लिए नहीं बल्कि परिश्रम करने के लिए है। प्रजा के हित की उसे सदैव चिन्ता रहती थी और इसके लिए वह बराबर प्रयत्नशील रहता था। वह स्वयं पक्का सुन्नी मुसलमान होते हुए भी धर्मान्ध नहीं था। हिन्दुओं के साथ उसका वर्ताव अच्छा था। उन्हें अपना धर्म पालने की पूरी स्वतन्त्रता थी। राज्य में भी उन्हें बड़े-बड़े ओहदे दिये जाते थे। सुलतान नियम-पूर्वक अपना जीवन व्यतीत करता था। वह प्रातःकाल उठता था। स्नान और नमाज़ से निश्चिन्त होकर राज्य के काम में जुट जाता था और सारे दिन काम करता रहता था। केवल भोजन करने के लिए थोड़ी देर तक काम बन्द कर देता था। वह न्यायप्रिय था और अपराधियों को कठोर दण्ड देता था। दीनों और असहायों पर सदा दया करता था। भूखे और दीन मनुष्यों को प्रति समय उसके भोजनालय से भोजन दिया जाता था। किसानों की रक्षा का वह सदैव ध्यान रखता था और खेती को हानि पहुँचानेवालों को कठिन दण्ड देता था।

शेरशाह के उत्तराधिकारी—शेरशाह की मृत्यु के बाद उसका छोटा बेटा जलाल सलीमशाह के नाम से गद्दी पर बैठा। सलीमशाह बड़े उग्र स्वभाव का मनुष्य था और बलशाली शासन स्थापित करना चाहता था। उसने बड़ी निर्दयता के साथ अमीरों का दमन करना चाहा और उनके अधिकारों को छीन लिया। उसने उनकी सैनिक शक्ति कम कर दी और अपनी आज्ञाओं का ठीक पालन करने के लिए जगह-जगह गुप्तचर तथा सैनिक रख दिये। सलीम ने अमीरों को तो दबा दिया परन्तु उसकी इस अदूरदर्शी नीति ने अफ़ग़ानों के राष्ट्रीय ऐक्य का विनाश कर दिया।

सलीम की मृत्यु के बाद उसका बेटा फ़ीरोज़ गद्दी पर बैठा। वह केवल १२ वर्ष का बालक था। सन् १५५४ ई० में उसके मामा मुबारक खाँ ने उसका वध कर डाला और स्वयं मुहम्मदशाह आदिल के नाम से गद्दी पर बैठ गया। आदिलशाह एक विलास-प्रिय मनुष्य था। उसने राज्य का सारा कार-बार हेमू नामक मन्त्री के सुपुर्द कर दिया था। हेमू बड़ा सच्चरित्र और योग्य पुरुष था। आदिलशाह की मूर्खता के कारण चारों ओर देश में विद्रोह फैलने लगा। राज्य के अनेक दावादार उठ खड़े हुए। इब्राहीम ने दिल्ली और आगरे पर अधिकार कर लिया। परन्तु सिकन्दर सूर ने उसे वहाँ से निकाल बाहर किया और गङ्गा और सिन्ध नदियों के बीच के समस्त देश पर अपना अधिकार

स्थापित कर लिया। आदिलशाह चुनार को चला गया और वहीं रहने ल[illegible]। हुमायूँ के लौटने के समय अफ़ग़ान-साम्राज्य की यह दशा थी।

हुमायू का लौटना—शेरशाह से पराजित होकर हुमायूँ फ़ारस को च[illegible] गया था। वहाँ फ़ारस के बादशाह ने उसके साथ सौजन्यपूर्ण व्यवहार कि[illegible] और उसे ४ हज़ार सिपाहियों की सेना दी। इसकी सहायता से हुमायूँ [illegible] कामरान को हराया और काबुल तथा क़न्दहार पर अपना अधिकार स्थापित [illegible] लिया। अफ़ग़ान देश को जीतने के बाद हुमायूँ ने हिन्दुस्तान को फिर से जीत[illegible] का विचार किया। उस समय आपस के झगड़ों के कारण अफ़ग़ान शक्तिहीन हो गये थे। हुमायूँ ने पहले लाहौर पर धावा किया और उसे सुगमता से जीत लिया। इसके बाद उसने दिल्ली पर चढ़ाई कर दी। सरहिन्द के पास जून सन् १५५५ ई० में उसका सिकन्दर सूर से सामना हुआ। सिकन्दर सूर युद्ध में पराजित हुआ। इस प्रकार विजयी हुमायूँ ने १५ वर्ष के बाद दिल्ली नगर में प्रवेश किया। हुमायूँ की विजय तो हुई परन्तु वह अधिक काल तक जीवित न रहा। अपने पुस्तकालय की सीढ़ियों से गिरकर चोट खा जाने से जनवरी सन् १५५६ ई० में उसकी मृत्यु हो गई।

चरित्र—स्वभावतः हुमायूँ बड़ा उदार और दयालु था। अपने कुटुम्बियों के साथ वह सदैव दया का बर्ताव करता था और, उनके विश्वासघात करने पर भी, उनसे बदला लेने की इच्छा नहीं रखता था। वह साहसी और वीर था किन्तु आलस्य और विलास-प्रियता के कारण उसका उद्योग प्रायः असफल रहता था। वास्तव में उसमें दृढ़-इरादे की कमी थी। जब तक एक काम पूरा नहीं हो पाता था, तब तक वह दूसरा आरम्भ कर देता था और इस प्रकार दोनों काम बिगड़ जाते थे। वह अपने बाप की तरह कुशल सेनाध्यक्ष नहीं था। उसकी लड़ाइयों से उसकी सैनिक अयोग्यता प्रकट होती है। हाँ, वह विद्वान् अवश्य था। ज्योतिष और गणित में प्रवीण था। वह कविता करता था। उसके चरित्र में एक विशेषता थी। वह यह कि कठिन से कठिन आपत्ति आने पर भी वह घबड़ाता नहीं था और जो सङ्कट के समय उसके साथ नेकी करते थे उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करता था।

संक्षिप्त सन्वार विवरण

बाबर का जन्म	..	..	१४८३ ई०
बाबर की काबुल-विजय	..	..	१५०४ ,,
समरक़न्द की विजय	..	..	१५१० ,,
पानीपत का संग्राम	..	..	१५२६ ,,
खानवा का युद्ध	..	..	१५२७ ,,

..रा का युद्ध	.. ..	१५२९ ई०
..र की मृत्यु	.. ..	१५३० ,,
..ायूँ का महमूद लोदी को पराजित करना	..	१५३१ ,,
..सा की लड़ाई	.. ..	१५३९ ,,
..ज्ञा का युद्ध	.. ..	१५४० ,,
..कवर का जन्म	.. ..	१५४२ ,,
..रशाह की मृत्यु	.. ..	१५४५ ,,
सिकन्दर सूर को सरहिन्द पर पराजित करना	..	१५५५ ,,
हुमायूँ की मृत्यु	.. ..	१५५६ ,,

अध्याय २३

ऐश्वर्य के युग का आरम्भ

अकबर महान् (१५५६—१६०५ ई०)

अकबर की प्रारम्भिक कठिनाइयाँ—सन् १५५६ ई० में हुमायूँ की मृत्यु के बाद उसका बेटा जलालुद्दीन मुहम्मद अकबर दिल्ली की गद्दी पर बैठा। उसकी अवस्था इस समय केवल तेरह वर्ष की थी। हिन्दुस्तान की राजनीतकि स्थिति भी सन्तोषजनक नहीं थी। उत्तर तथा दक्षिण में अनेक शक्तिशाली राज्य थ। हुमायूँ ने अपने साम्राज्य का केवल एक भाग ही प्राप्त किया था और उसकी विजय भी पूर्ण नहीं हो पाई थी। काबुल पर अकबर के सौतेले भाई मिर्ज़ा हकीम का अधिकार था और वह स्वतन्त्र शासक की तरह वहाँ राज्य कर रहा था। सिकन्दर सूर पञ्जाब में उत्पात मचा रहा था और आदिलशाह का मन्त्री हेमू अकबर से दिल्ली का साम्राज्य छीन लेने का प्रयत्न कर रहा था।

सबसे पहले अकबर ने सूर अफ़ग़ानों की ओर ध्यान किया। अफ़ग़ान-साम्राज्य को फिर स्थापित करने की इच्छा से हेमू ने एक बड़ी सेना लेकर आगरे पर अधिकार कर लिया। इसके बाद उसने दिल्ली पर चढ़ाई की और बड़ी आसानी से मुग़ल सेनापति को पराजित कर दिल्ली को जीत लिया। ऐसी स्थिति में अकबर को कुछ लोगों ने काबुल चले जाने की सलाह दी परन्तु शिया अमीर बैरम ख़ाँ ने, जो उसका संरक्षक था, हेमू के साथ युद्ध करने का निश्चय किया। सन् १५५६ ई० में, पानीपत के मैदान में, दोनों दलों का सामना हुआ। युद्ध

में अफ़ग़ानों की हार हुई। हेमू पकड़ा गया और बैरम खाँ ने उसे क़त्ल दिया। दिल्ली और आगरा पर अकबर का अधिकार स्थापित हो गया।

अब राज्य में बैरम खाँ का प्रभाव बहुत बढ़ गया। अकबर के नाबालिग होने के कारण बैरम खाँ ही राज्य का सर्वसर्वा हो रहा था। वह शिया लोगों के साथ पक्षपात और अन्य अमीरों के साथ कठोरता का व्यवहार करने लगा। राज-द्रोह का सन्देह-मात्र होने पर वह लोगों को मृत्यु-दण्ड दे देता था। इस प्रकार के वर्ताव से अप्रसन्न होकर अमीरों ने बैरम खाँ के विरुद्ध षड्यन्त्र रचा और अकबर के पास जाकर उसकी सारी अनीतियों का वर्णन किया। अकबर शीघ्र दिल्ली पहुँचा और वहाँ घोषणा कर दी कि राज्य का काम अब उसने अपने हाथों मे ले लिया है। बैरम खाँ ने यह देखकर, कि बादशाह का विरोध करना असम्भव है, अधीनता स्वीकार कर ली। अकबर ने उसे क्षमा प्रदान की और मक्का जाने की आज्ञा दे दी। परन्तु जिस समय वह मक्का जा रहा था, सन् १५६१ ई० में, उसको एक अफ़ग़ान ने—जिसके बाप को बैरम खाँ ने फाँसी का दण्ड दिया था—गुजरात में मार डाला। बैरम खाँ का बेटा अबदुर्रहीम, जो अभी बालक था, दरबार में लाया गया। बादशाह ने उसके साथ प्रेम का वर्ताव किया और उसकी शिक्षा का प्रबन्ध कर दिया। धीरे-धीरे वह साम्राज्य का एक प्रभाशाली अमीर हो गया।

अकबर की विजय और साम्राज्य का विकास—अकबर की विजयों को तीन कालों में विभाजित किया जा सकता है। पहले काल में सन् १५७६ ई० तक उसने उत्तरी सूबे, राजपूताना और मध्य-प्रान्त की विजय समाप्त की थी। दूसरे काल के बीस वर्ष में (सन् १५७६ से १५९६ ई०) वह विद्रोह के शान्त करने और उत्तरी सीमान्त-प्रदेश की उपद्रव करनेवाली जातियों के दमन करने में लगा रहा। तीसरे काल के नौ-दस वर्ष (सन् १५९६ से १६०५ ई०) उसने दक्षिण को जीतने में व्यतीत किये।

प्रथम काल—संसार के अन्य प्रसिद्ध शासकों की तरह अकबर भी एक विशाल साम्राज्य बनाना चाहता था। उसके अधिकांश युद्ध साम्राज्य-विस्तार की ही अभिलाषा से किये गये थे। सबसे पहले उसने मालवा पर आक्रमण किया। सूर अफ़ग़ानों के पतन के बाद मालवा स्वाधीन हो गया था और उसके शासक बाजबहादुर ने सुलतान की उपाधि धारण कर ली थी। अकबर ने आदम खाँ के साथ एक बड़ी सेना बाजबहादुर के विरुद्ध भेजी और उसने बाजबहादुर को तो पराजित कर दिया परन्तु लूट के माल को स्वयं हड़प कर लिया। इस पर अकबर ने आदम खाँ को हटाकर उसके स्थान में दूसरा सेनापति नियुक्त किया और सन् १५६४ ई० में मालवा मुग़ल साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया गया। मालवा के बाद गोंडवाना की बारी आई। गोंडवाना पर उस समय रानी

वती शासन कर रही थीं। रानी दुर्गावती की बुद्धि, वीरता तथा शासन-न्धी प्रतिभा की कीर्त्ति चारों ओर फैल रही थी। वह युद्ध करते-करते वीर-को प्राप्त हुई और उसके पुत्र ने भी अपनी वीर-माता का अनुकरण कर लों से लड़कर युद्ध में प्राण विसर्जन किया। गोंडवाना पर मुग़लों का अधि-र हो गया और आसफ़ ख़ाँ को बादशाह ने सूबेदार नियुक्त किया। परन्तु समय के बाद यह राज्य वहीं के एक राजा को दे दिया। उसने अकबर की नता स्वीकार कर ली।

अकबर समस्त भारतवर्ष का सम्राट् होना चाहता था। उसने शुरू ही में इस बात को अच्छी तरह समझ लिया था कि हिन्दुओं की सहायता के बिना उसका मनोरथ सिद्ध न हो सकेगा। राजपूत हिन्दुओं के राजनीतिक नेता थे और बिना उनके सहयोग के उसकी इच्छा पूर्ण नहीं हो सकती थी। इसलिए जब आमेर के राजा भारमल ने सन् १५६२ ई० में अपनी बेटी का विवाह बादशाह के साथ करने की इच्छा प्रकट की तो वह शीघ्र इस सम्बन्ध के लिए तैयार हो गया। भारमल के वंश का साम्राज्य में सम्मान बढ़ा। उसके बेटे भगवानदास और पोते मानसिंह को बादशाह ने बड़े-बड़े ओहदों पर नियुक्त किया। इस विवाह का उसके व्यक्तिगत जीवन और राष्ट्रीय नीति पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। इसी नीति के कारण उसे हिन्दुओं में से कई ऐसे सुयोग्य राजनीतिज्ञ और सेनाध्यक्ष मिले, जिनका मध्यकालीन भारत के इतिहास में एक विशिष्ट स्थान है।

आमेर की मित्रता अकबर की विशाल योजना का केवल एक अंश-मात्र थी। उसने सोचा कि जब तक मेवाड़ का सीसोदिया राना आधिपत्य स्वीकार न करेगा और चित्तौड़ तथा रणथम्भौर के क़िलों पर अपना अधिकार स्थापित न होगा तब तक हिन्दुस्तान का सम्राट् होना कठिन है। इसलिए सन् १५६७ ई० में स्वयं एक बड़ी सेना लेकर उसने चित्तौड़ पर चढ़ाई की और घेरा डाल दिया। उस समय चित्तौड़ में राना उदयसिंह राज्य करता था। वह भयभीत होकर पहाड़ों में जा छिपा, परन्तु उसके वीर सरदार जयमल ने बड़ी वीरता से मुग़लों का सामना किया। जब जयमल मारा गया तब कोई नेता न रहने से राजपूतों का साहस टूट गया। वे जौहर करके शत्रुओं से लड़ने के लिए निकल आये और वीरता के साथ युद्ध करते हुए मारे गये। सन् १५६९ ई० में चित्तौड़ के क़िले पर अकबर का अधिकार हो गया।

चित्तौड़ की पराजय होते ही रणथम्भौर और कालिंजर के क़िलों पर अधिकार करने में अकबर को विशेष कठिनाई नहीं हुई। राजपूताना में उसकी धाक जम गई। बीकानेर, जैसलमेर और राजस्थान के अन्य कई राजाओं ने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली।

परन्तु मेवाड़ की लड़ाई का अभी अन्त नहीं हुआ। सन् १५७२ ई० में

उदयसिंह की मृत्यु के बाद उसका बेटा प्रतापसिंह मेवाड़ का राना हुआ। चित्तौड़ को जीतकर फिर अपने जातीय गौरव को स्थापित करने का सं किया। राना प्रतापसिंह राजस्थान में एक अद्वितीय योद्धा था। राना कुं और राना साँगा के पराक्रम का वृत्तान्त सुनकर उसका उत्साह कई गुना गया था। उसने मुग़लों के साथ मेल करने से इनकार कर दिया और, थ सेना रहते हुए भी, युद्ध की तैयारी कर दी। अकबर ने मानसिंह और आ ख़ाँ को सन् १५७६ ई० में एक बहुत बड़ी सेना के साथ राना प्रताप के वि भेजा। प्रताप बड़ी वीरता से लड़ा परन्तु राजपूतों और मुग़लों की सम्मिलित सेना ने उसे हल्दीघाटी के प्रसिद्ध युद्ध में पराजित किया। राना प्रताप हारकर पहाड़ों पर निवास करने लगा और मुसलमानों ने एक-एक करके उसके सभी क़िलों पर अधिकार कर लिया। किन्तु इस आपत्ति-काल में भी उसका वीर हृदय ज़रा भी विचलित नहीं हुआ। अकबर केवल नाम-मात्र की अधीनता स्वीकार करने पर भी सन्तुष्ट हो जाता परन्तु राना ने अपने महान् आदर्श की रक्षा के लिए जीवन-पर्यन्त युद्ध करना ही अधिक श्रेयस्कर समझा। धीरे-धीरे उसने अपने कई क़िले शत्रुओं से छीन लिये, परन्तु चित्तौड़गढ़ अभी मुसलमानों ही के हाथ में रहा। सन् १५९७ ई० में राना की मृत्यु हो गई। राना प्रताप ने देशभक्ति का जो उज्ज्वल आदर्श उपस्थित किया वह सदैव हमारे लिए गौरव का कारण होगा।

इस काल में अकबर ने कई अन्य महत्त्वपूर्ण विजयें प्राप्त कीं। गुजरात पहले दिल्ली-साम्राज्य का ही एक भाग था और साम्राज्य को उसके बन्दरगाहों से काफ़ी आमदनी होती थी। परन्तु वहाँ के राजवंश के आपस के झगड़ों के कारण अकबर को हस्तक्षेप करने का अच्छा अवसर मिल गया। सन् १५७२ ई० में बादशाह ने स्वयं एक सेना लेकर गुजरात पर चढ़ाई कर दी और उसे जीत लिया। वहाँ के सुलतान की पेंशन नियत कर दी गई और शासन-प्रबन्ध के लिए एक सूबेदार नियुक्त कर दिया गया। परन्तु ज्योंही अकबर वहाँ से वापस हुआ, फिर उत्पात आरम्भ हो गये। मिर्ज़ा लोगों ने, जो सुलतान के सम्बन्धी थे, विद्रोह का झण्डा खड़ा किया। यह ख़बर पाते ही अकबर बड़ी शीघ्रता के साथ गुजरात में फिर पहुँचा और उसने मिर्ज़ाओं को पारजित किया। गुजरात दिल्ली-साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया गया और राजा टोडरमल वहाँ की आर्थिक व्यवस्था के लिए नियुक्त किया गया। गुजरात के बाद बङ्गाल की बारी आई। अपने बाप सुलेमान के मरते ही दाऊद ख़ाँ सन् १५७२ ई० में स्वाधीन सुलतान हो गया था और उसने कई बादशाही क़िलों पर अधिकार कर लिया था। मुग़ल-सेना के सामने युद्ध में वह हार गया और पकड़े जाने पर सन् १५७६ ई० में क़त्ल कर दिया गया। इस प्रकार बङ्गाल के स्वाधीन राज्य का अन्त हो गया।

द्वितीय काल—इस काल में वादशाह का सारा समय विद्रोहों का दमन करने में व्यतीत हुआ। सबसे पहले विद्रोह बङ्गाल और विहार में आरम्भ हुआ। दीवान ने कुछ ऐसे नये नियम जारी किये, जिनसे प्रजा में बड़ा असन्तोष हुआ। इसके अलावा उसने जागीरदारों के अधिकारों और पदों की जाँच-पड़ताल कराई, जिससे वे वड़े भयभीत हुए। दीवान की आज्ञाओं से लाभ उठाकर लालची अफ़सरों ने खूब मुट्ठियाँ गरम कीं। ऐसी परिस्थिति के कारण, शीघ्र ही चारों ओरों ओर अशान्ति फैल गई। उधर मुसलमान लोग भी यह सुनकर, कि वादशाह इस्लाम की अवहेलना करता है, वहुत व्याकुल हो रहे थे। वे उसे धर्म से वहिर्मुख (बेदीन) समझकर काबुल के शासक मिर्ज़ा हकीम * के प्रति श्रद्धा रखने लगे और उसे दिल्ली की गद्दी पर विठाने के लिए षड्यन्त्र रचने लगे। इसी समय सन् १५८० ई० में जौनपुर के क़ाज़ी ने यह फ़तवा (धर्माज्ञा) दिया कि सम्राट् मुसलमान नहीं रहा, इसलिए उसके विरुद्ध विद्रोह करना धर्मानुकूल है। वास्तव में यह एक वड़ी कठिन परिस्थिति थी। परन्तु वादशाह अपने सिद्धान्त पर डटा रहा। उसने बड़ी वीरता से विद्रोहियों का दमन आरम्भ किया और उसकी सेना ने शीघ्र ही विद्रोह का अन्त कर दिया।

षड्यन्त्रकारियों से प्रोत्साहन मिलने पर सन् १५८० ई० में मिर्ज़ा हकीम ने १५००० सवारों के साथ स्वयं पंजाव पर चढ़ाई कर दी। इधर अकवर भी झटपट एक वड़ी सेना लेकर उसका सामना करने के लिए आ गया और हकीम का पीछा करता हुआ काबुल तक पहुँच गया। हकीम ने विवश होकर वादशाह की अधीनता स्वीकार कर ली। थोड़े ही दिन वाद सन् १५८६ ई० में, उसकी मृत्यु हो गई और, काबुल का सूवा मुग़ल-साम्राज्य में सम्मिलित हो गया।

काबुल के झगड़ों का निपटारा कर लेने के वाद अकवर ने पश्चिमोत्तर प्रदेश की परिस्थिति पर ध्यान दिया। अफ़ग़ान प्रदेश से आगे चलकर तूरान में एक नया राज्य स्थापित हो गया था, जिससे मुग़ल-साम्राज्य को वड़ा खतरा था। तूरान के वादशाह अब्दुल्ला उज़बेग ने अपने पराक्रम से अपनी शक्ति वहुत बढ़ा ली थी। उसे देशों को जीतने की ऐसी प्रबल इच्छा थी कि अकवर भी उससे डरता था। इसके अतिरिक्त, सीमान्त देशों पर यूसुफ़ज़इयों और रोशनिया सम्प्रदाय के अनुयायियों ने बड़ा उत्पात मचा रक्खा था। इनका दमन करने के लिए वादशाह ने राजा वीरवल को भेजा। यद्यपि राजा वीरवल शत्रुओं के हाथ से मारा गया, फिर भी शाही सेना ने इन आततायियों को कुचलकर उनकी शक्ति का नाश कर दिया। सन् १५८६ ई० में काश्मीर भी मुग़ल-साम्राज्य में मिला लिया गया और उसके थोड़े ही दिनों वाद सन् १५९१ ई० में मुलतान

* मिर्ज़ा हकीम अकवर का सौतेला भाई था।

और सिन्ध पर भी मुग़लों का अधिकार स्थापित हो गया। बिलोचिस्तान और कन्धार सन् १५९५ ई० में जीत लिये गये और इनकी विजय के बाद पश्चिमोत्तर सीमा की रक्षा का प्रश्न पूर्णतया हल हो गया। सन् १५९२ ई० में उड़ीसा को साम्राज्य में मिला लेने से पूर्वीय सीमाओं की रक्षा का भी उपाय हो गया। संयोग से १५९८ ई० में अबदुल्ला उज़बेग की मृत्यु हो जाने से अकबर की चिन्ता का अन्त हुआ; क्योंकि उससे बादशाह सदा भयभीत रहता था। अब मध्य-एशिया की ओर से आक्रमण होने की आशङ्का न रही।

तृतीय काल—इस प्रकार उत्तरी भारत में अपने साम्राज्य को पूर्णतया सुदृढ़ कर लेने के बाद अकबर ने दक्षिण के मुसलमानी राज्यों को जीतने का सङ्कल्प किया। तुर्किस्तान की विजय का इरादा उसने कुछ समय के लिए स्थगित कर दिया। दक्षिण की चढ़ाई का कारण राज्य-विस्तार के अतिरिक्त कुछ और भी था। दक्षिणी समुद्र-तट पर पुर्तगालियों ने अपनी शक्ति बहुत बढ़ा ली थी। यह बात अकबर को अच्छी न लगी। उसका ख़याल था कि दक्षिण के राज्यों को अपने अधिकार में कर लेने के बाद पुर्तगालियों की शक्ति को तोड़ना कठिन न होगा। इसलिए पहले उसने इन राज्यों के पास आपना प्रभुत्व स्वीकार करने के लिए पत्र भेजा परन्तु जब उनकी ओर से कोई सन्तोषजनक उत्तर न मिला तो उसने बल से काम लेने का निश्चय किया। इस समय इन राज्यों में परस्पर वैमनस्य बढ़ा हुआ था, इस कारण अकबर को अपने काम में बड़ी आसानी हुई। सबसे पहले अहमदनगर पर धावा हुआ परन्तु निज़ामशाही सुलतान की बहन चाँदबीबी ने, जो बीजापुर की रानी थी, बड़ी वीरता से मुग़लों का सामना किया और उनके सेनापति शाहज़ादा मुराद को सन्धि करने पर विवश किया। सन् १५९६ ई० में दिल्ली-सम्राट् और अहमदनगर के सुलतान के बीच सन्धि हो गई, जिसके अनुसार बादशाह को बरार का सूबा अहमदनगर की ओर से प्राप्त हुआ। थोड़े ही दिनों बाद फिर युद्ध आरम्भ हो गया। अब की बार अकबर स्वयं सेना लेकर अहमदनगर पहुँचा और उसने १५९९ ई० में बुरहानपुर को जीत लिया। अहमदनगरवाले, परस्पर दलबन्दी हो जाने के कारण, अपनी रक्षा का उचित प्रबन्ध न कर सके। उधर चाँदबीबी के शत्रुओं ने उसकी हत्या कर डाली, जिसके कारण मुग़ल-सेना ने आसानी से अहमदनगर पर अधिकार कर लिया।

सन् १६०१ ई० में खानदेश राज्य का प्रसिद्ध क़िला असीरगढ़, क़िलेदार को घूस देकर, जीत लिया गया। इसके बाद खानदेश भी साम्राज्य में सम्मिलित हो गया। दक्षिण के राज्यों के बादशाह ने तीन सूबे बना दिये—बरार, अहमदनगर और खानदेश।

साम्राज्य का विस्तार—अब अकबर के साम्राज्य में सम्पूर्ण उत्तरी हिन्दु-

अकबर का साम्राज्य
सन् १६०५ ई०
काश्मीर
श्रीनगर
काबुल
गज़नी
स्यालकोट
लाहौर
जालंधर
कन्धार
मुलतान
सिंधी
पानीपत
दिल्ली
आगरा
अयोध्या
अवध
सेहवान
अजमेर
रणथम्भौर
ग्वालियर
पटना
चित्तौड़
इलाहाबाद
बिहार
टांडा
पाटन
मालवा
बंगाल
अहमदाबाद
उज्जैन
खम्भात
खानदेश
सूरत
असीरगढ़
गोंडवाना
बालापुर
पुरी
अहमदनगर
बीदर
गोलकुण्डा
गोआ
नेलोर
मंगलोर
कालीकट
त्रिचनापल्ली
कोचीन
मदुरा
१५ सूबे
१ काबुल
२ लाहौर
३ मुलतान
४ दिल्ली,
५ आगरा
६ अवध (अयोध्या)
७ इलाहाबाद
८ अजमेर
९ गुजरात
१० मालवा
११ बिहार
१२ बंगाल
१३ खानदेश
१४ बरार
१५ अहमदनगर
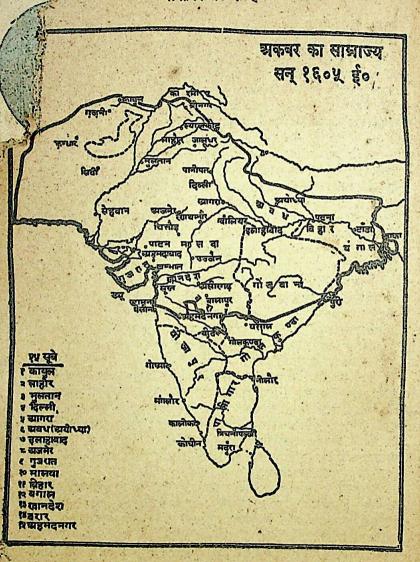
स्तान, उत्तर-पश्चिम में अफ़ग़ान देश से लेकर पूर्व में आसाम तक और उ[illegible] में काश्मीर से लेकर दक्षिण में बीजापुर और गोलकुण्डा की सरहद तक फैला था। सम्राट् की मृत्यु के समय साम्राज्य १५ सूबों में विभक्त था। ये सूबे इस प्रकार थे—(१) काबुल, (२) लाहौर, (३) मुलतान, (४) दिल्ली, (५) आगरा, (६) अवध, (७) अजमेर, (८) गुजरात, (९) मालवा, (१०) इलाहाबाद, (११) बङ्गाल, (१२) बिहार, (१३) खानदेश, (१४) बरार तथा (१५) अहमदनगर। एक डच-लेखक का अनुमान है कि सन् १६०५ ई० में इन सूबों से १७ करोड़ ४५ लाख रुपये की आय साम्राज्य को होती थी।

सलीम का विद्रोह—अकबर के तीन बेटे थे जिनमें से दो—मुराद और दानियाल—अधिक मद्यपान के कारण क्रमशः १५९९ और १६०४ ई० में मर गये थे। सबसे बड़ा बेटा सलीम भी बहुत शराब पीता था परन्तु अपने छोटे भाइयों की तरह वह मृत्यु का शिकार नहीं हुआ। बहुत दिन तक सिंहासन पाने की प्रतीक्षा करते-करते वह ऊब गया था। इसलिए जिस समय अकबर दक्षिण में असीरगढ़ का क़िला जीत रहा था, उसी समय उसने इलाहाबाद में अपने स्वतन्त्र होने की घोषणा कर दी। अकबर यह समाचार पाते ही विद्रोह का दमन करने के लिए दक्षिण से चल दिया, परन्तु सलीम ने उसे भीषण दुःख देने के लिए एक नया षड्यन्त्र रचा। अगस्त सन् १६०२ ई० में, जब अकबर का प्रिय मन्त्री अबुलफ़ज़ल दक्षिण से लौट रहा था, सलीम ने ओरछा के राजा वीरसिंह बुन्देला के हाथ से उसको क़त्ल करा दिया। इस घटना से बादशाह अत्यन्त दुखी हुआ और सलीम से अप्रसन्न हो गया। बेगमों के प्रयत्न से फिर बाप-बेटे में मेल हो गया। अकबर ने सलीम के सारे अपराध क्षमा कर दिये और उसे अपना उत्तराधिकारी बनाया।

सन् १६०५ ई० में अकबर को संग्रहणी का रोग हो गया और कुछ महीनों के बाद उसकी मृत्यु हो गई। मरते समय उसने, संकेत द्वारा, अपने दर्बारियों को आदेश किया कि सलीम उसका उत्तराधिकारी स्वीकार किया जाय। इसी समय सलीम को गद्दी से वञ्चित करने और उसके बेटे खुसरो को राजसिंहासन पर बिठाने के लिए राजा मानसिंह आदि अमीरों ने षड्यन्त्र रचा परन्तु वह निष्फल सिद्ध हुआ। बिना किसी प्रकार के विरोध के सलीम अकबर का उत्तराधिकारी स्वीकार कर लिया गया।

समाज-सम्बन्धी सुधार—अकबर केवल एक प्रतिभाशाली शासक ही नहीं था, वरन् समाज-संशोधक भी था। वह जानता था कि जातीयता का भाव पैदा करने के लिए सामाजिक रीति-रवाजों में सुधार करना तथा हिन्दू और मुसलमानों को एकता के सूत्र में बाँधना आवश्यक है। उसने युद्ध में पकड़े हुए शत्रुओं को ग़ुलाम बनाने की प्रथा को बन्द कर दिया और एक फ़र्मान निकाला कि विजित

...ओं की स्त्रियों और सन्तानों पर सिपाही किसी प्रकार का अत्याचार न करें। ...र की राजकुमारी से विवाह होते ही उसने, सन् १५६३ ई० मे, हिन्दुओं से ...-यात्रा का कर हटा लिया और एक वर्ष बाद जजिया बिलकुल बन्द कर ...ा। बादशाह के इस कार्य से हिन्दुओं को अत्यन्त प्रसन्नता हुई। उसने सती ...कुप्रथा को बन्द करने का भी उद्योग किया और यह क़ानून बना दिया कि ...ई भी स्त्री इच्छा के विरुद्ध जीवित न जलाई जाय। सम्राट् ने स्वयं एक ...र एक राजपूत स्त्री की प्राण-रक्षा की, जिसे उसके सम्बन्धी उसकी इच्छा के विरुद्ध जीवित जलाना चाहते थे। उसने बाल-विवाह का निषेध किया और बेजोड़ विवाहों को बन्द करने के लिए कई नियम बना दिये। हिन्दुओं के साथ उसने अच्छा बर्ताव किया। हिन्दू-रानियों के प्रभाव से हिन्दुओं को पूर्ण धार्मिक स्वतन्त्रता मिल गई और बादशाह स्वयं हिन्दू महात्माओं के उपदेशों और विद्वानों के शास्त्रार्थ में दिलचस्पी लेने लगा। उसकी हिन्दू रानियाँ भी महल में मुसलमान बेगमों की भाँति सम्मान पाती थीं। उसने बहुत से हिन्दू रवाजों को भी अपनाया। हिन्दू प्रथा के अनुसार वह तुला-दान करता था और बहुत-सा चाँदी-सोना दान करता था। कभी-कभी वह हिन्दुओं की तरह माथे पर तिलक लगाता और सूर्य की उपासना करता था।

अकबर की धार्मिक नीति—यूरोप और एशिया दोनों महाद्वीपों में सोलहवीं शताब्दी में बड़ी धार्मिक हलचल मच रही थी। यूरोप में उस समय एक धार्मिक आन्दोलन हो रहा था। लोग ईसाई-धर्म की बुरी बातों को हटाकर उसे श्रेष्ठ और पवित्र तथा सरल बनाने की चेष्टा कर रहे थे। भारत में भी धार्मिक सुधार की आवश्यकता प्रकट थी। पन्द्रहवीं शताब्दी में कबीर, नानक और चैतन्य आदि महात्माओं ने प्रेम और भक्ति का उपदेश देकर भिन्न-भिन्न मतों में धार्मिक प्रीति-भाव स्थापित करने का उद्योग किया था। उन्होंने धार्मिक आडम्बरों को मिथ्या बताया और जनता को, उसकी बोलचाल की भाषा में, यह उपदेश किया, कि सारे धर्म ईश्वर के पास पहुँचने के भिन्न-भिन्न मार्ग-स्वरूप हैं। अकबर स्वभावतः जिज्ञासु प्रवृत्ति का मनुष्य था। उसे सत्य को जानने की प्रबल इच्छा थी। वह चाहता था कि भिन्न-भिन्न धर्मों में किसी प्रकार एकता स्थापित हो। धर्म के कारण द्वेष और वाद-विवाद को देखकर उसके हृदय को बड़ा दुःख होता था। मुल्लाओं और मौलवियों का पक्षपात उसे बुरा लगता था, इसलिए वह सत्य और शान्ति की खोज में दत्तचित्त हो गया।

अकबर की इस प्रवृत्ति के तीन प्रधान कारण थे। हिन्दू राजकुमारियों के साथ विवाह होने के कारण उसकी चित्तवृत्ति में एक बड़ा परिवर्तन हो गया था और वह हिन्दू-धर्म का हृदय से आदर करने लग गया था। दूसरे शेख मुबारक और उसके बेटे फ़ैज़ी और अबुलफ़ज़ल जैसे विद्वान् सूफ़ियों के सम्बन्ध

से उसके विचार बहुत कुछ बदल गये थे। तीसरे, सत्य का अनुसन्धान की बादशाह को उत्कट इच्छा रहती थी और वह धार्मिक झगड़ों को बन्द सहिष्णुता तथा शान्ति (सुलहकुल) स्थापित करना चाहता था।

सत्य की जानकारी के लिए वह भिन्न-भिन्न धर्मों के आचार्यों से मिल उनकी बातें सुनता और उनके साथ वाद-विवाद करता था। सन् १५७५ ई० में उसने अपनी नई राजधानी फ़तेहपुर में 'इबादतखाना' (पूजा-गृह) नाम मकानबनवाया, जहाँ अनेक धर्मों के प्रतिनिधि एकत्र होकर शास्त्रार्थ करते थे। कट्टर मुसलमान, ब्राह्मण, जैन, सिक्ख, पारसी, ईसाई इत्यादि सब यहाँ मौजूद होते थे। शेख मुबारक और उसके बेटे भी इस वाद-विवाद में भाग लेते थे और बादशाह को सच्चे ज्ञान और शान्ति का मार्ग बतलाते थे। ब्राह्मण पण्डित उसे हिन्दू-धर्म की बातें बतलाते और आवागमन के सिद्धान्त की व्याख्या करते थे। इसमें उसकी विशेष रुचि थी। इसी प्रकार अन्य धर्म-वाले भी अपने-अपने धर्मों की व्याख्या करते थे। शास्त्रार्थ सुनते-सुनते बादशाह की यह धारणा हो गई कि सभी धर्मों में अच्छी बातें हैं परन्तु मनुष्य केवल धर्मान्धता और कट्टरपन के ही कारण सच्चे ज्ञान को प्राप्त नहीं कर सकता। सन् १५७९ ई० में मुसलमान आचार्यों ने मिलकर उसे इमामआदिल अर्थात् इस्लाम के सिद्धान्तों का अन्तिम निर्णय करनेवाला घोषित कर दिया। इस व्यवस्था से कट्टर मुसलमानों में बड़ी खलबली मच गई। परन्तु मार्के की बात यह हुई कि बादशाह को धार्मिक झगड़ों का निर्णय करने का अधिकार मिल गया। हाँ, एक शर्त ज़रूर थी। वह यह कि बादशाह का निर्णय क़ुरान शरीफ़ के नियमों के विरुद्ध नहीं हो सकता था। यदि होता तो मुसलमान उसे मानने के लिए बाध्य नहीं थे।

अपने धार्मिक विचारों को निश्चित रूप प्रदान करने के अभिप्राय से अकबर ने सब धर्मों की अच्छी बातों को मिला कर 'दीन-इलाही' नाम का एक नया मत चलाया। वास्तव में यह कोई नया धर्म नहीं था। इसमें वे सब लोग शामिल हो सकते थे जो बादशाह के विचारों को मानते थे और धार्मिक स्वतन्त्रता के प्रेमी थे। इस मत के अनुयायी एक दूसरे का, मिलने पर, 'अल्लाहो अकबर' और 'जल्लजल्लालहू' कहकर अभिवादन करते थे। उन लोगों को मांस खाने तथा नीच लोगों के साथ भोजन करने की आज्ञा नहीं थी। बादशाह के प्रति भक्ति प्रकट करने के चार तरीक़े थे। इसके अनुसार सम्पत्ति, प्राण, प्रतिष्ठा और धर्म चारों उसे समर्पित किये जाते थे।

अकबर ने कभी 'दीन-इलाही' को फैलाने का प्रयत्न नहीं किया। उसने न किसी पर ज़ोर डाला और न ओहदे अथवा पद का किसीं को प्रलोभन दिया। यही कारण है कि उसके अनुयायियों की संख्या केवल १८ थी। उसके हिन्दू

ारियों में केवल राजा बीरबल ने दीन-इलाही स्वीकार किया था। परन्तु कहना कि अकबर ने इस्लाम धर्म छोड़ दिया था, उचित नहीं है। इतना अवश्य है कि वह अन्य धर्मों के प्रति आदर का भाव रखता था। बात उसके समकालीन मुसलमानों को अप्रिय थी, इसलिए वे उस पर तरह-तरह का सन्देह करते थे।

कुछ इतिहासकारों का यह कहना, कि उसने गर्व और अहङ्कार से प्रेरित होकर दीन-इलाही की स्थापना की थी, ठीक नहीं है। यह मत केवल बौद्धिक प्रकाश द्वारा धार्मिक सिद्धान्तों का अध्ययन करनेवाले व्यक्तियों का एक समुदाय-मात्र था। अकबर बड़े नम्र स्वभाव का आदमी था। यदि उसके भक्तों ने उसे ईश्वर अथवा देवता बनाने का प्रयत्न किया तो इसमें उसका क्या दोष है। भिन्न-भिन्न धर्मों में बाहरी भेद-भाव होते हुए भी उसने असली एकता को जानने का प्रयत्न किया। उसका यह प्रयत्न सर्वथा श्लाघ्य है। मनुष्य-मात्र के प्रति सहिष्णुता और प्रेम का उपदेश करना उसकी अपूर्व प्रतिभा और राजनीतिक कौशल का सदैव ज्वलन्त प्रमाण रहेगा।

अकबर का चरित्र—अकबर की गणना संसार के महान् शासकों में है। समकालीन इतिहासकारों ने उसके गुणों का वर्णन किया है जिसका उसके दर्बार में आये हुए विदेशी यात्री भी समर्थन करते हैं। उसकी आकृति आकर्षक और प्रभावपूर्ण थी। अपरिचित व्यक्ति भी उसे देखते ही जान लेता था कि यह बादशाह है। वह क़द में ५ फ़ीट ७ इंच लम्बा था। उसका शरीर न तो बहुत स्थूल था और न बहुत दुर्बल। उसका माथा चौड़ा और खुला हुआ था। उसकी आँखें ऐसी तेज और चमकीली थीं कि वे सूर्य के प्रकाश में समुद्र की तरह मालूम होती थीं। उसका रङ्ग गेहुँआँ और आवाज बलन्द तथा गम्भीर थी। वह दिल खोलकर हँसता, मजाक करता और सभी प्रकार के उत्सवों में आनन्द मनाता था। परन्तु जिस समय वह किसी से अप्रसन्न होता तो उसके क्रोध का ठिकाना नहीं रहता था। उसका स्वभाव नम्र और शिष्ट था। एक जेसुइट पादरी लिखता है कि वह बड़ों के सामने बड़े और छोटों के सामने छोटे की तरह बर्ताव करता था। उसकी बुद्धि ऐसी तीक्ष्ण थी कि कठिन से कठिन समस्याओं को वह हल कर लेता था और यह भी नहीं पूछता था कि उसके लिए क्या भोजन तैयार किया गया है। हिन्दू मित्रों के खयाल से उसने गो-मांस, लहसुन, प्याज आदि पदार्थों का परित्याग कर दिया था। मांस उसे अच्छा नहीं लगता था और जीवन के अन्तिम भाग में तो उसने मांस भक्षण बिलकुल बन्द कर दिया था। रात में वह थोड़ी देर तक सोता था और अधिकांश समय धार्मिक चर्चाओं में बिताता था। दिन में वह राज्य का काम करता था और छोटी से छोटी बातों की भी स्वयं देख-रेख करता था। उसका हृदय प्रेम का अनन्त स्रोत था।
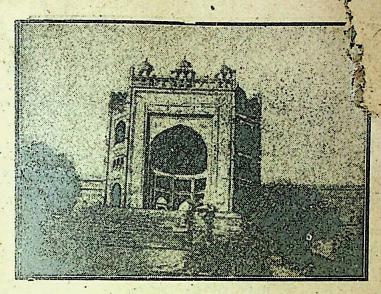
बुलन्द दरवाजा फतेहपुर सीकरी
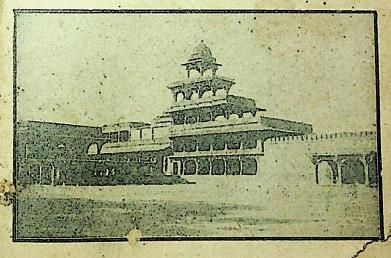
पंचमहल फतेहपुर सीकरी
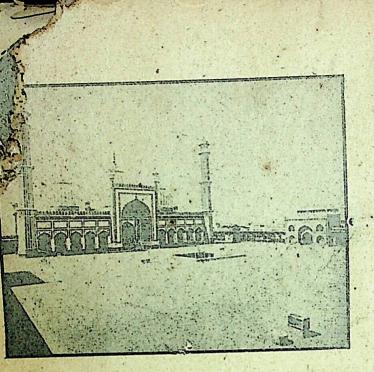
जामा मसजिद देहली
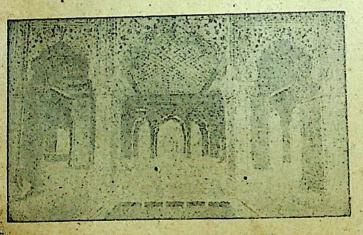
दीवान खास देहली

अपने सम्बन्धियों और कुटुम्बियों के प्रति वह सदा दया-पूर्ण वर्ताव क
था। उसकी स्मरण-शक्ति अद्‌भुत थी। इसी लिए उसे अनेक विषयों
ज्ञान प्राप्त करने में कुछ भी कठिनाई नहीं हुई। वह कला का प्रेमी था।
विद्या और चित्र-कला की ओर उसकी विशेष अभिरुचि रहती थी। इस
इन कलाओं के विशेषज्ञों को उसने अपने दरबार में रक्खा था। उसमें अ
शारीरिक बल था। भयङ्कर जानवरों का शिकार करने का उसे बड़ा शौक़ था
मनोविनोद के लिए वह युद्ध देखता था और स्वयं वीरता तथा पराक्रम के का
करने के लिए सदा उद्यत रहता था।

उसके समान सैनिक तथा शासन-प्रबन्ध-कर्त्ता कोई दूसरा न था। जिस समय वह राजगद्दी पर बैठा, उसके चारों ओर सङ्कट के वादल छाये हुए थे। परन्तु अपनी प्रतिभा और योग्यता से उसने थोड़े ही दिनों में कठिनाइयों को दूर कर दिया और एक महान् साम्राज्य की स्थापना की। अपनी विजयों-द्वारा उसने सारे हिन्दुस्तान में अपना सिक्का जमा दिया और लड़ाइयों में बड़ी कुशलता दिखलाई। उसमें एक पैदायशी सेनापति का अदम्य साहस था और उसकी सूझ-बूझ तथा सहन-शक्ति को देखकर उसके शत्रु भी चकित हो जाते थे। उसने अपने समय के प्रसिद्ध हिन्दू तथा मुसलमान योद्धाओं को अपनी सेना में रक्खा। उन्होंने भी कन्धे से कन्धा मिलाकर उसकी साम्राज्य-वृद्धि के लिए भयङ्कर युद्ध किये। शासन-प्रबन्ध में उसने कभी हिन्दू मुसलमान का भेद नहीं किया। इस सिद्धान्त के अनुकूल व्यवहार करने के कारण उसके साम्राज्य का प्रभाव बढ़ा और प्रजा का भी कल्याण हुआ।

किन्तु इन गुणों के अतिरिक्त उसमें एक और विशेषता थी। वह सबके साथ इन्साफ़ करना चाहता था। उसकी इच्छा थी कि उसकी सारी प्रजा एकता के सूत्र में बँध जाय और हिन्दू-मुसलमान दोनों की सभ्यताओं का सम्मिश्रण हो। इसकी पूर्त्ति के लिए उसने जीवन-पर्यन्त प्रयत्न किया। जिस समय यूरोप के ईसाई अपने विरोधियों को क़त्ल करने और उन्हें जीवित जलाने में तल्लीन थे उस समय भारतवर्ष में अकबर ने धार्मिक स्वतन्त्रता प्रदान की और यह घोषणा की कि भिन्न-भिन्न धर्मों की सच्चाई को जानकर, मनुष्य ईश्वर की वास्तविक महिमा का अनुमान कर सकता है। यह सच है कि उसके सदुद्देशों को सफलता नहीं मिली, परन्तु संसार के इतिहास में उसका स्थान सदैव ऊँचा रहेगा।

मुग़ल-शासन का ढङ्ग—मुग़लों का शासन न तो पूर्णतया भारतीय था न पूर्णतया विदेशी। मुग़लों के पूर्ववर्ती तुर्क सुलतान अपने साथ राजनीतिक आदर्श लाये थे, जिन्हें उन्होंने देश की परिस्थिति के अनुसार लागू किया था। उन्होंने कुछ भारतीय तरीक़ों को भी ग्रहण किया जिससे उनका शासन भारतीय

विदेशीय दोनों शैलियों का एक प्रकार का सम्मिश्रण था। मुग़ल-शासन स्वरूप भी बहुत कुछ वैसा ही रहा। मुग़ल-राज्य को चारों ओर से शत्रु हुए थे। देश में एक स्थान से दूसरे स्थान को जाने का सुभीता न था। ...ह का प्रतिक्षण भय रहता था। इसलिए मुग़ल-सम्राट् को निरकुश नीति ...काम लेना पड़ता था। राज्य में उसी का बोल-बाला था। युद्ध में उसे सेना ...कर उपस्थित होना पड़ता था और उसकी सफलता या विफलता पर ही राज-...श का उत्कर्ष अथवा पतन निर्भर होता था। राज्य-सम्बन्धी मामलों की बात-चीत करने के लिए अफ़सर आसानी से एक दूसरे से मिल नहीं सकते थे, इसलिए लिखा-पढ़ी बहुत होती थी और लम्बे-चौड़े पत्र और फ़र्मान लिखे जाते थे। यही कारण है कि मुग़ल-राज्य को कागज़ी राज्य कहा गया है।

शासन-प्रबन्ध—जैसा पहले कह चुके हैं, बादशाह शासन का प्रधानाध्यक्ष था। वह निरकुश तो अवश्य था परन्तु लोक-मत सदा उसके लिए प्रतिबन्ध का काम करता था। यह सत्य है कि धार्मिक आचार्य क़ुरान के नियमों का पालन न करने पर उसे गद्दी के अयोग्य ठहरा देते थे। परन्तु इस प्रकार के फ़तवे को कार्यान्वित करने की उनमें शक्ति नहीं थी। ऐसी अवस्था में जब तक कोई दूसरा राज्य का अधिकारी सेना की सहायता से उसे निकाल बाहर न करे, निकम्मे बादशाह भी राज्य करते रहते थे।

बादशाह के नीचे कई अन्य अधिकारी होते थे जिनमें से मुख्य ये हैं—(१) वकील—प्रधान मन्त्री, (२) वज़ीर—अर्थमन्त्री, (३) बख़्शी—जो सभी अधिकारियों का वेतन वितरण करता था और सेना का भी निरीक्षण करता था, (४) प्रधान काज़ी—जो राज्य का सबसे प्रधान न्यायाधीश था, (५) ख़ानसामा—शाही बावर्चीख़ाने का प्रधानाध्यक्ष तथा (६) सदर—जो दान के लिए दिये हुए धन और जायदादों का निरीक्षण करता था।

शहरों में अमन-चैन रखना कोतवाल का कर्त्तव्य था। कोतवाल पुलिस और मजिस्ट्रेट दोनों का काम करता था। वह दूकानदारों के बाटों की जाँच करता और गुप्तचरों द्वारा नगर का सारा हाल मालूम करता रहता था। काज़ी मुक़दमों का फ़ैसला करता था और मीर-अदल और मुफ़्ती क़ानून की व्याख्या करते थे। क़ानून की कोई लिखित नियमावली न होने के कारण काज़ी को न्याय करने में क़ुरान की सहायता लेनी पडती थी। हिन्दुओं के मामलों में उनके रीति-रिवाज का भी ख़याल किया जाता था। प्रायः दण्ड बहुत कठोर दिये जाते थे और जुरमाने भी भारी होते थे। बादशाह स्वयं भी अदालत में बैठता था और बड़े-बड़े मुकदमों का फ़ैसला करता था। दरबार-आम में बैठकर वह नीचे की अदालतों की अपीलें सुनता था और उनके फ़ैसलों में रद्द-बदल कर देता था। गाँव में स्थानीय मामलों का फ़ैसला करने के लिए पञ्चायतें स्थापित थीं।

अकबर के दरबार में जैस्विट
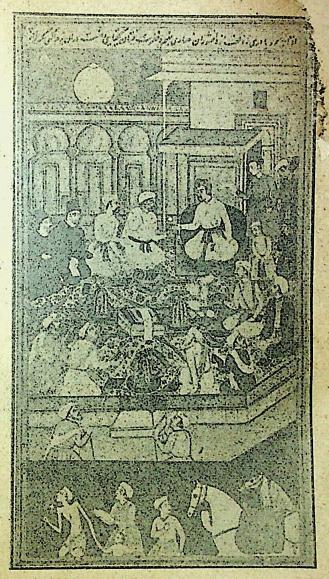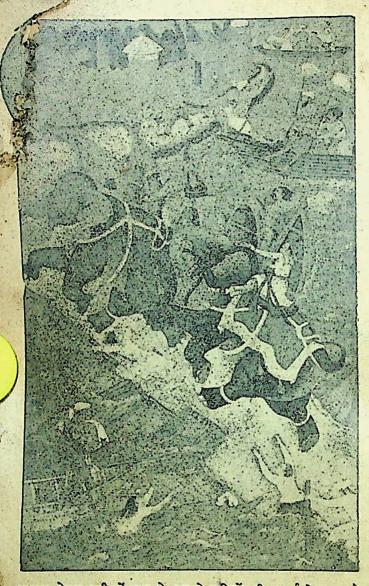
अकबर झेलम नदी में नाव के पुल से हाथियों की लड़ाई देख रहा है

शाही नौकरी—राज्य के काम के लिए अनेक कर्मचारियों की आवश्यकता थी। अकबर जागीर-प्रथा के दोषों को खूब समझता था। इसलिए उसने 'मनसबदारी' प्रथा को प्रचलित किया। 'मनसब' शब्द का अर्थ है दर्जा अथवा रुतबा। सेना का विभाग अलग नहीं था। इसलिए एक ही अफ़सर माल और फ़ौज दोनों विभागों का काम कर सकता था। अफ़सरों के कई दर्जे थे और उनका वेतन आदि बादशाह स्वयं निश्चित करता था। मनसबदार को आवश्यकता पड़ने पर राज्य की सेवा के लिए सेना देनी पड़ती थी। 'मनसब' के ३३ दर्जे थे। १० से लेकर १० हज़ार तक के 'मनसबदार, हुआ करते थे। दसहज़ारी मनसबदार का दर्जा सबसे अधिक प्रतिष्ठित समझा जाता था और यह पद प्रायः राजवंश के ही लोगों को प्रदान किया जाता था। मनसबदार को अपने दर्जे के अनुसार निश्चित सिपाही रखने पड़ते थे। परन्तु वास्तव में ऐसा होता था या नहीं, यह एक विवादास्पद विषय है। मनसबदारों का वेतन शाही ख़ज़ाने से नक़द दिया जाता था। कभी-कभी उन्हें ज़मीन की मालगुज़ारी भी बता दी जाती थी। परन्तु ऐसा बहुत कम होता था।

इस प्रथा में अनेक दोष थे। प्रायः सैन्य-प्रदर्शन के दिन मनसबदार किराये के घोड़ों और सिपाहियों को एकत्र करके राज्य को धोखा दिया करते थे। इससे बचने के लिए घोड़ों को दागने और सिपाहियों की हुलिया का रजिस्टर रखने का नियम बनाया गया था। किन्तु इसके होते हुए भी लोग धोखाधड़ी से काम लिया करते थे।

नौकरियों के कोई नियम नहीं थे। सब कुछ बादशाह की इच्छा पर निर्भर था। वह किसी व्यक्ति को अपने इच्छानुसार ऊँचे से ऊँचे पद पर नियुक्त कर सकता था अथवा उच्च पद से निकाल सकता था। योग्यता की परख का भी कोई नियम नहीं था। कर्मचारी एक विभाग से दूसरे विभाग में बदल दिये जाते थे। हिन्दुओं को भी बड़े-बड़े ओहदे दिये जाते थे। अफ़सरों की मृत्यु के बाद उनकी सारी सम्पत्ति शाही ख़ज़ाने में चली जाती थी। इसका परिणाम यह होता था कि राज्य के पदाधिकारी खर्च खूब करते थे और ऐश-आराम के लिए पानी की तरह रुपया बहाते थे।

भूमिकर अर्थात् लगान का प्रबन्ध—शेरशाह ने भूमिकर के नियमों को सुव्यवस्थित करने का उद्योग किया था, परन्तु उसकी शीघ्र मृत्यु हो जाने से काम पूरा न हो सका था। उसके समय में ज़मीन का लगान पैमाइश के अनुसार निश्चित किया गया था। वेतन के बदले में भूमिकर देने की प्रथा उसके समय में प्रचलित थी और बाद में इस्लामशाह ने नक़द रुपया देना आरम्भ कर दिया था; परन्तु यह प्रथा स्थायी न हो सकी। जागीरदार और मुक़द्दम किसानों को प्रायः सताया करते थे और उनसे वाजिब से अधिक रुपया वसूल किया करते

उन्हें खेती की उन्नति का कुछ भी ध्यान नहीं था। बेचारे किसान दो पाटों के बीच पिसा करते थे। एक तो उन्हें अनिश्चित लगान देना पड़ता था, दूसरे इसका कोई ठिकाना न था कि ज़मीन पर उनका कब तक अधिकार रहेगा।

अकबर ने भूमिकर का नये सिरे से प्रबन्ध किया। पहले पैमाइश करने में रस्सियों से काम लिया जाता था। ये गर्मी और बरसात के दिनों में घट-बढ़ जाती थीं, जिससे ज़मीन की नाप ठीक नहीं होती थी और किसानों की हानि होती थी। टोडरमल ने बाँसों की बनी और लोहे के छल्लों से जुड़ी हुई जरीब से पैमाइश करने का नियम निकाला। सरकारी कर्मचारी बोई हुई ज़मीन, अनाज की क़िस्म तथा ज़मीन की जाँच करते थे। गाँव के मुखिया को इस बात का प्रतिज्ञा-पत्र लिखना पड़ता था कि वह बोई हुई ज़मीन और फ़सल का पूरा-पूरा हाल बतावेगा। यह सब करने के बाद, उस समय के भाव के अनुसार, पैदावार का मूल्य निश्चित करके राज्य का भाग तय किया जाता था। इससे बचने के लिये टोडरमल ने पिछले दस वर्ष की पैदावार की औसत के अनुसार खेतों का लगान नक़द रुपये में निश्चित कर दिया। भिन्न-भिन्न क़िस्म की फ़सलों के लिए भिन्न-भिन्न लगान लगाया गया। बोवाई हो जाने के बाद फ़सल के अनुसार नियत दर से सरकारी मालगुज़ारी निश्चित कर दी जाती थी। इस तरह फ़सल काटने के पहले ही यह मालूम हो जाता था कि भूमिकर से राज्य को कितनी आमदनी होनेवाली है। सरकार पैदावार का एक तिहाई लेती थी। यह भाग नक़द रुपये के रूप में निश्चित किया जाता था। परन्तु किसानों को आज्ञा थी कि चाहे वे लगान नक़द रुपये में दें, चाहे अनाज के रूप में। ईख और नील आदि क़ीमती फ़सलों का लगान हमेशा नक़द रुपये में लिया जाता था। राज्य के कर्मचारी लगान सीधा प्रजा से वसूल करते थे और इस कार्य में गाँव के मुखिया और पटवारी उनकी मदद करते थे। किसान शाही ख़ज़ाने में स्वयं रुपया जमा कर सकते थे और उन्हें वहाँ से रसीद भी दी जाती थी।

इस प्रथा का संक्षेप में इस प्रकार वर्णन किया जा सकता है :—

(१) खेतों के बोने के बाद राज्य के कर्मचारी देहातों में जाकर बोई हुई भूमि के क्षेत्रफल का हिसाब कर लेते थे और फ़सल का एक खुलासा तैयार करते थे। किसी दैवी घटना से यदि फ़सल खराब हो जाती, तो वे उसकी रिपोर्ट केन्द्रीय सरकार के पास भेज देते थे।

(२) पैदावार के मूल्य का अनुमान पहले से निश्चित की हुई दरों अर्थात् शरहों के अनुसार किया जाता था।

(३) इसके बाद उसका तीसरा भाग किसानों से वसूल किया जाता था।

अकबर किसानों की भलाई का सदैव ध्यान रखता था। अपने कर्मचारियों की सुविधा के लिए वह हुक्म जारी करता था। लगान वसूल करनेवालों को

आदेश किया जाता था कि वे प्रजा के साथ मित्रता का व्यवहार करें और स के पहले लगान न माँगें।

अनाज सस्ता होने पर दुर्भिक्ष के समय किसानों को छूट दी जाती थी। अकाल के समय बीज और बैल के लिए तक़ावी दी जाती थी। अफ़सरों ईमानदारी से काम करने, खेती का क्षेत्रफल बढ़ाने और प्रजा की सुख-शान्ति का ध्यान रखने के लिए बराबर निर्देश दिया जाता था।

प्रान्तीय शासन*—साम्राज्य सूबों में और सूबे सरकारों में तथा सरकार परगनों अथवा महालों में विभाजित किये गये थे। प्रत्येक सूबे में एक सिपह-सालार होता था जो माल तथा फ़ौज दोनों विभागों का काम करता था। सिपहसालार प्रायः राज-घराने का कोई पुरुष अथवा बादशाह का विश्वासपात्र अफ़सर होता था। सिपहसालार के नीचे दीवान (अर्थमन्त्री), आमिल (भूमिकर वसूल करनेवाला प्रधान कर्मचारी) तथा फ़ौजदार (प्रान्तीय सेना का अध्यक्ष) होते थे। इनके अतिरिक्त वाक़अनवीस नामक एक अन्य कर्मचारी होता था जो केन्द्रीय सरकार के पास गुप्त रीति से सूबे का हाल भेजा करता था।

सेना का संगठन—शाही सेना के तीन भाग थे:—(१) बादशाह का आधिपत्य स्वीकार करनेवाले राजाओं और सरदारों की सेना; (२) मनसबदारों की सेना; (३) बादशाह की स्थायी सेना जिसका वेतन सीधा सरकारी खज़ाने से दिया जाता था। स्थायी सेना की संख्या अधिक नहीं थी। इनके अतिरिक्त दो तरह के सैनिक और थे जिन्हें 'दाखिली' और 'अहदी' कहते थे। दाखिली, सिपाहियों की एक प्रकार की अतिरिक्त सेना होती थी जिसे राजकीय कोष से वेतन मिलता था और जो मनसबदारों की अध्यक्षता में काम करती थी। अहदी, बादशाह के शरीर-रक्षक होते थे और उनकी नियुक्ति बादशाह स्वयं करता था। अहदियों को मामूली सिपाहियों से अधिक वेतन मिलता था। कभी-कभी तो उनका वेतन पाँच सौ रुपया मासिक तक होता था। मनसबदारों के सिपाहियों को अपने ज़िरहबख्तर का प्रबन्ध अपने पास से करना पड़ता था।

शाही सेना के मुख्य अङ्ग थे तोपखाना, हाथी और नावें। पैदल सेना का विशेष सम्मान नहीं था। तोपखाना भी बहुत अच्छा नहीं था यद्यपि अकबर ने उसका सुधार करने का उद्योग किया था। तोपखाने का प्रधान अफ़सर 'मीर-आतिश' कहलाता था जो एक पञ्जहज़ारी मनसबदार होता था। सेना

---

* साम्राज्य १५ सूबों में विभक्त था। ये सूबे निम्नलिखित थे:—
(१) काबुल (२) लाहौर (३) मुलतान (४) दिल्ली (५) आगरा (६) अवध (७) अजमेर (८) गुजरात (९) मालवा (१०) इलाहाबाद (११) बङ्गाल (१२) बिहार (१३) खानदेश (१४) बरार (१५) अहमदनगर।

मुख्य अङ्ग अश्वारोही-दल था। अकबर ने उसे अत्यन्त शक्तिशाली बना दिया था। युद्ध में हाथियों से भी काम लिया जाता था। बादशाह के यहाँ एक बहुत बड़ा हाथियों का तबेला था और मनसबदारों को भी हाथी रखने पड़ते थे।

मुग़ल-सम्राटों की समुद्री शक्ति अधिक नहीं थी; किन्तु अकबर ने इस ओर कुछ ध्यान दिया था। युद्ध के अवसर पर काम आने के लिए उसने जङ्गी नावों का एक बेड़ा तैयार कराया और उसके प्रबन्ध के लिए एक अलग महक़मा बना दिया था।

संक्षिप्त सन्‌वार विवरण

घटना	सन्
पानीपत का द्वितीय संग्राम	१५५६ ई०
बैरमखाँ का क़त्ल	१५६१ "
अकबर का आमेर की राजकुमारी से विवाह	१५६२ "
मालवा का साम्राज्य में मिलना	१५६४ "
चित्तौड़ की चढ़ाई	१५६७ "
गुजरात की विजय	१५७२ "
उदयसिंह की मृत्यु	१५७२ "
बङ्गाल की विजय	१५७५ "
मिर्ज़ा हकीम की पञ्जाब पर चढ़ाई	१५८० "
काश्मीर-विजय	१५८६ "
सिन्ध का साम्राज्य में मिलना	१५९१ "
उड़ीसा का साम्राज्य में मिलना	१५९२ "
बिलोचिस्तान और क़न्दहार की विजय	१५९५ "
राना प्रताप की मृत्यु	१५९७ "
अब्दुल्ला उज़बेग की मृत्यु	१५९८ "
बुरहानपुर पर मुग़लों का अधिकार	१५९९ "
असीरगढ़ की विजय	१६०१ "
अबुलफ़ज़ल की मृत्यु	१६०२ "
अकबर की मृत्यु	१६०५ "

अध्याय २४

विलासप्रियता और शान-शौक़त का युग

(१६०५-१६५८ ई०)

जहाँगीर और शाहजहाँ

जहाँगीर का सिंहासनारोहण—अपने पिता की मृत्यु के बाद राजकुमार सलीम, नूरुद्दीन मुहम्मद जहाँगीर बादशाह ग़ाज़ी के नाम से, ३६ वर्ष की अवस्था में, २४ अक्टूबर सन् १६०५ ई० को गद्दी पर बैठा। वह एक सुन्दर युवा पुरुष था। उसका क़द लम्बा, रङ्ग गोरा और आँखें तेज़ और चमकीली थीं। वह गलगुच्छियाँ भी रखता था। उसके आकर्षक शिष्टाचार, स्पष्ट स्वभाव तथा वाक्-पटुता के कारण सब लोग उससे मिलकर प्रसन्न होते थे। गद्दी पर बैठते ही उसने उन लोगों को, जिन्होंने उसके विरुद्ध षड्यन्त्र किया था, क्षमा प्रदान कर दी; निर्धनों को बहुत-सा धन बँटवाया और क़ैदियों को मुक्त करा दिया। उसने यह विश्वास दिलाया कि इस्लाम धर्म के प्रतिकूल कोई काम नहीं किया जायगा। इससे प्रकट होता है कि अकबर का कट्टर-विरोधी दल, उसके मरते ही, फिर प्रभावशाली हो गया था। परन्तु जहाँगीर ने इस बात की घोषणा कर दी कि राजनीतिक मामलों में वह अपने पिता की ही नीति का अनुसरण करेगा। इस सम्बन्ध में उसने बारह हुक्म जारी किये। न्याय-प्रिय वह ऐसा था कि आगरे के क़िले में उसने एक ज़ञ्जीर लटकवा दी थी जिसे खींचकर लोग बादशाह से फ़रियाद कर सकते थे। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि या तो बादशाह के या उसके दरबारियों के भय के कारण ज़ञ्जीर बहुत कम खींची जाती होगी। बादशाह ने बहुत से ग़ैरक़ानूनी कर बन्द कर दिये और अपने अफ़सरों को प्रसन्न करने के लिए उनका वेतन बढ़ा दिया।

ख़ुसरो का विद्रोह—ख़ुसरो जहाँगीर का सबसे बड़ा बेटा था। वह एक चतुर और होनहार शाहज़ादा था। अकबर उससे बहुत प्रेम करता था। जहाँगीर के विद्रोह करने पर, दरबार के सभी लोगों की कल्पना थी कि अकबर का उत्तराधिकारी ख़ुसरो ही होगा। राजा मानसिंह और अज़ीज कोका ने मिलकर, सलीम को हटाकर ख़ुसरो को अकबर का उत्तराधिकारी बनाने के लिए, एक षड्यन्त्र भी रचा था परन्तु वह सफल न हुआ। इस षड्यन्त्र के कारण बाप-बेटे में परस्पर बड़ा वैमनस्य हो गया। जब जहाँगीर गद्दी पर बैठा तो उसने ख़ुसरो को नज़रबन्द क़ैदी बनाकर रक्खा। इससे दुखी होकर वह एक दिन सन्ध्या-समय (अप्रैल सन् १६०६ ई०) ३५० सवारों के साथ क़िले से बाहर

निकल भागा और उसने खुल्लमखुल्ला विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया। वह पञ्जाब की ओर गया और लाहौर पर अधिकार स्थापित कर लिया। लाहौर में उसकी सिक्खों के गुरु अर्जुन से भेंट हुई। गुरु ने उसकी दशा पर दया करके उसे आशीर्वाद दिया। जहाँगीर स्वयं पञ्जाब की तरफ़ रवाना हुआ और युद्ध में खुसरो को पराजित कर उसे क़ैद कर लिया। उसके बहुत से साथियों को बादशाह ने कठोर दण्ड दिया। गुरु अर्जुन को फाँसी दी गई और उसकी सारी सम्पत्ति छीन ली गई। गुरु अर्जुन के क़त्ल का चाहे राजनीतिक कारण रहा हो, परन्तु इसका परिणाम अनिष्टकारी हुआ। सिक्ख लोग मुग़लों के शत्रु हो गये और साम्राज्य का विरोध करने लगे।

नूरजहाँ—जहाँगीर के जीवन की सबसे महत्त्व-पूर्ण घटना नूरजहाँ के साथ उसका विवाह है। नूरजहाँ का बचपन का नाम मिहरुन्निसा था। वह मिर्ज़ा ग़यास की बेटी थी। मिर्ज़ा ग़यास तेहरान का रहनेवाला था और नौकरी की तलाश में हिन्दुस्तान आया था। यहाँ अकबर ने उसे नौकरी दी और थोड़े ही दिनों में, वह और उसके बेटे राज्य में ऊँचे पदों पर पहुँच गये। नूरजहाँ जब सयानी हुई तो उसका विवाह अली क़ुली इस्ताल्जू के साथ हो गया। अली क़ुली को शेर अफ़ग़न की उपाधि मिली और बर्दवान में एक जागीर दी गई। बङ्गाल इन दिनों राजद्रोह का केन्द्र हो रहा था। शेर अफ़ग़न पर भी राजद्रोह का सन्देह किया गया। बादशाह ने बङ्गाल के सूबेदार क़ुतुबुद्दीन को उसे गिरफ्तार करने की आज्ञा दी। क़ुतुबुद्दीन ने शेर अफ़ग़न के साथ कुछ अशिष्टता का व्यवहार किया, जिससे वह बड़ा क्रोधित हुआ और दोनों आपस में लड़कर मर गये। मिहरुन्निसा दरबार में भेज दी गई और मार्च सन् १६११ ई० में उसके साथ जहाँगीर का विवाह हो गया। अब वह बादशाह की प्रधान बेगम हो गई और उसे नूरमहल तथा नूरजहाँ की उपाधियाँ मिलीं। कहा जाता है कि जहाँगीर बहुत दिनों से नूरजहाँ पर आसक्त था और उससे विवाह करने के अभिप्राय से ही उसने शेर अफ़ग़न को क़त्ल कराया था। एक आधुनिक लेखक ने इस मत का यह कह कर खण्डन किया है कि तत्कालीन इतिहासों में इस बात का ज़िक्र नहीं है कि शेर अफ़गन के क़त्ल में जहाँगीर का हाथ था। कुछ भी हो, जिस परिस्थिति में शेर अफ़गन का क़त्ल हुआ वह ऐसी थी कि हम यह नहीं कह सकते कि यह सन्देह सर्वथा निर्मूल है।

नूरजहाँ एक बुद्धिमती स्त्री थी। राज्य की कठिन से कठिन समस्याओं को वह शीघ्र ही समझ जाती थी। जहाँगीर राज्य का सारा काम उसी पर छोड़-कर ऐश-आराम में डूबा रहता था। वास्तव में नूरजहाँ ही राज्य की मालिक थी। सिक्कों तथा शाही फ़रमानों पर उसका नाम निकलता था। बड़े-बड़े अमीर अपनी उन्नति के लिए उसकी कृपा प्राप्त करने का उद्योग करते थे। वह

ीनों पर दया करती और अनाथ मुसलमान लड़कियों के विवाह के लिए आर्थिक सहायता देती थी। निर्बल और सताये हुए लोगों की रक्षा के लिए वह सदैव तैयार रहती थी। फ़ारसी-साहित्य का उसे अच्छा ज्ञान था। वह स्वयं फ़ारसी में कविता भी करती थी। वह हमेशा सुन्दर चीजें पसन्द करती थी। उसने नई तरह की पोशाकें निकालीं और महल को सजाने के नये ढङ्ग बतलाये। यही कारण था कि जहाँगीर पूर्णतया उसके वश में हो गया। उसका प्रभाव बढ़ जाने के कारण दरबार में एक ऐसा दल बन गया जिसकी स्वार्थ-पूर्ण नीति ने साम्राज्य में अशान्ति पैदा कर दी।

युद्ध और विजय (१६१२-२६ ई०)—सन् १६१२ ई० में बङ्गाल में उसमान खाँ ने विद्रोह किया परन्तु वह बड़ी निर्दयता के साथ दमन कर दिया गया। वीर-शिरोमणि राना प्रताप की मृत्यु के बाद सन् १५९७ ई० में उसका बेटा अमरसिंह मेवाड़ की गद्दी पर बैठा। मेवाड़ के विरुद्ध युद्ध जारी रहा परन्तु उसमें अधिक सफलता नहीं प्राप्त हुई। जहाँगीर ने अपने बाप की नीति का अनुसरण किया और मेवाड़ के विरुद्ध एक बड़ी सेना भेजी। इस बार मुग़ल-सेना ने राजपूतों को ख़ूब दबाया और उनकी दुर्दशा कर डाली। सन् १६१४ ई० में नये राना ने आत्म-समर्पण करके बादशाह की अधीनता स्वीकार कर ली। राना के साथ अच्छा बर्ताव किया गया और उसने तथा मुग़ल-सेनाध्यक्ष शाहज़ादा ख़ुर्रम ने परस्पर अभिवादन किया। मेवाड़ के अधीन होने का समाचार सुनकर जहाँगीर के हर्ष का ठिकाना न रहा। उसने न तो राना से बदला लेने की इच्छा प्रकट की और न उसे दरबार में स्वयं उपस्थित होने तथा वैवाहिक सम्बन्ध करने के लिए विवश किया। इस समय से औरङ्गजेब के समय तक मेवाड़-नरेश मुग़ल-सम्राट् के मित्र बने रहे।

दक्षिण में भी जहाँगीर ने अपने बाप की नीति का अनुसरण किया। इस समय अहमदनगर के निज़ामशाही राज्य का प्रबन्ध एबीसीनिया-निवासी मलिक अम्बर के हाथ में था। वह बड़ा योग्य और प्रतिभाशाली शासक था। उसने शासन में अनेक परिवर्तन किये और टोडरमल की तरह भूमिकर की फिर से व्यवस्था कर राज्य की जड़ को मज़बूत किया। मलिक अम्बर मुग़लों की अधीनता से मुक्त होना चाहता था। अन्त में, उसने अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा की। उसके विरुद्ध कई मुग़ल-सेनाध्यक्ष रवाना किये गये, परन्तु वे असफल रहे। अन्त में, शाहज़ादा ख़ुर्रम एक बड़ी सेना के साथ उसके विरुद्ध भेजा गया। उसने मलिक अम्बर को सन् १६१७ ई० में सन्धि करने पर विवश किया। जहाँगीर ख़ुर्रम की सफलता से बहुत प्रसन्न हुआ और उसने उसे 'शाहजहाँ' की उपाधि प्रदान की।

दक्षिण के राज्य बराबर उत्पात किया करते थे, जिसके कारण मुग़ल-सेना को बराबर उनके साथ युद्ध करना पड़ता था। उत्तर की राजनीतिक हलचल

और शाहजहाँ के विद्रोह के कारण उनका साहस अधिक बढ़ गया। मलिक अम्बर की युद्ध-प्रणाली से मुग़लों को बड़ी हानि हुई, परन्तु सन् १६२६ ई० में उसकी मृत्यु हो जाने से फिर उनकी परिस्थिति सँभल गई। उसके उत्तराधिकारी हमीद खाँ को रिश्वत देकर मुग़लों ने अहमदनगर के क़िले तक के सारे देश पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया।

शाहजहाँ का विद्रोह (१६२२-२५ ई०)—शाहजहाँ का विद्रोह जहाँगीर के शासन-काल के अन्य विद्रोहों से अधिक भयङ्कर था। उस राजकुमार का जन्म लाहौर में सन् १५९२ ई० में हुआ था। उसे शिक्षा अच्छी मिली थी। बीस वर्ष की अवस्था में आसफ़ खाँ की बेटी अर्जुमन्द बानू बेगम के साथ, सन् १६१२ ई० में, उसका विवाह हुआ था। शुरू में वह ऐसा दृढ़चरित्र था कि २३ वर्ष की अवस्था तक उसने शराब को चक्खा तक नहीं और बड़ी कठिनाई के बाद जहाँगीर उसे पीने के लिए राज़ी कर सका। जब वह बड़ा हुआ तो उसमें वीर सेनापति और राजनीतिज्ञ के गुण प्रकट होने लगे और बादशाह ने उसे बड़ी-बड़ी सेनाओं का अध्यक्ष बनाकर भेजा। पहले तो कुछ दिनों तक नूरजहाँ और शाहजहाँ में मेल रहा परन्तु बाद में दोनों में अनबन हो गई। नूरजहाँ सारा अधिकार अपने हाथ में रखना चाहती थी। इस लिए वह, शाहजहाँ को हटाकर, जहाँगीर के छोटे बेटे शहरयार को उसका उत्तराधिकारी बनाना चाहती थी। नूरजहाँ की लड़की, जो शेर अफ़गन से पैदा थी, शहरयार के साथ ब्याही थी। सन् १६१२ ई० में ईरानियों ने क़न्दहार पर क़ब्ज़ा कर लिया। जहाँगीर ने एक बड़ी सेना लेकर शाहजहाँ को जाने का हुक्म दिया। शाहजहाँ ने यह सोचकर कि उसकी अनुपस्थिति में नूरजहाँ उसके विरुद्ध षड्यन्त्र रचेगी, क़न्दहार की चढ़ाई पर जाने से इनकार कर दिया। इसके अतिरिक्त शाहजहाँ डरता था कि यदि वह ईरानियों से हार गया तो उसकी बड़ी बदनामी होगी। नूरजहाँ ने शाहजहाँ की खूब निन्दा की और बादशाह को उसकी जागीर छीनने के लिए राज़ी कर लिया। अब शाहजहाँ को यह निश्चय हो गया कि उसकी तलवार ही उसकी रक्षा कर सकती है। उसने शीघ्र आगरे पर चढ़ाई कर दी और फिर दिल्ली की ओर रवाना हुआ। बिलोचपुर में शाही सेना से उसकी मुठभेड़ हुई और वह पराजित हुआ। वहाँ से हार कर मालवा, गुजरात होता हुआ वह दक्षिण पहुँचा। गुजरात में उसे कोई सहायता न मिली। दक्षिण से वह तेलङ्गाना को वापस आया और सन् १६२४ ई० में बङ्गाल पहुँचा। बङ्गाल में परवेज़ और महाबत खाँ ने उसे पराजित कर, फिर दक्षिण की ओर भगा दिया। शाहजहाँ के साथियों ने उसे धोखा दिया और शाही सेना से अकेले युद्ध करना उसके लिए असम्भव हो गया। निदान, सन् १६२५ ई० में उसने क्षमा की प्रार्थना की और बादशाह के साथ उसका मेल हो गया। दण्ड के रूप में उसे कई क़िले देने पड़े और

जमानत के तौर पर अपने बेटे दारा और औरङ्गज़ेब को दरबार में भेजना पड़ा।

महाबत ख़ाँ का विद्रोह—नूरजहाँ अपना अधिकार स्थापित रखने के लिए, शहरयार को बादशाह का उत्तराधिकारी बनाना चाहती थी। शाहजहाँ को तो नीचा देखना पड़ा था परन्तु महाबत ख़ाँ एक शक्तिशाली अमीर था और बिना उसे दबाये नूरजहाँ की योजना सफल नहीं हो सकती थी। इसलिए उसने धीरे-धीरे उसकी जड़ काटनी शुरू कर दी। जशाहहाँ के विद्रोह को दमन करने में महाबत ख़ाँ ने बड़ा योग दिया था परन्तु बादशाह ने इसका कुछ भी ख़याल नहीं किया और उस पर राज्य का रुपया खा जाने का अभियोग चलाया। महाबत को दरबार में आने की आज्ञा हुई, परन्तु वह इस अपमान को न सह सका और उसने विद्रोह कर दिया। अपने राजपूतों की मदद से उसने बादशाह को, जो झेलम के किनारे डेरा डाले पड़ा था, क़ैद कर लिया। नूरजहाँ ने इस विकट परिस्थिति में बड़े धैर्य्य और साहस से काम लिया। पहले तो उसने बादशाह को मुक्त करने का उद्योग किया, परन्तु जब उसे सफलता न मिली तो वह क़ैद में चली गई। महाबत ख़ाँ ने निश्चिन्त होकर चौकसी में ढील-ढाल कर दी। मौक़ा पाकर एक दिन नूरजहाँ बादशाह को लेकर निकल गई। महाबत ख़ाँ दक्षिण की तरफ़ भाग गया और शाहजहाँ से जा मिला।

जहाँगीर की मृत्यु—नूरजहाँ की विजय अधिक लाभ-प्रद नहीं हुई। बादशाह बहुत दिनों से बीमार था। उसका स्वास्थ्य बिलकुल बिगड़ गया और दमा रोग ने उग्र रूप धारण कर लिया। जल-वायु बदलने के लिए वह काश्मीर गया, परन्तु कुछ लाभ न होने पर उसने फिर लाहौर लौटने का विचार किया। लौटते समय रास्ते में भिम्बर नामक स्थान पर २८ अक्टूबर सन् १६२७ ई० को, २२ वर्ष राज्य करने के बाद, उसकी मृत्यु हो गई।

जहाँगीर का दरबार और युरोप के यात्री—जहाँगीर के शासनकाल में अनेक यूरोपीय यात्री भारत में आये। उन्होंने जहाँगीर के दरबार तथा जनता के विषय में बहुत-सी बातें लिखी हैं। सन् १६०८ ई० में इँगलैंड के बादशाह जेम्स प्रथम का एक पत्र लेकर कप्तान हाकिन्स, व्यापारिक सुविधाएँ प्राप्त करने के लिए, मुग़ल-दरबार में आया। उसके बाद सन् १६१५ ई० में सर टामसरो आया। उसने सूरत में व्यापार करने के लिए बादशाह से एक फ़रमान प्राप्त किया। उसकी डायरी में मुग़ल-दरबार तथा देश की दशा का वर्णन मिलता है। सर टामस रो उसमें बादशाह तथा उसके दरबारियों के मद्यपान का सविस्तार वर्णन करता है। वह लिखता है कि बादशाह के पास अपार दौलत थी और विदेशियों का सम्मान किया जाता था। शासन-प्रबन्ध अकबर के समय की तरह सुव्यवस्थित नहीं था। रिश्वत का बाज़ार गर्म था और बड़े-बड़े अमीर भी रिश्वत

लेने में सङ्कोच नहीं करते थे। सड़कों पर, विशेषतः दक्षिण में, डाकुओं का बड़ा डर था। दस्तकारी उन्नत दशा में थी और देश में धन-धान्य की कमी न थी।

जहाँगीर का चरित्र—जहाँगीर एक बुद्धिमान् और दूरदर्शी शासक था। वह शराब बहुत पीता था, परन्तु केवल रात के समय। दिन में यदि किसी के मुँह से शराब की बदबू आती तो वह उसे कड़ी सज़ा देता था। युवावस्था में उसमें शारीरिक बल काफ़ी था और उसे शिकार का भी बड़ा शौक़ था। परन्तु अधिक शराब पीने के कारण उसका स्वास्थ्य बिगड़ गया था। यद्यपि कभी-कभी वह बड़ी निर्दयता दिखलाता था, परन्तु न्याय-प्रिय था और अत्याचार को रोकने के लिए सदा उद्यत रहता था। वह उदारहृदय और दानशील था और दीन-दुखियों पर दया करता था। उसमें धार्मिक पक्षपात नहीं था और वह हिन्दुओं के साथ अच्छा बर्ताव करता था। पवित्र और विद्वान् पुरुषों का समागम उसे अच्छा लगता था। हिन्दुओं से वह बराबर मिलता-जुलता रहता और उनकी प्रशंसा करता था।

उसे फ़ारसी-साहित्य का अच्छा ज्ञान था। स्वयं भी वह फ़ारसी में ग़ज़लें और क़सीदे लिखता था। तुर्की वह खूब बोलता था और हिन्दी गीतों से भी वह बड़ा प्रेम करता था। प्राकृतिक सौन्दर्य का वह अनन्य उपासक था। उसने अपनी आत्म-कथा में जीव-जन्तुओं और फूल-पत्तों का वर्णन एक वैज्ञानिक की तरह किया है। चित्र-कला से उसे विशेष प्रेम था और एक अनुभवी कला-विद् की तरह वह चित्रों के गुणों का विवेचन करता था। उसकीलिखी हुई आत्म-कथा "तुज़ुक जहाँगीरी"उसके जीवन का अमूल्य इतिहास है।

जहाँगीर में सबसे बड़ी कमज़ोरी यह थी कि वह शीघ्र दूसरों के प्रभाव में आ जाता था। दिन-रात ऐश-आराम में मग्न रहने के कारण राज्य के काम की ओर वह बहुत कम ध्यान देता था। इसका परिणाम यह हुआ कि उसके समय में कई बार राज्य की शान्ति भङ्ग हुई और शासन-सम्बन्धी कोई महान् कार्य न हो सका।

शाहजहाँ का गद्दी पर बैठना—जहाँगीर की मृत्यु होते ही नूरजहाँ ने शहरयार को आगे बढ़ाने की चेष्टा की। उसने भी शीघ्र लाहौर में बादशाह की उपाधि ले ली। परवेज़ सन् १६२६ ई० में पहले ही मर चुका था। इसलिए शाहजहाँ ही उसका एकमात्र प्रतिद्वन्द्वी था, जिससे उसे भय हो सकता था। शाहजहाँ उस समय दक्षिण में था। परन्तु उसका श्वसुर आसफ़ खाँ उसका सबसे बड़ा सहायक था। उसने हर तरह अपने दामाद की रक्षा के लिए प्रयत्न किया। खुसरो के एक बेटे को गद्दी पर बैठाकर उसने शाहजहाँ के पास खबर भेजी कि शीघ्र दिल्ली आओ। युद्ध में शहरयार पराजित हुआ और अन्धा कर दिया गया। शाहजहाँ सन् १६२८ ई० में गद्दी पर बैठ गया और इसके बाद उसने अपने सभी प्रतिद्वन्द्वियों को मरवा डाला। नूरजहाँ राज-काज से अलग हो गई
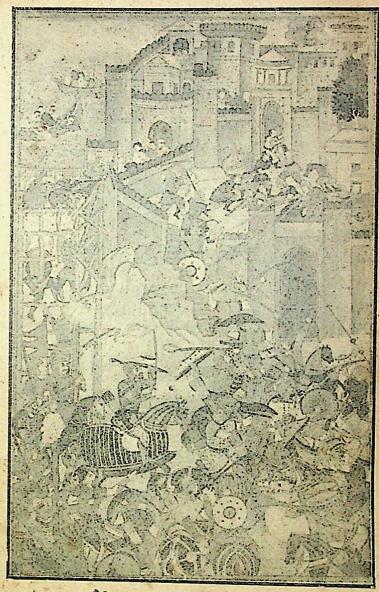
मुग़ल सैनिक मध्यभारत के एक क़िले को घेरे हुए हैं

अदीना मस्जिद का भीतरी दृश्य पांडुआ
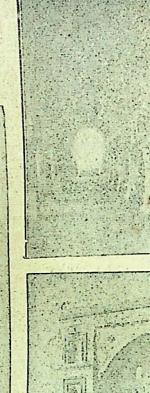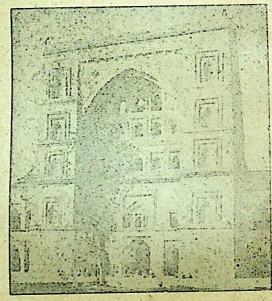
विजय-स्तम्भ चित्तौड़

अटाला मस्जिद

और उसे दो लाख रुपया सालाना पेंशन दी गई। अब उसने सफ़ेद वस्त्र धारण कर लिये और अपनी बेटी के साथ लाहौर में रहने लगी। सन् १६४५ ई० में उसकी वहीं मृत्यु हो गई।

नये शासन का रूप—शाहजहाँ का शासन-काल मुग़ल-इतिहास में एक बड़ा भव्य-युग समझा जाता है। उसके अपार धन और शक्ति तथा अनुपम इमारतों ने देश-देशान्तर में उसकी कीर्ति को फैला दिया। परन्तु अकबर और जहाँगीर की धार्मिक नीति को छोड़कर उसने साम्राज्य का बड़ा अहित किया। वह पक्का सुन्नी मुसलमान था और अन्य धर्मवालों के साथ असहिष्णुता का बर्ताव करता था। इसका परिणाम यह हुआ कि सुन्नी मुसलमानों का प्रभाव बढ़ गया और औरङ्गज़ेब के समय में उन्होंने बड़ा ज़ोर पकड़ा। वास्तव में औरङ्गज़ेब की धार्मिक नीति का सूत्रपात शाहजहाँ के ही शासन-काल में हुआ था।

राज-विद्रोह—शाहजहाँ के गद्दी पर बैठने के थोड़े ही दिनों बाद, दक्षिण के मुग़ल सूबेदार खानजहाँ लोदी ने विद्रोह किया। किन्तु वह पराजित हुआ और मारा गया और सन् १६३१ ई० में विद्रोह शान्त कर दिया गया। दूसरा बड़ा विद्रोह अबुलफ़ज़ल को क़त्ल करनेवाले वीरसिंहदेव के पुत्र जुझारसिंह बुन्देला का था। जुझारसिंह युद्ध में बादशाही सेना का सामना न कर सका और पकड़ कर मार डाला गया। बादशाह ने जुझारसिंह के सम्बन्धियों के साथ बड़ी निर्दयता का व्यवहार किया।

गुजरात और दक्षिण में दुर्भिक्ष—सन् १६३१-३२ में गुजरात, खानदेश और दक्षिण में भयङ्कर दुर्भिक्ष पड़ा। सहस्रों मनुष्य भूखों मर गये और अनाज की ऐसी कमी हुई कि मनुष्य मनुष्य को खाने लगा। दुर्भिक्ष-पीड़ित प्रजा की दुर्दशा देखकर बादशाह बड़ा दुखी हुआ। उसने स्थान-स्थान पर बावर्चीख़ाने अथवा लङ्गर स्थापित कराये, जहाँ से ग़रीबों को भोजन मुफ्त मिलता था। अहमदाबाद में दुर्भिक्ष-पीड़ितों की सहायता के लिए शाही ख़ज़ाने से एक बड़ी रक़म मञ्ज़ूर की गई। इसके अतिरिक्त, बादशाह ने ७० लाख रुपया लगान भी माफ़ कर दिया।

पुर्त्तगालियों के साथ युद्ध—बङ्गाल के पहले सुलतानों की आज्ञा से हुगली में पुर्तगाल-निवासी आकर बस गये थे। उन्होंने धीरे-धीरे अपनी शक्ति बढ़ा ली और अपनी बस्तियाँ बना लीं। इनकी रक्षा के लिए उन्होंने पर्याप्त सैनिक सामग्री भी एकत्र कर ली। इसके अतिरिक्त, उन्होंने अपने अफ़सरों-द्वारा चुङ्गी आदि वसूल करना आरम्भ कर दिया जिससे साम्राज्य की हानि होने लगी। लोगों को ईसाई बनाने के लिए वे भाँति-भाँति का प्रलोभन देते थे और कभी-कभी जबर्दस्ती भी करते थे। बादशाह इन सब बातों से असप्रन्न हुआ परन्तु जब उन्होंने मुमताज़महल की दो लौंडियों को पकड़ लिया तब तो उसके क्रोध की सीमा न रही।

उसने उन्हें दण्ड देने का पक्का इरादा कर लिया। बङ्गाल के सूबेदार क़ासिम खाँ ने हुगली पर चढ़ाई की। पुर्तगालियों ने भरसक अपनी रक्षा का उपाय किया, परन्तु वे पराजित हुए (सन् १६३२ ई०) और उनकी बड़ी हानि हुई। लगभग दस हज़ार पुर्तगाली मारे गये और बहुत-से क़ैद किये गये। शाहजहाँ ने उन्हें जो दण्ड दिया वह अवश्य कठोर था, परन्तु यह मानना पड़ेगा कि उनकी बेईमानियाँ ऐसी थीं कि बादशाह के लिए उनका दमन करना ज़रूरी हो गया।

मुमताज़महल की मृत्यु—मुमताज़महल का प्रारम्भिक नाम अर्जमन्द बानू बेगम था। वह नूरजहाँ के भाई आसफ़ खाँ की बेटी थी। उसमें अपने वंश के सभी अच्छे-अच्छे गुण मौजूद थे। शाहजहाँ उससे बड़ा प्रेम करता था और हर मामले में उसकी सलाह लिया करता था। जिस समय वह बुरहानपुर में था, उसके चौदहवाँ बच्चा पैदा हुआ। बेगम प्रसव-पीड़ा से एकाएक बीमार हो गई और जून सन् १६३१ ई० में उसका शरीरान्त हो गया। लाश आगरे लाई गई और यमुना के किनारे दफ़न की गई। इसी स्थान पर बाद को शाहजहाँ ने जगत्प्रसिद्ध मक़बरा ताजमहल बनवाया। यह मक़बरा दाम्पत्य प्रेम का अद्भुत स्मारक है और आज तक मौजूद है।

शाहजहाँ और दक्षिण के राज्य—दक्षिण के राज्य अधिक शक्तिशाली नहीं थे। मुग़ल-सेना का सामना करना उनकी शक्ति के बाहर था। शाहजहाँ ने सबसे पहले अहमदनगर पर आक्रमण किया। अहमदनगर पर शीघ्र चढ़ाई करने का कारण यह था कि निज़ामशाह ने खानजहाँ लोदी को सहायता दी थी। मुग़ल-सेना ने निज़ामशाह को पराजित किया और सन् १६३३ ई० में अहमदनगर मुग़ल-साम्राज्य में मिला लिया गया; इसके बाद शाहजहाँ ने बीजापुर और गोलकुण्डा के राज्यों की ओर ध्यान दिया। वास्तव में दिल्ली के मुग़ल-सम्राटों और दक्षिण के मुसलमान सुलतानों की शत्रुता के कारण राजनीतिक तथा धार्मिक दोनों थे। मुग़ल बादशाह सुन्नी मुसलमान थे और दक्षिण के सुलतान शिया थे। वे लोग फ़ारस के शाह को शिया मुसलमानों का पेशवा समझकर उसी को अपना अधीश्वर स्वीकार करते थे। इस बात को शाहजहाँ अपना अपमान समझता था। वह चाहता था कि वे उसकी अधीनता स्वीकार करें। बीजापुर के सुलतान ने तो शाहजहाँ का आधिपत्य स्वीकार कर लिया और वार्षिक कर (खिराज) देना स्वीकार कर लिया; परन्तु गोलकुण्डा के सुलतान ने युद्ध करने का निश्चय किया। शाही सेना ने उसके सारे देश को रौंद डाला। अन्त में सन् १६३६ ई० में विवश होकर सुलतान ने भारी हरजाना दिया और सन्धि करके मुग़ल-सम्राट् का आधिपत्य स्वीकार कर लिया। शाहजहाँ ने अपने तीसरे बेटे औरङ्गज़ेब को, जिसकी अवस्था इस समय केवल १८ वर्ष की थी, दक्षिण का सूबेदार बनाकर भेजा। बरार, खानदेश, तेलङ्गाना और दौलताबाद, इन चार सूबों का प्रबन्ध

उसके सुपुर्द किया। इसी समय शाहजी भोंसला ने भी बादशाह से सन्धि कर ली।

औरङ्गज़ेब सन् १६४४ ई० तक दक्षिण में रहा। इसके बाद उसने अपने पद से इस्तीफ़ा दे दिया। वहाँ से वह गुजरात भेजा गया और गुजरात से बलख और बदख्शाँ को उसकी बदली की गई। सन् १६५२ ई० में वह फिर दक्षिण का सूबेदार बनाया गया। इस समय दक्षिण की हालत बहुत खराब हो रही थी। खेती की दुर्दशा थी और किसानों की कोई परवाह नहीं करता था। बहुत-सी बोई हुई ज़मीन लापरवाही के कारण जङ्गल हो गई थीं और राज्य की आमदनी भी बहुत घट गई थी। ऐसी हालत में काफ़ी रुपया न होने के कारण शासन का काम-काज चलाना कठिन हो गया था। औरङ्गज़ेब ने आर्थिक सहायता के लिए पत्र लिखा परन्तु शाहजहाँ ने उत्तर में उसे धमकी दी और उसकी अयोग्यता को उसकी कठिनाई का कारण बतलाया। औरङ्गज़ेब ने फिर भी देश की दशा सुधारने का उद्योग किया। अपने योग्य दीवान मुर्शिद कुली खाँ की सहायता से उसने लगान के नियमों को सुव्यवस्थित किया। ज़मीन की पैमाइश के लिए ईमानदार कर्मचारियों को नियुक्त किया, गाँवों के मुखियों को खेती की उन्नति करने का आदेश किया और दीन किसानों को बीज तथा बैल के लिए रुपया क़र्ज दिया गया।

इस प्रकार आर्थिक दशा का सुधार करके औरङ्गज़ेब नें दक्षिण के राज्यों को जीतने की फिर चेष्टा की। गोलकुण्डा पर चढ़ाई करने का यह बहाना था कि उसने बहुत दिनों से नियत राज-कर (खिराज) नहीं दिया था। इसके अलावा एक और भी कारण था। सुलतान ने मीरजुमला नाम के अपने एक अफ़सर के साथ बड़ा दुर्व्यवहार किया। मीरजुमला ने भागकर १६५६ ई० में मुग़ल-दरबार में शरण ली।

मुग़ल-सेना ने गोलकुण्डा पर चढ़ाई की और शहर को घेर लिया। लोगों को यह निश्चय हो गया कि क़िला जीत लिया जायगा और गोलकुण्डा मुग़ल-साम्राज्य में मिला लिया जायगा, परन्तु वहाँ के सुलतान के साथ कठोर व्यवहार करने के कारण शाहजहाँ औरङ्गज़ेब से नाराज़ हो गया और उसने शीघ्र हुक्म दिया कि युद्ध बन्द कर दिया जाय। इस सम्बन्ध में मीरजुमला को उसकी सेवा के लिए पुरस्कार दिया गया।

इसके बाद औरङ्गज़ेब ने बीजापुर पर चढ़ाई की। इस बार जब कि विजय होने ही वाली थी, दारा के कहने से शाहजहाँ ने भी औरङ्गज़ेब को बीजापुर का घेरा बन्द कर देने की आज्ञा दे दी थी (१६५७) ई०। औरङ्गज़ेब को बादशाह की आज्ञा माननी पड़ी। वास्तव में दारा औरङ्गज़ेब से उसकी सफलताओं के कारण

ईर्ष्या करने लगा था। इसलिए उसने शाहजहाँ के कान भरे और ऐसी आज्ञा प्राप्त कर औरङ्गज़ेब की सारी योजनाओं को नष्ट कर दिया।

पश्चिमोत्तर-सीमा तथा मध्य एशिया-सम्बन्धी नीति—उत्तर-पश्चिम में क़न्दहार के सूबे को, जो अकबर के समय में मुग़ल-साम्राज्य में मिला लिया गया था, फ़ारस के शाह ने सन् १६२३ ई० में जीत लिया। शाहजहाँ ने अपनी कूटनीति से क़न्दहार के ईरानी सूबेदार अली मर्दान खाँ को रिश्वत देकर अपनी ओर मिला लिया और एक बार फिर सन् १६३८ ई० में क़न्दहार मुग़लों के अधिकार में आ गया। अली मर्दान खाँ का शाहजहाँ ने बड़ा सम्मान किया और उसे बड़े-बड़े ओहदे दिये। उसने भी बड़ी योग्यता से काम किया। लाहौर के शालामार बाग़ उसी ने लगवाये और एक बड़ी नहर भी खुदवाई। इनके कारण अब तक उसका नाम याद किया जाता है।

तैमूर-वंशीय अन्य बादशाहों की तरह अपने पूर्वपुरुषों की जन्मभूमि तुर्किस्तान को जीतने की शाहजहाँ की भी प्रबल इच्छा थी। इस समय बलख और बदख्शाँ के राजवंशों में झगड़ा हो रहा था। इससे लाभ उठाकर शाहजहाँ ने शाहज़ादा मुराद और अली मर्दान खाँ को, एक बड़ी सेना के साथ, सन् १६४५ ई० में रवाना किया। किन्तु उज़बेगों ने डटकर उनका सामना किया और उन्हें सफलता न मिली। तब शाहजहाँ ने औरङ्गज़ेब को भेजा। औरङ्गज़ेब का उद्योग भी असफल रहा और उसे १६४७ ई० में वहाँ से वापस होना पड़ा। आक्रमण की सारी योजना व्यर्थ और हानिकारक सिद्ध हुई। साम्राज्य का बहुत-सा रुपया खर्च हो गया और एक इञ्च भी ज़मीन न मिल सकी।

उधर ईरानी क़न्दहार के हाथ से निकल जाने को नहीं भूले थे। शाह अब्बास तृतीय ने अपनी सेना का सङ्गठन करके क़न्दहार पर चढ़ाई कर दी और मुग़ल-सेना से सन् १६४९ ई० में क़िला छीन लिया। बादशाह की ओर से सन् १६४९, १६५२ और १६५३ ई० में तीन बार क़न्दहार को फिर जीतने की चेष्टा की गई, परन्तु सफलता प्राप्त न हुई। पहली दो चढ़ाइयों में औरङ्गज़ेब गया परन्तु वह असफल रहा। उसकी अपेक्षा अपने को अधिक योग्य सेनाध्यक्ष सिद्ध करने के लिए दारा ने क़न्दहार पर फिर आक्रमण करने का बादशाह से अनुरोध किया। वह स्वयं एक बड़ी सेना लेकर गया। परन्तु सात महीने के घेरे के बाद कोई विजय के लक्षण दिखाई न पड़े। निराश होकर दारा वापस लौट आया और उस दिन से शाहजहाँ ने क़न्दहार पर पुनः अधिकार स्थापित करने की आशा छोड़ दी।

शासन-प्रबन्ध—शासन-प्रणाली का ढाँचा क़रीब-क़रीब अकबर के समय का-सा ही था, यद्यपि अपनी सुविधा के लिए शाहजहाँ ने कुछ परिवर्तन किये थे। सारा साम्राज्य २२ सूबों में विभक्त था, जिनसे प्रतिवर्ष ८८० करोड़ दाम

अर्थात् २२ करोड़ रुपये की आमदनी होती थी। भूमिकर के अतिरिक्त आय के और भी साधन थे। अफ़सरों के मरने के बाद उनकी सारी सम्पत्ति राज्य को मिल जाती थी। इसके अलावा चुङ्गी, लड़ाई की लूट, अधीनस्थ राजाओं का खिराज और दूसरे करों से शाही खज़ाने में अपार धन आता था। इस प्रकार शाहजहाँ की आय अकबर तथा जहाँगीर के समय से बहुत बढ़ गई थी। यही कारण था कि आगरा और दिल्ली में विशाल तथा अनुपम इमारतें बनाने में वह समर्थ हुआ। साम्राज्य की फ़ौजी शक्ति काफ़ी थी। सेना में पैदाल, तोपखाना तथा जङ्गी बेड़े के अतिरिक्त १,४४,५०० अश्वारोही थे। अश्वारोही-सेना के सुसङ्गठन की बर्नियर ने भी बड़ी प्रशंसा की है। परन्तु सेना पहले की तरह शक्तिशाली नहीं थी। इसके कई कारण थे—(१) जागीर-प्रथा का फिर से प्रचलित होना, (२) नाबालिग़ों को मनसबदार बनाना, (३) दाग़ की प्रथा में ढील-ढाल और सेना में नियमों का स्वभाव इत्यादि। सेना की संख्या बहुत बढ़ गई थी और उसका एक स्थान से दूसरे स्थान को जाना कठिन था। खुले मैदान में तो वह खूब युद्ध कर सकती थी किन्तु ऊँचे-ऊँचे पहाड़ी देश में वह अपनी शक्ति का पूरा प्रयोग नहीं कर सकती थी।

शाहजहाँ न्याय करने के लिए प्रसिद्ध था। बड़े-बड़े मुकदमों का वह स्वयं फ़ैसला करता और अपीलें सुनता था। लोगों की फ़रियाद सुनने के लिए उसने एक दिन नियत कर दिया था और बड़ी सावधानी से फ़ैसले देता था। अपराध सिद्ध हो जाने पर वह राज्य के बड़े-बड़े अधिकारियों को भी दण्ड देने में सङ्कोच नहीं करता था। छोटे अपराधों के लिए भी कठोर दण्ड दिया जाता था और बड़े अपराधों के लिए फाँसी अथवा कारागार या जन्म-क़ैद की सज़ा दी जाती थी।

शाहजहाँ ने लगान के प्रबन्ध में कुछ परिवर्तन किये थे। अकबर जागीर-प्रथा का विरोधी था और अपने कर्मचारियों का वेतन नक़द रुपये में देता था। परन्तु जहाँगीर के समय में ज़मीन और नक़द रुपया दोनों दिये जाते थे। शाहजहाँ के समय में ज़मीन का ठेका दिया जाने लगा। मोरलेंड लिखता है कि साम्राज्य का ७/१० भाग ठेके पर दे दिया गया था और खालसा की ज़मीन बहुत कम रह गई थी। ये ठेकेदार किसानों से लगान वसूल करके राज्य को एक निश्चित सालाना रक़म दिया करते थे। बड़े-बड़े मनसबदार भी अपनी ज़मीन को ठेके पर उठाया करते थे। लगान निश्चित करने के ढङ्ग में भी कुछ उलट-फेर किया गया था। अकबर के समय में लगान का निश्चय बहुत कुछ रैयतवाड़ी बन्दोबस्त के अनुसार हुआ करता था। परन्तु शाहजहाँ के समय में एक किसान की नहीं, वरन सारे गाँव या गाँवों के एक समुदाय की मालगुज़ारी निश्चित की जाती थी। अकबर के समय में पैदावार का तीसरा भाग राज्य का अंश समझा जाता था। उसकी मृत्यु के बाद सम्भव है, राज्य का भाग और बढ़ा दिया गया हो परन्तु इसका

कोई निश्चित प्रमाण नहीं कि राज्य पैदावार का आधा भाग लेता था। शाहजहाँ किसानों का हित चाहता था। उसका वज़ीर सादुल्ल खाँ कहता था कि जो दीवान प्रजा के साथ बेईमानी करे उसे, क़लम-दावात लेकर बैठा हुआ एक राक्षस समझना चाहिए। शाहंशाह ने किसानों के लाभ के लिए अनेक नियम बनाये थे। उनकी सहायता के लिए नहरें खुदवाई थीं। जो अफ़सर अपने इलाक़े में खेती की उन्नति करता था, उसे पुरस्कार दिया जाता था। किसानों की दशा अच्छी थी, परन्तु बर्नियर के लेखों से पता चलता है कि शाहजहाँ के शासन के उत्तरार्द्ध में खेती की अवनति आरम्भ हो गई थी। रिश्वत का रवाज था और बादशाह तथा उसके अधिकारी भेंट लेते थे और ये अपने मातहतों से रुपया लेकर अपनी कमी पूरी किया करते थे। बड़े-बड़े कर्मचारियों के पारस्परिक झगड़ों के कारण राज्य-प्रबन्ध भी बिगड़ गया था।

शाहजहाँ पक्का सुन्नी मुसलमान था। वह धार्मिक पक्षपात करता था और कभी-कभी हिन्दुओं के साथ कठोर व्यवहार करता था। परन्तु कहीं-कहीं पर औदार्य भी दिखलाता था। यूरोपीय यात्री डै लावैली लिखता है कि खम्भात के हिन्दुओं से रुपया पाने पर उसने वहाँ गो-हत्या बन्द करा दी थी। पादरी मैनरीक का लेख है कि बादशाह ने एक फ़रमान द्वारा कुछ हिन्दू-ज़िलों में पशु-वध बिलकुल बन्द करा दिया था। यूरोपीय यात्रियों ने शाहजहाँ के शासन के सम्बन्ध में बहुत-सी परस्पर-विरोधात्मक बातें लिखी हैं। टैवर्नियर ने लिखा है कि शाहजहाँ का शासन वैसा ही था जैसा कि पिता का अपने बच्चों पर होता है। किन्तु पीटरमण्डी और बर्नियर का लेख इसके विरुद्ध है। वे प्रान्तीय सूबेदारों के अत्याचार और धींगा-धींगी का वर्णन करते हैं और लिखते हैं कि देश में प्रजा की रक्षा का प्रबन्ध काफ़ी नहीं था। ये लेख विशेष स्थानों के बारे में हैं। इनसे यह नतीजा नहीं निकाला जा सकता कि सारे देश में घोर अत्याचार होता था।

राजगद्दी के लिए संग्राम—शाहजहाँ के चार बेटे थे—दारा, शुजा, औरङ्गज़ेब और मुराद। परन्तु बादशाह दारा से विशेष प्रेम करता था और उसे हमेशा दरबार में रखता था। बाक़ी तीन बेटों को तीन सूबे दिये गये थे। गये थे। शुजा बङ्गाल में, औरङ्गज़ेब दक्षिण में और मुराद गुजरात में नियुक्त था। दारा उदार स्वभाव का मनुष्य था। वह विद्वान् हिन्दुओं और ईसाइयों से बराबर सम्पर्क रखता था। उसने उपनिषदों का फ़ारसी में अनुवाद कराया था। उसके विचार स्वतन्त्र थे और वह वेदान्तियों तथा सूफ़ियों के सिद्धान्तों को आदर की दृष्टि से देखता था। परन्तु वह अभिमानी था और उसके विचार-स्वातन्त्र्य के कारण दरबार के सुन्नी लोग उससे असन्तुष्ट रहते थे। शुजा भोग-विलास

शाहजहाँ दीवान आम में एक राजदूत से मुलाकात कर रहा है
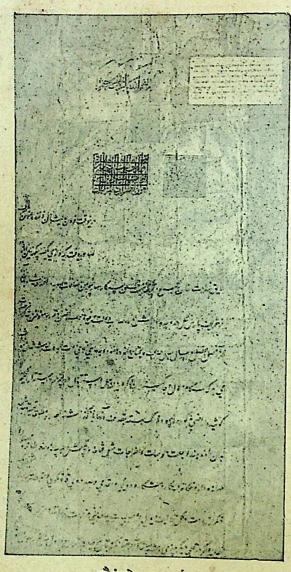
औरंगजेब का फर्मान

में अपना अधिकांश समय व्यतीत करता था, परन्तु वह एक वीर और बुद्धिमान पुरुष था। इसके अतिरिक्त वह शिया था, इसलिए सुन्नी-समुदाय उससे भी दारा की तरह असन्तुष्ट रहता था। मुराद शराबी और मूर्ख था और उसमें विचारशीलता की ऐसी कमी थी कि जो कुछ मन में आता, वही कर डालता और कह डालता था। परन्तु औरङ्गज़ेब इन सब शाहज़ादों से अधिक कुशल राजनीतिज्ञ था। वह एक वीर सिपाही और अनुभवी सेना-नायक था। वह अपने हृदय के भावों को गुप्त रखने में दक्ष था। वह पक्का सुन्नी मुसलमान था। और दरबार के सुन्नी अमीर उसके साथ सहानुभूति रखते थे। ऐसी परिस्थिति में निश्चय था कि यदि दैवात् शाहजहाँ के बाद राज्य के लिए कोई झगडा खड़ा हुआ तो सुन्नी अमीर औरङ्गज़ेब का ही साथ देंगे।

सन् १६५७ ई० के आरम्भ में शाहजहाँ बीमार पड़ा और राजगद्दी के लिए झगड़ा होने लगा। उसने अपनी वसीयत में दारा को उत्तराधिकारी बनाया और उसे ख़ुदा को प्रसन्न करने और प्रजा की सुख-सम्पत्ति बढ़ाने का आदेश किया। परन्तु इसके पहले ही शाहजहाँ ने दारा को 'शाह बुलन्द इक़बाल' (उन्नत भाग्यवाला राजकुमार) की उपाधि दे दी थी और सभी व्यावहारिक बातों में वह गद्दी का अधिकारी शाहज़ादा समझा जाता था। राजधानी में रह कर शाहंशाह के नाम से वह सब राज-काज चलाने लगा। परन्तु चारों ओर यह अफ़वाह फैल गई कि बादशाह की मृत्यु हो गई और दारा इस बात को छिपाना चाहता है। शाहजहाँ दिल्ली से आगरे चला आया और वहीं रहने लगा।

वास्तव में चारों शाहज़ादे हौसलेवाले थे और प्रत्येक दिल्ली के सिंहासन पर बैठना चाहता था। मुराद और शुजा दोनों ने अपने-अपने सूबे में बादशाह होने की घोषणा कर दी। कुछ समय के बाद औरङ्गज़ेब ने मुराद के साथ समझौता कर लिया और यह शर्त ठहरी कि औरङ्गज़ेब को दिल्ली का राज्य मिलेगा और मुराद को पंजाब, सिन्ध, अफ़ग़ानिस्तान और काश्मीर देश दिये जायँगे। तीनों शाहज़ादे अपनी-अपनी सेनाएँ लेकर राजधानी की ओर रवाना हुए। शाहजहाँ की हालत इस समय कुछ अच्छी हो गई थी। उसने शुजा के विरुद्ध एक सेना भेजी जिसने उसे बनारस के पास पराजित किया। एक दूसरी सेना जसवन्तसिंह और क़ासिम ख़ाँ की अध्यक्षता में औरङ्गज़ेब और मुराद को रोकने के लिए भेजी गई। परन्तु दोनों भाइयों की सम्मिलित सेनाओं ने १५ अप्रैल सन् १६५८ ई० को बादशाही सेना को उज्जैन के पास, धरमत नामक स्थान पर, बुरी तरह पराजित किया। दोनों राजकुमार आगे बढ़ते आये और उन्होंने चम्बल को पार कर लिया। दारा उनसे युद्ध करने के लिए दिल्ली से रवाना हुआ। परन्तु २९ मई (१६५८ ई०) को वह सामूगढ़ की लड़ाई में हार गया। सामूगढ़ की पराजय ने दारा और शाहजहाँ दोनों के भाग्य का निर्णय

कर दिया। औरङ्गज़ेब ने आगरा शहर में प्रवेश किया और जमुना से क़िले में पानी जाना बन्द करके शाहजहाँ को क़िला उसके हवाले कर देने के लिए मजबूर किया। शाहजहाँ अब क़ैद हो गया और दारा राज्य की आशा छोड़कर भाग गया।

औरङ्गज़ेब और मुराद ने दारा का पीछा किया। वह आगरे से दिल्ली की ओर भागा था। दिल्ली के रास्ते में औरङ्गज़ेब ने मुराद को, मथुरा के पास अपने डेरे में, दावत के लिए निमन्त्रित किया। जब वह शराब पीकर बेहोश हो गया तो औरङ्गज़ेब ने उसके पैरों में बेड़ियाँ डलवा दीं और उसे क़ैद करके ग्वालियर के क़िले में भेज दिया। वहाँ सन् १६६१ ई० में उस पर क़त्ल का अभियोग चलाकर उसे फाँसी की सज़ा दे दी।

दिल्ली में औरङ्गज़ेब ने राज्याभिषेक करने के बाद फिर दारा का पीछा किया। दारा पञ्जाब और सिन्ध होता हुआ गुजरात की ओर भाग गया। थोड़े समय के लिए औरङ्गज़ेब ने दारा की ओर से ध्यान हटाकर शुजा का पीछा किया और उसे ५ जनवरी सन् १६५९ ई० को खजवा के युद्ध में परास्त किया। उधर गुजरात के सूबेदार ने दारा की अच्छी आवभगत की, परन्तु इतने में राजा जसवन्तसिंह का निमन्त्रण पाकर वह अजमेर की ओर चल दिया। अजमेर में एक बार वह फिर पराजित हुआ। वहाँ से सिन्ध की तरफ़ भाग गया और दादर के एक बलूची सरदार मलिक जीवन के यहाँ उसने शरण ली। मलिक जीवन को एक बार उसने बादशाह के क्रोध से बचाया था। परन्तु बलूची सरदार निर्दयी तथा विश्वासघाती निकला। उसने अभागे शाहज़ादे को क़ैद करके औरङ्गज़ेब के हवाले कर दिया। औरङ्गज़ेब ने उसे चिथड़े पहना कर एक मैले-कुचैले हाथी पर बैठाकर दिल्ली के बाज़ारों में घुमाया और फिर अगस्त सन् १६५९ ई० में उसे क़त्ल करा दिया। शुजा आराकान की ओर भाग गया और वहाँ के निवासियों के हाथ से मारा गया। इस प्रकार अपने भाइयों को हटाकर औरङ्गज़ेब हिन्दुस्तान का सम्राट् हुआ।

इस युद्ध में औरङ्गज़ेब की विजय के कारण स्पष्ट हैं। वह एक वीर सेनानायक था और युद्ध में कभी घबड़ाता नहीं था। युद्ध-कला से भी वह भली भाँति परिचित था। उसकी सेना सुव्यवस्थित और पूर्णतः स्वामि-भक्त थी। इसके विपरीत दारा के सेनाध्यक्ष विश्वासघाती थे और रुपया लेकर शत्रु से मिल जाते थे। औरङ्गज़ेब धर्म का पाबन्द था, इसलिए दरबार का सुन्नीदल हमेशा दारा के विरुद्ध उसकी मदद करता था और दरबार की सभी कार्यवाहियों की ख़बर उसे देता था। शाहजहाँ क़ैद होकर आगरे के क़िले में रहने लगा। उसने अपना शेष जीवन क़ुरान शरीफ़ के पढ़ने और ईश्वर के ध्यान में बिताया। औरङ्गज़ेब ने उसके निरीक्षण का काफ़ी प्रबन्ध किया था। जनवरी

सन् १६६६ ई० में वहीं, ७४ वर्ष की अवस्था में, उसकी मृत्यु हो गई और अन्त में उसे अपनी प्रिय पत्नी के प्रसिद्ध मक़बरे में शरण मिली।

शाहजहाँ का चरित्र—अपने जीवन के प्रारम्भिक दिनों में शाहजहाँ एक वीर योद्धा था। उसने दूर देशों में कठिन लड़ाइयाँ लड़ी थीं और सफलता प्राप्त की थी। यह सच है कि उसने अपने कुटुम्बियों का रक्त बहाकर सिंहासन पाया था; परन्तु फिर भी उसमें कृपालुता और दानशीलता का अभाव नहीं था। निर्धन और दुखी लोगों पर वह हमेशा दया करता था और न्याय करते समय छोटे-बड़े तथा अमीर-ग़रीब सबको समान समझता था। जहाँगीर की तरह वह भी फ़ारसी-साहित्य का ज्ञाता था, तुर्की बड़ी आसानी से बोल सकता था और हिन्दी का भी ज्ञान रखता था। शान-शौक़त उसे प्रिय लगती थी, जैसा कि उसकी इमारतों से प्रकट होता है। गान-विद्या का वह बड़ा प्रेमी था और स्वयं कितने ही बाजों को बड़ी निपुणता से बजाता था। जवाहिरात इकट्ठे करने का उसे बड़ा शौक़ था और एक कुशल जौहरी की तरह वह उनकी परख करता था। अपने परिवार से और विशेषतः अपनी पत्नी से उसे अनन्य प्रेम था। धार्मिक मामलों में वह पक्का सुन्नी मुसलमान था और हिन्दू, शिया तथा ईसाइयों के प्रति उसका बर्ताव अकबर अथवा जहाँगीर का सा नहीं था। परन्तु उसने कभी हिन्दुओं के साथ अत्याचार नहीं किया। हिन्दुओं ने कभी उसकी मदद करने से हाथ नहीं खींचा। रमज़ान के महीने में वह बहुत दान करता था और मक्का तथा मदीने को बहुत सा रुपया भेजता था।

अवस्था बढ़ने पर शाहजहाँ की परिश्रम करने की शक्ति जाती रही। वह अपने बेटों को क़ाबू में न रख सका और राज्य का अधिकार धीरे-धीरे उसके हाथ से निकल गया। विलास-प्रियता के कारण वह इस बात को भूल गया कि निरंकुश शासक के चारों ओर कैसे भयङ्कर खतरे मौजूद रहते हैं। इसका परिणाम यह हुआ कि जब सङ्कट का समय आया तो उसके अफ़सरों ने विश्वास-घात किया और उसके अहसानों की कुछ भी परवाह न की। क़ैदखाने में इस दुःख-मयी वृद्धावस्था में उसे अपनी प्यारी बेटी जहाँनारा से बड़ी सान्त्वना मिली। वही उसके साथ आगरे के क़िले में रही और जीवन-पर्यन्त उसकी सेवा-शुश्रूषा करती रही।

संक्षिप्त सनवार विवरण

खुसरो का विद्रोह	..	-- १६०६ई०
विलियम हाकिंस का मुग़ल-दरबार में आना		-- १६०८ "
जहाँगीर का नूरजहाँ के साथ विवाह	..	-- १६११ "
बङ्गाल में उस्मान का विद्रोह	..	-- १६१२ "

मेवाड़ के राना की पराजय	.. ..	१६१४ ई०
सर टामस रो का मुग़ल-दरबार में आना	.. ..	१६१५ "
मलिक अम्बर के साथ सन्धि	.. ..	१६१७ "
शाहजहाँ का विरोध	.. ..	१६२३ "
क़न्दहार पर ईरानियों का अधिकार	.. ..	१६२३ "
जहाँगीर की मृत्यु	.. ..	१६२३ "
ख़ानजहाँ लोदी का विद्रोह	.. ..	१६३१ "
मुमताज़महल की मृत्यु	.. ..	१६३१ "
पुर्तगालियों की पराजय	.. ..	१६३२ "
अहमदनगर का साम्राज्य में मिलाया जाना	..	१६३३ "
क़न्हदार का ईरानियों के हाथ में चला जाना	..	१६४९ "
मीरजुमला का मुग़लों की शरण में जाना	..	१६५९ "
धरमत की लड़ाई	.. ..	१६५८ "
मुराद की क़ैद	..	१६६१ "
खजवा की लड़ाई	.. ..	१६५९ "
शाहजहाँ की मृत्यु	.. ..	१६६६ "

अध्याय २५

औरङ्गज़ेब का शासन-काल

(१६५८–१७०७)

शासन-काल के दो भाग—औरङ्गज़ेब का शासन-युग पच्चीस-पच्चीस वर्ष के दो कालों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम काल में सन् १६५८ से १६८२ ई० तक बादशाह उत्तरी भारत में ही राज-कार्य में संलग्न रहा और दक्षिण की ओर उसने कुछ भी ध्यान नहीं दिया। परन्तु द्वितीय काल में सन् १६८२ से १७०७ ई० तक वह दक्षिण ही में रहा और उसने अपना सारा समय मरणपर्यन्त शिया-राज्यों तथा मराठों के साथ युद्ध करने में व्यतीत किया। इस काल में उत्तरी भारत में शासन-प्रबन्ध बिगड़ गया और दरबार का संरक्षण न रहने से, व्यापार तथा कारीगरी की दशा खराब हो गई और जनता निर्धन हो गई। इस अव्यवस्था का खेती पर भी घातक प्रभाव पड़ा और उसकी अवनति होने लगी। देहातों में बेकारी बढ़ जाने से देश के अनेक भागों में अराजकता

फैल गई। सच तो यह है कि इसी समय की शासन-सम्बन्धी अव्यवस्था, सामाजिक ह्रास और आर्थिक सङ्कीर्णता ने आगे चलकर १८वीं शताब्दी की अराजकता के लिए मार्ग तैयार किया।

औरङ्गज़ेब की समस्याएँ—औरङ्गज़ेब का पहला राज्याभिषेक जुलाई सन् १६५८ ई० में और दूसरा १३ मई १६५९ ई० को बड़े समारोह के साथ दिल्ली में हुआ। उसने अबुल मुज़फ़्फ़र मुईनुद्दीन मुहम्मद औरङ्गज़ेब आलमगीर बादशाह ग़ाज़ी की उपाधि धारण की। कवियों ने अपनी उत्तमोत्तम रचनाओं-द्वारा बादशाह का गुणगान किया और दरबारियों ने एक दूसरे से बढ़कर उत्सव मनाया। बादशाह ने प्रजा में बाँटने के लिए, शाही कोष से बहुत-सा रुपया मञ्जूर किया; परन्तु उसे एक विचित्र समस्या का सामना करना पड़ा। बहुत-से लोग, शाहजहाँ को गद्दी से उतारकर राज्य प्राप्त करने के कारण, उससे असंन्तुष्ट थे। दूसरे, सन् १६५८ ई० में शासन की दशा भी अच्छी न थी। सेना भी अव्यवस्थित थी और उत्तराधिकार के युद्ध का बुरा प्रभाव उसके प्रबन्ध पर पड़ा था। शाहजहाँ और दारा के सहायक नये शासन से भयभीत थे और सुन्नी-दल का प्रभाव बढ़ते देखकर हैरान थे। दारा का विरोधी होने के कारण औरङ्गज़ेब को सुन्नियों से मदद लेनी पड़ी। उसके लिए सभी अधिकारों को अपने हाथ में रखना आवश्यक था, क्योंकि उसने अपने भाइयों से युद्ध करके राज्य प्राप्त किया था और उस सन्देह-पूर्ण वातावरण में किसी का सहसा विश्वास करना उसके लिए सम्भव नहीं था। अपनी परिस्थिति ठीक करने के लिए उसने निरंकुशता और अविश्वास की नीति से काम लेने का निश्चय किया।

गद्दी पर बैठते ही उसने अनेक कर बन्द कर दिये और अपने सहायकों को प्रसन्न करने के लिए कई फ़र्मान जारी किये। उसने नौरोज़ का जलसा बन्द कर दिया और जनता के चरित्र की देख-भाल के लिए अफ़सर नियुक्त किये। भंग आदि नशीली चीज़ों के इस्तेमाल की उसने बिलकुल मनाही कर दी।

मीरजुमला की आसाम पर चढ़ाई—अन्य सम्राटों की तरह औरङ्गज़ेब भी पूर्व की ओर अपने साम्राज्य को बढ़ाना चाहता था। उसने अपने सेनापति मीरजुमला को, जिसने दक्षिण की लड़ाइयों में साम्राज्य की बड़ी सेवा की थी, बङ्गाल का सूबेदार नियुक्त किया। मीरजुमला ने सन् १६६१ ई० में आसाम पर चढ़ाई की; क्योंकि वहाँ के राजा ने मुग़ल-साम्राज्य की कुछ भूमि पर अधिकार कर लिया था। अपनी सेना की मदद से उसने कूच बिहार को जीत लिया और सन् १६६२ ई. में आसाम की राजधानी गढ़गाँव का मुहासरा किया। दुर्भिक्ष और महामारी के कारण मुग़ल-सेना की बड़ी क्षति हुई। अन्त में राजा ने सन्धि कर ली और वार्षिक कर और हरजाना देना स्वीकार किया। मीरजुमला

ढाका को लौटते समय रास्ते में मर गया। उसके उत्तराधिकारी शायस्ता ख़ाँ ने युद्ध जारी रक्खा और अराकान के राजा से चटगाँव छीन लिया।

राजविद्रोह—शासन के प्रारम्भिक भाग में, सन् १६५९ ई० में चम्पतराय बुन्देला ने, जो पहले मुग़लों की नौकरी में था, विद्रोह किया परन्तु लड़ाई में हारा और मारा गया। दो वर्ष तक वह एक स्थान से दूसरे स्थान को भागता रहा और उसका पीछा होता रहा। अन्त में पकड़े जाने के भय से उसने कटार भोंककर आत्म-हत्या कर ली। उसकी मृत्यु के वाद उसके बेटे छत्रसाल ने मुग़लों से लड़ना आरम्भ कर दिया। पहले राजा जयसिंह के अनुरोध से उसने औरङ्गज़ेब की नौकरी कर ली परन्तु वाद में उसकी धार्मिक नीति से असन्तुष्ट होकर इस्तीफ़ा दे दिया और मुग़लों के विरुद्ध वुन्देलखण्ड में विद्रोह का झण्डा खड़ा किया। कई स्थानों पर मुग़ल-सेना को पराजित करने के कारण, अन्य हिन्दू सरदार उसकी सहायता के लिए तैयार हो गये। औरङ्गज़ेब इस समय दक्षिण में था इसलिए वह छत्रसाल को दबा न सका और अपने अफ़सरों के कहने से सन् १७०५ ई० में उसने सन्धि कर ली। छत्रसाल को एक मनसव दिया गया और वह डेढ़ वर्ष तक शान्त रहा। परन्तु औरङ्गज़ेब के मरते ही उसने अपने धावे फिर आरम्भ कर दिये और मुग़ल-सेना की निर्वलता के कारण उसे सफलता प्राप्त हुई।

सन् १६६९ ई० में मथुरा में जाटों का एक भयङ्कर विद्रोह हुआ। मथुरा के मुग़ल सूबेदार ने, शहर के बीच में, एक मन्दिर के खँडहरों पर मसजिद वनवाई और केशवदेव के मन्दिर के पत्थर के घेरे को, जिसे दारा शिकोह ने भेंट किया था, वहाँ से उठवा मँगाया। यही विद्रोह का कारण था। जाटों ने गोकुल नामक एक जाट के नेतृत्व में वलवा कर दिया। आस-पास के गाँवों के किसानों ने विद्रोहियों का साथ दिया और उनकी संख्या २० हज़ार हो गई। परन्तु मुग़लसेना ने उन्हें हरा दिया और गोकुल मारा गया। किन्तु उसके मरने से विद्रोह का अन्त नहीं हुआ। सन् १६८६ ई० में, जब औरङ्गज़ेब दक्षिण में था, जाटों ने भयङ्कर विद्रोह किया परन्तु राजपूतों की सहायता से वह भी शान्त कर दिया गया। जाटों के दूसरे नेता चूरामन ने फिर मुग़लों को तङ्ग करना शुरू किया और सरकारी मालगुज़ारी को लूट लिया। औरङ्गज़ेब की मृत्यु के वाद उसकी शक्ति बढ़ गई और उसने भरतपुर के जाट-राज्य की स्थापना की।

दूसरा विद्रोह सतनामियों का था। सतनामी नारनौल के रहनेवाले थे और रैदासी-सम्प्रदाय से मिलते-जुलते एक धार्मिक पन्थ के अनुयायी थे। मुसलमान इतिहास-लेखक ख्वाफ़ी ख़ाँ लिखता है कि वे अच्छे चरित्र के लोग थे और उनमें अधिकांश किसान और व्यापारी थे। सन् १६७२ ई० में एक सतनामी और मुग़ल-सेना के किसी पैदल सिपाही में झगड़ा हो गया और मामला यहाँ तक बढ़ा कि, उसने एक भयङ्कर धार्मिक-विद्रोह का रूप धारण कर लिया। हज़ारों

औरंगज़ेब का साम्राज्य
सन् १७०७
काबुल
पेशावर
कोहाट
ग़ज़नी
बन्नू
लाहौर
मुलतान
सिन्धु न०
दिल्ली
यमुना न०
गंगा न०
आगरा
अयोध्या
ग्वालियर
जोधपुर
अजमेर
उदयपुर
प्रयाग
बनारस
पटना
राजमहल
कलकत्ता
अहमदाबाद
नर्मदा न०
ताप्ती न०
बुरहानपुर
दौलताबाद
बेसीन
सालसट
बम्बई
औरंगाबाद
अहमदनगर
पूना
बीदर
गोदावरी न०
गोलकुण्डा
बीजापुर
कोल्हापुर
कृष्णा न०
गोआ
बेलारी
मदरास
बंगलोर
पांडीचेरी
माही
कालीकट
नेगापट्टन
त्रिचनापल्ली
कोचीन
मदुरा
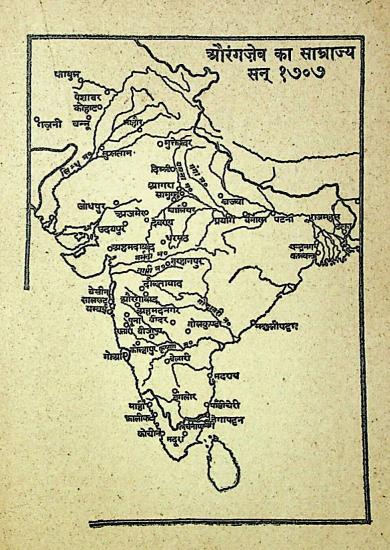
सतनामी अस्त्र-शस्त्र लेकर लड़ने के लिए तैयार हो गये और उन्होंने युद्ध में मुग़लसेना को पराजित कर दिया। लोग उन्हें जादू की शक्ति रखनेवाले कहने लगे। परन्तु औरङ्गज़ेब, जो ज़िन्दा पीर (जीवित सन्त) कहलाता था, कम जादू नहीं जानता था। उसने भी जन्त्र-मन्त्र से काम लिया। विद्रोही हार गये और बहुतों को मुग़ल-सेना ने तलवार के घाट उतार दिया और विद्रोह शान्त हो गया।

राजपूतों के साथ युद्ध (१६७८-१७०९)—सन् १६७८ ई० में पश्चिमोत्तर सीमान्त देश में, जमरूद नामक स्थान पर, जोधपुर-नरेश जसवन्तसिंह का देहान्त हो गया। उसने अपना कोई वारिस नहीं छोड़ा था, इसलिए औरङ्गज़ेब ने मारवाड़ को साम्राज्य में मिला लेने का अच्छा अवसर समझा। उसने देश पर अधिकार करने और वहाँ के भूमि-कर का अनुमान करने के लिए फ़ौरन मुसलमान अधिकारियों को भेज दिया। इतने में खबर मिली कि राजा की मृत्यु के बाद उसकी विधवा रानियों के लाहौर में दो पुत्र हुए, जिनमें से एक तो कुछ ही सप्ताह के बाद मर गया और दूसरा अजीतसिंह गद्दी का अधिकारी होने के लिए जीवित रहा। रानियाँ अपने सिपाहियों के साथ दिल्ली पहुँचीं और वहाँ उन्होंने औरङ्गज़ेब से अपने बेटे को मारवाड़ का राजा बनाने की प्रार्थना की, तो उसने कहा कि अजीतसिंह का पालन-पोषण शाही महल में होगा और बालिग़ होने पर उसका राज्य उसे लौटा दिया जायगा। राजपूतों को औरङ्गज़ेब की ईमानदारी पर सन्देह हुआ और उन्होंने अपने देश की रक्षा के लिए प्राण देने का संकल्प किया। उनका वीर नेता दुर्गादास किसी प्रकार दिल्ली से अजीतसिंह को लेकर निकल आया और मारवाड़ में उसने खुल्लम-खुल्ला विद्रोह का झण्डा खड़ा किया। अजीत की माता सीसोदिया वंश की राजपूतनी थी। उसने मेवाड़ के राना से सहायता की प्रार्थना की। राना ने उसको सहायता देने का वचन दिया। औरङ्गज़ेब ने शाहज़ादा अकबर को दुर्गादास के विरुद्ध भेजा परन्तु राजपूतों ने उसे अपनी ओर मिला लिया। इस विश्वासघात से औरङ्गज़ेब बड़ा चिन्तित हुआ और उसने राजपूतों का षड्यन्त्र भङ्ग करने के लिए एक विचित्र उपाय सोचा। उसने अकबर को एक पत्र लिखा कि 'शाबाश बेटे, तुमने राजपूतों को खूब मूर्ख बनाया है' और ऐसा प्रबन्ध कर दिया कि वह पत्र दुर्गादास के डेरे में डाल दिया गया। पत्र के पढ़ते ही अकबर के राजपूत सहायकों में झगड़ा हो गया और उसकी सारी योजनाएँ विफल हुईं। किन्तु दुर्गादास का भाव अकबर की ओर पूर्ववत् बना रहा। उसने उसे दक्षिण में पहुँचा दिया और वहाँ शाहज़ादे ने शिवाजी के बेटे शम्भुजी के यहाँ शरण ली। मेवाड़ के साथ सन् १६८१ ई० में सन्धि हो गई, किन्तु मारवाड़ में अभी युद्ध होता रहा। शम्भुजी और अकबर के मेल से

औरङ्गज़ेब बहुत डरा और इसी लिए उसने अपना सारा ध्यान दक्षिण की ओर लगा दिया। इधर दुर्गादास ने ३० वर्ष तक युद्ध जारी रक्खा। जब औरङ्गज़ेब की मृत्यु के बाद उसके उत्तराधिकारी बहादुरशाह ने सन् १७०९ ई० में अजीतसिंह को मारवाड़ का राजा स्वीकार कर लिया तब मारवाड़ और दिल्ली के झगड़ों का अन्त हुआ।

राजपूत-युद्ध के कारण साम्राज्य की बड़ी आर्थिक हानि हुई और बादशाह की प्रतिष्ठा भी कम हो गई। इसके अतिरिक्त, उसे सेना के लिए वीर राजपूत सिपाहियों का मिलना कठिन हो गया। राजपूतों की साम्राज्य के साथ सहानुभूति न रही और इसका परिणाम यह हुआ कि बादशाह को दक्षिण में मराठों के साथ अकेले ही युद्ध करना पड़ा।

मराठे और सिक्ख—मराठों ने शिवाजी के नेतृत्व में सङ्गठित होकर मुग़ल-राज्य पर धावा करना आरम्भ किया। वे औरङ्गज़ेब से मृत्युपर्यन्त लड़ते रहे और उनके साथ युद्ध करने में साम्राज्य की बड़ी हानि हुई। उधर सिक्ख, जो वास्तव में एक धार्मिक पंथ के अनुयायी थे, गुरु गोविन्दसिंह के नेतृत्व में एक शक्तिशाली सैनिक जाति बन गये। उन्हें भी मुग़लों का सामना करना पड़ा। कई वर्ष तक वे उनके साथ युद्ध करते रहे। इन राज्यों की उत्पत्ति तथा अभ्युदय और मुग़ल-साम्राज्य के साथ इनके युद्धों का वर्णन आगे किया जायगा।

पश्चिमोत्तर सीमा—औरङ्गज़ेब के शासनकाल में यह सबको भली भाँति मालूम हो गया था कि बादशाह विद्रोहियों को कठोर दण्ड देने में ज़रा भी सङ्कोच नहीं करेगा। सीमान्त प्रदेश के अफ़ग़ानों को, जो अकबर के समय से बराबर उत्पात करते आये थे, कह दिया गया था कि सीमा पर लूट-मार कभी सहन नहीं की जायगी। परन्तु एक वीर और साहसी जाति होने के कारण उन लोगों पर चेतावनियों का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। आजकल स्वात और बजौर की उपत्यकाओं तथा उत्तरी पेशावर के मैदानों में रहनेवाले यूसुफ़ज़ाइयों ने सबसे पहले विद्रोह किया। अकबर के समय में भी उन्होंने उत्पात किया था परन्तु उसने उनके साथ सन्धि कर ली थी, जहाँगीर और शाहजहाँ ने भी इसी नीति का अनुसरण किया परन्तु औरङ्गज़ेब के शासन में उन्होंने अधिक उद्दण्डता दिखलाई। सन् १६६१ ई० में एक बड़ी लड़ाई के बाद वे पराजित हुए और राजा जसवन्तसिंह राठौर को जमरूद की छावनी का प्रबन्ध सौंपा गया।

सन् १६७२ ई० में अफ़रीदियों और खतकों ने एक भयङ्कर विद्रोह किया। उनके नेताओं ने अपनी शक्ति बढ़ा ली और शाही फ़ौज को पीछे खदेड़ दिया। औरङ्गज़ेब ने यह समझ लिया कि इनके साथ युद्ध करना व्यर्थ है। उसने अफ़ग़ानों को आपस में लड़ाने की तरकीब सोची और कुछ कबीलों को रुपया देकर अपनी ओर मिला लिया। इस प्रकार अफ़ग़ान तो शान्त हो-गये परन्तु

लड़ाई में बहुत-सा रुपया खर्च हो गया। इसके दो बुरे प्रभाव हुए। एक तो यह कि बादशाह राजपूतों के विद्रोह को दबाने में अफ़ग़ानों की सहायता नहीं प्राप्त कर सका; दूसरे उनके साथ युद्ध करने में मुग़ल-सेना के उत्तर में फँसे रहने के कारण शिवाजी को अपनी शक्ति बढ़ाने तथा मुग़ल-राज्य पर छापा मारने का अच्छा अवसर मिल गया।

औरङ्गज़ेब और मराठे—मराठे दक्षिण में महाराष्ट्र नामक देश के निवासी हैं। महाराष्ट्र देश वह त्रिभुजाकार प्लेटो है जो उत्तर तथा दक्षिण की तरफ़ तो सह्याद्रि पर्वत-श्रेणियों से और पूर्व तथा पश्चिम में विन्ध्याचल तथा सतपुड़ा पर्वत-मालाओं से घिरा हुआ है। उस त्रिकोणाकार प्लेटो की तीसरी भुजा नागपुर से करवार तक एक असरल रेखा के खींचने से दिखाई जा सकती है। इस देश के तीन भाग हैं—(१) हिन्द महासागर (अरब-समुद्र) तथा घाटों के बीच का सकरा भूमि-भाग जिसे कोंकन कहते हैं, (२) सह्याद्रि पर्वत श्रेणियों का मावल देश और (३) 'देस' अथवा दक्षिणी मैदान का काली मिट्टीवाला विस्तृत प्रदेश। मराठे पहले दक्षिण के मुसलमानी राज्यों की प्रजा थे परन्तु उन राज्यों के निर्बल होने पर उन्होंने ज़ोर पकड़ना शुरू किया। उनके देश की प्राकृतिक परिस्थिति उन्हें सादा तथा मिहनती स्वभाववाला बनाने में सहायक थी। इसी कारण ऐश-आराम तथा क़ाहिली के वातावरण में पले हुए लोगों पर विजय प्राप्त करने में उन्हें बड़ी मदद मिली। इनमें बैठकर वे अपने उत्तरी आक्रमणकारियों की ज़रा भी पर्वाह नहीं करते थे। उनके स्वावलम्ब, साहस और दृढ़ता ने मुग़लों का सामना करने में उनको बड़ी सहायता दी।

सबसे पहले मराठों में जातीयता का प्रादुर्भाव धार्मिक विप्लव के कारण हुआ। इस विप्लव का केन्द्र पण्ढरपुर नामक स्थान था। यहाँ पर कई महात्माओं ने भक्ति के सिद्धांत का प्रचार किया। देश के कोने-कोने से यहीं पर विठोबा (कृष्ण) की आराधना के लिए सहस्रों नर-नारी एकत्र होते थे और ज्ञानदेव के उपदेशों को सुनते थे। इन धार्मिक सुधारकों न आडम्बर को मिथ्या बतलाया और जीवन को पवित्र तथा प्रेममय बनाने का आदेश किया। इन्हीं के गीतों और भजनों-द्वारा पन्द्रहवीं तथा सोलहवीं शताब्दी में महाराष्ट्र में तुकाराम, रामदास, वामन पण्डित और एकनाथ जैसे महात्माओं ने पारस्परिक भेद-भाव को निन्द्य कहा और सबको प्रेम के धागे में बँध जाने का उपदेश दिया। मराठों के उत्कर्ष का तीसरा कारण उनकी राजनीतिक दक्षता थी, जिसे उन्होंने दक्षिणी राज्यों में नौकरी करके प्राप्त किया था। वे बहुधा माल के महकमे में नियुक्त किये जाते थे और कभी-कभी उन्हें ऊँचे ओहदे भी दिये जाते थे। पहले बहमनी सेना में, बाद को दक्षिणी राज्यों की सेना में उनकी बराबर भर्ती होती थी। इस प्रकार वे कुशल सैनिक बन गये थे। औरङ्गज़ेब और दक्षिणी राज्यों से युद्ध छिड़

जाने के कारण, जब देश में अशान्ति फैली तो मराठों ने उससे ख़ूब लाभ उठाया और अपनी शक्ति काफ़ी बढ़ा ली। इन सब बातों से राष्ट्रीय अभ्युदय का मार्ग भली भाँति तैयार हो गया। अब उन्हें केवल एक ऐसे प्रतिभाशाली नायक की आवश्यकता थी, जो ठीक मार्ग पर ले जाकर उनकी शक्तियों के विकास में सहायक बनता। शाहजी भोंसले के बेटे शिवाजी ने इस कार्य को पूरा किया। इतिहास में उसी को मराठों के राष्ट्र का मूलनिर्माता कहते हैं।

इस अभ्युदय में भोंसले-वंश ने बड़ा महत्त्वपूर्ण भाग लिया। पहले भोंसले लोग खेती का काम करते थे और अपने परिश्रम तथा धार्मिकता के लिए प्रसिद्ध थे। निज़ामशाही राज्य के अधःपतन तथा मुग़लों के युद्धों के कारण, उन्हें शक्ति-संचय का अवसर मिला। शाहजी भोंसले पहले निज़ामशाही सुलतान का एक उच्च कर्मचारी था। उसे राज्य की ओर से एक जागीर मिली थी। अहमदनगर-राज्य का अन्त हो जाने पर उसने बीजापुर-नरेश के यहाँ नौकरी कर ली। शिवाजी की लूट-मार के कारण बीजापुर के सुलतान ने अप्रसन्न होकर, सन् १६४८ ई० में शाहजी को क़ैदख़ाने में डाल दिया, परन्तु बीजापुर के दो मुसलमान अमीरों के बीच में पड़ने से वह मुक्त कर दिया गया। शिवाजी अपने बाप की अपेक्षा अधिक योग्य और कुशल था और राजनीतिक दाव-पेंचों को ख़ूब समझता था। उसने दक्षिण के मुसलमानी राज्यों की कमज़ोरी अच्छी तरह जान ली थी और मराठों का सङ्गठन कर दक्षिण में उसने एक नया राज्य स्थापित करने का दृढ़ सङ्कल्प कर लिया था।

शिवाजी का जीवन—सन् १६२७ में पहाड़ी दुर्ग शिवनेर में शिवाजी का जन्म हुआ था। लड़कपन में उसकी माता जीजाबाई ने बड़े प्रेम और यत्न से उसका लालन-पालन किया था। जीजाबाई बड़ी बुद्धिमती तथा धार्मिक स्त्री थी। हिन्दू-धर्म में उसकी अपार श्रद्धा थी और रामायण तथा महाभारत का उसे पूरा-पूरा ज्ञान था। शिवाजी बचपन में उसके मुँह से प्राचीन युग के हिन्दू वीरों तथा महात्माओं की कहानी बड़ी उत्सुकता से सुना करता था और उसके हृदय में उनका अनुकरण करने की इच्छा तभी से जाग्रत् हो रही थी। वीरोचित व्यायामों में उसका मन अधिक लगता था और थोड़े ही समय में उसनेघोड़े पर चढ़ना, तलवार चलाना तथा अन्य शस्त्रों का प्रयोग करना ख़ूब सीख लिया। सौभाग्य से उसे दादाजी कोंडदेव जैसा विद्वान् गुरु भी मिल गया। दाद जी उसको अधिक किताबी शिक्षा तो न दे सके परन्तु उन्होंने उसे एक कर्मशील व्यक्ति बना दिया। शिवाजी अपनी इच्छा की पूर्ति के लिए सहायकों की खोज में मावल देश में घूमने लगा। इसी प्रकार धन, शक्ति तथा देश प्राप्त करने की इच्छा करनेवाले मावले युवक उसके झण्डे के नीचे एकत्र होने लगे। शिवाजी के पास आकर उनका साहस बढ़ गया और वे सहर्ष उसकी सेना में

शिवाजी का राज्य
सन् १६८० ई०
नर्मदा न०
ताप्ती न०
सूरत
औरंगाबाद
कल्यान
बसीन
सालसट
बम्बई
अहमदनगर
पूना
रायगढ़
प्रतापगढ़
सतारा
नलदुर्ग
शोलापुर
भीमा न०
हैदराबाद
गोदावरी न०
कोल्हापुर
बीजापुर
बेलगाँव
रायचूर
कृष्णा न०
गोआ
बेलारी
बेदनोर
मदरास
बंगलोर
वेलोर
कावेरी
मैसूर
पोर्ट नोवो
त्रिचनापली
तंजोर
मदुरा
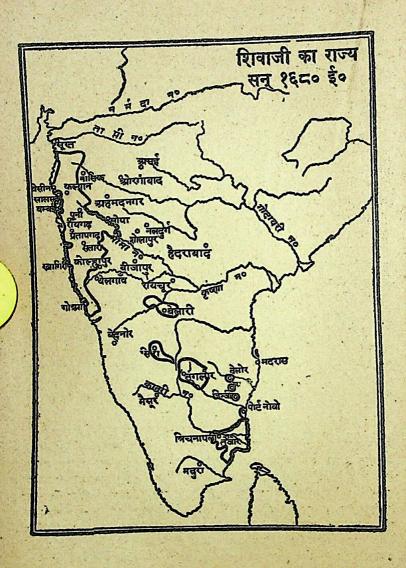
भर्ती हो गये। अपने भविष्य का कार्य-निश्चय करने में शिवाजी के ऊपर उसकी माता के साहस तथा चरित्र का गहरा प्रभाव पड़ा। उसे दक्षिण के सुलतानों की नौकरी से घृणा हो गई और उसने अपने लिए एक स्वाधीन राज्य स्थापित करने का पूरा निश्चय कर लिया। जीवन के इस प्रारम्भिक भाग में हिन्दू-धर्म का रक्षक बनने की भावना उसके हृदय में उत्पन्न नहीं हुई थी।

सन् १६४७ ई० में उसने तोरना के दुर्ग पर अधिकार कर लिया और कोन्दना तथा अन्य दुर्गों को भी जीत लिया। सन् १६४७ ई० में अपने बाप के क़ैद होने पर सन् १७५५ ई० तक वह चुपचाप रहा और इस ख़याल से, कि बीजापुर का सुलतान अप्रसन्न न हो, उसने किसी नये दुर्ग पर धावा नहीं किया। किन्तु इसके बाद सन् १६५६ ई० में उसने जावली राज्य को जीत लिया। जावली का राजा बीजापुर के सुलतान के अधीन था। जावली जीत लेने से शिवाजी को दक्षिण तथा पश्चिम की ओर अपने राज्य का विस्तार करने का अच्छा अवसर मिला और इसके अतिरिक्त वहाँ से चुने हुए सिपाहियों के प्राप्त करने में उसे बहुत सुविधा हो गई। जावली के बाद उसने राजगढ़ जीता। इसी राजगढ़ को उसने बाद में अपनी राजधानी बनाया। औरङ्गज़ेब उस समय दक्षिण का सूबेदार था। शिवाजी ने यह अच्छी तरह समझ लिया था कि मुग़लों से लड़ना उसके लिए अभी उचित नहीं था। इसी लिए वह उनसे सन्धि करने के लिए तैयार हो गया किन्तु किसी निश्चित सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर न होने पाये थे कि राजसिंहासन के लिए युद्ध छिड़ जाने के कारण औरङ्गज़ेब उत्तर की ओर रवाना हुआ।

सन् १६५७ ई० में शिवाजी ने कोङ्कन पर धावा किया और अपने राज्य में कुछ और भी देश मिला लिया। बीजापुर के सुलतान ने शाहजी से शिवाजी को रोकने के लिए कहा परन्तु उसने अपनी असमर्थता प्रकट की। तब सुलतान ने शिवाजी के विरुद्ध अफ़ज़ल ख़ाँ को रवाना किया। अफ़ज़ल ख़ाँ शिवाजी के हाथ से मारा गया और उसकी सेना तितर बितर होकर भाग गई (१६-५९ ई०)।

इस विजय से अधिक प्रोत्साहित होकर शिवाजी ने मुग़ल-राज्य पर भी छापा मारना आरम्भ कर दिया। औरङ्गज़ेब ने उसकी बढ़ती हुई शक्ति से भयभीत होकर अपने मामा शायस्ता ख़ाँ को उसे दबाने के लिए भेजा। मुग़ल-सेना ने सारे देश को रौंद डाला और पूना, चकन तथा कल्याण पर क़ब्ज़ा कर लिया। शायस्ता ख़ाँ बरसात के दिनों में पूना में ठहरा, परन्तु शिवाजी ने मुग़ल-सेना पर हमला करके एक बड़ी संख्या में उसे क़त्ल कर डाला। शायस्ता ख़ाँ बहादुरी के साथ अपनी जान लेकर भागा परन्तु उसका पुत्र इस गड़बड़ी में मारा गया। मुग़ल-सेना तितर-बितर होकर चारों तरफ़ भाग गई और मराठों

ने पूर्ण विजय प्राप्त की। सन् १६६४ ई० में शिवाजी ने सूरत पर चढ़ाई की और चार दिन चार रात तक शहर पर घेरा डाल रक्खा। वहाँ से उसने लगभग एक करोड़ रुपये की लूट की।

शायस्ता खाँ की पराजय तथा शिवाजी-द्वारा सूरत की लूट ने औरङ्गज़ेब को अधिक चिन्तित कर दिया। । उसने राजा जयसिंह तथा शाहज़ादा मुअज़्ज़म को शिवाजी का सामना करने के लिए रवाना किया। इस वार मुग़लों ने अनेक दुर्ग लेकर पुरन्दर के क़िले पर घेरा डाला और रायगढ़ पर हमला करने की धमकी दी। शिवाजी ने मुग़लों के विरुद्ध लड़ना व्यर्थ समझ कर सन्धि की इच्छा प्रकट की। सन् १६६५ ई० में पुरन्दर की सन्धि हुई, जिसके अनुसार शिवाजी ने बीजापुर के सुलतान के विरुद्ध मुग़लों को सहायता देने का वचन दिया। जयसिंह मनुष्यों को अपने वश में लाने तथा कूटनीति में बड़ा दक्ष था। उसने शिवाजी को शाही दरवार में चलने के लिए तैयार कर लिया। शायद राजा ने उसे दक्षिण का सूबेदार बनाने का लालच दिया। पहले तो शिवाजी हिचकिचाया किन्तु जव जयसिंह ने शपथपूर्वक उसके सकुशल दक्षिण वापस होने का ज़िम्मा लिया तब वह जाने के लिए तैयार हो गया। सन् १६६६ ई० में शिवाजी आगरे पहुँचा और दरवार-आम में उपस्थित होने की उसे आज्ञा मिली। परन्तु बादशाह ने दरवार में उसे पञ्जहज़ारी मनसबदारों के बीच में खड़े होने का इशारा किया। इस अपमान से शिवाजी इतना क्रोधित हुआ कि उसे अपने ऊपर क़ाबू न रहा और उसने बादशाह को अविश्वासी कहकर कठोर वचन सुनाये। बादशाह ने बाप-बेटे दोनों को क़ाबू में रक्खा परन्तु बड़ी चालाकी से दोनों क़ैद-खाने से निकलकर कुशल-पूर्वक दक्षिण में पहुँच गये। जसवन्तसिंह और शाहज़ादा मुअज़्ज़म के प्रयत्न से शिवाजी के साथ सन्धि हो गई और औरङ्गज़ेब ने उसकी राजा की पदवी स्वीकार कर ली। उसका बेटा शम्भुजी पञ्जहज़ारी मनसबदारी बनाया गया और उसे एक हाथी तथा जड़ाऊ तलवार दी गई।

यह सन्धि अधिक दिन तक क़ायम न रही। औरङ्गज़ेब को अपने बेटे की ओर से बराबर सन्देह रहता था। वह शिवाजी के साथ उसकी मित्रता को अनिष्टकारी समझता था और उसे अपने क़ाबू में रखना चाहता था। आर्थिक कारणों से उसने मुग़ल-सेना में बहुत कमी कर दी। परन्तु निकाले हुए सिपाही शिवाजी के यहाँ चले गये और उसने उनके साथ अच्छा व्यवहार किया। औरङ्गज़ेब ने बचत करने के विचार से शिवाजी की बरार की जागीर उससे वापस ले ली। बादशाह के इस बर्ताव से सन्धि टूट गई और सन् १६७० ई० में फिर युद्ध आरम्भ हो गया। मुग़ल-सेना के सेनापति परस्पर झगड़ा किया करते थे, जिससे शिवाजी को उनकी फूट से लाभ उठाने का अच्छा अवसर मिला। उसने १६७० ई० में सूरत पर दूसरी बार छापा मारा। सूरत के बाद खानदेश पर आक्रमण

किया और बगलाना को जीतकर अपने राज्य में मिला लिया। सन् १६७४ ई० में बड़ी शान-शौक़त के साथ शिवाजी का रायगढ़ में राज्याभिषेक हुआ और उसनें 'छत्रपति' की उपाधि धारण की। राज्याभिषेक के कारण उसका ख़ज़ाना ख़ाली हो गया और उसन फिर बगलाना खानदेश पर धावा किया। बीजापुर के सुलतान के साथ सन्धि हो गई परन्तु बहुत थोड़े समय तक क़ायम रही। सन् १६७५ ई० में गोआ के पास बीजापुर राज्य के दुर्ग फोंडा पर उसने क़ब्ज़ा कर लिया और 'कनारातट' (समुद्री किनारा) को अपने राज्य में मिला लिया। दो वर्ष बाद उसने कर्नाटक-प्रदेश पर आक्रमण किया और गोलकुण्डा के सुलतान ने, जो उसके आक्रमणों का हाल सुनकर भयभीत हो गया था, उसके साथ मित्रता कर ली। सन् १६७७ ई० में उसने जिञ्जी के क़िले पर अधिकार कर लिया और कुछ दिन बाद वेलोर भी क़ब्ज़े में आ गया।

सन् १६७८ ई० मुग़लों से फिर युद्ध आरम्भ हो गया। शाही सेनाध्यक्ष दिलेर ख़ाँ, यह देखकर कि शम्भुजी अपने बाप का साथ छोड़कर मुग़लों से आ मिला है, बहुत प्रसन्न हुआ। शिवाजी ने मुग़ल-राज्य पर धावा किया किन्तु उसे सफलता नहीं मिली। इसी समय उसने औरङ्गज़ेब को अपना वह प्रसिद्ध पत्र लिखा, जिसमें उसने धार्मिक पक्षपात के अनर्थों का वर्णन किया था। अभी युद्ध जारी ही था कि शिवाजी ५३ वर्ष की अवस्था में, सन् १६८० ई० में, स्वर्गवासी हुआ।

शिवाजी के राज्य का विस्तार बढ़ने से उसके लिए बम्बई से ४५ मील दक्षिण के पहाड़ी टापू, जिञ्जीरा में रहनेवाले अबीसीनियावासियों का सामना करना अनिवार्य हो गया। अबीसीनिया-वासियों की शक्ति समुद्री थी, इस कारण मराठों को भी उनसे लड़ने के लिए एक जङ्गी-बेड़ा तैयार करना पड़ा, किन्तु इसमें उन्हें कभी पर्याप्त सफलता नहीं मिली।

शिवाजी का राज्य-विस्तार—शिवाजी-द्वारा स्थापित 'स्वराज्य' के अन्तर्गत उत्तर में सूरत एजेन्सी की वर्तमान धरमपुर रियासत से लेकर दक्षिण में करवार तक का सारा प्रदेश और पूर्व में बगलाना से कोलापुर तथा बगलाना से तुङ्गभद्रा के तट का पश्चिमी कर्नाटक प्रदेश सम्मिलित था।

इन प्रदेशों के अतिरिक्त वर्तमान मैसूर-राज्य तथा मद्रास अहाते का बहुत-सा भाग उसके राज्य के अन्तर्गत था। इन सब प्रदेशों के अतिरिक्त एक दूसरे विस्तृत-भूमि-भाग पर उसका आधिपत्य था, जिसे 'मुग़लाई' कहते थे और वह वस्तुतः मुग़ल-साम्राज्य का भाग था, जिससे मराठे 'चौथ' वसूल किया करते थे। 'चौथ' उस देश की मालगुज़ारी का चतुर्थांश होता था, परन्तु मराठे हमेशा चतुर्थांश से अधिक वसूल कर लेते थे। देश को मराठा सवारों के धावों से बचाने का एकमात्र उपाय चौथ देना ही था।

शिवाजी का शासन-प्रबन्ध—शिवाजी शासन-प्रबन्ध में बड़ा प्रवीण था। वह समय की गति को देखकर उसके अनुरूप काम करता था। उसने राष्ट्रीय ढङ्ग पर मराठा-राज्य की स्थापना की थी। राज्य का सबसे बड़ा कार्यकर्ता राजा था, जो तत्कालीन अन्य शासकों की तरह ही सब कामों का सर्वेसर्वा था। राज्य का सारा अधिकार उसी के हाथों में रहता था। बड़े-बड़े कर्मचारियों की नियुक्ति करना, राज्य के खर्च की व्यवस्था करना और युद्ध तथा सन्धि करना उसी का काम था। मराठा-राज्य की राष्ट्रीय तथा पर-राष्ट्रीय नीति का निश्चय करना भी उसी के अधिकार में था। किन्तु व्यावहारिक बातों में राजा की सहायता के लिए एक मन्त्रिमण्डल था जिसे 'अष्ट-प्रधान' कहते थे। ये आठ मन्त्री इस प्रकार थे :—

(१) मुख्य प्रधान अथवा प्रधान मन्त्री, (२) अमात्य—जो राज्य के आय-व्यय के सभी हिसाबों की जाँच करता था, (३) मन्त्री—जो राजा के नित्य के कार्यों और दरबार की कार्यवाहियों का ब्योरा तैयार करता था, (४) सचिव—जो सभी राजकीय पत्रों का मसविदा तैयार करता था, (५) सुमन्त—जो पर-राष्ट्रीय मामलों में राजा को सलाह देता था, (६) सेनापति अथवा प्रधान सेनाध्यक्ष, (७) पण्डित राव अथवा दानाध्यक्ष—जो धार्मिक कार्यों का प्रधानाध्यक्ष था, (८) न्यायाधीश*।

प्रधान सेनाध्यक्ष को छोड़कर शेष सभी सचिव ब्राह्मण होते थे। इस सचिव-मण्डल का काम केवल सलाह देना भर था। राजा इनकी सलाहों को स्वीकार करने के लिए किसी प्रकार बाध्य नहीं था। सारा राज्य ज़िलों में विभाजित किया गया था और कई ज़िलों का एक प्रान्त होता था जिसका शासन करने के लिए सूबेदार नियुक्त होता था।

शेरशाह और अकबर की तरह शिवाजी ने भी जागीर-प्रथा बन्द कर दी थी और कर्मचारियों को नक़द वेतन दिया करता था। राज्य की कोई नौकरी पुश्तैनी नहीं थी। ज़मीन की पैमाइश की जाती थी और पैदावार का $\frac{2}{5}$ भाग राज्य को दिया जाता था। किसानों के साथ सख्ती नहीं की जाती थी और कृषि की उन्नति की ओर काफ़ी ध्यान दिया जाता था। शिवाजी की उदारता और दयालुता की कहानियाँ अब भी महाराष्ट्र में प्रचलित हैं। उसका इन्साफ़ करने का ढङ्ग पुराना था। गाँवों में दीवानी के मामले पञ्चायतों द्वारा तथा फ़ौजदारी

---

* इन अधिकारियों के फ़ारसी नाम इस प्रकार थे :—

(१) पेशवा, (२) मजुमदार, (३) वाक़ानवीस, (४) शुरूनवीस, (५) दबीर, (६) सर-ए-नौबत, (७) सद्र, (८) क़ाज़ी-उल-क़ुज़ात।

के मुक़दमे पटेलों द्वारा तय किये जाते थे। इन दोनों प्रकार के मुक़दमों की अपीलें न्यायाधीश सुनता था और धर्मशास्त्र के अनुसार फ़ैसला देता था।

महाराष्ट्र की भूमि से पर्याप्त आय न होने के कारण शिवाजी को धन के लिए दूसरी तरफ़ आँख उठानी पड़ती थी। अपने सवारों द्वारा धावा किये जानेवाले देशों से वह 'चौथ' और 'सरदेशमुखी' वसूल करता था। 'चौथ' राज्य की माल-गुज़ारी का चतुर्थांश होता था और 'सरदेशमुखी' उसके अतिरिक्त १० फ़ी सदी का एक दूसरा कर था। इन करों को वसूल करके ही मराठे अपने राज्य के बाहर के देशों पर भी अपना रोब जमाने में समर्थ होते थे।

शिवाजी में नेता बनने की स्वाभाविक योग्यता थी। उसके शत्रुओं ने भी उसके रण-कौशल की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। उसमें सङ्गठन की अपूर्व क्षमता थी। उसके अधिकार में अनेक क़िले थे, जिन्हें उसने सुयोग्य तथा अनुभवी सेना-नायकों के सुपुर्द कर रक्खा था। मराठे इन दुर्गों को अपनी 'माता' समझते थे क्योंकि युद्ध के समय वे इनके भीतर शरण लेते थे।

शिवाजी की सेना शक्तिशाली और सुव्यवस्थित थी। उसकी मृत्यु के समय तोपखाने तथा जङ्गी बेड़े के अतिरिक्त, उसकी सेना में ३० से ४० हज़ार तक अश्वारोही, एक लाख पैदल और १२६० हाथी थे। सारी सेना का भिन्न-भिन्न श्रेणियों में विभाजन किया गया था। सबसे छोटी २५ सिपाहियों की पल्टन होती थी जिसका प्रधान 'हवलदार' होता था। पाँच हवलदारों के ऊपर एक 'जुमलादार', दस जुमलादारों के ऊपर 'हज़ारी', पाँच हज़ारियों के ऊपर 'पञ्ज-हज़ारी' होता था। पञ्जहज़ारियों के ऊपर सर-ए-नौबत अथवा प्रधान सेना-ध्यक्ष होता था। इसी प्रकार पैदल सेना में भी भिन्न-भिन्न श्रेणियाँ थीं। तोपखाना सुसङ्गठित नहीं था। इसके कार्य-सञ्चालन के लिए विदेशियों पर अवलम्बित रहना पड़ता था।

सभी जाति तथा धर्म के लोग सेना में भर्ती किये जाते थे। मुसलमान भी सेना में लिये जाते थे। सिपाहियों को नक़द तनख्वाह दी जाती थी। वे अस्त्र-शस्त्र से भली भाँति सुसज्जित रहते थे। सेना में नियमों पर बड़ा ध्यान दिया जाता था। दासियों अथवा नाचनेवाली स्त्रियों को सेना में जाने की आज्ञा नहीं थी और सिपाहियों को हुक्म था कि शत्रु की स्त्रियों तथा बच्चों को किसी प्रकार का कष्ट न दें। राज्य के अधिकारी तथा अन्य सभी लोग सादगी से जीवन व्यतीत करते थे और कठोर से कठोर कष्ट सहने के लिए सदैव तैयार रहते थे। मराठा-सेना में एक विशेषता थी। मुग़ल-सेना बहुत भारी-भरकम थी, किन्तु मराठा-सेना अधिक फ़ुर्तीली थी और झटपट एक जगह से दूसरी जगह जा सकती थी और मुग़लों को खूब हैरान कर सकती थी। मराठे खुले मैदान में कभी युद्ध नहीं करते थे और अपनी लुक-छिपकर लड़ने की प्रथा का अनुसरण करते थे।

वे शत्रु पर हमला करके उसकी सेना में खलबली पैदा कर देते थे। मराठा-सेना केवल वर्षाकाल में छावनी में रहती थी। शेष दिनों में वह पास-पड़ोस के देशों पर छापा मारने में व्यस्त रहती थी।

अपने समय के अन्य शासकों के विपरीत शिवाजी की धार्मिक नीति उदार थी। वह मन्दिर-मसजिद दोनों के खर्च के लिए रुपया देता था और विद्वानों को पुरस्कार देता था। वेदों का अध्ययन करनेवालों का वह महान् संरक्षक था। प्रतिवर्ष पण्डितराव विद्वानों की परीक्षा लेता था और योग्यतानुसार उन्हें पुरस्कार देता था। शिवाजी के चरित्र पर समर्थ गुरु रामदास का बड़ा प्रभाव पड़ा था। वह उनको अपना धर्मगुरु मानता था।

जिस कसौटी से हम वर्तमानकालीन राज्यों का अवलोकन करते हैं उस कसौटी पर, शिवाजी की हुकूमत को कसना उचित न होगा। शिवाजी का समय युद्ध और संघर्ष का समय था। मुग़लों के भय तथा अपने निकटवर्ती राज्यों के द्वेष और षड्यन्त्रों के कारण उसे अपनी सेना पर अधिक ध्यान देना पड़ता था। वह सामाजिक सुधारों अथवा प्रजातन्त्रीय संस्थाओं की स्थापना का समय नहीं था। अपनी बढ़ी-चढ़ी संस्कृति तथा सुव्यवस्थित शासन-पद्धति के होते हुए मुग़ल-सम्राट् भी इस प्रकार की संस्थाएँ स्थापित न कर सके। उस समय लोग केवल शान्ति के इच्छुक थे और मुसलमानी राज्यों के उत्पीड़न से सुरक्षित रहना चाहते थे। शिवाजी के शासन से प्रजा को ये दोनों सुविधाएँ हुईं और जनता को लाभ पहुँचानेवाली अनेक संस्थाएँ स्थापित हुईं। इसी प्रकार के अन्य राज्यों की तरह उसके राज्य के पतन का कारण भी उसके उत्तराधिकारियों की दुर्बलता, आर्थिक असंयम, पारस्परिक फूट और शत्रुओं के आक्रमण थे।

शिवाजी का चरित्र और पराक्रम—शिवाजी मध्यकालीन भारत के हिन्दू शासकों में अग्रगण्य हैं। वह एक वीर सेनानायक तथा कुशल राजनीतिज्ञ था। उसने एक छोटी-सी जागीर को एक महान् राज्य में परिणत कर दिया और मुग़ल-सम्राट् तथा दक्षिण के शिया-राज्यों के साथ उसने बराबरी का युद्ध किया। वह एक वीर एवं निर्भीक योद्धा था और बड़ी-बड़ी सेनाओं के सामने अपनी छोटी सेना लेकर युद्ध करने से कभी विचलित नहीं होता था। वह अपने सिपाहियों से प्रेम करता और सदा उनके हितों की रक्षा करता था। उसके अदम्य साहस और शौर्य्य ने महाराष्ट्र युवकों को एक वीर-जाति में परिणत किया था। उसमें क्रियात्मक प्रतिभा अधिक मात्रा में मौजूद थी, जिससे उसने बिखरी हुई मराठा-जाति को एक राष्ट्र में सम्बद्ध कर दिया था। उसके सैनिक बड़े स्वामिभक्त थे और उसके लिए जी-जान देने के लिए तैयार रहते थे। राजनीति की बारीक बातों को वह अच्छी तरह समझता था और वह अपने चातुर्य, कूट-

नीतिज्ञता और व्यावहारिक कुशलता की मदद से विकट परिस्थितियों में भी सफलता प्राप्त करने में समर्थ होता था।

उसका लक्ष्य उत्तम था। उसका आचरण सर्वथा प्रशंसनीय था। अपने धर्म का पाबन्द होते हुए भी वह मुसलमान फ़क़ीरों का आदर करता था और उनकी दरगाहों के लिए ज़मीन और रुपया दिया करता था। मुसलमान इतिहास लेखक ख़ाफ़ी ख़ाँ ने लिखा है कि उसने न तो कभी किसी मस्जिद को तोड़ा और न कभी किसी मुसलमान स्त्री के साथ अनुचित व्यवहार किया। यदि कभी उसके हाथ में क़ुरान की कोई पुस्तक पड़ जाती तो वह उसका आदर करता था और उसे मुसलमानों को दे देता था।

औरङ्गज़ेब और दक्षिणी राज्य—अकबर के समय से ही दक्षिणी राज्यों को साम्राज्य में मिला लेने की मुग़लों की हार्दिक कामना थी। अपने पूर्वजों की तरह औरङ्गज़ेब भी दक्षिण की विजय के लिए बराबर चिन्तित रहता था परन्तु उत्तरी भारत के उपद्रवों के कारण उसे अभी तक अपनी इच्छा पूर्ण करने का अवसर नहीं मिला था। शाहज़ादा अकबर के शम्भुजी से जा मिलने के कारण दक्षिण की समस्याएँ अधिक जटिल हो गई थीं। औरङ्गज़ेब ने इस घटना को एक बड़ा अपमान समझा था। सन् १६८१ ई० में उदयपुर के राना के साथ सन्धि हो गई। इसके बाद बादशाह दक्षिण को रवाना हो गया और अपने जीवन के शेष २५ वर्ष उसने दक्षिणी राज्यों तथा मराठों का दमन करने के प्रयत्न में व्यतीत किये।

सबसे पहले बीजापुर पर मुग़लों का आक्रमण हुआ। लड़ाई के कई कारण थे। बीजापुर का सुलतान शिया-मत का अनुयायी था। सन् १६५७ ई० की सन्धि की शर्तों का उसने अभी तक पालन नहीं किया था। बादशाह ने जब सहायता माँगी तो बीजापुर के सुलतान ने आनाकानी की। इसके अतिरिक्त औरङ्गज़ेब को यह भी विश्वास हो गया कि शम्भुजी को आदिलशाह (बीजापुर) से मदद मिली थी। शाहज़ादा आज़म एक बड़ी सेना के साथ बीजापुर पर आक्रमण करने के लिए रवाना हुआ परन्तु उसके किये कुछ न हुआ। तब औरङ्गज़ेब स्वयं वहाँ जा पहुँचा। बीजापुर-नरेश ने शम्भुजी और गोलकुण्डा के सुलतान से सहायता माँगी और उन्होंने उसकी प्रार्थना स्वीकार की। कुछ दिनों तक मुहासिरा जारी रहा; परन्तु अन्त में हिम्मत हारकर १६८६ ई० के सितम्बर में सिकन्दर ने अपने को शत्रुओं के अर्पण कर दिया। औरङ्गज़ेब ने उसे गद्दी से उतार दिया और बीजापुर-राज्य दिल्ली-साम्राज्य में मिला लिया गया। सिकन्दर की युवावस्था और सुन्दरता देखकर औरङ्गज़ेब का भी हृदय पिघल गया। उसने उसके साथ अच्छा बर्ताव किया और उसकी पेन्शन मन्जूर कर दी। सन् १७०० ई० में बीजापुर में उसकी मृत्यु हो गई।

बीजापुर की विजय के बाद गोलकुण्डा पर चढ़ाई की गई। सुलतान अबुलहसन विलासी प्रकृति का मनुष्य था और राज्य का काम उसने अपने मन्त्रियों के हाथ में छोड़ रक्खा था। इसका परिणाम यह हुआ कि शासन-प्रबन्ध गड़बड़ हो गया और सरकारी अफ़सर बेईमान और निकम्मे हो गये। औरङ्गज़ेब को गोलकुण्डा के धन की बड़ी इच्छा थी, इसलिए इधर-उधर का झूठ-मूठ बहाना कर उसने चढ़ाई कर दी। घेरा सन् १६८७ ई० में आरम्भ हुआ और क़ुतुबशाह के अब्दुर्रज्ज़ाक नामक योद्धा ने बड़ी वीरता के साथ नगर की रक्षा का उपाय किया। मुग़लों ने उसे रुपये का लालच देकर अपनी ओर मिलाना चाहा परन्तु उसने उनके प्रस्ताव को अपमान के साथ ठुकरा दिया। मुग़लों की असंख्य सेना पर वह पागल की तरह टूट पड़ा। अबुलहसन की सेना की हार हुई और गोलकुण्डा जीतकर मुग़ल-साम्राज्य में मिला लिया गया। अबुलहसन क़ैदी बना कर दौलताबाद भेज दिया गया और वहीं, ५० हज़ार रुपया सालाना पेंशन पर, उसने अपने जीवन का शेष भाग गहरी श्वास ले-लेकर बिता दिया।

इन मुसलमानी राज्यों का नाश करने में औरङ्गज़ेब ने बड़ी भारी भूल की। जब तक ये राज्य मौजूद रहे, मराठों की रोक-थाम होती रही; परन्तु अब उन्हें लूट-मार करने का पूरा मौक़ा मिल गया।

मराठों के साथ युद्ध (१६८९-१७०५ ई०)—दक्षिण के शिया राज्यों को विजय कर लेने के बाद औरङ्गज़ेब ने मराठों की ओर ध्यान दिया परन्तु मराठों को दबाना सुगम काम नहीं था। औरङ्गज़ेब की सेना बहुत बड़ी थी, उसके साधन पर्याप्त थे और उसके अफ़सर वीर तथा अनुभवी थे, परन्तु मराठों के लड़ने का ढङ्ग ऐसा था कि अधिक सफलता होने की आशा न थी। मराठे खुले मैदान में युद्ध नहीं करते थे, और लुक-छिप कर शत्रु पर आक्रमण करते थे। दुर्भाग्य से उनका राजा शम्भु निकम्मा और विलास-प्रिय था। वह अपना सारा समय भोग-विलास में व्यतीत करता था। उसी की अकर्मण्यता के कारण औरङ्गज़ेब दक्षिण के राज्यों को जीतने में सफल हुआ था। शम्भुजी ने मुग़लों का सामना करना आरम्भ किया परन्तु सन् १६८९ ई० में वह पकड़ा गया और औरङ्गज़ेब के हुक्म से क़त्ल कर दिया गया। उसका बेटा शाहू, जो अभी बालक ही था, अक्टूबर सन् १६८९ ई० में रायगढ़ की विजय के बाद मुग़ल छावनी में भेज दिया गया और वहाँ मुसलमान राजकुमारों की तरह उसका पालन-पोषण हुआ। परन्तु मराठों की हिम्मत किसी प्रकार कम न हुई। शिवाजी का दूसरा बेटा राजाराम, जो शाहू का अभिभावक होकर राज्य का काम चला रहा था, मुग़लों के विरुद्ध युद्ध करता रहा। वह जिञ्जी को चला गया और मराठा सेनानायक सांताजी घोरपड़े तथा धानाजी जादव ने सारे देश को रौंदकर मुग़लों

के डेरों को लूटना आरम्भ किया। मुग़ल-सेनापतियों के परस्पर विश्वासघात के कारण, बहुत दिनों तक जिञ्जी का घेरा असफल रहा। अन्त में सन् १६९८ ई० में मुग़लों का क़िले पर अधिकार हो गया और राजाराम सतारा की ओर चला गया।

इस समय औरङ्गज़ेब की अवस्था ८१ वर्ष की थी। उसने स्वयं शत्रुओं का सामना करने का निश्चय किया। सात वर्ष तक उन्हें दबाने का उसने शक्ति भर प्रयत्न किया परन्तु सफलता न मिली। सन् १७०० ई० में राजाराम की मृत्यु हो गई। किन्तु उसके बाद उसकी रानी ताराबाई ने युद्ध जारी रक्खा। ताराबाई बड़ी बुद्धिमती तथा दूरदर्शिनी महिला थी। वह राज्य के मामलों को खूब समझती थी। उसकी अध्यक्षता में मराठे बड़े साहस तथा उत्साह से लड़े। लगभग ६ क़िलों पर मुग़लों ने अधिकार कर लिया परन्तु इन विजयों से उनकी स्थिति में कोई विशेष फ़र्क़ नहीं पड़ा। मुग़ल-सेना की दशा इस समय ख़राब थी। उसकी संख्या बहुत बढ़ गई थी और सङ्गठन ठीक न था। बादशाह क़ब्र की तरफ़ पैर बढ़ा रहा था। अक्टूबर सन् १७०५ ई० में वह बीमार पड़ा और अपने मन्त्रियों की सलाह से अहमदनगर को लौटा। वहीं २० फ़रवरी सन् १७०७ ई० को उसकी मृत्यु हो गई। उसका जनाज़ा बहुत सादगी से निकाला गया और बिना किसी शान-शौक़त के वह दौलताबाद में दफ़न कर दिया गया।

मराठा-पद्धति में परिवर्तन—शिवाजी की मृत्यु के बाद मराठों का ढङ्ग बदल गया। धीरे-धीरे वे अपने नेता के आदर्शों को भूलने लगे और उनकी संस्थाएँ दुर्बल हो गईं। शिवाजी के उत्तराधिकारियों के समय में दलबन्दियों के कारण राज्य की एकता टूट गई और शासन-प्रबन्ध बिगड़ गया। राजाराम की नीति का परिणाम यह हुआ कि एक सुसङ्गठित राज्य की जगह कई राज्य बन गये। जागीर-प्रथा का फिर से प्रचार हो गया और मराठे लूट-खसोट को अपना एक व्यापार समझने लगे। मुग़लों का भय न रहने से अब वे स्वच्छन्द दक्षिण में धावा करते और 'चौथ' वसूल करते थे। उनके युद्ध करने का तरीक़ा भी अब बदल गया था। शिवाजी के समय के सिपाहियों की तरह वे अब छापा मारकर पहाड़ों और जङ्गलों में नहीं छिपते थे। अब उनके पास बड़ी बड़ी सेनाएँ थीं। परन्तु न उनकी व्यवस्था ठीक थी और न उनमें पहले की तरह स्वामि-भक्ति थी। राजा और पेशवा की दो-अमली हुकूमत के कारण शासन निर्बल हो रहा था। पेशवा की शक्ति धीरे-धीरे बढ़ रही थी और एक शक्तिशाली केन्द्रीय शासन न होने के कारण, सैनिक नेताओं ने अपने लिए अलग-अलग राज्य स्थापित कर लिये थे। फलतः १८ वीं शताब्दी में यह गड़बड़ी और भी बढ़ गई और देश में अराजकता के चिह्न दिखाई देने लगे।

सिक्खों का उत्कर्ष—औरङ्गज़ेब की धार्मिक नीति से सिक्खों में बड़ा असन्तोष

फैल गया। सिक्ख गुरु नानक के अनुयायी थे। नानक जी ने ईश्वर की एकता और जीवन की पवित्रता पर बड़ा जोर दिया था। उन्होंने जाति-पाँति को बुरा बतलाया और कहा कि मोक्ष प्राप्ति के लिए पंडे पुजारियों की मदद की आवश्यकता नहीं है। पाँचवें गुरु अर्जुन (१५८२-१६०७ ई०) ने आदि ग्रन्थ का सङ्कलन किया और अपने अनुयायियों को स्वराज्य का उपदेश किया। उसने उन्हें घोड़ों का व्यापार करने की आज्ञा दी और सांसारिक कार्यों की ओर उनका ध्यान आकृष्ट किया। उसने अमृतसर को सिक्ख-धर्म का मुख्य स्थान बनाया। परन्तु जब गुरु ने शाहज़ादा खुसरो को मदद दी तो जहाँगीर ने उसे क़त्ल करा दिया।

गुरु हरगोविन्द ने गुरु-प्रथा में बहुत-कुछ परिवर्तन कर दिया। उन्होंने मांसाहार की आज्ञा दे दी और अमृतसर में एक क़िला बनवाकर वे राजसी ठाटबाट से रहने लगे। सिक्ख उन्हें "सच्चा बादशाह" कहते थे। उनके यहाँ राजाओं की तरह दरबार लगता था और इन्साफ़ होता था। वे अस्त्र-शस्त्र धारण करते थे और आत्म-रक्षा के लिए उन्होंने एक छोटी-सी सेना भी संगठित की थी। जहाँगीर उनसे प्रसन्न हो गया और उसने उनकी पेन्शन नियत कर दी। परन्तु बाद में हरगोविन्द से बादशाह अप्रसन्न हो गया और इसके फलस्वरूप वे बारह वर्ष तक ग्वालियर के क़िले में क़ैद रहे। वहाँ से छुटकारा पाने के बाद, उन्होंने मुग़लों के साथ युद्ध किया और अन्त में वे पहाड़ों की ओर चले गये। वहाँ सन् १६४४ ई० में उनकी मृत्यु हो गई।

हरगोविन्द के बाद हरराय हुए। हरराय शान्तिप्रिय थे। जिस समय दारा-शिकोह पञ्जाब में भटक रहा था, हरराय ने उसे सहायता दी थी। इस कारण औरङ्गज़ेब उनसे अप्रसन्न हो गया था। हरराय के बाद उनके दो पुत्रों में से बड़ा हरकिशन, जो ६ वर्ष का बालक था, गद्दी पर बैठा। परन्तु सन् १६६४ ई० में चेचक से उसकी मृत्यु हो गई। उसके बाद सिक्खों ने उसके छोटे भाई तेग़बहादुर को गुरु स्वीकार किया। औरङ्गज़ेब ने अप्रसन्न होकर तेग़बहादुर को दरबार में बुलाया और चमत्कार दिखाने को कहा। परन्तु गुरु ने अपना भेद देने के बदले, अपना सिर देना कहीं अच्छा समझा (सिर दिया सार न दिया)। सन् १६७५ ई० में बादशाह की आज्ञा से उसका सिर उड़ा दिया गया।

तेग़बहादुर के बाद उनके पुत्र गोविन्दसिंह गद्दीनशीन हुए। उन्होंने मुग़लों से अपने बाप की मृत्यु का बदला लेने का सङ्कल्प किया। परन्तु मुग़लों के साथ लड़ना उनके लिए असम्भव था। इसलिए पहाड़ों में चले गये और वहाँ २० वर्ष तक भजन-ध्यान में मग्न रहे। उन्होंने खूब विद्या पढ़ी और निरन्तर आराधना-द्वारा भवानी का इष्ट-प्राप्त किया। उन्होंने अपने शिष्यों के सम्मुख एक उत्कृष्ट आदर्श रक्खा; उन्हें शरीर पर लोहा धारण करने की आज्ञा दी

और खालसा का सङ्गठन किया। गुरु साहब ने उनके मन में यह बात बिठा दी कि वे अजेय हैं। अर्थात् उन्हें कोई जीत न सकेगा। पहुल अर्थात् सिक्खों के दीक्षा-संस्कार की प्रथा का आरम्भ गुरु गोविन्दसिंह ने ही किया। दीक्षा लेनेवाले को कृपाण से हिला हुआ जल पीना पड़ता था। खालसा के सदस्यों में जाति-पाँति का भेद-भाव नहीं किया जाता था। सब लोग समान समझे जाते थे। ईश्वर की उपासना और गुरु का आदर तथा सेवा करना शिष्य का प्रधान कर्तव्य था। उनको अपने शरीर पर पाँच चीजें अर्थात् कड़ा, केश, कच्छ (जाँघिया) कङ्घी तथा कृपाण सदैव धारण करने पड़ते थे।

इस प्रकार गुरु गोविन्दसिंह ने एक धार्मिक सम्प्रदाय को सैनिक जाति में परिणत कर दिया। औरङ्गज़ेब की अहिष्णुता के साथ साथ इन सिक्खों का जोश और साहस भी बढ़ता गया। गुरु गोविन्दसिंह ने राजा की तरह आचरण करना आरम्भ कर दिया। उन्होंने क़िले बनाये और सिक्खों तथा पठानों की एक सेना रक्खी। उन्होंने पहाड़ी सरदारों के साथ युद्ध छेड़ दिया और मुग़लों से भी झगड़ा शुरू कर दिया। औरङ्गज़ेब ने सरहिन्द के सूबेदार को गुरु पर चढ़ाई करने का हुक्म दिया। इस समय गुरु साहब को बड़ी मुसीबतों का सामना करना पड़ा। दोनों ओर से बड़े ज़ोर के साथ कुछ दिन तक युद्ध होता रहा। अन्त में तंग आकर औरङ्गज़ेब ने गुरु को दक्षिण में मिलने के लिए बुलाया। परन्तु उनके पहुँचने के पहले ही बादशाह की मृत्यु हो गई। गुरु गोविन्द-सिंह अब शान्तिपूर्वक रहने लगे। परन्तु एक पठान ने, जिसके बाप को उन्होंने मारा था, सन् १७०८ ई० मेरेरा नामक स्थान पर उन्हें क़त्ल कर दिया। गुरु गोविन्दसिंह की मृत्यु से सिक्खों का उत्साह कम न हुआ। वे उत्तरोत्तर अपनी सैनिक शक्ति को बढ़ाते रहे और अन्त में पञ्जाब में ऐसे प्रभावशाली हो गये कि सब उनसे डरने लगे।

औरङ्गज़ेब का शासन-प्रबन्ध—जिस शासन-प्रणाली का मुग़ल-बादशाहों ने अब तक अनुसरण किया था उसका औरङ्गज़ेब ने परित्याग कर दिया। वह अपने धर्म का पाबन्द था और उसकी राजनीति पर उसके धार्मिक विचारों का बहुत प्रभाव पड़ा था। दक्षिण में उसके २५ वर्ष रहने, उसकी वृद्धावस्था तथा धार्मिक पक्षपात ने अकबर द्वारा स्थापित की हुई संस्थाओं की उपयुक्तता नष्ट कर दी और यही अन्त में साम्राज्य के पतन तथा विनाश का कारण हुआ।

सारा साम्राज्य २१ सूबों में विभाजित था। सूबों का शासन पहले ही का-सा था परन्तु केन्द्रीय सरकार अधिक मज़बूत हो गई थी। औरङ्गज़ेब बड़ा सुशिक्षित एवं अनुभवी शासक था। वह राज्य के कामों को बड़े ध्यान से देखता था और विदेशी राज्यों को जो फ़र्मान और पत्र भेजे जाते थे, उन्हें स्वयं लिखवाता था। वह स्वयं मन्त्री का काम करता था। उसके अफ़सर हर एक मामले में उसकी

सलाह लेते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि उनका स्वावलम्बन नष्ट हो गया और वे काम में देर करने लगे। चूँकि वह क़ुरान शरीफ के अनुसार राज्य करना चाहता था, इसलिए अधिकारियों के कार्य का क्षेत्र विस्तृत हो गया। लोगों से धार्मिक नियमों का अनुसरण कराने के लिए, चाल-चलन की देख-रेख करने के लिए एक अलहदा विभाग की स्थापना की गई। योग्यता के अनुसार सरकारी नौकरी देने का कोई प्रबन्ध नहीं था। लोग केवल अपने धार्मिक विचारों के कारण ही बड़े-बड़े ओहदे पा जाया करते थे।

किसानों के हित का औरङ्गज़ेब सदैव ध्यान रखता था। अपने शासन के प्रारम्भिक भाग में उसने खेती की उन्नति करने तथा किसानों से निश्चित कर लेने के लिए कई नियम बनाये थे। लगान नियत करने के तरीके में विशेष परिवर्तन नहीं किया गया था। जहाँ किसान ग़रीब होते थे वहाँ स्थानीय परिस्थितियों का विचार करके राज्य का भाग निर्दिष्ट किया जाता था। राज्य का भाग पैदावार का आधा, तिहाई, और कभी इससे भी कम होता था। लगान बहुधा कई गाँवों का इकट्ठा निश्चित किया जाता था। साल के शुरू में अमीन एक गाँव या परगने की सरकारी मालगुज़ारी नियत करता था। अकबर के समय से अब लगान अधिक लिया जाता था। कभी-कभी किसानों को पैदावार का आधा राज्य को देना पड़ता था। लगान प्रायः नक़द लिया जाता था, परन्तु जिन्स के रूप में लेने की भी आज्ञा थी। राज्य के कर्मचारियों को किसानों के साथ सद्व्यवहार करने का आदेश था। यदि कोई चौधरी, मुक़द्दम अथवा पटवारी प्रजा पर अत्याचार करता तो उसे दण्ड दिया जाता था। सरकारी लगान से एक रुपया भी अधिक किसानों से नहीं लिया जाता था। प्रान्तीय दीवानों का लगान वसूल करनेवाले अधिकारियों की ईमानदारी की, केन्द्रीय सरकार के पास, रिपोर्ट भेजने का हुक्म था।

परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि धीरे-धीरे किसानों की दशा बिगड़ती जा रही थी। खेती छोड़कर वे बोझा ढोते और मजदूरी करते थे। बर्नियर का लेख है कि किसी महामारी के कारण नहीं, वरन् राज्य की कठोरता के कारण ही किसानों की संख्या में कमी हो गई थी। देहातों में मज़दूरों की तथा खेती की अवनति के कारण दरिद्रता फैल रही थी। ग़रीब किसान, निर्धनता के कारण, जब लगान नहीं दे सकते थे तब उनके लड़के छीन लिए जाते थे और ग़ुलाम बनाकर बेच दिये जाते थे। कूच के समय पलटनों के सिपाही, बिना किसी भय के, किसानों की फ़सल को रौंदते चलते थे। मनसबदारों के पास इतना रुपया नहीं था कि वे अपने इलाक़ों में शान्ति स्थापित रखते।

मालगुज़ारी के कम हो जाने, अनेक करों के उठा लेने तथा बादशाह के निरन्तर युद्ध करने के कारण, राज्य की आर्थिक दशा खराब हो गई। अफ़सरों

की तनख्वाहें नहीं दी जाती थीं। उन्हें जागीर में देने के लिए राज्य के पास ज़मीन नहीं थी। क़िलेदारों को रिश्वत देकर, क़िलों पर अधिकार प्राप्त करना एक मामूली बात हो गई थी और औरङ्गज़ेब को भी इस प्रकार वहुत-सा धन व्यय करना पड़ता था। केवल नासिक और थाना के ज़िलों में ही उसको इस काम में १,२०,००० रुपये खर्च करना पड़ा था। उत्तरी भारत में भी परिस्थिति ऐसी ही चिन्ताजनक थी। खेती और कारीगरी की अवनति हो जाने के कारण चारों ओर अराजकता फैल रही थी। निम्न श्रेणी के सूबेदार और जागीरदार जनता को पूर्णतः काबू में रखने में असमर्थ थे। शक्तिहीन स्थानीय अफ़सरों को जाट, मेवाती तथा अवध के बैस (क्षत्रिय) आदि वीर जातियों को दवाने में बड़ी कठिनाई होती थी। जागीर अदल-वदल हो जाती थी, जिससे रिआया को नये-नये अधिकारियों का अत्याचार सहन करना पड़ता था। यद्यपि रिश्वत लेना निन्दनीय समझा जाता था परन्तु तो भी लोग भेंट स्वीकार कर लिया करते थे। वादशाह स्वयं रुपया लेकर उपाधि वितरण करता था। शोलापुर के क़िलेदार को उसने ५० हज़ार रुपया लेकर राजा की पदवी दी थी। निम्न श्रेणी के अधिकारी खूब रिश्वत लेते और शराब पीते थे। इस प्रकार शासन की प्रतिष्ठा और शक्ति दोनों ही धीरे-धीरे विदा हो गई थीं।

हिन्दुओं के प्रति बादशाह ने दूरदर्शिता का वर्ताव नहीं किया था। उसके धार्मिक पक्षपात ने राज्य को बड़ी हानि पहुँचाई। सन् १६७९ ई० में जज़िया फिर से लगा दिया गया और उसे वसूल करने में बड़ी कठोरता से काम लिया गया जिससे हिन्दू प्रजा को वड़ा कष्ट हुआ। उसकी न्याय तथा निष्पक्ष व्यवहार की आशा व्यर्थ हुई। सरकारी नौकरी से वहुत-से हिन्दू अलग कर दिये गये और अकवर की नीति के विरुद्ध काम किया गया। राजनीति के दृष्टिकोण से औरङ्गज़ेब की यह अनुदारता उसकी भयङ्कर भूल थी। धार्मिक जोश के कारण वह इस बात को भूल गया कि अन्याय और पक्षपात पर एक बड़ा साम्राज्य निर्भर नहीं रह सकता।

शिया मुसलमानों को वह काफ़िर समझता था। ऊँचे पदाधिकारी मुसलमान प्रायः धार्मिक विचारों को छिपाते थे और, सुन्नी न होने पर भी, अपने को सुन्नी ही प्रकट करते थे। दरबार की 'ईरानी' और 'तूरानी' पार्टियाँ, प्रभुत्व के लिए, आपस में बराबर झगड़ा करती थीं, जिससे स्वार्थ, षड्यन्त्र तथा बेईमानी का चारों तरफ़ ज़ोर रहता था। इन दो दलों में इतना वैमनस्य बढ़ गया था कि इनकी सन्तानों के शादी-विवाह भी आपस में ही होते थे।

बादशाह न्यायप्रिय था। वह दरबार-आम में इन्साफ़ करने के लिए बैठता था और सताये हुए लोगों की प्रायः प्रार्थना सुनता था और वहुधा मामलों की जाँच करके अपराधी को वहीं दण्ड देता था। क़ाज़ी उसका सहायक होता था।

अपनी सुविधा के लिए बादशाह ने स्वयं क़ानूनों का एक संग्रह किया था। दरबार में मुक़दमे इसी के अनुसार किये जाते थे।

औरङ्गज़ेब के राज्य के अन्तिम दिनों में शासन-प्रबन्ध में शिथिलता आने लगी थी। खज़ाना खाली हो गया था, अफ़सर रिश्वत लेते थे और राज्य की संस्थाएँ अवनत हो रही थीं। सेना का भी प्रबन्ध ख़राब था। सैनिक न तो सुसङ्गठित थे और न किसी नियम का पालन करते थे। इतना कहने में ज़रा भी अतिशयोक्ति न होगी कि औरङ्गज़ेब के दीर्घकालीन राज्य के परिणाम थे—आर्थिक दिवाला, देशव्यापी विद्रोह और राजनीतिक सर्वनाश।

औरङ्गज़ेब का चरित्र—औरङ्गज़ेब अपने धार्मिक विचारों में एक सच्चा सुन्नी मुसलमान था। उसने अपना सारा जीवन कर्तव्य पूरा करने में बिताया। अपने जीवन की प्रारम्भिक अवस्था से ही वह कुशल तथा साहसी सैनिक प्रसिद्ध था और उसने अपने बाप के राजत्वकाल में अनेक बार अपनी प्रतिभा का प्रमाण दिया था। वह जन्म से ही एक वीर सिपाही था। वह सङ्गठन और शासन की अपूर्व योग्यता रखता था। कठिन से कठिन परिस्थितियों में भी अपने मन तथा स्वभाव को अविचलित रखकर वह अपने शत्रुओं को हैरानी में डाल देता था। कूटनीति तथा अन्य राजनीतिक दाव-पेंचों में कोई उसकी बराबरी नहीं कर सकता था। यही कारण है कि राज्य के बड़े-बड़े अनुभवी मन्त्री भी उसके पक्के इरादे के क़ायल थे और उसकी राय का आदर करते थे। वह एक बड़ा अध्ययन करनेवाला विद्वान् पुरुष था और मरने के समय तक उसका विद्या-प्रेम क़ायम रहा। फ़ारसी-काव्य का वह पूरा ज्ञाता था और अपने पत्रों में उसका यथास्थान उद्धरण करके पत्र को सुन्दर तथा प्रभाव-पूर्ण बना देता था। अरबी-भाषा का भी उसे पूर्ण ज्ञान था। क़ुरान शरीफ़ उसे ज़बानी याद था और मुसलमानी धर्म तथा क़ानून से वह अच्छी तरह परिचित था। उसकी स्मरणशक्ति ऐसी तीव्र थी कि जिस मनुष्य को एक बार देख लेता था उसकी आकृति को कभी नहीं भूलता था। वह सादगी से जीवन व्यतीत करता था और संयम से रहता था। वह सोता कम था। भड़कीले कपड़ों को पसन्द नहीं करता था और क़ुरान के नियमों का अनुशीलन करता था। वह टोपियाँ बनाकर अपने खाने-पीने का खर्च चलाता था और शाही खज़ाने को एक पवित्र अमानत समझता था। न्याय करने में वह रू-रिआयत नहीं करता था और ग़रीब-अमीर में कोई भेद नहीं करता था। उसका आदर्श उत्कृष्ट था। वह कभी अपना समय फ़ज़ूल नहीं ख़राब करता था और सदा राज-कार्य में संलग्न रहता था। शासन की सूक्ष्म से सूक्ष्म बातों का भी उसे पूरा ज्ञान था। परन्तु उसमें एक दोष था। अपने सम्बन्धियों के प्रति उसके हृदय में सहानुभूति नहीं थी। अपने बाप के साथ उसने जो सलूक किया था उसे याद कर वह

हमेशा चिन्तित रहता था और अपने बेटों को पास तक न आने देता था। उसे हमेशा यही भय रहता था कि कहीं उसके बेटे राज्य को न छीन लें।

वह अपने धर्म का बड़ा पाबन्द था। वह पाँच नमाज़ पढ़ता, रोज़ा रखता और क़ुरान शरीफ़ में जिन बातों का निषेध है उनसे सदा दूर रहता था। उसके जीवन का लक्ष्य धर्म को बढ़ाना था और इसी के लिए उसने सादगी तथा त्याग का जीवन व्यतीत किया और निरतन्र परिश्रम किया। वास्तव में किसी मुसलमानी देश में वह एक आदर्श शासक समझा जाता परन्तु दुर्भाग्यवश उसकी अधिकांश प्रजा हिन्दू थी जिसे वह काफ़िर समझता था। उसमें सहिष्णुता और सहानुभूति का अभाव था जिसके बिना इतने बड़े साम्राज्य का प्रबन्ध करना सर्वथा असम्भव था। उसके धार्मिक जीवन के कारण लोग उसे ज़िन्दा पीर (जीवित साधु) समझते थे। परन्तु उसमें राजनीतिक दूरदर्शिता की कमी थी। वह न तो अपने चारों ओर काम करनेवाली शक्तियों का अनुमान कर सका और न उन्हें अपने अधिकार में करके उपयोगी बना सका। राज्य का सारा अधिकार उसने अपने हाथ में ले लिया, जिसका परिणाम यह हुआ कि उसके अमीर और अफ़सर निकम्मे तथा हतोत्साह हो गये। नये अमीर, जिन्हें बादशाह ने बड़े-बड़े ओहदों पर नियुक्त किया था, न तो वीर सैनिक थे और न उन्हें शासन का ही पर्याप्त अनुभव तथा ज्ञान था। वे राज्य का प्रबन्ध करने में असमर्थ थे। उसे दूसरों का बिलकुल विश्वास न था। यही कारण है कि वह कभी अपने सम्बन्धियों अथवा अफ़सरों की भक्ति और कृतज्ञता को प्राप्त नहीं कर सका। सब उससे असन्तुष्ट रहते थे। मुसलमान इतिहासकार ख्वाफ़ी ख़ाँ उसके विषय में लिखता है:—

"प्रत्येक योजना, जो उसने की, निष्फल सिद्ध हुई। जिन कार्यों को उसने आरम्भ किया, उनमें बहुत-सा समय लगा और अन्त में कुछ भी सफलता प्राप्त न हुई।"

औरङ्गज़ेब और उसके बेटे—औरङ्गज़ेब अविश्वासी स्वभाव का मनुष्य था। वह अपने बेटों का भी विश्वास नहीं करता था और उन्हें सदा दूर रखता था। अपने सबसे बड़े बेटे शाहज़ादा सुल्तान को उसने १८ वर्ष तक क़ैद में रक्खा और दूसरे बेटों के साथ भी कभी प्रेम का बर्ताव नहीं किया। शाहज़ादा मुअज्ज़म से, जो उसके बाद बहादुरशाह के नाम से गद्दी पर बैठा, वह दक्षिणी राज्यों के साथ सहानुभूति रखने के कारण, बहुत अप्रसन्न हो गया था। उसे भी उसने १६८७ ई० से १६९५ तक क़ैदख़ाने में रक्खा था। चौथा बेटा अकबर भी उससे भयभीत होकर फ़ारस को भाग गया था, जहाँ सन् १७०४ ई० में उसकी मृत्यु हो गई। सबसे छोटे बेटे कामबख़्श को भी उसने जिन्जी के क़िले की चढ़ाई में ठीक काम न करने के कारण, क़ैद कर लिया

था। जब बादशाह बीमार पड़ गया और उसके बचने की आशा न रही तब भी उसने बेटों को पास आने की आज्ञा न दी। मरने के समय जो पत्र उसने अपने सबसे प्यारे बेटे कामबख्श को लिखा था उससे पता लगता है कि उसके हृदय में कैसा दुःख था और अपने कृत्यों के लिए उसे कैसा पश्चात्ताप था।

"मेरे प्राणों के प्राण! ..अब मैं अकेला जा रहा हूँ। मैं तुम्हारी असहाय दशा पर अत्यन्त दुखित हूँ। किन्तु क्या लाभ? जितनी पीड़ा मैंने पहुँचाई है, जितना पाप और आत्याचार मैंने किया है उस सबका भार अपने साथ ले जा रहा हूँ। आश्चर्य की बात है कि संसार में कुछ भी लेकर नहीं आया था परन्तु अब पाप का एक भारी क़ाफ़िला साथ लेकर कूच कर रहा हूँ। जिधर मैं आँख उठाता हूँ, उधर ही मुझे केवल ईश्वर दिखाई देता है .मेरी सबसे अच्छी मर्ज़ी को तुम स्वीकार करना। ऐसा न करना कि मुसलमानों का रक्तपात हो और इस बेकार जीव के सिर पर पाप का भार और भी बढ़ जाय। मैं तुम्हें और तुम्हारे बेटों को ईश्वर की दया पर छोड़ कर विदा होता हूँ। मैं अत्यन्त सन्तप्त हृदय हूँ। तुम्हारी रोग-ग्रसित माता उदयपुरी मेरे साथ खुशी से संसार से कूच करेगी। ईश्वर तुम्हें शान्ति प्रदान करे।"

संक्षिप्त सनवार विवरण

शिवाजी का जन्म	१६२७ ई०
तोरना की विजय	१६४६ ,,
जिञ्जी पर अधिकार	१६५६ ,,
शिवाजी की कोंकण पर चढ़ाई	१६५९ ,,
चम्पतराय बुन्देला का विद्रोह	१६५९ ,,
मीरजुमला की आसाम चढ़ाई	१६६१ ,,
शिवाजी का सूरत पर छापा	१६६४ ,,
पुरन्दर की सन्धि	१६६५ ,,
शिवाजी का मुग़ल-दरबार में जाना	१६६६ ,,
जाटों का विद्रोह	१६६९ ,,
शिवाजी की दूसरी बार सूरत पर चढ़ाई	१६७० ,,
सतनामियों का विद्रोह	१६७२ ,,
शिवाजी का राज्याभिषेक	१६७४ ,,
तेग़बहादुर का क़त्ल	१६७५ ,,
शिवाजी की जिञ्जी पर विजय	१६७७ ,,
महाराज जसवन्तसिंह की मृत्यु	१६७८ ,,
शिवाजी की मृत्यु	१६८० ,,

बीजापुर का साम्राज्य में मिलाया जाना ..	..	१६८६ ई०
गोलकुण्डा का साम्राज्य म मिलाया जाना	..	१६८७ ,,
मुग़लों का रायगढ़ को जीतना ..	..	१६८९ ,,
जिन्जी की विजय ..	..	१६९८ ,,
राजाराम की मृत्यु ..	..	१७०० ,,
औरङ्गज़ेब की मृत्यु ..	..	१७०७ ,,
गुरु गोविन्दसिंह की मृत्यु ..	..	१७०८ ,,

अध्याय २६

मुग़ल-साम्राज्य का पतन और विनाश

(१७०७-१७६१ ई०)

राजसिंहासन के लिए युद्ध—औरङ्गज़ेब के तीन बेटे थे—मुहम्मद, मुअज्ज़म, आज़म और मुहम्मद कामबख्श। उसके मरते ही गद्दी के लिए झगड़ा शुरू हो गया। कहा जाता है कि औरङ्गज़ेब ने एक वसीयत की थी जिसके अनुसार वह साम्राज्य को शाहज़ादों में बाँटना चाहता था। इस वसीयत के अनुसार गद्दी पर बैठनेवाले को आगरा या दिल्ली के सूबे मिलते। आगरे के साथ मालवा, गुजरात तथा अजमेर, ये तीन सूबे और दक्षिण मे चार सूबे यानी बरार, औरङ्गाबाद बीदर तथा खानदेश साम्राज्य में शामिल होते। दिल्ली की गद्दी पर बैठनेवाले का अधिकार पञ्जाब से लेकर इलाहाबाद और अवध तक ११ सूबों पर स्थापित होता। अपने प्यारे बेटे कामबख्श को उसने बीजापुर और हैदराबाद की रियासतें देने का प्रबन्ध किया था और यह वसीयत की कि यदि वह उतने से सन्तुष्ट हो तो उसके साथ किसी प्रकार का झगड़ा न किया जाय।

परन्तु इस प्रकार की बाँट की मुग़ल-वंश में कोई परम्परा न थी। अतः तीनों बेटों ने तलवार-द्वारा इस प्रश्न को हल करना चाहा। कामबख्श ने, जो बादशाह की मृत्यु के कुछ समय पहले बीजापुर गया था, दीन-पनाह (धर्म-रक्षक) की पदवी धारण कर ली और ओहदे तथा उपाधि वितरण करना आरम्भ कर दिया। उधर शाहज़ादा मुअज्ज़म शाही ख़ज़ाने पर अधिकार करने के लिए आगरे की तरफ़ रवाना हुआ। आजम भी दक्षिण से झटपट रवाना हुआ और शीघ्र धौलपुर पहुँचकर, अपने भाई से युद्ध करने के लिए, तैयार हुआ। १० जून १७०७ ई०

को जाजऊ* के पास युद्ध हुआ, जिसमें आज़म हार गया और बुरी तरह घायल हुआ। आज़म की पराजय के कई कारण थे। वह ठीक समय पर आगरे न पहुँच सकने के कारण रुपया-पैसा न पा सका, उसका बहुत-सा सामान दक्षिण में ही रह गया था। इसके अतिरिक्त उसकी सेना में अधिकांश नौसिखिये सिपाही थे और उसके सेनापति जुल्फ़िक़ार ख़ाँ और राजा जयसिंह कछवाहा ने हृदय से उसकी मदद नहीं की थी। इस काल में हार-जीत सेनानायक पर बहुत कुछ निर्भर होती थी। आज़म की मृत्यु होते ही उसकी सेना में भगदड़ मच गई। मुअज़्ज़म ने बहादुरशाह की उपाधि धारण की और वह सिंहासन पर बैठ गया। इसके बाद उसने अपने भाई कामबख़्श पर चढ़ाई कर दी। हैदराबाद के पास युद्ध में वह पराजित हुआ और ऐसा घायल हुआ कि मर गया। बादशाह उसके जनाज़े के साथ गया और उसने उसके बेटों और आश्रितों के लिए वज़ीफ़े नियत किये।

बहादुरशाह और राजपूत—युद्ध अभी पूर्ण रीति से समाप्त भी न होने पाया था कि बहादुरशाह को शान्ति-स्थापन के लिए राजपूताने की तरफ़ जाना पड़ा। राजपूताने में इस समय मेवाड़, मारवाड़ और आमेर की रियासतें सबसे बड़ी थीं। औरङ्गज़ेब ने मारवाड़ पर क़ब्ज़ा कर लिया था परन्तु उसके मरते ही राजा अजीतसिंह ने मुसलमानों को वहाँ से निकाल बाहर किया और नये सम्राट् का आधिपत्य स्वीकार करने से इनकार कर दिया। आमेर में गद्दी के लिए झगड़ा हो रहा था। मारवाड़ के राजपूतों ने उसका सामना नहीं किया और अजीतसिंह को आधिपत्य स्वीकार करना पड़ा। थोड़े ही दिनों बाद इन तीनों रियासतों के राजाओं ने बादशाह के विरुद्ध एक सङ्घ बनाया परन्तु उन्हें कोई सफलता न हुई। बहादुरशाह ने राजपूतों के साथ अच्छा सम्बन्ध स्थापित कर लिया।

सिक्ख—गुरु गोविन्दसिंह की मृत्यु के बाद सिक्खों ने बन्दा को अपना नेता चुन लिया था। बन्दा ने ४० हज़ार सिपाहियों की एक सेना एकत्र करके विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया। उसने सबसे पहले सरहिन्द के सूबेदार वज़ीर ख़ाँ पर चढ़ाई की। वज़ीर ख़ाँ ने गुरु गोविन्दसिंह को बहुत परेशान किया था और उनके बेटों का क़त्ल किया था। पहले तो सिक्खों को पीछे हटना पड़ा परन्तु उन्होंने फिर हमला किया और मुसलमानों को हैरान किया। वज़ीर ख़ाँ की अवस्था ८० वर्ष की थी। उसने वीरतापूर्वक युद्ध किया परन्तु मारा गया। सिक्खों ने सरहिन्द के नगर को ख़ूब लूटा। इस विजय से उत्साहित होकर बन्दा

---

* जाजऊ आगरे से लगभग १९ मील के फ़ासले पर ग्वालियर की सड़क के पास है।

ने देश पर अपना अधिकार स्थापित करने के लिए दक्षिण, पूर्व तथा पश्चिम की ओर पल्टनें भेजीं। लाहौर पर अधिकार करने का भी उसने प्रयत्न किया परन्तु सफलता न हुई। बादशाह स्वयं पञ्जाब की ओर रवाना हुआ। बन्दा ने लोहारगढ़ के क़िले में आश्रय लिया और वहीं अपनी रक्षा का प्रबन्ध करने लगा, परन्तु शाही सेना ने उसे पराजित किया। मुसलमान इतिहास-लेखक ख्वाफ़ी खाँ सिक्खों की वीरता की प्रशंसा करता हुआ लिखता है कि मुसलमानी सेना का उनसे कोई मुक़ाबिला नहीं किया जा सकता; क्योंकि उसमें सिक्खों की तरह जान पर खेलनेवाले शायद १०० सिपाही भी नहीं थे। बादशाह गुरु को पकड़ना चाहता था। उसकी यह इच्छा तो पूरी न हुई परन्तु लोहारगढ़ के क़िले को खुदवाने से (दिसम्बर सन् १७१० ई०) एक बड़ा खज़ाना उसके हाथ आ गया। सिक्खों ने अपना युद्ध जारी रक्खा और २७ फ़रवरी सन् १७१२ ई० को बादशाह की मृत्यु हो जाने पर उन्होंने फिर अपना क़िला जीत लिया।

मराठे—मुग़ल-सेना के दक्षिण से लौट आने के बाद मराठों ने फिर अपने पुराने तरीक़े से काम लिया। उन्होंने कई क़िले जीत लिये और मुग़ल-सूबों में छापा मारना शुरू कर दिया। बादशाह ने शाहू को, जो १६९० ई० में क़ैद हुआ था, मुक्त कर दिया। परन्तु राजाराम की विधवा स्त्री ताराबाई ने शाहू को राजगद्दी का अधिकारी स्वीकार नहीं किया। फलतः मराठों में दो दल हो गये आपस में लड़ाई छिड़ गई।

जहाँदारशाह (१७१२-१३ ई०)—जिस समय साम्राज्य की ऐसी डाँवाडोल हालत थी, जहाँदारशाह के छोटे भाई अज़ीमुश्शान के बेटे फ़र्रुखसियर ने गद्दी का दावा किया। उत्तराधिकार के युद्ध में अपने बाप की पराजय तथा मृत्यु का समाचार सुनकर उसने आत्म-हत्या करनी चाही थी परन्तु उसके मित्रों ने उसे ऐसा करने से रोक दिया था। उसने पटना में अपने को बादशाह घोषित किया और अपने नाम का सिक्का जारी कर दिया। सैयद भाई अब्दुल्ला खाँ और हुसेन अली खाँ ने, जो इलाहाबाद और बिहार के सूबेदार थे, उसके पक्ष का समर्थन किया। बारह* के इन सैयदों को भारतीय इतिहास में बादशाह बनानेवालों का नाम दिया गया है। फ़र्रुखसियर की माता की प्रार्थना पर

---

* मेरठ और सहारनपुर ज़िले में अपने १२ गाँवों के कारण, ये बारह के सैयद कहलाते थे। दोनों भाई कुलीन वंश के अमीर थे। हुसेनअली बड़ा और अब्दुल्ला छोटा था। अब्दुल्ला का नाम हसनअली खाँ था। आजकल भी इनके वंशज मुज़फ़्फ़रपुर ज़िले में रहते हैं। अकबर के ही समय से इस वंश के लोग सेना में बड़े ओहदों पर थे और फ़र्रुखसियर के गद्दी पर बैठने के समय तक इन लोगों का केवल सेना ही से सम्बन्ध था।

हुसेनअली खाँ ने उसका पक्ष लिया और अपने भाई को भी उसका साथ देने के लिए तैयार कर लिया। खजवा के युद्ध में शाही सेना को हराकर फ़र्रुखसियर दिल्ली की ओर रवाना हुआ। जहाँदारशाह उसे रोकने के लिए आगरे की तरफ़ चल दिया। युद्ध में फिर फ़र्रुखसियर की जीत हुई। जहाँदारशाह घबरा-कर दिल्ली की ओर भागा। वहाँ उसके एक अफ़सर ने उसे क़ैद करके फ़र्रुखसियर के हवाले कर दिया। अब्दुल्ला की आज्ञा से जहाँदार के पैरों में बेड़ियाँ डाल दी गई और फ़र्रुखसियर बादशाह बनाया गया। दो-चार दिन बाद जहाँदार-शाह मार डाला गया।

फ़र्रुखसियर (१७१३-१७१९)—फ़र्रुखसियर ने सैयद भाइयों की बड़ी इज़्ज़त की और चिनक़िलीच खाँ निज़ाम-उल-मुल्क को दक्षिण का सूबेदार नियुक्त किया। गद्दी पर बैठते ही उसे राजपूतों, सिक्खों और जाटों से लड़ना पड़ा। बहादुरशाह राजपूतों को भली भाँति दबाने में सफल नहीं हुआ था। हुसेनअली ने जोधपुर पर चढ़ाई की और अजीतसिंह को सन्धि करने पर विवश किया। राजा ने अपनी बेटी बादशाह को दे दी और बुलाने पर दरबार में उपस्थित होने का वचन दिया।

सिक्खों ने वीर नेता बन्दा बहादुर के नेतृत्व में लूट-मार जारी रक्खी। उन्होंने बटाला का शहर लूट लिया और उनके नेता ने अमृतसर से ४४ मील उत्तर-पूर्व की ओर गुरुदासपुर के क़िले में आश्रय लिया। बड़े भीषण संग्राम के बाद १७ दिसम्बर सन् १७१५ ई० को क़िला मुग़लों के हाथ में चला गया। बन्दा क़ैद हुआ और लोहे के एक पिंजड़े में बन्द किया गया। उसके अनुया-यियों को कठोर शारीरिक यातनाएँ दी गई परन्तु सिक्ख हताश न हुए। बन्दा बहादुर बड़ी निर्दयता के साथ क़त्ल किया गया और उसके सैकड़ों साथी मार डाले गये (१७१६ ई०)

दिल्ली और आगरा के बीच के देश में जाट छापा मारते थे। चूरामन उनका नेता था और भरतपुर के पास सनसनी गाँव उनका प्रधान अड्डा था। बहादुरशाह के साथ उसकी मित्रता थी। परन्तु उसकी मृत्यु के बाद उसने विद्रोह किया। उसे दबाने की कोशिश की गई। वह दरबार में आया और उसे दिल्ली से चम्बल नदी तक की सड़क की रक्षा का प्रबन्ध सौंपा गया, परन्तु कहा जाता है कि उसने इस अधिकार का बड़ा दुरुपयोग किया। राजा जयसिंह सवाई को बादशाह ने उसके विरुद्ध भेजा। उसका नया क़िला घेर लिया गया। परन्तु शाही सेना को अधिक सफलता न मिली। अन्त में लड़ाई से तङ्ग आकर स्वयं चूरामन ने सन्धि का प्रस्ताव किया। सन् १७१८ ई० में उसके साथ सन्धि हो गई और उसे बादशाह को पचास लाख रुपया हर जाने में देना पड़ा।

दरबार की दलबन्दियाँ—फ़र्रुखसियर को बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा। दरबार में हिन्दुस्तानी और विदेशी अमीरों के दो दल थे। विदेशी अमीरों में पठान, मुग़ल, अफ़ग़ान, अरब, रूमी आदि शामिल थे। परन्तु इनमें सबसे प्रसिद्ध ईरानी और तूरानी थे। तूरानी दल के लोग सुन्नी थे। इनका और मुग़लों का असली निवास-स्थान एक होने के कारण बादशाह की इन पर विशेष कृपा रहती थी। ईरानी दल के लोग शिया थे। यद्यपि वे सख्या में अधिक न थे परन्तु अपनी योग्यता के बल से राज्य में बड़े ओहदों पर थे, और दरबार में उनका प्रभाव भी बहुत था। ईरानियों और तूरानियों में सदैव अनबन रहती थी परन्तु हिन्दुस्तानी अमीरों के मुक़ाबिले में वे आपस में मिल जाया करते थे। हिन्दुस्तानी दल में सैयद-भाइयों की तरह भारतीय मुसलमान थे। उनके साथ बहुत से राजपूत तथा जाट सरदार, ज़मींदार और छोटे दर्जे के सरकारी नौकर-चाकर थे।

सैयद-भाइयों का उत्कर्ष—सैयद-भाइयों ने ही फ़र्रुखसियर को सिंहासन पर बिठाया था, इसलिए वे राज्य में सबसे अधिक अधिकार ग्रहण करना चाहते थे। बादशाह ने अब्दुल्ला को वज़ीर नियुक्त करने का वचन दिया था, किन्तु जब उसने ऐसा करने से इनकार किया तो सैयद-भाइयों के कान खड़े हुए। बादशाह उनके विरोधियों पर कृपा करता था। इससे भी वे अप्रसन्न हुए। उधर बादशाह के मित्र सैयद-भाइयों-द्वारा अधिकार छीन लिये जाने पर उनसे ईर्ष्या रखते थे। फ़र्रुखसियर ने सैयद-भाइयों के साथ सद्भाव रखने की कोशिश की परन्तु उसका प्रयत्न विफल हुआ। शासन की दशा बिलकुल बिगड़ गई। पहले के सभी नियम और क़ानून ढीले पड़ गये। ठेकेदारों से लगान वसूल कराने की प्रथा फिर आरम्भ हो गई, जिसका प्रजा पर बुरा प्रभाव पड़ा। हिन्दुओं पर जज़िया फिर से लगाया गया। बादशाह सैयद-भाइयों को पदच्युत करने के लिए षड्यन्त्र रचने लगा।

बादशाह के षड्यन्त्रों का समाचार पाकर हुसेनअली, अपने भाई की सहायता से लिए, दक्षिण से उत्तरी हिन्दुस्तान की ओर रवाना हुआ। उसने दिल्ली आने का अजीब बहाना बताया। उसका कहना था कि शाहज़ादा अकबर के लड़के को, जो उसके हवाले किया गया था, दरबार में पहुँचाने वह दिल्ली जा रहा था। किन्तु बात असल में यह थी कि उसके भाई ने मदद के लिए ही उसे दिल्ली बुलवाया था। हुसेनअली ने मराठों से समझौता करके शाहू को 'चौथ' और 'सरदेशमुखी' देना स्वीकार कर लिया और मराठे घुड़सवारों को नौकर रख लिया। उसके दिल्ली पहुँचने से फ़र्रुखसियर बहुत घबराया और सैयद-बन्धुओं को प्रसन्न करने के की कोशिश करने लगा। कुछ दिनों के लिए सब झगड़े समाप्त हो गये और ऐसा मालूम हुआ कि बादशाह और सैयद-बन्धुओं का मनोमालिन्य दूर हो गया। परन्तु बादशाह छिपे-छिपे सैयद-भाइयों

के विनाश का उपाय फिर करने लगा। सैयद-भाई बड़े चतुर थे। उन्होंने शीघ्र क़िले पर अधिकार करके फ़र्रुखसियर को गद्दी से उतार दिया और उसका घोर अपमान किया।

फ़र्रुखसियर निकम्मा बादशाह था; परन्तु सैयद-बन्धुओं का बर्त्ताव उचित न था। बादशाह की हत्या का कलङ्क सदा उनके सिर पर रहेगा। यह सच है कि उनकी जान खतरे में थी परन्तु फिर भी अपने शत्रुओं का नाश करने के लिए उन्हें ऐसे भयङ्कर काम करने की आवश्यकता न थी।

फ़र्रुखसियर के बाद सैयदों ने दो शाहज़ादों को गद्दी पर बिठाया। वे दोनों उनके हाथों के खिलौने थे और कुछ ही महीनों तक गद्दी पर रहे। निदान १७१९ ई० के सितम्बर में उन्होंने बहादुरशाह के पोते मुहम्मदशाह को गद्दी पर बिठाया। परन्तु वास्तव में राज्य का सारा अधिकार उन्हीं के हाथ में बना रहा।

सैयद-भाइयों का पतन—सैयद-भाइयों के व्यवहार से दरबार के सभी अमीर अत्यन्त भयभीत तथा क्षुब्ध हो गये थे। सबसे पहले फ़र्रुखसियर के सहायक, इलाहाबाद के सूबेदार, छबीलाराम नागर ने सन् १७१९ ई० में विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया। उसके भतीजे गिरधर बहादुर ने भी उसका साथ दिया। लक़वे की बीमारी में छबीलाराम की शीघ्र ही मृत्यु हो गई। गिरधर बहादुर बाग़ी बना रहा। सैयदों ने उसे मिलाने का भरसक प्रयत्न किया किन्तु वह दृढ़ रहा। सैयद-बन्धु बहुत भयभीत हुए। तब उन्होंने उसे अवध का सूबेदार नियुक्त किया और तमाम फ़ौज और शासन के अधिकार उसे दे दिये। उन्होंने उनकी हानि पूरी करने के लिए उसे नक़द रुपया भी दिया। इसके पश्चात् उन्होंने दक्षिण के सूबेदार निज़ामुलमुल्क* को दिल्ली

---

* निज़ामुलमुल्क ग़ाज़िउद्दीन ख़ाँ फ़ीरोज़जङ्ग का बेटा था। उसके पूर्वज समरकन्द के रहनेवाले थे। उसका असली नाम मीर क़मरुद्दीन था। उसकी माता शाहजहाँ के प्रसिद्ध वज़ीर सादुल्ला ख़ाँ की बेटी थी। ११ अगस्त सन् १६७१ ई० को उसका जन्म हुआ था। उसे १३ वर्ष की अवस्था में बादशाह की ओर से मनसब मिला था। १६९०-९१ ई० में उसे चिनक़िलीच ख़ाँ की उपाधि मिली थी। औरङ्गज़ेब की मृत्यु के समय वह बीजापुर का सूबेदार था। बहादुरशाह ने उसे दक्षिण से बुलाकर अवध का सूबेदार नियुक्त किया था; उसे ६००० का मनसब तथा ख़ान दौरान की उपाधि दी गई। सन् १७११ ई० में अपने बाप की मृत्यु के बाद उसने इस्तीफ़ा दे दिया और उसे पेन्शन मिल गई। कुछ दिन बाद उसने फिर नौकरी कर ली और बहादुरशाह तथा फ़र्रुखसियर दोनों बादशाहों ने उसे सम्मानित किया। फ़र्रुखसियर ने उसे फिर दक्षिण का सूबेदार बनाया और निज़ामुलमुल्क की उपाधि दी।

जाने की आज्ञा दी। निज़ामुलमुल्क ने अपनी जान का खतरा समझकर विद्रोह कर दिया और उसने असीरगढ़ और बुरहानपुर पर अधिकार कर लिया। हुसेन-अली सैयद का कुटुम्ब अभी दक्षिण में ही था। उसकी रक्षा करने और निज़ा-मुलमुल्क को दण्ड देने के लिए वह शीघ्र दक्षिण की ओर चल दिया। बादशाह भी उसके साथ था। वह सैयदों से तङ्ग आ गया था और उनसे छुटकारा पाने के लिए चिन्तित था। परिणाम-स्वरूप एक षड्यन्त्र रचा गया और सन् १७२० ई० में हुसेनअली क़त्ल कर दिया गया। उसका डेरा लूट लिया गया और उसके मुख्य साथी पकड़ लिये गये।

अब्दुल्ला भाई की मृत्यु से बड़ा दुखी हुआ। उसने बड़ी नम्रता से बादशाह को पत्र लिखा और बादशाह ने उसके भाई के मारनेवालों को दण्ड देने का वचन दिया। जब बादशाह ने कुछ न किया तब अब्दुल्ला ने एक सेना एकत्र की। युद्ध में वह पराजित हुआ और उसका डेरा लूट लिया गया। जाट-सरदार चूरामन भी शाही फ़ौज के साथ था। वह लूट-मार करके सीधा अपने देश को वापस चला गया। अब्दुल्ला खाँ क़ैद हो गया और दो वर्ष बाद, १७२२ ई० में, विष देकर मार डाला गया।

सैयदों की नीति तथा स्वभाव दोनों ही शान्ति स्थापित करने के लिए अनुप-युक्त थे। वे ८ वर्ष तक राज्य के मालिक रहे और उन्होंने बादशाह को कठ-पुतली की तरह नचाया। वे अपनी शक्ति का दुरुपयोग करते थे और अमीरों का अपमान करते थे। हुसेनअली अधिक हिम्मतवाला था, परन्तु बड़ा अभिमानी था। वह अमीरों के प्रति कटु वचन कह दिया करता था। एक बार तो उसने कहा था कि जिसके ऊपर वह अपने जूते का साया डाल देगा, वही दिल्ली का बादशाह हो जायगा। किन्तु अभिमानी होते हुए भी वे ग़रीबों पर दया करते थे और विद्वानों का आदर करते थे। अब्दुल्ला हिन्दुओं का मित्र था और वसन्त, होली आदि हिन्दू त्योहारों में भाग लेता था। शासन-प्रबन्ध की योग्यता का दोनों में अभाव था। राज्य के काम की वे अधिक पर्वाह नहीं करते थे और विलासिता में समय बिताते थे। अपने बर्त्ताव के कारण उनके शत्रु अधिक हो गये और यही उनके पतन का प्रधान कारण हुआ। उनके सम्बन्ध में औरङ्गज़ेब का यह कहना कि 'बारह के सैयदों को अधिक मुंह लगाना लोक-परलोक दोनों के लिए अनिष्टकारी होगा' बिलकुल ठीक था।

मुहम्मदशाह की मूर्खता-पूर्ण नीति—सैयदों से छुटकारा पाकर मुहम्मदशाह बहुत प्रसन्न हुआ। उसने निज़ामुलमुल्क को अपना वज़ीर बनाया और दूसरे ओहदे भी नये अफ़सरों को दिये। राजा जयसिंह सवाई तथा अन्य हिन्दू दर-बारियों ने प्रयत्न करके हिन्दुओं पर से जज़िया कर उठवा दिया। इन दिनों अनाज की क़ीमत बढ़ जाने से जज़िया देने में बड़ी कठिनाई हो रही थी। नये

वज़ीर ने शासन-प्रबन्ध में सुधार करने का प्रयत्न किया, परन्तु बादशाह और उसके कृपा-भाजन दरबारियों ने उसे कुछ भी न करने दिया। बादशाह जवान और मूर्ख था। वह अपने मित्रों की मण्डली में वज़ीर की दिल्लगी किया करता था।। उसका एक मुँहलगा साथी तो निज़ामुलमुल्क के सम्बन्ध में कहता था—"देखो दक्षिणी बन्दर कैसा नाचता है।" दरबारी लोग वज़ीर के कामों का बादशाह के सामने उल्टा-सीधा बयान करते थे और वह उनकी बातों पर फ़ौरन विश्वास कर लेता था। ये लोग दो-तर्फ़ी चाल चलते थे। बादशाह के सामने वज़ीर की निन्दा करते और कहते थे कि वह आपको गद्दी से उतारने का षड्यन्त्र करता है और वज़ीर के सामने बादशाह की निन्दा करके कहते थे कि वह बादशाह होने योग्य नहीं है। इसके अतिरिक्त दरबारियों में पारस्परिक विद्वेष के कारण वज़ीर को अपना कार्य करने में बड़ी कठिनाई होती थी। इन परिस्थितियों से ऊबकर सन् १७२४ ई० में निज़ाम ने दिल्ली-दरबार छोड़ दिया। सन् १७२५ ई० में उसने हैदराबाद के सूबे पर अधिकार करके अपने लिए एक नया राज्य स्थापित कर लिया।

साम्राज्य में गड़बड़ी—जब कि दरबार में ऐसी दलबन्दियाँ हो रही थीं, साम्राज्य भी छिन्न-भिन्न हो रहा था। रुहेला अफ़ग़ानों ने कटहर (आधुनिक रुहेलखण्ड) में अपना स्वाधीन राज्य स्थापित कर लिया था। उनका सरदार दाऊद ख़ाँ पहले किसी स्थानीय राजा के यहाँ नौकरी करता था, परन्तु शीघ्र ही उसने अपनी शक्ति बढ़ा ली और ख्याति प्राप्त कर ली। उसका दत्तक पुत्र अलीमुहम्मद ख़ाँ, जो पहले हिन्दू था, उसकी मृत्यु के बाद उत्तराधिकारी हुआ। उसने धीरे-धीरे अपने लिए एक राज्य स्थापित कर लिया। जाट सरदार चूरामन के बेटों ने भी सिर उठाया, लेकिन राजा जयसिंह सवाई ने उन्हें सन् १७२२ ई० में परास्त किया। उधर दक्षिण में मराठे बड़े शक्तिशाली हो गये और पेशवा के नेतृत्व में उन्होंने गुजरात, मालवा, रुहेलखण्ड तथा बङ्गाल को रौंद डाला। बाजीराव द्वितीय के नेतृत्व में उन्होंने उत्तरी भारत में मुग़ल-राज्य पर भी छापा मारकर "चौथ" वसूल करना शुरू कर दिया।

इस प्रकार सन् १७३८-३९ में साम्राज्य अवनत दशा में था। शाहज़ादे आमोद-प्रमोद में डूबे हुए थे, ख़ज़ाना ख़ाली था और दरबारी, चूहे-बिल्ली की तरह, परस्पर लड़ते थे। शासन में ज़रा भी दृढ़ता नहीं थी। सेना ऐसी अव्यवस्थित थी कि किसी बाहरी आक्रमणकारी का सामना नहीं कर सकती थी। आपस की लड़ाइयों से देश में चारों ओर अशान्ति फैल रही थी। ऐसी स्थिति में फ़ारस के बादशाह नादिरशाह ने सन् १७३९ ई० में हिन्दुस्तान पर चढ़ाई कर दी।

नादिरशाह का आक्रमण (१७३९ ई०)—नादिर क़ुली अपने प्रारम्भिक ज़ीवन में एक मामूली आदमी था। उसका बाप एक ग़रीब तुर्कमान था और

भेड़ के चमड़े की टोपियाँ तथा चोग़े बनाकर अपना जीवन-निर्वाह करता था। नादिर क़ुली ने पहले एक सरदार के यहाँ नौकरी की; फिर नौकरी छोड़कर लुटेरा बन गया। उसके साथियों की संख्या धीरे-धीरे बढ़ने लगी और उसके भाग्य ने ऐसा पलटा खाया कि वह अपने पराक्रम से फ़रवरी सन् १७३६ ई० में नादिरशाह के नाम से फ़ारस के सिंहासन पर बैठ गया। सन् १७३७ ई० में उसने क़न्दहार पर चढ़ाई की और एक वर्ष बाद उस पर क़ब्ज़ा कर लिया। अब वह मुग़ल-साम्राज्य पर चढ़ाई करने का बहाना ढूँढ़ने लगा। वह बड़ा कूट-नीतिज्ञ था, इसी लिए अकारण हमला करने की बदनामी से बचना चाहता था। उसने पहले अपने राजदूतों को भेजकर दिल्ली-सम्राट् से यह प्रार्थना की कि क़न्दहार से भागे हुए अफ़ग़ानों को मुग़ल-सीमा में प्रवेश करने की आज्ञा न दी जाय। किन्तु जब बादशाह की ओर से लापरवाही की गई और राजदूतों को कोई निश्चित उत्तर नहीं मिला तो वे लौट गये और नादिरशाह ने चढ़ाई कर दी।

नादिरशाह ने अफ़ग़ानिस्तान को बड़ी आसानी से जीतकर काबुल का ख़जाना और अन्य सामान ले लिया। मुग़लों ने सीमान्त-देशों की रक्षा का कोई प्रबन्ध नहीं किया था। इस कारण उसे पेशावर और लाहौर पर अधिकार करने में कोई कठिनाई न हुई। ऐसी दशा में साम्राज्य की रक्षा करनेवाला, यदि कोई व्यक्ति था तो निज़ामुलमुल्क, परन्तु बादशाह को उसका विश्वास नहीं था। लाहौर से नादिरशाह करनाल पहुँचा। वहाँ मुहम्मदशाह की अस्त-व्यस्त सेना ने उसका सामना किया परन्तु उसकी हार हुई। दिल्ली की सेना के हारने के कई कारण थे जिनमें दरबारियों की अयोग्यता और लड़ने के ढङ्ग की ख़राबी प्रधान थे। बादशाही सेनापति एक दूसरे से ईर्ष्या करते थे। निज़ाम भी, जो एक अनुभवी सैनिक था, अपने प्रतिद्वन्द्वियों के नाश की बाट देख रहा था। भारतीय सिपाही तलवार से लड़ना तो अच्छी तरह जानते थे परन्तु गोला-बारूद से युद्ध करने में ईरानियों की तरह दक्ष नहीं थे। भारतीय तोपख़ाना पुराने ढङ्ग का था और शीघ्रता के साथ काम में नहीं लाया जा सकता था। हाथी भारतीय सेना के प्रधान अङ्ग समझे जाते थे परन्तु फ़ारसी सेना की बन्दूकों के आगे वे ठहर नहीं सकते थे।

नादिरशाह ने शान के साथ दिल्ली नगर में प्रवेश किया। वह महल में दीवान-ख़ास के पास ठहरा। उसके सिपाहियों ने अनाज बेचनेवालों को सस्ते भाव पर अनाज देने के लिए तङ्ग किया जिससे नागरिकों की एक भीड़ ने उन पर हमला कर दिया। उसके थोड़े ही समय बाद, शहर में यह अफ़वाह फैल गई कि नादिरशाह मर गया, जिससे नगर में बड़ी खलबली मच गई।

नादिरशाह ने क्रोधित होकर नगर में क़त्लआम का हुक्म दे दिया। सुबह ९ बजे से लेकर दोपहर के २ बजे तक शहरवालों का क़त्ल होता रहा।

इस भीषण हत्या-कारण से दुःखित होकर, मुहम्मदशाह ने अपने कुछ विश्वास-पात्र दरबारियों को नादिरशाह के पास भेजा और उससे प्रजा का क़त्ल बन्द कराने की प्रार्थना की। नादिरशाह ने हत्या-काण्ड बन्द करा दिया। परन्तु शहर में लूट-मार जारी रही और ईरानियों ने बहुत-सा धन लूटा। लगभग ७० करोड़ रुपया लेकर और मुहम्मदशाह को फिर गद्दी पर बैठाकर नादिरशाह अपने देश को लौट गया। उसके आक्रमण से साम्राज्य को बड़ी हानि पहुँची। मुग़ल-सम्राट् को बहुत-सा रुपया देना पड़ा और सिन्ध नदी के पश्चिम का देश फ़ारस-साम्राज्य में मिला लिया गया।

साम्राज्य की दशा—नादिरशाह के आक्रमण से साम्राज्य का शासन अव्यवस्थित हो गया। केन्द्रीय सरकार के शक्तिहीन हो जाने के कारण सूबों में भी शान्ति स्थापित रखना कठिन हो गया। जाटों और सिक्खों ने सरहिन्द पर आक्रमण करके, वहाँ एक अपने सरदार को राजा बना दिया। मराठों ने दक्षिणी तथा पश्चिमी सूबों पर अधिकार करके बिहार, बङ्गाल तथा उड़ीसा पर धावा करना आरम्भ कर दिया। दोआबा में अलीमुहम्मद खाँ रुहेला ने, कमायूँ के पहाड़ों तक अपना कब्ज़ा कर लिया। उधर अवध में सआदतअली खाँ, बङ्गाल में अलीवर्दी खाँ तथा दक्षिणी में आसफ़जाह निज़ामुलमुल्क जैसे बड़े-बड़े सूबेदारों ने अपने स्वाधीन राज्य स्थापित कर लिये।

मराठों और अफ़ग़ानों ने मुग़ल-प्रदेशों पर भी हमला करना आरम्भ कर दिया था। मुहम्मदशाह के शासन-काल के शेष दिन उन्हीं से लड़ने में बीते। सन् १७४८ ई० में उसकी मृत्यु हो जाने के बाद दरबार में षड्यन्त्र और दलबन्दी पहले से भी अधिक बढ़ गई, जिससे शासन का नियमित रूप से चलना असम्भव हो गया।

मराठों का अभ्युदय

बालाजी विश्वनाथ (१७१३-२० ई०)—पहले कहा जा चुका है कि बहादुरशाह ने शाहू को मुक्त कर दिया था और उसे दक्षिण जाने की आज्ञा दे दी थी। उसने सतारा पर अधिकार कर लिया और गद्दी पर बैठ गया। मुग़ल-दरबार में अधिक दिन रहने के कारण वह विलासप्रिय और काहिल हो गया था। इसलिए राज्य का सारा काम पेशवा के हाथों में चला गया। पेशवा के अधिकार को पुश्तैनी बना देनेवाला, कोंकण के ब्राह्मण विश्वनाथ का पुत्र, बालाजीभट था। उसने अपनी चतुरता और योग्यता से मराठा-शासन को पुनः सङ्गठित करके सारी दलबन्दियों का अन्त कर दिया। उसने खेती की उन्नति का उपाय किया और ठेकेदारों द्वारा भूमि-कर वसूल करने की प्रथा बन्द कर दी।

सन् १७१७ ई० में उसने हुसेनअली सैयद से एक इक़रारनामा किया था, जिसके अनुसार सैयद ने उसे दक्षिण में 'चौथ' और 'सरदेशमुखी' देना स्वीकार किया और उसे कुछ जागीर भी दे दी। इससे मराठों की शक्ति और बढ़ गई और वे गुजरात, मालवा तथा बुन्देलखण्ड में छापा मारने लगे।

बालाजी का शासन-सङ्गठन मुख्यत: भूमि-कर की वसूली से सम्बन्ध रखता था। मराठा-राज्य को उसने ज़िलों में बाँट दिया। नक़द वेतन की जगह राज्य के प्रधान अधिकारियों को ज़िलों की मालगुज़ारी सौंप दी गई। राजा का अधिकार नाम-मात्र को रह गया। पेशवा और सेनापति को देश की रक्षा का भार सौंपा गया और राजा की निजी सेना का अधिकांश उनकी अधीनता में रक्खा गया। राज्य के सभी अधिकारियों का ज़िलों के गाँवों की पूरी अथवा आंशिक मालगुज़ारी पर अधिकार था और वे गाँव एक ही ज़िले में न होकर, कई ज़िलों में होते थे। इस प्रकार बालाजी के प्रयत्न से अधिकारी सब ज़िलों में दिलचस्पी रखने लगे और राज्य में ऐक्य की स्थापना हुई। उसने 'चौथ' और 'सरदेशमुखी' की दर बढ़ा कर उन्हें, अकबर के समय में टोडरमल द्वारा अथवा शाहजहाँ के समय में सादुल्ला ख़ाँ द्वारा निश्चित मालगुज़ारी की तरह, वसूल करने का नियम बना दिया। वह जानता था कि युद्ध और दुर्भिक्ष से पीड़ित दक्षिण देश अधिक रुपया न दे सकेगा, इसलिए लोगों पर बाक़ी पड़ी हुई रक़म का मराठे हमेशा तक़ाज़ा करते रहेंगे। इसके अतिरिक्त, उसने एक ही ज़िले की वसूली का भार कई अधिकारियों को सौंपा, जिससे देश पूरी तरह क़ब्ज़े में आ जाय। इसका नतीजा यह हुआ कि हिसाब पेचीदा हो गया। हिसाब-किताब में केवल ब्राह्मणों के दक्ष होने के कारण राज्य में उनका प्रभाव बहुत बढ़ गया। शाहू की अयोग्यता के कारण पेशवा को अपनी शक्ति बढ़ाने का अच्छा अवसर मिला और धीरे-धीरे उसका अधिकार राजा की तरह हो गया।

बाजीराव प्रथम (१७२०-४० ई०)—सन् १७२० ई० में बालाजी विश्वनाथ की मृत्यु हो जाने के बाद, उसका बेटा बाजीराव प्रथम पेशवा हुआ। बाजीराव एक शक्तिमान् और हौसलामन्द आदमी था। उसने अपने बाप के पास शिक्षा पाई थी और युवावस्था से ही विजयों की एक बड़ी योजना बना रक्खी थी। मुग़ल-साम्राज्य के अध:पतन के बाद उसे अपने प्रभाव को बढ़ाने का अच्छा मौक़ा मिल गया। सन् १७२४ ई० में उसने मालवा पर चढ़ाई कर उसे जीत लिया। चार वर्ष बाद उसने निज़ाम को चौथ का बक़ाया अदा करने के लिए बाध्य किया और उसकी मराठों में फूट डालनेवाली चाल को असफल कर दिया। सन् १७३१ ई० में मराठों ने गुजरात से "चौथ" और "सरदेशमुखी" वसूल की और दूसरे वर्ष मालवा को जीतकर वहाँ अपना राज्य

स्थापित किया। उसी समय बुन्देलखण्ड और बरार पर भी चढ़ाई की गई और उन पर अधिकार कर लिया गया। किन्तु बाजीराव अपनी इन विजयों से सन्तुष्ट होकर चुप बैठनेवाला आदमी नहीं था। सन् १७३७ ई० में एक बड़ी सेना लेकर वह दिल्ली की शहर पनाह के पास आ पहुँचा। बादशाह ने अपनी सहायता के लिए निज़ामुलमुल्क को बुलाया परन्तु सन् १७३८ ई० में निज़ाम को भोपाल के निकट हराकर मराठों ने आगे नहीं बढ़ने दिया और उसे सन्धि करने के लिए विवश किया। सीरोंज की सन्धि के अनुसार मराठों को मालवा-प्रान्त तथा नर्मदा और चम्बल नदियों के बीच का सारा देश मिल गया। इसके अतिरिक्त पेशवा ने बादशाह से भी पचास लाख रुपया लड़ाई का ख़र्च वसूल किया। सन् १७३९ ई० में बाजीराव ने पुर्तगालियों को हराकर उनसे बैसीन का क़िला छीन लिया। अपने जीवन के अन्तिम भाग में उसने मुग़ल-प्रान्तों को मराठा अफ़सरों में बाँट कर उनके विद्वेषों का अन्त कर दिया। इस योजना के अनुसार प्रत्येक सरदार 'अपनी हुकूमत की सीमा' के अन्दर इच्छानुसार कर वसूल कर सकता था और लूट-पाट कर सकता था पेशवा को इसमें हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं था।

उस समय के मराठा-सरदारों में गायकवाड़, शिन्दे, भोंसला और होल्कर अत्यन्त प्रभावशाली थे। आगे चलकर इन लोगों ने अपने लिए स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना की। बाजीराव ने उन्हें अलग रखने और अधिक प्रभावशाली न होने देने में अपनी महान् कुशलता का परिचय दिया। ऐसा करने से उसने महाराष्ट्र-मण्डल की एकता स्थिर रक्खी।

वास्तव में बाजीराव एक वीर सैनिक तथा महान् नेता था। उसे शासन की व्यवस्था से कोई विशेष अनुराग न था। उसके चारों ओर षड्यन्त्र हो रहे थे तथा भिन्न-भिन्न दल परस्पर लड़ रहे थे, इसलिए उसे शासन-प्रबन्ध में सुधार करने का कोई अवसर न मिला। वह विलास-प्रिय था परन्तु राजकार्य में कभी शिथिलता नहीं आने देता था। उसने निज़ाम की योजनाओं को निष्फल कर दिया और दक्षिण में उसके प्रभाव को सीमित कर दिया।

बालाजी बाजीराव (१७४०-६१ ई०)—बाजीराव की मृत्यु होने पर उसका बेटा बालाजी बाजीराव पेशवा हुआ। बालाजी बाजीराव के शासन में मराठा-शक्ति उन्नति की चरम सीमा को पहुँच गई। राघोजी भोंसले तथा भास्कर पण्डित ने उड़ीसा को रौंद डाला और बङ्गाल के सूबेदार अलीवर्दी ख़ाँ को पराजित किया। उन्होंने मुर्शिदाबाद पर चढ़ाई की, हुगली को ले लिया और सारे पश्चिमी बघेल पर अधिकार किया। अन्त में एक सन्धि हो गई जिसके अनुसार राघोजी को प्रतिवर्ष १२ लाख रुपया "चौथ" के बदले में मिलना निश्चय हुआ। बङ्गाल की सीमा निर्दिष्ट कर दी गई और मराठों ने उस सीमा के अन्तर्गत धावा न करने का वचन दिया।

सन् १७४८ ई० में शाहू की मृत्यु हो गई। बालाजीराव ने उससे एक लिखित आज्ञा प्राप्त कर ली थी, जिसके द्वारा उसे राजा के नाम से मराठा-साम्राज्य का शासन करने का अधिकार मिल गया था। अब पेशवा महाराष्ट्र का वास्तविक शासक हो गया। सन् १७४८ ई० में मुहम्मदशाह के मरने से मुग़ल-साम्राज्य की दशा खराब हो गई। भिन्न-भिन्न दलों के सरदार अपना आधिपत्य स्थापित करने की चेष्टा करने लगे। सफ़दरजङ्ग ने रुहेलों के विरुद्ध सिन्धिया और होल्कर से सहायता माँगी जिससे दोआवे में भी मराठों को चौथ वसूल करने का अवसर मिला। जब सफ़दरजङ्ग अपने पद से हटा दिया गया तो मराठों ने उसके प्रतिद्वन्द्वी की सहायता करके राजधानी में भी अपना प्रभाव स्थापित कर लिया।

सन् १७४८ ई० में निज़ाम के मरते ही कर्नाटक में युद्ध छिड़ गया। 'गद्दी' के दावादारों ने अँगरेजों और फ्रांसीसियों से सहायता माँगी। धीरे-धीरे फ्रांसीसियों का हैदराबाद में प्रभाव बढ़ने लगा और बुसी हैदराबाद में रहकर निज़ाम के राज्य की देख-रेख करने लगा। मराठे इन परिस्थितियों को ध्यान से देख रहे थे और धीरे-धीरे हैदराबाद से फ्रांसीसियों का प्रभाव हटाने का प्रयत्न कर रहे थे। सन् १७५८ ई० में बुसी वापस बुला लिया गया, जिससे बालाजीराव को अपने प्रयत्नों में सफलता प्राप्त हो गई। फिर क्या था, मराठों और निज़ाम में युद्ध आरम्भ हो गया। सन् १७५९ ई० में उदगिरि में मराठों ने निज़ाम-सेना को बुरी तरह हराया। मराठों और निज़ाम के बीच सन्धि हो गई, जिसके अनुसार मराठों को ६२ लाख वार्षिक आय की भूमि तथा असीरगढ़, दौलताबाद, बीजापुर, अहमदनगर और बुरहानपुर के क़िले प्राप्त हुए। इस प्रकार निज़ाम की शक्ति बहुत घट गई और मराठे अत्यन्त प्रभावशाली हो गये। उत्तर और पूर्व में उन्होंने अपने धावे जारी रखे और राजपूताना में भी चौथ वसूल की।

सन् १७६० ई० में मराठों की शक्ति अपनी चरम सीमा को पहुँच चुकी थी। उनका साम्राज्य चम्बल से गोदावरी तक और अरब सागर से बङ्गाल की खाड़ी तक फैला हुआ था। वे लगभग सारे हिन्दुस्तान से "चौथ" वसूल करते थे और राजपूत, जाट और रुहेल अफ़ग़ान सभी उनका लोहा मानते थे।

पानीपत की तीसरी लड़ाई (१७६१ ई०)—भारतीय विजय के बाद फ़ारस लौटने पर नादिरशाह का चरित्र बिगड़ गया। उसने भीषण कठोरता से काम लेना शुरू किया, जिससे उसकी प्रजा और उसके अफ़सर असन्तुष्ट हो गये। उसके सिपाही "कज़िलबाशों" (लाल टोपी) ने उसे मारकर उसके सेनाध्यक्ष अहमद अब्दाली को बादशाह बनाया। नये बादशाह को अफ़ग़ान अपना राष्ट्रीय वीर-पुरुष समझते थे। बहुत-से उसकी सेना में भर्ती हो गये। अफ़ग़ानिस्तान पर अधिकार जमाने के बाद उसने हिन्दुस्तान पर कई बार चढ़ाई की और दिल्ली के दरबार की निर्बलता तथा अमीरों के पारस्परिक वैमनस्य के कारण उसे किसी

प्रकार की रुकावट का सामना नहीं करना पड़ा। पंजाब के सूबेदार की पराजय के बाद भयभीत दिल्ली-सम्राट् ने पंजाब को अफ़ग़ानों के हवाले कर दिया। जीते हुए देश पर अपना सूबेदार नियुक्त कर अब्दाली अपने देश को लौट गया। उसकी अनुपस्थिति में मराठों ने पंजाब पर धावा करके, अब्दाली के सूबेदार को निकाल बाहर किया और लाहौर पर अधिकार कर लिया (१७५८ ई०)। इस समाचार को सुनकर अब्दाली बहुत क्रुद्ध हुआ और एक बड़ी सेना लेकर उन्हें दंड देने के लिये रवाना हुआ। मराठों ने भी एक बड़ी सेना एकत्र की, जिसका अध्यक्ष सदाशिवराव तथा सहायक अध्यक्ष पेशवा का बेटा विश्वासराव था। दोनों वीर अनेक मराठा सेनापतियों तथा एक अश्वारोही सेना, पैदल-सेना और इब्राहीम गर्दी द्वारा संचालित तोपखाने के साथ पूना से रवाना हुए। होल्कर, सिंधिया, गायकवाड़ तथा अन्य मराठा-सरदारों ने भी उनकी सहायता की। राजपूतों ने भी मदद भेजी और ३० हज़ार सिपाही लेकर भरतपुर का जाट-सरदार सूरजमल भी उनसे आ मिला।

पानीपत के मैदान में दोनों सेनाएँ आ डटीं। मराठा-दल में सरदारों की एक राय न होने के कारण, अब्दाली की सेना पर फ़ौरन आक्रमण न हो सका। सूरजमल ने मराठों की प्राचीन युद्ध-शैली से काम लेने की राय दी और होल्कर ने भी उसके मत का समर्थन किया; किन्तु सदाशिवराव ने इब्राहीम गर्दी के तोप-खाने की भयंकर मार उदगिर के रण-क्षेत्र में देखी थी। उस पर पूरा भरोसा था और उसने अपना इरादा बदलने से इनकार कर दिया। इसके अतिरिक्त इब्राहीम ने यह कह दिया था कि यदि उसकी बात न मानी जायगी तो वह शत्रु की ओर चला जायगा। वह खुल्लमखुल्ला युद्ध करने के पक्ष में था। पहले हमले में तो मराठों की विजय रही किन्तु विश्वासराव मारा गया। इसके बाद जो भयंकर युद्ध हुआ, उसमें सदाशिवराव मारा गया और इब्राहीम घायल हुआ। मराठों का साहस भंग हो गया। सिंधिया की टाँग में चोट लगी और वह मैदान छोड़कर भाग खड़ा हुआ। होल्कर भी भागकर भरतपुर चला गया जहाँ सूरजमल ने उसका समुचित सत्कार किया। यह समाचार पाकर पेशवा स्वयं उत्तर की ओर रवाना हुआ, और जब वह नर्मदा के पास पहुँचा, उसे एक पत्र मिला जिसमें लिखा था—

"दो मोती नष्ट हो गये, सत्ताइस सोने की मोहरें खो गईं और चाँदी तथा ताँबे की तो कोई गिनती ही नहीं हो सकती।"

पेशवा इस समाचार से बड़ा दुःखी हुआ। वह पहले ही से क्षय रोग में ग्रस्त था। उसे ऐसा धक्का लगा कि उसकी मृत्यु हो गई। पानीपत की पराजय तथा पेशवा की मृत्यु से सारा महाराष्ट्र नैराश्य के अन्धकार में डूब गया और उत्तरी भारत से मराठों का प्रभुत्व उठ गया।

अपने बाप के समान युद्ध-कला में कुशल न होने पर भी बालाजी पेशवा दूरदर्शी तथा बुद्धिमान् राजनीतिज्ञ था। उसने निज़ाम की शक्ति भङ्ग कर दी और महाराष्ट्र-मंडल को एकता के सूत्र में दृढ़ रक्खा। वह एक योग्य शासक भी था। उसने मालगुज़ारी के विभाग में सुधार किये और न्याय का अच्छा प्रवन्ध किया। राजकीय कर्मचारियों की योग्यता बढ़ाने के लिए वह बराबर प्रयत्नशील रहता था। उसने इसी काम के लिए संस्था भी खोली थी जिसमें मुन्शियों तथा अन्य अधिकारियों को उनके काम की शिक्षा दी जाती थी। उसने सेना की दशा को भी सँभाला और युद्ध की बहुत-सी सामग्री इकट्ठी की। परन्तु सिपाहियों को छावनियों में स्त्रियों को साथ रखने की आज्ञा देकर उसने बड़ी ग़लती की। इससे सेना में बड़ी शिथिलता आ गई। वह अफ़ग़ानों की शक्ति का ठीक अनुमान न कर सका। पानीपत की हार का यह एक मुख्य कारण था।

सन् १७४८ ई० के बाद साम्राज्य का अधःपतन—सन् १७४८ ई० में मुहम्मदशाह की मृत्यु के बाद उसका बेटा अहमदशाह गद्दी पर बैठा। उसे न तो समुचित शिक्षा ही मिली थी और न उसमें शासन-प्रबंध करने की योग्यता ही थी। वह अपने निकम्मे मुसाहिबों के इशारे पर काम करता और अपना सारा समय भोग-विलास में व्यतीत करता था। मालगुजारी वसूल न होने से सेना अव्यवस्थित हो गई और राज्य का आर्थिक दिवाला निकल गया। अधिकारी लोग किसानों से जितना कर चाहते थे, वसूल करते थे। ज़मींदार अपने आस-पास की ज़मीनों को हड़प लेते और सड़क पर यात्रियों को लूट लेते थे। सिपाहियों की तनख्वाह रुकी रहने से बाग़ी सूबेदारों अथवा ज़मींदारों के विरुद्ध उन्हें भेजना कठिन हो गया था। दरबार के मुँहलगे अमीर जागीरों के लिए आपस में झगड़ा करते थे और अपनी सम्पत्ति बढ़ाने के लिए अनुचित ढंग से प्रजा को पीड़ित करते थे। मालगुज़ारी का अधिकांश भाग अमीरों के हाथ में चला जाता था। बादशाह के पास बहुत थोड़ी रक़म पहुँच पाती थी। दिल्ली की सड़कों पर दंगे होते थे और बादशाह उपद्रवियों को दंड देने में असमर्थ था। ईरानी और तूरानी दलों के नेता अपना प्रभुत्व रखने के लिए बड़ा उत्पात मचा ते थे। ईरानी दल का नेता सफ़दरजंग शिया था। तूरानी दलवाले उससे द्वेष रखते थे। तूरानी दल के नेता भूतपूर्व वज़ीर का पुत्र इंतिज़ामुद्दौला और आसफ़शाह निज़ामुलमुल्क का पोता शिहाबुद्दीन इमादुलमुल्क थे। सफ़दरजंग अपनी ग़लतियों के कारण पदच्युत कर दिया गया था। बादशाह ने उसके स्थान में इन्तिज़ाम को वज़ीर तथा इमाद को मीर बख्शी नियुक्त किया था। सफ़दर-जंग ने इसका जवाब एक विचित्र ढङ्ग से दिया। उसने एक सुन्दर हिजड़े को कामबख्श का बेटा कहकर बादशाह घोषित कर दिया और आप उसका वज़ीर बन गया। बादशाह ने उससे युद्ध करने का निश्चय किया। युद्ध में सफ़दरजंग

तथा उसके जाट-मित्रों को मराठों और शाही सैनिकों ने हरा दिया। सफ़दरजंग हारकर अवध की ओर चला गया और वहाँ उसने अपने लिए एक स्वाधीन राज्य स्थापित कर लिया। एक के बाद एक सूबों के निकल जाने से दिल्ली-साम्राज्य के अन्तर्गत केवल दिल्ली के आस-पास की भूमि तथा युक्तप्रान्त के कुछ ज़िलेमात्र रह गये।

कुछ ही दिनों बाद बादशाह और इमादुलमुल्क में मनोमालिन्य हो गया। इमादुलमुल्क ने मराठों को अपनी ओर मिलाकर बादशाह को बहुत भयभीत किया और वज़ीर का पद स्वयं ग्रहण कर लिया। उसने क़ुरान लेकर बादशाह के प्रति स्वामिभक्त रहने की शपथ खाई किन्तु अपनी शपथ का कोई ख्याल नहीं किया। सन् १७५४ ई० में बादशाह गद्दी से उतार दिया गया और उसकी आँखें फोड़ डाली गईं। जहाँदारशाह का पुत्र मुहम्मद अज़ीजुद्दौला, आलमगीर द्वितीय के नाम से, गद्दी पर बिठाया गया।

इस बादशाह के समय में साम्राज्य की दशा पहले से भी अधिक खराब हो गई। अहमदशाह अब्दाली ने कई बार हिन्दुस्तान पर हमले किये और पंजाब पर अधिकार कर लिया। दिल्ली-दरबार में मराठों का प्रभाव अत्यधिक बढ़ गया और उन्होंने वज़ीर को सहायता देकर ईरानी दल को बड़ी आसानी से प्रभाव-रहित कर दिया। वज़ीर ने उसे गद्दी से उतारकर मरवा डाला और एक दूसरे मुग़ल शाहज़ादे को उसके स्थान में बादशाह बनाया। गद्दी का अधिकारी शाहज़ादा शाहआलम दिल्ली से भाग गया और उसने अवध के नवाब वज़ीर के यहाँ शरण ली।

मराठों और वज़ीर के आचरण से अहमदशाह अब्दाली बहुत रुष्ट हुआ। उसने मराठों को दंड देने का संकल्प किया और एक बड़ी सेना लेकर भारत पर चढ़ाई कर दी। सन् १७६१ ई० में, पानीपत के रणक्षेत्र में, मराठों को पराजित करके उसने उनको कितनी हानि पहुँचाई, इसका वर्णन पहले किया जा चुका है। अहमदशाह अब्दाली ने शाहआलम को बादशाह तथा शुजाउद्दौला को उसका वज़ीर बनाया। नजीमुद्दौला बादशाही सेना का प्रधान सेनापति नियुक्त किया गया। शाहआलम अधिकतर पूर्व में रहने लगा। आगे चल कर वह तथा बंगाल का नवाब और अवध का नवाब वज़ीर अँगरेज़ों द्वारा सन् १७६४ ई० में बक्सर के युद्ध में पराजित हुए। उसने सन् १७६५ ई० में अँगरेज़ों को बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा की दीवानी दे दी और उसके बदले में अँगरेज़ों ने उसे कड़ा और इलाहाबाद के ज़िले दे दिये और २६ लाख रुपया सालाना की पेंशन दी। वह अँगरेज़ों की शरण में सन् १७७१ ई० तक रहा और फिर मराठों के बुलाने पर दिल्ली चला गया। मराठों ने उसे दिल्ली का बादशाह बनाया।

शाहआलम दिल्ली तो चला गया किन्तु वहाँ वादशाह होने पर भी उसके हाथ में कुछ अधिकार न था। दिल्ली और आगरा के ज़िलों के बाहर उसकी कोई हुकूमत नहीं थी। दरबार के अमीरों का पारस्परिक विद्वेष पहले ही का-सा बना रहा। उनमें मुठभेड़ हो जाना नित्य की घटना हो गई थी। उस समय साम्राज्य के दो मुख्य सहायक अवध का नवाब वज़ीर शुजाउद्दौला तथा नजफ़ खाँ थे किन्तु पहले की सन् १७७५ में तथा दूसरे की सन् १६८२ ई० में मृत्यु हो जाने के कारण बादशाह को बड़ी विकट परिस्थिति का सामना करना पड़ा। उसने महादाजी सिंधिया से सहायता माँगी और उसने दिल्ली में आकर शान्ति स्थापित कर दी। सिन्धिया ने जागीरदारों की जागीरों के सम्बन्ध में छान-बीन करना शुरू किया। इसलिए वे उसके विनाश का उपाय सोचने लगे। उन्होंने राजपूतों तथा पठान-सरदार ग़ुलामक़ादिर से मेल करके महादाजी का प्रभाव नष्ट करना चाहा। गुलामक़ादिर ने दिल्ली पर चढ़ाई करके उसे जीत लिया और तख्त-ताऊस पर बैठकर हुक्क़ा पिया। उसने महल का सब सामान लूट लिया और शाहआलम को पदच्युत करके उसकी आँखें फोड़ डालीं (सन् १७८८ ई०)।

शाहआलम ने सहायता के लिए महादाजी सिन्धिया के पास खबर भेजी। महादाजी ने अपनी सेना का संगठन किया और बादशाह के अपमान का बदला लेने का निश्चय करके ग़ुलामक़ादिर पर चढ़ाई कर दी। उसने पठानों को पराजित करके दिली से भगा दिया और शाहआलम को पुनः सिंहासन पर बिठा दिया। शाहआलम महादाजी को अपने बेटे के समान समझता था और राज्य का सारा अधिकार उसी को दे दिया था। कुछ दिन बाद शाहआलम अँगरेज़ों से पेंशन पाने लगा। उसके बाद अकबरशाह द्वितीय (१८०६-३७ ई०) तथा बहादुरशाह (१८३७-५८) शाहंशाह की उपधि धारण कर दिल्ली की गद्दी पर बैठा परन्तु उसका अधिकार कुछ भी न था। सन् १८५७ ई० के सिपाही-विद्रोह में बहादुरशाह बाग़ियों का नेता हुआ। वह गद्दी से उतार दिया गया और क़ैद कर रंगून भेज दिया गया। इसके बाद मुग़ल-साम्राज्य का अन्त हो गया। जिस मुग़ल-साम्राज्य की कीर्ति सारे संसार में व्याप्त थी उसका ऐसा करुणाजनक अन्त हुआ।

मुग़ल-साम्राज्य के पतन के कारण—औरङ्गज़ेब का धार्मिक पक्षपात तथा विदेशियों के आक्रमण ही मुग़ल-साम्राज्य के अवःपतन के एकमात्र कारण न थे। इसके अलावा और भी कारण थे जो शाजहाँ के समय से मौजूद थे। मुग़ल-शासन स्वेच्छाचारी था। देश में शान्ति स्थापित रखना ही उसका प्रधान लक्ष्य था। जनता को विकास की ओर ले जाने वाली संस्थाएँ मुग़लों ने स्थापित नहीं कीं। वे प्रजा की दृष्टि में सदैव विदेशी बने रहे जिससे देश की उनसे

हार्दिक सहानुभूति नहीं रही। बादशाह का दरबार सभ्यता का केन्द्र था। इसलिए अमीरों और सरदारों का वहीं जमघट रहने से तरह तरह की दल-बन्दियाँ और षड्यन्त्र हुआ करते थे। देहातों में रहना लोग पसन्द नहीं करते थे। पिछले समय के बादशाहों में दरबारियों को दबाने की शक्ति नहीं थी जिससे अमीरों का पारस्परिक विद्वेष बढ़ गया और राज्य की प्रतिष्ठा कम हो गई। इसके अतिरिक्त अमीर स्वयं अयोग्य हो गये। आसफ़ खाँ, महावत खाँ, सादुल्ला खाँ तथा मीरजुमला जैसे उच्च कोटि के राजनीतिज्ञों के पोते विलासिता के वातावरण में रह कर निकम्मे हो गये। साम्राज्य को क़ायम रखने के लिए युद्ध करना अनिवार्य था परन्तु औरङ्गज़ेब की लंबी लड़ाइयों और सुयोग्य सैनिकों के अभाव के कारण मुग़ल-सेना अब अशक्त हो गई थी। सेना के सबसे अच्छे सिपाही मध्य एशिया के सैनिक समझे जाते थे किन्तु औरङ्गज़ेब के बाद मुग़ल-सेना में उनकी भरती रुक गई थी। यही सैनिक मराठों का सामना कर सकते थे। सूबेदारों के स्वतन्त्र होकर इच्छानुसार काम करने से प्रान्तीय शासन का केन्द्रीय शासन से कोई सम्बन्ध नहीं रहा। किसानों ने कर देना बन्द कर दिया और सड़कों की मरम्मत न होने के कारण व्यापार भी बन्द होने लगा। धीरे-धीरे सारे देश में अराजकता फैल गई। हिन्दुओं के धर्म तथा रहन-सहन पर आघात करने से सारी हिन्दू जनता के हृदय में विद्रोह की आग धधकने लगी जिससे मुग़लों के सच्चे सहायक राजपूतों ने भी विपत्ति के समय उनका साथ न दिया।

औरङ्गज़ेब के उत्तराधिकारियों के समय में बड़ी शीघ्रता से साम्राज्य का विनाश होने लगा। इसके कई कारण थे जिनमें बादशाहों की अकर्मण्यता, विदेशियों के आक्रमण तथा आर्थिक संकीर्णता प्रधान हैं। नादिरशाह और अहमदशाह अब्दाली के आक्रमणों से शाही ख़ज़ाना खाली हो गया और दिल्ली-साम्राज्य की धाक बिलकुल नष्ट हो गई। राज-मुकट एक प्रकार का खिलौना हो गया जिसे दर्बार के महत्त्वाकांक्षी अमीर इच्छानुसार अपने इशारों पर नाचनेवाले शाहजादों को दे देते थे। बिना आर्थिक सुप्रबन्ध के कोई राजनीतिक संगठन स्थायी नहीं हो सकता। अकबर के समय के सभी नियम ढीले पड़ गये। शासन-प्रबन्ध सुव्यवस्थित न होने से वाणिज्य-व्यवसाय तथा कारीगरी को बड़ी हानि पहुँची। राजधानी के निकटवर्ती ज़िलों में लूट-पाट और डकैतियाँ हुआ करती थीं। बादशाह उत्पातियों को दण्ड देने का कोई प्रबन्ध नहीं कर सकता था। इस तरह अठारहवीं शताब्दी के मध्य तक साम्राज्य का एकदम आर्थिक दिवाला निकल गया। बादशाह के नाम की कुछ भी प्रतिष्ठा न रही। देश में क़ानून का भय न रहा; लूट-मार होने लगी। ऐसी स्थिति में साम्राज्य का पतन अवश्यम्भावी हो गया।

संक्षिप्त सनूवार विवरण

जाजऊ की लड़ाई	१७०७ ई०
गुरुदासपुर के क़िले पर मुग़लों का अधिकार ..	१७१६ ,,
चूरामन से सन्धि	१७१८ ,,
छबीलेराम का विद्रोह	१७१९ ,,
हुसेनअली का क़त्ल	१७२० ,,
अब्दुल्ला ख़ाँ की मृत्यु	१७२२ ,,
बाजीराव (प्रथम) की मालवा पर चढ़ाई	१७२४ ,,
नादिरशाह का क़न्दहार जीतना	१७३७ ,,
नादिरशाह का भारतवर्ष पर आक्रमण	१७३९ ,,
बाजीराव (प्रथम) का पुर्तगालियों को पराजित करना..	१७३९ ,,
शाहू की मृत्यु	१७४८ ,,
मुहम्मदशाह की मृत्यु	१७४८ ,,
निज़ामुलमुल्क की मृत्यु	१७४८ ,,
अब्दाली का लाहौर को जीतना	१७५८ ,,
पानीपत की लड़ाई	१७६१ ,,

अध्याय २७

मुग़ल-कालीन सभ्यता तथा संस्कृति

मुग़ल-शासन—मुग़ल-राज्य बिलकुल फ़ौजी न था, यद्यपि उसकी प्रतिष्ठा और शक्ति बहुत कुछ सेना पर निर्भर थी। एक दो को छोड़ बाक़ी सभी मुग़ल-सम्राट् निरंकुश शासक थे; परन्तु प्रजा के हित का बराबर ध्यान रखते और अन्याय करनेवालों को कठोर दण्ड देते थे। मन्त्रियों के होने पर भी वे वस्तुतः पूर्ण स्वेच्छाचारिता से काम लेते थे। उनके अधिकार भी अपरिमित थे। उनका शब्द ही क़ानून होता था, और उनके हुक्म के औचित्य अथवा अनौचित्य का प्रश्न करने का किसी को अधिकार नहीं था। वर्तमान काल की कौंसिलों और पार्लियामेंटों की तरह उस समय प्रजा के लिए क़ानून बनाने की कोई संस्थाएँ नहीं थीं। हिन्दुओं और मुसलमानों के मुक़दमों का फ़ैसला उनके धर्म-ग्रन्थों के निर्देश के अनुसार होता था। उसमें बादशाह किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं कर सकता था। फ़ौजदारी के मुक़दमों का फ़ैसला बादशाह

के बनाये हुए क़ानूनों के अनुसार किया जाता था। आईन-अकबरी से पता लगता है कि अफ़सरों के लिए भी कुछ नियमों का विधान किया गया था। औरङ्गज़ेब के समय में क़ाज़ियों की सहायता के लिए मुसलमानी धर्म-ग्रन्थों के आधार पर फ़तवा-ए-आलमगीरी नामक क़ानून की पुस्तक तैयार की गई थी। मुग़लों का शासन-प्रबन्ध सुव्यवस्थित और सुदृढ़ था। समय के आवश्यकतानुसार उसमें संशोधन भी किया जा सकता था। मुग़लों ने भारतीय संस्थाओं और आदर्शों की अवहेलना नहीं की, वरन् जहाँ कहीं उनसे लाभ की आशा हुई वहाँ उन्होंने उनका अनुसरण किया। वाक़अनवीस तथा अन्य गुप्तचरों द्वारा केन्द्रीय सरकार को प्रान्तीय सरकारों का सारा हाल मालूम होता रहता था। पता लगते ही प्रजा पर अत्याचार करने से उन्हें रोका जाता और केन्द्रीय सरकार के पास रिपोर्टें भेजनी पड़ती थी। दूर-दूर के प्रान्तों की निगरानी का काफ़ी प्रबन्ध नहीं था। परन्तु यह निश्चित है कि अधिकारियों को बादशाह की ओर से प्रजा को कष्ट न देने की बराबर ताकीद की जाती थी। अकबर एक राष्ट्रीय शासक था। हिन्दू और मुसलमान दोनों उसका समान आदर करते थे। शाहजहाँ अपनी प्रजा की उसी प्रकार रक्षा करता था जिस प्रकार बाप अपने बच्चों की करता है। हिन्दुओं के साथ मुग़ल-शासकों का व्यवहार अपने पूर्ववर्ती सुलतानों की अपेक्षा अधिक सौजन्य-पूर्ण था। अकबर के समय में टोडरमल, मानसिंह तथा बीरबल जैसे हिन्दू भी मनसबदारी के ऊँचे से ऊँचे पद पर पहुँचकर बादशाह के अन्तरङ्ग मित्र तथा विश्वासपात्र हो गये थे। शाहजहाँ के समय में जयसिंह और जसवन्त-सिंह उसके प्रधान सेनापति थे। औरङ्गज़ेब भी पूर्णतया हिन्दुओं को अलग नहीं कर सका। देश में पूर्ण शान्ति होने से कला-कौशल की बड़ी उन्नति हुई जिससे प्रजा की आर्थिक दशा पर अच्छा प्रभाव पड़ा। शाहजहाँ के राजत्वकाल के अन्तिम भाग में शासन-प्रबन्ध कुछ ढीला होने लगा था। जागीर-प्रथा फिर से प्रचलित हो गई थी जिससे किसानों की बड़ी हानि हुई। केन्द्रीय सरकार की शक्ति को भी इससे बड़ा धक्का पहुँचा। जागीरदारों के अधिकार बढ़ जाने से देहातों के लोगों का बड़ा अहित हुआ। योरोपीय यात्रियों के विवरणों से मालूम होता है कि प्रान्तों के सूबेदार प्रजा को कष्ट देते थे और अधिक कर वसूल करते थे। सड़कें सुरक्षित नहीं थीं। यात्रियों को डाकू लूट लिया करते थे। राजनीति पर धीरे-धीरे धर्म का गहरा प्रभाव पड़ रहा था। औरङ्गज़ेब ने तो अपने पूर्ववर्ती शासकों की उदार नीति को बिलकुल ही उलट दिया था। माल-गुज़ारी के प्रबन्ध में अनेक दोष पैदा हो गये थे। अफ़सरों को रिआया से कर वसूल करने में कोड़े मारने की आज्ञा दे दी गई थी। यदि किसान खेती करने से इन्कार करता तो उसको कोड़ों की मार दी जाती थी और यदि वह जान-बूझ कर ज़मीन बञ्जर छोड़ देता तो उससे कर वसूल कर लिया जाता था। बादशाह

की इस नीति से अमीर लोग अधिक निर्भय होकर प्रजा पर अत्याचार करने लगे। सभी अधिकार उसके हाथ में होने के कारण चारों ओर अविश्वास फैल गया और साम्राज्य के नाश की तैयारी होने लगी।

मुग़ल-शासन में कुछ दोष भी थे जिनका उल्लेख करना आवश्यक है। देहात में पुलिस तथा न्याय के प्रबन्ध की ओर मुग़लों ने काफ़ी ध्यान नहीं दिया। उनकी सज़ायें कभी-कभी अत्यन्त कठोर तथा निर्दयता-पूर्ण होती थीं। जनता की शिक्षा तथा आर्थिक उन्नति का उन्होंने कोई उपाय नहीं किया। प्रत्येक बादशाह के मरने के बाद गद्दी के लिए युद्ध अवश्य होता था जिससे राज्य में बड़ी अशान्ति फैलती थी। इसे रोकने के लिए वे कोई प्रबन्ध नहीं कर सके। मध्य एशिया तथा फ़ारस के साथ वे किसी निश्चित नीति का अनुसरण नहीं करते थे। अधिक समय तक वे क़न्दहार को अपने अधिकार में न रख सके। सीमा की रक्षा का उन्होंने यथोचित प्रबन्ध नहीं किया। इसका नतीजा यह हुआ कि जब ईरानियों और अफ़ग़ानों ने हिन्दूकुश पर्वत के दर्रों में होकर हिन्दुस्तान पर आक्रमण किये तो एशिया का सबसे समृद्धिशाली साम्राज्य उनका सामना न कर सका।

वास्तु-कला—मुग़लों को इमारतें बनवाने का बड़ा शौक़ था। उनके बनवाये हुए महलों, क़िलों, मसजिदों, मक़बरों तथा अन्य इमारतों से उनकी असाधारण प्रतिभा तथा सुरुचि का पता लगता है। मुग़लों के आगमन से पहले, हिन्दुस्तान में गृह-निर्माण-कला की अनेक शैलियाँ प्रचलित थीं। तुग़लक़ सुलतानों की सुदृढ़ इमारतों और बङ्गाल, जौनपुर बीजापुर और गोलकुंडा आदि प्रान्तों की इमारतों की शैलियों में बहुत कम सादृश्य है। गुजरात की कला इन सबसे निराली है। वहाँ की इमारतों की अत्यधिक सजावट हिन्दू और जैन-कलाओं के स्पष्ट प्रभाव प्रकट करती है।

मुग़ल-वास्तुकला में हिन्दू और मुसलमानी कलाओं का सम्मिश्रण है। मुग़लों के पूर्वजों ने वास्तुकला-सम्बन्धी आदर्श फ़ारस से लिए थे परन्तु भारत में उनके वंशजों ने भारतीय आदर्शों को ग्रहण कर लिया। इसलिए इस नवीन कला को भारत-फ़ारसी कला कहना अधिक उपयुक्त होगा। इसमें भारत और फ़ारस की कला का हेल-मेल है। हिन्दूकला के पतले स्तंभ आदि सजावट के तत्त्वों का मेहराब, खिड़की के पर्दे, गुम्बज आदि—मुसलमानी कला के तत्त्वों के साथ सम्मिश्रण करने से इस नवीन कला का आविर्भाव हुआ था। फ़ारसी कला की खास चीज़ें—जिनसे मुग़लों को बड़ा प्रेम था—रंगीन खपरैल, चित्रकारी, सादगी और नक़्शे की सुन्दरता, बाग़ तथा संगमरमर का प्रयोग आदि थे। मुग़लों ने अपनी इमारतों में इन चीज़ों का भी समावेश किया था।

बाबर ने हम्माम, तहखाने तथा बावलियों के बनवाने के लिए विदेशी

कारीगरों को बुलाया था। सूर सुलतानों की बनाई दो इमारतें—सहसराम का शेरशाह का मक़बरा तथा दिल्ली का पुराना क़िला—रंगीन टाइल, सतह की सजावट तथा गुम्बजों के लिए अत्यंत प्रसिद्ध हैं। अकबर ने देशी सामग्री तथा कारीगरों की सहायता से अपनी इमारतों में सौन्दर्य तथा सुरुचि के विदेशी आदर्शों का अच्छा समावेश किया। उसने अपने भवनों में लाल पत्थर का प्रयोग कराया। लाल पत्थर पर खुदाई का काम करने में बड़ी कठिनाई होती है, फिर भी कारीगरों ने आश्चर्यजनक कौशल दिखाया। अकबर के समय की पहली इमारत हुमायूँ का मक़बरा है। उसमें संगमरमर का प्रयोग पहले पहल किया गया है और उसमें फ़ारसी कला का प्रभाव भी अधिक स्पष्ट दिखाई देता है। उसके शासनकाल की अन्य प्रसिद्ध इमारतें हैं बुलन्द दरवाजा, शेख सलीम चिश्ती का मक़बरा, जामा-मसजिद, दीवान खास, पंचमहल, और मरियम उज़्-ज़मानी का महल (जो फ़तहपुर सीकरी में मौजूद है)। इसके अलावा आगरा (१५६४ ई०) और इलाहाबाद (१५७३-८३ ई०) के क़िले भी उसी के बनवाये हुए हैं। उसने अपने लिए सन् १५९३ ई० में भव्य मक़बरे का निर्माण आरम्भ कराया था जिसे उसकी मृत्यु के बाद जहाँगीर ने पूरा करवाया। वह हिन्दू और मुसलमान दोनों से काम लेता था। आगरा और सीकरी की इमारतों में राजपूताना की हिन्दू-कला का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। खिड़कियाँ, चपटी छतें तथा मिहराबों के स्थान में खड़े दरवाज़े—यह सब हिन्दू-कला के प्रधान तत्त्व उसकी इमारतों में पाये जाते हैं।

नूरजहाँ और जहाँगीर दोनों सौन्दर्योपासक थे। परन्तु उन्होंने कोई बड़ी इमारतें नहीं बनवाईं। जहाँगीर के समय की सबसे प्रसिद्ध इमारत केवल इतमादुद्दौला का मक़बरा है जो सन् १६२८ ई० में तैयार हुआ था। यह सफ़ेद संगमरमर का बना हुआ है और इसमें ही पहली बार पच्चीकारी का काम हुआ है। शाहजहाँ के गद्दी पर बैठते ही मुग़ल-वास्तु-कला का स्वर्ण-काल आरम्भ हुआ। वह बड़ा शानदार बादशाह था और उसे इमारत बनाने का शौक़ था। उसके भवनों की शान-शौकत, उनके अनुपम सौन्दर्य और बनावट तथा पत्थरों द्वारा भावों की सुन्दर अभिव्यंजना एवं प्रभावोत्पादन के लिए रंग के प्रयोग पर अवलंबित है। उसकी सबसे प्रसिद्ध इमारतों में 'ताज', आगरे के क़िले की मोती मसजिद, और उसके बसाये हुए नगर शाहजहाँनाबाद (दिल्ली) की जामा-मसजिद तथा दीवान-खास और दीवान-आम हैं। दीवान-ख़ास की भव्यता तथा सौन्दर्य निस्सन्देह उसकी दीवार पर अङ्कित निम्नलिखित शब्दों की सत्यता को प्रमाणित करते हैं—

अगर फ़िरदौस बर रूए ज़मीं अस्त।
हमीं अस्तो हमीं अस्तो हमीं अस्त॥

अर्थात्—यदि भूमि पर कहीं आनन्द का स्वर्ग है, (तो) वह यही है, यही है, यही है।

ताज शाहजहाँ की प्यारी बेगम मुमताज़महल का स्मारक है। वह संसार की सर्वोत्कृष्ट इमारत है। साधारण दर्शक भी उसके सौन्दर्य को देखकर मुग्ध हो जाता है। उसके गुम्बज बहुत बढ़िया हैं। उसकी सजावट अनुपम है। उसके बाग़, मसजिद, फाटक सभी उसके सौन्दर्य को बढ़ाते हैं। पच्चीकारी का काम भी उसमें उच्च कोटि का है। यह जगत्प्रसिद्ध मक़बरा मुमताज़महल की मृत्यु के बाद सन् १६३१ ई० में बनना आरम्भ हुआ था और १६५३ ई० में समाप्त हुआ।

औरंगज़ेब के सिंहासनारोहण के बाद मुग़ल-कला की अवनति हो गई। इमारत बनाने का न तो उसे शौक़ था और न उसके पास इतना समय ही था कि वह इस तरफ़ ध्यान देता। उसने केवल थोड़ी सी मसजिदें बनवाईं, जिममें लाहौर की बादशाही मसजिद अधिक प्रसिद्ध है। यह मसजिद दिल्ली की मसजिद का नमूना है परन्तु सजावट में उससे बहुत घटिया है। इससे मुग़लों की रुचि के ह्रास का पता लगता है।

हिन्दुओं ने भी नवीन शैली के अनुसार बहुत-सी इमारतें बनवाईं जिनमें वृन्दावन, सोनागढ़ (बुंदेलखंड-स्थित), एलौरा के मन्दिर, अमृतसर का सिक्खों का मन्दिर अधिक प्रसिद्ध हैं।

चित्र-कला—भारतवासियों को प्राचीन काल से ही चित्रकला का ज्ञान था। अजन्ता के चित्र इस कला के सबसे प्राचीन नमूने हैं। पूर्व-मध्यकाल में चित्रकारी तो होती थी, परन्तु कुछ मुसलमान बादशाहों की धार्मिक कट्टरता के कारण उसकी समुचित उन्नति नहीं हो सकी थी। मुग़लों के आक्रमण से चित्रकला पुनर्जीवित हुई। उन्होंने एक नवीन शैली का उद्घाटन किया जो प्रारम्भ में फ़ारसी कला से अधिक प्रभावित थी परन्तु धीरे-धीरे भारतीयता के रंग में रँग गई है। शुरू में फ़ारसी कला का मुग़ल चित्रकला पर अधिक प्रभाव पड़ा था। हिरात के बेहज़ाद ने जिस प्रकार की चित्रकारी को उन्नति की पराकाष्ठा तक पहुँचाया था वह मुग़लों के हिन्दू और मुसलमान चित्रकारों के लिए आदर्श हुई।

निर्वासन के बाद जब हुमायूँ बादशाह फ़ारस से लौटा तब वह अपने साथ दो चित्रकारों—मीर सैयदअली, अबदुस्समद—को ले आया था और उसने उनसे प्रसिद्ध फ़ारसी काव्य "अमीर हमज़ा" को चित्रांकित कराया। अकबर चित्रकला का अनन्य प्रेमी था। वह उसे ईश्वर की महिमा समझने का एक साधन समझता था। फ़ारसी तथा भारतीय कलाओं का निकट सम्बन्ध स्थापित करके उसने मुग़ल-कला का आविर्भाव किया। उसके दर्बार के हिन्दू चित्रकारों में बसावन, दसवंत, साँवलदास, लाल तथा नौहन और मुसलमान चित्रकारों में मीर सैयदअली, ख्वाजा अबदुस्समद, फ़ारुख बेग और मुराद मुख्य थे। इन चित्रकारों को रज़म-

नामा (महाभारत) बाबरनामा, अकबर नामा तथा निज़ामी के काव्य को 'चित्रांकित' करने का काम सौंपा गया था। मनुष्यों की आकृति का चित्रण करना इस्लाम-धर्म के विरुद्ध है। परन्तु अकबर उदार मुसलमान था। उसके समय के चित्रों में चित्रांकित पुस्तकें तथा बादशाह और उसके दरबारियों के चित्र मुख्य हैं। इन चित्रकारों की रचनाओं की शोभा को ख़ुशख़त लिखनेवालों तथा सुनहरा रंग करनेवालों की सहायता ने और भी बढ़ाया। कपड़ों पर भी चित्र बनाये जाते थे किन्तु छोटे पर्दों पर। बादशाह को चित्रों से इतना प्रेम था कि वह प्रतिसप्ताह चित्रकारों के काम का निरीक्षण करता और उन्हें पारितोषिक देता था। चित्रकारों की कृतियाँ इतनी सुन्दर होती थीं कि कट्टर लोग भी उनकी क़द्र करने लगे थे। अबुलफ़ज़ल इस सम्बन्ध में लिखता है—

"धर्मग्रन्थ के शब्दों का अक्षरश: अनुसरण करनेवाले कट्टर लोग कला के शत्रु हैं, परन्तु अब उनकी आँखें भी सचाई को देख रही हैं।"

जहाँगीर को मुग़ल-चित्र-कला का प्राण कहना अनुचित न होगा। वह चित्रकारों की सुन्दर कृतियों को पहचानने की अद्‌भुत शक्ति रखता था और प्रकृति के सौन्दर्य को देखने के लिए कवि की-सी आँख रखता था। चित्र-कला का वह अलौकिक मर्मज्ञ था। उसका कहना था कि एक ही चित्र में अनेक चित्रकारों के काम को वह भलीभाँति पहचान सकता है। उसके समय में फ़ारसी कला का प्रभाव क़रीब-क़रीब मिट कर भारतीय कला का स्वतन्त्र रूप विकसित हो गया। उसके दरबारी चित्रकारों में अबुलहसन बहुत प्रसिद्ध था। उसे नादिरउज्ज़मान की उपाधि दी गई थी। मंसूर दूसरा प्रसिद्ध चित्रकार था। उसे अपने काल का नादिर-उल्-असर कहते थे। वह पक्षियों, पौधों तथा फलों का सुन्दर चित्रण करने में दक्ष था। विशनदास आकृति-चित्रण में कुशल था। मनोहर, गोवर्धन, दौलत, उस्ताद और मुराद भी बड़े प्रसिद्ध चित्रकार थे। इनमें से कुछ बादशाह के साथ रहते थे और जहाँ कोई अद्‌भुत वस्तु पाते उसका फ़ौरन चित्र खींच देते थे। इस प्रकार उन्हें चित्र खींचने के लिए बहुत-से विषय मिल गये। जहाँगीर के चित्रकारों ने चित्र-कला को अधिक विकसित रूप प्रदान किया। उन्होंने आँख, हाथ और होठों के चित्र खींचकर मनुष्य के चरित्र और भावों को प्रकट करने में विशेष योग्यता प्राप्त की।

शाहजहाँ को अपने पूर्वजों की तरह चित्र-कला से अधिक प्रेम न था। उसे इमारत बनाने का बड़ा शौक़ था। उसने शहरों तथा क़िलों को विशाल भवनों से सजाने में बहुत-सा रुपया खर्च किया। दरबार के बहुत-से चित्रकारों को उसने नौकरी से अलग कर दिया। उन्होंने जाकर अमीरों के यहाँ नौकरी कर ली। बर्नियर का लेख है कि चित्र-कला का पतन हो गया था और बाज़ारू चित्रकारों में योग्यता का अभाव था।

मुग़ल समय के चित्र-कला का एक नमूना

अकबर के दरबार में तानसेन
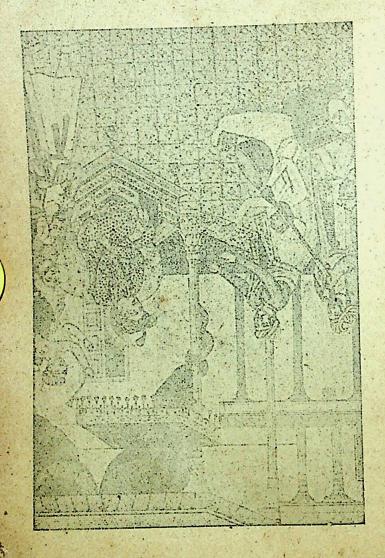
धर्म का पावन्द होने के कारण औरङ्गज़ेब ने कला को कोई प्रोत्साहन नहीं दिया। परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि उसने अपने जीवन भर इसी नीति का अनुसरण किया। इस बात का काफ़ी प्रमाण मौजूद है कि उसके शासन-काल में भी कला की उन्नति हुई थी। उसके काल के जो चित्र मिले हैं उनसे जान पडता है कि वे उसी की आज्ञा से बनाये गये थे क्योंकि उनमें वह कहीं पढ़ता हुआ, कहीं शिकार करता हुआ, कहीं किसी क़िले पर हमला करता हुआ अङ्कित किया गया है। जिस समय औरङ्गज़ेब का बेटा मुहम्मद सुलतान क़ैद में बीमार था, उसके स्वास्थ्य की दशा जानने के लिए वह, समय-समय पर, उसके चित्र बनवाकर मँगवाया करता था। औरङ्गज़ेब की मृत्यु के बाद कला का ह्रास होने लगा। मुहम्मदशाह ने स्वयं अकबर की तैयार कराई हुई 'रज़्मनामा' की चित्रांकित पुस्तक सवाई जयसिंह को दे दी। यह शाही पुस्तकालय की एक अमूल्य संपत्ति थी। मुग़ल-दरबार से प्रोत्साहन न पाने पर कलाकार लखनऊ, हैदराबाद आदि शहरों को चले गये।

मुग़ल-शैली का ह्रास होने के बाद राजपूत-कला का आविर्भाव हुआ। इस समय चित्रकार हिन्दू राजाओं अथवा हिन्दू जनता के लिए ही अधिकांश चित्र तैयार करते थे जिनमें प्रायः हिन्दुओं की पौराणिक कथाएँ और समाज और ग्राम्य जीवन के दृश्य चित्रित किये जाते थे। लेखनकला का भी मुग़लों के दरबार में बड़ा प्रचार था। अकबर के समय में इस कला में इतनी उन्नति हो गई थी कि लिखने की आठ भिन्न-भिन्न शैलियों का विकास हो चुका था। मुग़ल-कालीन पुस्तकों तथा मक़बरों में इस कला के नमूने पाये जाते हैं। सुन्दर लिखावट का इस कला में इतना आदर होता था कि एक लेखक ने तो यहाँ तक कहा कि "लेखनी सृष्टि की स्वामिनी है। जो उसे ग्रहण करता है उसके लिए अपार सम्पत्ति लाती है और अभागों को भी धन प्रदान करती है।"

संगीत-विद्या—औरङ्गज़ेब के सिवा बाक़ी सभी मुग़ल बादशाहों को संगीत-विद्या से बड़ा प्रेम था। बाबर ने स्वयं अनेक गीत गाने के लिखवाये थे। उसने बड़ी भावुकता के साथ हिरात के दरबार के गायकों के नाम तथा उनके कौशल का वर्णन किया है। हुमायूँ स्वभावतः विचारशील था। उसके चरित्र पर सूफ़ी विचारों का बड़ा प्रभाव पड़ा था। अनेक सूफ़ी सन्तों की तरह वह भी गान को ईश्वरीय प्रार्थनाओं का एक आवश्यकीय अङ्ग समझता था। अकबर ने अन्य कलाओं की तरह गान विद्या को भी पर्याप्त प्रोत्साहन दिया था। तानसेन उसके दरबार का प्रसिद्ध गायक था। जहाँगीर और शाहजहाँ दोनों गाने-बजाने के बड़े प्रेमी थे। शाहजहाँ रोज सन्ध्या-समय गाना सुनता था और प्रायः गाना सुनते-सुनते सो जाता था। औरङ्गज़ेब गान-विद्या से घृणा करता था। उसने दरबारी गायकों को बरखास्त कर दिया था। वह सङ्गीत को मनुष्य

के चरित्र बिगाड़ने का साधन समझता था इसलिए जब गायकों ने गान-विद्या का जनाज़ा निकाला तब उसने उनसे कहा कि इसे ऐसा गहरा गाड़ना कि फिर कभी सिर न उठा सके।

दरबार के अतिरिक्त धार्मिक पुरुषों में गान-विद्या का काफ़ी प्रचार था। शिया और सूफ़ियों में इसका बहुत रवाज था। कबीर-पंथियों में भजन खूब गाये जाते थे। बङ्गाल के वैष्णव 'कथा' तथा 'कीर्तन' को अपने अनुयायियों की संख्या बढ़ाने का साधन समझते थे। वल्लभ-सम्प्रदाय के वैष्णवों में अनेक असाधारण प्रतिभा के गायक थे।

दक्षिण में रामदास और तुकाराम ने गान-विद्या को धार्मिक उपदेश करने का साधन बनाया। तुकाराम के 'अभङ्ग' गाकर सुनाये जाते थे जिन्हें सुनकर जनता के हृदय में धार्मिक श्रद्धा और भक्ति के भाव जाग्रत् होते थे।

साहित्य—मुग़लों के समय में साहित्य की बड़ी उन्नति हुई। राजनीतिक ऐक्य, सामाजिक तथा धार्मिक सुधार, शासन में हिन्दुओं का सहयोग तथा बिखरी हुई अनेक जातियों को एक राष्ट्र में सङ्गठित करने का उद्योग आदि के कारण साहित्य का विकास हुआ। मुग़ल बादशाह उस तैमूर-वंश के थे जो अपनी संस्कृति तथा परिष्कृति के लिए मध्य-एशिया भर में प्रसिद्ध था। उनका चरित्र उदार था। वे समाज को सुव्यवस्थित कर राजनीतिक संस्थाएँ स्थापित करना चाहते थे। इससे मनुष्यों के आदर्श और विचार बदल गये और वे साम्राज्य की सेवा में तन-मन-धन से तत्पर हो गये। हिन्दू और मुसलमानी संस्कृतियों का पारस्परिक मेल हुआ और राज्य से हिन्दू-विद्याओं को बड़ा प्रोत्साहन मिला। दर्शन, ज्योतिष, धर्म, वैद्यक तथा अन्य विषयों के हिन्दू-ग्रन्थों का फ़ारसी में अनुवाद किया गया। मुसलमानों ने संस्कृत का अध्ययन किया और प्राचीन ग्रन्थों से पूरा लाभ उठाया। उन्होंने हिन्दी, पंजाबी, बङ्गाली आदि भाषाओं का भी ज्ञान प्राप्त किया और अपनी रचनाओं द्वारा, उनके साहित्य के बढ़ाने में सहयोग दिया। इस कोटि के लोगों में अब्दुर्रहीम ख़ानख़ाना, रसख़ान, ताज, मलिक मुहम्मद जायसी तथा मिर्ज़ा हुसेनअली का नाम सदैव अमर रहेगा। ख़ानख़ाना (रहीम) के नीति के दोहे उत्तरी भारत में अब भी लोगों में प्रचलित हैं। रसख़ान और ताज कृष्ण के भक्त थे। कृष्ण के सम्बन्ध में उनकी रचनाएँ बड़ी ही हृदयग्राही और भावुकता-पूर्ण हैं। जायसी का पद्मावत हिन्दी-साहित्य का एक अपूर्व ग्रन्थ है। मिर्ज़ाहुसेनअली ने काली की भक्ति में बङ्गाल में बड़ी श्रेष्ठ रचनाएँ कीं। बहुत-से मुसलमानों ने हिन्दू-सङ्गीत का अध्ययन किया और राग, रागिनियों की रचना की। उधर राज्य में योग्य पद पाने के इच्छुक हिन्दुओं ने फ़ारसी खूब पढ़ी। फ़ारसी के विद्वानों के साथ बराबर रहने के कारण हिन्दुओं की ज़बान में सफ़ाई आ गई, जिससे

हिन्दी भाषा भी अधिक मधुर और लालित्य-पूर्ण हो गई। हिन्दुओं और मुसलमानों ने कन्धे से कन्धा मिलाकर साम्राज्य के हित के लिए युद्ध किया, जिससे नवीन आदर्श उत्पन्न हुए और उच्च कोटि की कविता का प्रादुर्भाव हुआ। हिन्दू नायकों की वीरता की कहानियों से नई उमङ्गें पैदा हुईं और कवियों और चारणों ने उनकी कीर्ति बढ़ाने के लिए नये-नये गीत बनाये। इससे ब्रज-भाषा का विकास हुआ। बादशाह का दरबार बड़े-बड़े कवियों और विद्वानों का केन्द्र बन गया। राज्य से प्रोत्साहन पाकर वे अपनी महान् कृतियों की रचना में तल्लीन हो गये।

अकबर हिन्दी-कवियों का संरक्षक था। वह बीरबल के चुटकुलों और तानसेन के गाने से बड़ा प्रसन्न होता था। उस युग के सबसे महान् कवि रामचरितमानस के रचयिता, तुलसीदास (१५३२–१६२३ ई०) थे जिनका नाम अब भी उत्तरी भारत में बड़े आदर के साथ लिया जाता है। उनका रामचरितमानस हिन्दी-साहित्य की सर्वोत्कृष्ट रचनाओं में से है और जब तक मनुष्य में विद्या-प्रेम बाक़ी रहेगा तब तक इस ग्रन्थ की कीर्ति बनी रहेगी। उस समय के दूसरे महान् गायक कवि सूरदास थे, जिन्होंने कृष्ण-भक्ति के प्रसिद्ध ग्रन्थ सूरसागर की रचना की। तुलसीदास दार्शनिक होने के अतिरिक्त एक बड़े सदाचार-शिक्षक भी थे। उन्होंने सांसारिक मनुष्यों के सामने बड़े उत्कृष्ट आदर्श उपस्थित किये हैं। सूरदास कृष्ण के अनन्य उपासक थे और अपने आराध्य देव के प्रेम को ही आनन्द-प्राप्ति का साधन मानते थे। अकबर के बाद हिन्दी-कविता का दरबार में और भी अधिक आदर होने लगा। शाहजहाँ के दरबार के कवि सुन्दर ने ब्रज-भाषा में 'सुन्दर-शृङ्गार' की रचना की। अन्य प्रसिद्ध कवि केशव, भूषण, लाल, बिहारी तथा देव थे। केशव ने काव्य-शास्त्र पर ग्रन्थ लिखे जिनमें कविप्रिया और रसिकप्रिया अधिक प्रसिद्ध हैं। भूषण और लाल ने अपनी कविता में हिन्दुओं की जातीयता को एक बार पुनर्जीवित करके बड़ी सुन्दर वीर रस की कविताएँ लिखीं। भूषण ने शिवाजी और छत्रसाल बुन्देला के अद्भुत पराक्रम और साहस का, बड़े ओज और सम्मान के साथ, गुण-गान किया। बिहारी और देव अपनी शृङ्गाररस की कविताओं के लिए प्रसिद्ध हैं। इनके भाव अधिकांश स्पष्ट भाषा में व्यक्त किये गये हैं।

इसी समय हिन्दुओं और मुसलमानों के सम्पर्क के कारण एक नई भाषा का जन्म हुआ जिसे उर्दू कहते हैं। दक्षिण की बीजापुर और गोलकुण्डा रियासतों में उर्दू-भाषा की अधिक उन्नति हुई और इसका पहला प्रसिद्ध कवि वली (१६६८-१७४४) औरङ्गाबाद का रहनेवाला था। अली आदिलशाह (१६५६-७२ ई०) उर्दू कविता से बड़ा प्रेम करता था। नुसरती उसके दरबार का प्रसिद्ध उर्दू-कवि था। औरङ्गज़ेब की मृत्यु के बाद उर्दू-कविता की बड़ी उन्नति हुई

और ग़ालिब, शाह, नसीर, ज़ौक़, मोमिन जैसे कवियों ने उर्दू-साहित्य को सम्पन्न कर दिया।

बङ्गाल में चैतन्त-साहित्य की वड़ी उन्नति हुई और चैतन्य-भागवत, चैतन्य-मङ्गल तथा चैतन्य-चरितामृत जैसे अनेक सन्तों के जीवनचरित लिखे गये। इस काल में वङ्गाल में काशीराम दास, मुकुन्दराम चक्रवर्ती और घनाराम जैसे कवि हुए। भारतचन्द्र और रामप्रसाद के ग्रन्थ मुग़लों की विजय-श्री का अन्त होने के वाद लिखे गये। उनके अतिरिक्त अन्य हिन्दू-मुसलमान कवियों ने भी अपनी रचनाओं द्वारा मातृ-भाषा के साहित्य की वृद्धि की।

भारत में फ़ारसी साहित्य की भी पर्याप्त उन्नति हुई। शेख़ मुवारक, अबुल और अब्दुल फ़ज़ल क़ादिर वदाऊँनी ने फ़ारसी में धार्मिक ग्रन्थों के अनुवाद के अतिरिक्त क़ुरान और हदीस पर टीकाएँ लिखीं। इन विद्वानों के अतिरिक्त नज़ीरीउर्फ़ी और फ़ैज़ी आदि अनेक प्रसिद्ध कवियों ने अपनी रचनाओं द्वारा साहित्य की वृद्धि की। फ़ैज़ी मसनवी (प्रवन्ध-काव्य) लिखने में अद्‌भुत प्रतिभा दिखलाता था। उसकी रचनाओं में 'नलदमन' सवसे सुन्दर है।

मुग़लों की संरक्षकता में अनेक इतिहास लिखे गये। गुलबदन वेगम, जौहर, अवुलफ़ज़ल, निज़ामुद्दीन अहमद, वदाऊँनी, अब्वास सरवानी, फ़िरिश्ता, अवुल हमीद लाहौरी और ख्वाफ़ी ख़ाँ इस काल के प्रसिद्ध इतिहास-लेखकों में से हैं। अवुलफ़ज़ल के ग्रन्थ आईन-अकवरी और 'अकवरनामा' सदा उसके नाम को अमर रक्खेंगे। इनमें अकवर के राज्य तथा शासन का पूरा-पूरा विवरण है। इतिहास लिखनेवाले हिन्दू इतिहास-लेखकों में सुजानराय खत्री, ईश्वरदास नागर और भीमसेन अधिक प्रसिद्ध हैं। इनके ग्रन्थ उस समय की अनेक वातों पर अच्छा प्रकाश डालते हैं। वहुत-सी वातें तो ऐसी हैं जिनका ज्ञान हमें केवल इन्हीं पुस्तकों से होता है।

मुग़ल शाहज़ादों और शाहज़ादियों की साहित्य में बड़ी रुचि थी। वावर और जहाँगीर अपनी आत्मकथा लिखकर हमारे लिए अपने समय का अमूल्य इतिहास छोड़ गये हैं। गुलवदन वेग़म, नूरजहाँ, जहानारा तथा ज़ैवुन्निसा बड़ी प्रतिभाशालिनी एवं सुशिक्षित महिलाएँ थीं। गुलवदन के इतिहास और ज़ैवुन्निसा की कविताओं को लोग अव भी आदर से पढ़ते हैं।

मुग़ल-दरबार के मुंशियों ने चिट्ठियाँ लिखने में एक नई शैली का प्रचार किया। पत्र-लेखन-कला में सबसे अधिक कुशलता माधवराम ने प्राप्त की थी।

सामाजिक जीवन—मुग़ल-काल में हिन्दू-मुसलमानों में पहले से अधिक प्रेम था। वस्तुतः हिन्दुओं और मुसलमानों के पारस्परिक मेल से एक

नई सभ्यता का विकास हुआ। हिन्दुओं के धर्म, भाषा, रस्म-रवाज़ का मुसलमानों पर और मुसलमानों का हिन्दुओं पर प्रभाव पड़ा। किन्तु इससे यह न समझ लेना चाहिए कि भिन्न-भिन्न सामाजिक समुदाय मिलकर एक राष्ट्र के रूप में परिणत हो गये थे। जाति, धर्म तथा कुल की असमानता, जनता के एक होने में बाधक थी। साधारण मुसलमानों में भी जाति-पाँति का भेद हो गया। सैयद, शेख, मुग़ल तथा पठान समान नहीं समझे जाते थे। धर्म का समाज पर पूरा प्रभाव था। राज्य की नीति भी धर्म से प्रभावान्वित होती थी। यद्यपि हिन्दू अनेक वर्णों और जातियों में विभक्त थे, परन्तु राज्य के पक्षपात का वे एक होकर विरोध करते थे और इन्साफ़ का बर्ताव चाहते थे।

बादशाह और उसके दर्बारी फ़जूलखर्ची करते थे। वे बहुत-से नौकर-चाकर रखते थे और उनके हरम में स्त्रियाँ भी बहुत-सी होती थीं। शराब पीने का रवाज था। बहुत-से अमीर तो शराबखोरी के कारण मर गये थे। हिन्दुओं का जीवन पुराने ढर्रे का था। बाल-विवाह, वैधव्य और सती आदि रवाज़ अभी तक हिन्दू-सामाज में प्रचलित थे। मुग़लों ने इन बुराइयों को दूर करने का प्रयत्न किया था। परन्तु उन्हें अधिक सफलता नहीं प्राप्त हुई। हिन्दुओं का जीवन सादा था। वे दिखावट की बातों को अधिक पसन्द नहीं करते थे। परन्तु उनकी स्त्रियाँ ज़ेवर इत्यादि पहनती थीं। ब्राह्मण विद्या पढ़ने में दत्तचित्त थे, और समाज की उन्नति का प्रयत्न करते थे। अन्य जातियों की तरह उनकी भी अवनति हो रही थी परन्तु उनमें अब भी ऐसे पण्डित और सच्चरित्र लोग थे जिनका, जनता में, बड़ा सम्मान था। राजपूत अब भी वीरता के लिए प्रसिद्ध थे। रणक्षेत्र से भाग जाने की अपेक्षा वे शत्रुओं के साथ लड़कर मरने को अधिक श्रेयस्कर समझते थे।

त्यौहार बड़ी धूम-धाम से मानये जाते थे। अकबर हिन्दू त्यौहारों को भी मानता था। जहाँगीर ने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि वह रक्षाबन्धन को एक महान् धार्मिक कृत्य समझता था और वह हिन्दू सरदारों और पंचों से अपने हाथ में राखी बँधवाता था। शाहजहाँ भी अपने दरबार में इन त्यौहारों को मानता और हिन्दू प्रजा की खुशी में खुशी मनाता था। इन त्यौहारों से जाति पाँति का भेद कम हो गया और हिन्दुओं में एकता का भाव उत्पन्न हुआ। मुसलमानों के ईद, बक़रीद तथा मुहर्रम आदि त्यौहार बड़ी शान-शौक़त से मनाये जाते थे। हिन्दू भी उनके त्यौहारों में भाग लेते थे, जिससे पारस्परिक स्नेह और सौहार्द बढ़ता था। उच्च श्रेणी के हिन्दुओं और मुसलमान अमीरों की चाल-ढाल, व्यवहार और रहन-सहन में बहुत कुछ सादृश्य था। उनके दुर्गुण और कमज़ोरियाँ भी प्रायः एक ही सी थीं।

बर्नियर के लेखों से पता चलता है कि उस समय के भारतवासी स्वस्थ

और बलवान् थे। आजकल की तरह अस्पताल न होने पर भी, राज्य की ओर से, औषधियों के वितरण का पूरा प्रवन्ध था। पैट्रोडेलावैली लिखता है कि खंभात में एक जानवरों का अस्पताल था। दुर्भिक्ष और महामारी के कारण प्रजा को घोर कष्ट होता था। पीटर मण्डी ने लिखा है कि दक्षिण में दुर्भिक्ष (१६३०-३१) के समय औरतें अपने बच्चों को सेर दो सेर अनाज के लिए वेच डालती थीं। और आदमी घर से डर के मारे नहीं निकलते थे कि कोई उन्हें पकड़कर खा न जाय। जन-साधारण का जीवन ऊँची श्रेणी के लोगों से कई बातों में अच्छा था। वे अधिक चरित्रवान् थे और उनका गार्हस्थ्य जीवन श्लाघ्य था। रामायण तथा वैष्णव सन्तों के उपदेशों का उनके जीवन पर बड़ा प्रभाव पड़ा था जिसके कारण दीन मनुष्यों का जीवन भी सुखमय हो रहा था।

यद्यपि मुग़लों के समय में राज्य की ओर से जनता को शिक्षा देने का कोई प्रबन्ध न था, फिर भी वे अज्ञानता को दूर करने का प्रयत्न करते थे। अकबर अध्यापकों और विद्यार्थियों को वज़ीफ़े और ज़मीन देता था। उसके उत्तराधिकारियों ने भी उसके इस आदर्श का अनुकरण किया। शिक्षा मक़तबों और पाठशालाओं में होती थी। ब्राह्मण और मौलवी लड़कों को विना कुछ फ़ीस लिये पढ़ाते थे। जनता को धर्म की शिक्षा देने के लिए कथा और उत्सवों का प्रबन्ध किया जाता था।

धार्मिक स्थिति—फ़ारसी संस्कृति के तो मुग़ल अवश्य भक्त थे परन्तु फ़ारस की धार्मिक कट्टरता को वे पसन्द नहीं करते थे। प्रजा पर धार्मिक अत्याचार करने को वे बुरा समझते थे। इसके अतिरिक्त पिछले सुल्तानों का उदाहरण उनके सामने था, जिससे प्रजा के साथ अच्छा बर्ताव करने की शिक्षा मिलती थी। हिन्दू साधुओं और सूफ़ी फ़क़ीरों ने दोनों धर्मों को मिलाने का प्रयत्न किया था। सूफ़ी ईश्वर को सुन्दर और प्रेम करनेवाला मानकर मनुष्य को अनन्तकाल तक उसकी भक्ति में तल्लीन होने का उपदेश करते थे। वे कहते थे कि ईश्वर से भिन्न होने पर भी प्रेम के रूप में उसका प्रकाश मनुष्य में विद्यमान रहता है और वास्तव में मनुष्य उसी की छाया है। मनुष्य के जीवन का लक्ष्य ईश्वर से प्रेम करना और अन्त में विलीन हो जाना है। वे प्रेम और सच्ची आराधना पर ज़ोर देते थे और आध्यात्मिक उन्नति के लिए विशेष साधन बताते थे। सूफ़ी कई प्रकार के थे। कुछ तो अपने सिद्धान्तों के साथ-साथ मुसलमानी आचार-विचार का भी पालन करते थे किन्तु कुछ ऐसे थे जो उसे व्यर्थ समझते थे और केवल प्रेम को ही ईश्वरीय बोध का एकमात्र साधन समझते थे।

सूफ़ी सन्तों ने जो सम्प्रदाय बनाये, उनसे हिन्दुओं और मुसलमानों में मेल पैदा हुआ। इनमें चिश्तिया, शुहरवर्दिया, शत्तरी, क़ादिरी और नक़शबन्दी

अधिक प्रसिद्ध हैं। चिशतिया सम्प्रदाय का संस्थापक अजमेर का प्रसिद्ध ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती था। उसके अनुयायियों की संख्या बहुत थी। देश में अत्यन्त प्रसिद्ध और सम्मानित फ़क़ीरों में शेख सलीम चिश्ती, मियाँ मीर और सरमद के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। राज-वंश के कितने ही पुरुष और स्त्रियां भी इनको अपना गुरु मानते थे।

हिन्दुओं में तीन प्रकार के महात्मा थे। इनकी तीन श्रेणियाँ थी। ज्ञानाश्रयी श्रेणी में कबीर आदि सन्तों का नाम हैं। ये आराधना के साथ ज्ञान को भी ईश्वर-प्राप्ति का मुख्य साधन बतलाते थे। दूसरी श्रेणी के सन्त कृष्ण-भक्त कहलाते थे। चैतन्य, सूरदास आदि कृष्ण-भक्त थे जो साकार ईश्वर के प्रति प्रेम और उपासना को ही मुक्ति का प्रधान साधन बतलाते थे। तीसरी श्रेणी के सन्त राम की उपासना करनेवाले वैष्णव थे, जिनमें तुलसीदास का नाम अधिक प्रसिद्ध है। ये ईश्वर को पिता, राजा आदि के रूप में देखते और उसे प्रेम तथा न्याय का आदर्श मानते थे।

ये सभी हिन्दू सन्त और सूफ़ी फ़क़ीर एक ईश्वर को मानते थे और भिन्न-भिन्न धर्मों को उसके पास पहुँचने के मार्ग समझते थे। वे गुरु की महिमा पर ज़ोर देते थे और ध्यान, प्रार्थना तथा आत्म-शुद्धि को मोक्ष-प्राप्ति का साधन बताते थे। वे अपना उपदेश सबको सुनाते थे परन्तु किसी से अपना धर्म छोड़ने को नहीं कहते थे। वे सादा, शान्त और स्वच्छ जीवन का आदर्श सामने रखते थे और सबको समान समझते थे। उनका कहना था कि धर्म से शान्ति मिलनी चाहिए और चरित्र का उन्नति होनी चाहिए। स्वार्थ, बेईमानी, अज्ञान तथा असहिष्णुता धर्म के घोर शत्रु हैं। इसलिए यदि मनुष्य सत्य को जानना चाहता है तो अवश्य इनका परित्याग कर दे। सूफ़ियों के इस प्रकार के उपदेश से अनेक धर्मों के अनुयायियों में परस्पर धार्मिक सहनशीलता, समानता और सौहार्द की भावनाओं का प्रादुर्भाव हुआ।

इस प्रकार के उपदेशों के साथ मुग़लों की नीति का पूरा सहयोग होने से सन्तों के उद्देश्य की पूर्ति हुई। मुग़लों की—अन्तर्जातीय विवाह तथा धार्मिक सहनशीलता की—नीति से इस्लाम की सख्ती कम हुई और जब अकबर ने हिन्दू-विचारों और अनेक रवाजों को अपनाना आरम्भ किया तो जनता ने उसे एक नवीन युग का अवतार समझा। जहाँगीर ने उसी की उदार नीति को जारी रक्खा। दारा हिन्दू-दर्शन और धर्म का बड़ा प्रेमी था और वह हिन्दू-मुसलमान-ऐक्य को बढ़ाना चाहता था। हिन्दुओं के बहुत-से रवाज मुसलमानों ने ग्रहण कर लिए और दोनों ने एक दूसरे की रहन-सहन को अपना लिया।

आर्थिक स्थिति—सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दियों में हिन्दुस्तान आज-कल की तरह एक गाँवों का देश था और अधिकांश लोग खेती करते थे।

प्रत्येक गाँव स्वावलम्बी होता था। ग्रामवासियों का जीवन सादा होने से उनकी जरूरतें कम थीं और वे अपनी जरूरत की लगभग सभी चीजें स्वयं पैदा कर लेते थे। खेती के औज़ार पुराने ढङ्ग के थे और खेती करने का ढङ्ग भी पुराना ही था। नमक, शक्कर, अफ़ीम, नील और शराब का भी व्यापार होता था। तम्बाकू की खेती बाद में प्रचलित हुई और जहाँगीर के समय तक इसके पीने का बहुत प्रचार हो गया। अफ़ीम की खेती मालवा और विहार में और नील की खेती वियाना तथा अन्य जगहों में होती थी। मजदूरों की मजदूरी रवाज के अनुसार निश्चित होती थी। कारखानों के व्यवस्थापक मज़दूरों और कारीगरों के परिश्रम से खूब लाभ उठाते थे। दस्तकारी की चीज़ों में काठ के सामान—सन्दूक, तिपाई,—चमड़े की चीजें, कागज़ तथा मिट्टी के वर्तन अधिक बनते थे। खपत कम होने से रेशमी कपडों का व्यवसाय बहुत कम था। क़ालीनों का रोज़गार बड़ी उन्नति पर था और भारतीय कारीगर फ़ारस-के से सुन्दर क़ालीन बनाते थे।

शहरों में व्यवसाय, ख़ासकर सूती कपड़ों का, बहुत बढ़ा-चढ़ा था। बनारस, मालवा और अन्य स्थानों में तरह-तरह के सूती कपड़े तैयार किये जाते थे। ढाका की मलमल प्रसिद्ध थी; जो और देशों में भी भेजी जाती थी। दरबार के संरक्षण से कारीगरों को बड़ा प्रोत्साहन मिलता था और कारीगर, महाजन, जौहरी तथा व्यापारी लोग देश के कोने-कोने से नगरों में आकर लाभ उठाते थे। धन-जन के बढ़ जाने से शहर सभ्यता के केन्द्र बन गये। वहीं पर कवि, कारीगर, गायक तथा साहित्य-सेवी आकर रहते थे और अमीरों से पुरस्कार पाते थे।

अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने के अलावा अफ़्रीका के पूर्वी समुद्र-तट के देशों, अरब, मिस्र तथा ब्रह्मा में भारतीय सूती कपड़े अधिकता से जाया करते थे। यहाँ के बन्दरगाहों में विदेशी व्यापारी आते और माल खरीदकर ले जाते थे। उस समय खम्भात, सूरत, भड़ोंच तथा बङ्गाल और मलावार के समुद्रतट के बन्दरगाह अधिक प्रसिद्ध थे। देश से बाहर जानेवाली चीजें सूती कपड़े, मसाले, नील, अफ़ीम आदि थीं और विदेश से यहाँ आनेवाली चीज़ों में घोड़, कच्चा रेशम, धातुएँ, हाथीदाँत, मूँगे, क़ीमती पत्थर, इत्र, चीनी की वस्तुएँ, अफ़्रीका के दास तथा यूरोपीय मदिरा मुख्य थीं। हिन्दुस्तानी सौदागरों में व्यावसायिक योग्यता की कमी न थी। सन् १६१९—७० ई० के बीच सूरत में वीरजी वोरा नामक सौदागर वहाँ के सम्पूर्ण व्यापार का मालिक था और वह संसार भर में सबसे अधिक धनाढ्य समझा जाता था। परन्तु प्रान्तीय सूबेदारों के अत्याचारों से कभी-कभी सौदागरों को बड़ी अड़चनों का सामना करना पड़ता था।

मुग़लों की आर्थिक व्यवस्था में अनेक त्रुटियाँ थीं। चीज़ों के बनानेवालों तथा उनका प्रयोग करनेवालों में कोई सम्बन्ध न था। कारीगर एक साधारण दीन मनुष्य होता था, किन्तु उसकी चीज़ें ख़रीदनेवाले प्राय: धनी-मानी राज-कर्मचारी होते थे। उन दिनों न तो बैंक थे और न उधार देने लेने का कोई साधन था। अफ़सरों की मृत्यु के बाद उनकी सम्पत्ति राज्य में चली जाती थी इसलिए वे फ़ज़ूल-खर्ची करते थे। और रुपया नहीं बचाते थे। दुर्भिक्ष के समय जनता के कष्ट की सीमा नहीं रहती थी, उनके लिए पेट भरना भी दुर्लभ हो जाता था।

मुग़ल-काल में आने-जाने की काफ़ी सुविधा न थी। देश के एक भाग से दूसरे भाग में माल का ले जाना कठिन था। रेल और पक्की सड़कें नहीं थीं। माल ढोने के लिए बैलगाडियाँ और जानवर ही काम में लाये जाते थे। कुछ नदियों से नावों द्वारा माल इधर-उधर पहुँचाया जाता था। वस्तुत: नदियाँ ही उन दिनों प्रधान वाणिज्य-पथ का काम करती थीं। देश के विभिन्न भागों का एक दूसरे के सम्पर्क में आना अथवा पैदावार में सहयोग करना असम्भव था। इसका परिणाम यह हुआ कि देश में एकता नहीं स्थापित होती थी और अलग होने की भावना बराबर रहती थी।

विदेशियों का विवरण—मुग़ल बादशाहों के समय में यूरोप के अनेक लोगों ने भारत की यात्रा की। उन्होंने बादशाह के दरबार, समाज तथा यहाँ के निवासियों के सम्बन्ध में बहुत-सी बातें लिखी हैं। सबसे पहले अकबर के दरबार में जेसुइट पादरी आये थे। वे इबादतखाने के वाद-विवाद में भाग लेते थे और बादशाह को ईसाई बनाने की आशा रखते थे। अकबर ने उनके साथ बड़ी सज्जनता का व्यवहार किया और आगरे में एक गिर्जा बनाने की आज्ञा दे दी। जहाँगीर के समय में कप्तान हाकिन्स (Captain Hawkins) तथा सर टामस रो (Sir Thomas Roe) हिन्दुस्तान में कोठियाँ स्थापित करने की आज्ञा लेने इँगलेंड के बादशाह के राजदूत होकर, आये थे। टामस रो ने अपनी डायरी में दरबारी जीवन तथा देश के शासन-प्रबन्ध का हाल लिखा है। जन-साधारण के जीवन के सम्बन्ध में हमें डच लेखक पेलसारेट (Pelsaret) के लेखों से बहुत सी महत्त्वपूर्ण बातें मालूम होती हैं। पेलसारेट जहाँगीर के समय में भारत आया था। देश की सम्पत्ति तथा सूबेदारों और मालगुज़ारी वसूल करनेवालों के अत्याचारों का उसने सविस्तर वर्णन किया है। कारीगरों को बहुत कम मजदूरी दी जाती थी और वे बड़ी दरिद्रता का जीवन व्यतीत करते थे। उनके घर मिट्टी तथा फूँस के बने हुए होते थे। उनके पास पानी रखने तथा खाना पकाने के मिट्टी के बर्तनों के अतिरिक्त और कोई सामान नहीं था। मामूली दूकानदारों की आर्थिक दशा किसानों और कारीगरों से अच्छी थी। परन्तु राज्य के अफ़सर

उनके साथ बुरा बर्त्ताव करते थे और अधिक सस्ते दाम पर चीजें खरीदते थे। जहाँगीर ने गायों तथा बैलों का वध करना बन्द करा दिया था। यदि कोई इस आज्ञा का उल्लघन करता तो उसे प्राण-दण्ड दिया जाता था। पेलसारेट लिखता है कि बादशाह ने यह आज्ञा हिन्दुओं और बनियों को प्रसन्न करने के लिए निकाली थी; क्योंकि वे गाय को अत्यन्त पवित्र और देवता के समान मानते थे।

फ्रांसीसी यात्री टैवर्नियर और बर्नियर के वर्णन इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। ये दोनों यात्री भारतवर्ष में १७वीं शताब्दी में आये थे। टैवर्नियर एक जौहरी था। उसने बादशाह के धन, ताजमहल तथा अमूल्य जवाहिरात का वर्णन किया है। बर्नियर भारत में १२ वर्ष तक रहा। वह अमीर-ग़रीब सबके जीवन से भली भाँति परिचित था। उसने लिखा है कि खेती की दशा अवनत थी। कारीगर कङ्गाल थे और प्रान्तीय सूबेदार प्रजा को बहुत सताते थे। सेना बड़ी थी और उसके रखने में बहुत रुपया खर्च होता था। प्रजा को कष्ट देनेवालों को दण्ड देने के लिए न्यायाधीशों को पर्याप्त अधिकार नहीं दिये गये थे। बङ्गाल का सूबा अत्यन्त समृद्ध तथा उपजाऊ था। चीज़ों के दाम सस्ते थे और हर प्रकार का सामान प्रचुरता से मिलता था। रुई और रेशम बहुत पैदा होते और योरप तथा एशिया के देशों में भेजे जाते थे।

मनूची नाम का इटली-निवासी यात्री बहुत दिनों तक भारत में रहा था। यूरोपीय यात्रियों में उसका वर्णन सबसे अधिक मनोरञ्जक है। उसने सच्ची बातों के साथ गप्पें भी खूब लिखी हैं। उसने भी बादशाह तथा उसके अमीरों की दौलत का खूब वर्णन किया है और लिखा है कि किसान तथा कारीगर निर्धन और दुखी थे। परन्तु मनूची के लेख का अधिकांश भाग अविश्वसनीय है।

अध्याय २८

यूरोप-निवासियों का भारत में आगमन

पश्चिम के देशों के साथ भारत का सम्बन्ध प्राचीन काल से था। परन्तु सिकन्दर महान् के आक्रमण के बाद यूरोप के लोगों का अधिक संख्या में आना बन्द हो गया। सन् १४९२ ई० में, जब कोलम्बस ने अमरीका को खोज निकाला, तब पुर्तगालवालों को भी नये देश ढूँढ़ने की इच्छा हुई। ६ वर्ष के बाद वास्को-ड-गामा नामक यात्री गुडहोप अन्तरीप के चारों तरफ़ दो चक्कर लगाकर १४९८ ई० में कालीकट पहुँचा। उसने कालीकट के राजा के साथ

व्यापार के सम्बन्ध में वातचीत की। उस समय भारत का सारा व्यापार अरब-निवासियों के हाथ में था। पुर्तगाली उन्हें हराकर समुद्र-तट पर बस गये। सन् १५०५ ई० में अलमिडा उनका गवर्नर हुआ। उसने पुर्तगाली बस्तियों की रक्षा के लिए क़िले वनवाये। उसके बाद सन् १५०९ ई० में एलवुक़र्क़ गवर्नर नियुक्त किया गया। उसने १५१० ई० में गोआ पर अधिकार कर लिया और उसे भारत की पुर्तगाली बस्तियों की राजधानी वना दिया।

एलवुक़र्क़ (१५०९-१५ ई०)—एलवुक़र्क़ (Albuquerque) एक योग्य तथा उत्साही शासक था। सन् १५११ ई० में उसने मलक्का को जीत लिया। लङ्का, सकोत्रा और उरमुज नामक द्वीपों में उसने बस्तियाँ स्थापित कीं। पूर्व के देशों में पुर्तगाली साम्राज्य को बढ़ाने का विचार पहले-पहल उसी ने किया था। उसकी नीति थी कि साम्राज्य का विस्तार करके उसकी रक्षा के लिए एक वड़ा जहाज़ी वेड़ा रक्खा जाय। उसने शत्रुओं से युद्ध तथा रक्षा करने की दृष्टि से जगह जगह पर क़िले वनवाये। उसका विचार था कि हमारे देश के लोग भारत को अपना उपनिवेश वना लें। इसी खयाल से उसने पुर्तगालियों तथा भारतीयों—विशेषत: मुसलमानों—में विवाह कराना प्रारम्भ किया। किन्तु वह एक कट्टर ईसाई था। मुसलमानों को वह वड़ी घृणा की दृष्टि से देखता था और उन्हें ईसाई धर्म स्वीकार करने के लिए बाध्य करता था। उसमें धार्मिक सहिष्णुता का भाव नहीं था। उसका शासन-प्रवन्ध वहुत अच्छा और सङ्गठित था। शासन-प्रवन्ध करने के लिए उसने हिन्दुओं को नौकर रक्खा। उसने सती-प्रथा को वन्द करने की चेष्टा की और भारवासियों की शिक्षा के लिए स्कूल खुलवाये। उसकी मृत्यु के पश्चात जो गवर्नर नियुक्त किये गये वे अयोग्य तथा आचरण-भ्रष्ट थे। वे सव एलवुक़र्क़ के स्थापित किये हुए राज्य को क़ायम न रख सके। सन १५८० ई० में स्पेन के राजा ने पुर्तगाल को अपने राज्य में मिला लिया। फलत: पूर्व में पुर्तगालवालों की प्रभुता का अन्त हो गया। गोआ, डामन और ड्यू के अतिरिक्त और कोई प्रदेश उनके अधिकार में नहीं रहा।

पुर्तगालियों की विफलता के कारण—पुर्तगालियों की विफलता का मुख्य कारण यह था कि उन्होंने सरकारी कर्मचारियों को व्यापार करने की अनुमति दे दी थी। वे कर्मचारी केवल अपने लाभ और सुख की पर्वाह करते थे। वे मुसलमानों से शत्रुता रखते और हिन्दू-मुसलमानों में झगड़ा कराते थे। उनकी धार्मिक असहिष्णुता और वलात् ईसाई वनाने की नीति के कारण लोग उनकी नियत पर सन्देह करने लगे और उनके शत्रु वन गये। इसके सिवा, पुर्तगाल-वालों की आदत जहाज़ों को लूट लेने की थी। इससे इनके व्यापार को भी काफ़ी धक्का पहुँचता था। उनकी असफलता का अन्तिम कारण यह था कि

प्रोटेस्टेंट राज्यों ने शत्रुता के कारण उनके उन्नत मार्ग में रोड़े अटकाये। जब हालेंड इँगलेंड प्रतिद्वन्द्विता के क्षेत्र में उतरे तब पुर्तगालवालों के लिए यह असम्भव हो गया कि वे उनके आक्रमणों का सफलतापूर्वक सामना करें।

हालेण्ड-निवासी डच लोगों का आना—भारत के लाभजनक व्यापार ने अन्य यूरोपीय राष्ट्रों को भी अपनी ओर आकर्षित किया। हालेण्ड-निवासी डच लोग बड़े कुशल थे। जहाजों में बैठकर समुद्र की यात्रा करने में वे खूब अभ्यस्त थे। उन्होंने सन् १६०१ ई० में पूर्व के देशों के साथ व्यापार करने के लिए एक कम्पनी स्थापित की और १७वीं शताब्दी में भारतीय समुद्र-तट पर अपने पैर जमाये। व्यापारिक लाभ के लिए डच लोगों ने अँगरेज़ों के साथ घोर प्रतिद्वन्द्विता की और देशी नरेशों के साथ मैत्री-सम्बन्ध स्थापित किया। अँगरेज़ी और डच कम्पनियों के बीच समझौते के प्रयत्न किये गये किन्तु वे सफल न हो सके। जुलाई सन् १६१९ ई० तक दोनों राष्ट्र आपस में लड़ते रहे। बाद को इँगलेंड के राजा के बीच में पड़ने से दोनों में सन्धि हो गई। पूर्व के डच लोगों को यह सन्धि मन्जूर नहीं थी, इसलिए उन्होंने खुल्लमखुल्ला उसका विरोध किया। उन लोगों ने लैण्टोर तथा पूलोरन से अँगरेज़ों को सन् १६२१-२२ ई० में निकाल दिया। एक वर्ष के बाद, सन् १६२३ ई० में, अम्बौयना (Amboyna) में एक बड़ा हत्याकाण्ड हुआ। इस भीषण क़त्ल के कारण अँगरेज़ जनता बड़ी विक्षुब्ध हुई। किन्तु १६५४ ई० के पहले डच लोगों के विरुद्ध कोई कार्रवाई नहीं की गई। उस वर्ष क्रामवेल (Cromwell) ने एक ऐसा समझौता किया जिसके अनुसार ८५००० पौण्ड अँगरेज़ी कम्पनी को दण्ड-रूप में देने के लिए डच लोग बाध्य किये गये। इसके अतिरिक्त उन्हें अम्बौयना के मृत और घायल व्यक्तियों के लिए एक और भारी रक़म देने को विवश किया गया। यह सन्धि अधिक समय तक न रही। डच लोगों को इँगलेंड और फ़्रान्स के विरुद्ध भारत और यूरोप में युद्ध करना पड़ा। इन युद्धों का परिणाम उनके लिए बहुत हानिकर हुआ। मलाया द्वीप-समूह में तो डच लोगों की स्थिति दृढ़ बनी रही किन्तु भारत में उनके सब अधिकार छिन गये। यहाँ के अधिकांश कारखानों को भी उन्हें छोड़ देना पड़ा।

डच लोगों की असफलता के तीन कारण थे। उनकी कम्पनी का राज्य से बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध था, अतः कम्पनी के हिताहित का प्रश्न यूरोप की राजनीतिक परिस्थितियों के अधीन था। दूसरे, मसाले के व्यापार के होनेवाले लाभ से वे इतने अधिक आकर्षित हो गये कि राज्य स्थापित करने की ओर उन्होंने कभी ध्यान न दिया। तीसरे, भारत में उनके भाग्य का निपटारा यूरोपीय

युद्धों पर निर्भर था। इँगलेंड और फ्रान्स के साथ युद्ध करने के कारण डच लोग साधनहीन हो गये और पूर्व में उनकी स्थिति बिलकुल खराब हो गई।

अँगरेज़ी ईस्ट इण्डिया कम्पनी—सन् १५८८ ई० में इँगलेंड ने स्पेन के अरमडा नामक जहाज़ी बेड़े पर विजय प्राप्त की। इस विजय से उनके वाणिज्य-व्यापार को बड़ा प्रोत्साहन मिला। पूर्वी द्वीप-समूह से व्यापार करने के लिए १६०० ई० में लंडन के कुछ सौदागरों ने मिलकर एक कम्पनी स्थापित की। रानी एलिज़बेथ (Elizabeth) से उन्होंने एक आज्ञा-पत्र भी प्राप्त कर लिया। सन् १६०८ ई० मे कप्तान हाँकिन्स जहाँगीर के दरबार में पहुँचा और सूरत में एक फ़ैक्टरी खोलने के लिए उसने एक फ़रमान प्राप्त किया। किन्तु बाद को पुर्तगालियों के कहने से वह फ़रमान रद कर दिया गया। सन् १६१५ ई० में सर टामस रो (Sir Thomas Roe) नामक एक अँगरेज़, इँगलेंड के राजा जेम्स प्रथम का राजदूत बनकर, जहाँगीर के दरबार में हाज़िर हुआ। उसने अपनी बुद्धिमानी और राजनीतिक पटुता से फ़ैक्टरियाँ बनवाने की आज्ञा प्राप्त कर ली। सूरत अँगरेज़ी व्यापार का केन्द्र बन गया। सन् १६३३ ई० में मछलीपट्टन में एक फ़ैक्टरी बन गई। सन् १६४० ई० में मद्रास की नींव डाली गई तथा फ़ोर्ट विलियम बनवाया गया। उस समय इँगलेंड में राजा और पार्लियामेंट के बीच लड़ाई होने के कारण कम्पनी को बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। किन्तु जब चार्ल्स द्वितीय गद्दी पर बैठा तब उसकी दशा सुधर गई। चार्ल्स द्वितीय ने कम्पनी को एक नया आज्ञा-पत्र प्रदान किया। इसके द्वारा कम्पनी को मुद्रा ढालने, क़िले बनवाने, ग़ैर-ईसाई राज्यों से युद्ध एवं सन्धि करने तथा पूर्व में रहनेवाले अँगरेज़ों के झगड़े तय करने का अधिकार मिला। सन् १६८८ ई० में कम्पनी को चार्ल्स द्वितीय से बम्बई का नगर प्राप्त हुआ। सन् १६६१ ई० में पुर्तगाल की राजकुमारी के साथ विवाह करने के अवसर पर यह नगर दहेज़ के रूप में उसे मिला था। पूर्वी समुद्र-तट पर भी अँगरेज़ों ने अनेक फ़ैक्टरियाँ बनवाईं। सन् १६५१ ई० में हुगली में एक फ़ैक्टरी स्थापित की गई और जहाँ पर आज-कल कलकत्ता बसा हुआ है, उस स्थान पर १६८६ ई० में जाब चारनाक (Job Charnock) ने एक बस्ती स्थापित करने की चेष्टा की। किन्तु बङ्गाल के मुग़ल-शासक शायस्ता खाँ ने उसे निकाल बाहर कर दिया। अभी तक कम्पनी नें अपना ध्यान केवल व्यापार की ओर लगाया था। किन्तु अब उसकी नीति में एक परिवर्तन हो गया। सन् १६८६ ई० में जोशिया चाइल्ड (Josia Child) सूरत की फ़ैक्टरी का गवर्नर नियुक्त किया गया। उस समय मुग़ल-साम्राज्य की अवनति हो रही थी, इसलिए कम्पनी अपनी राजनीतिक प्रभुता स्थापित करने के लिए मुग़लों और मराठों के अत्याचार को रोकने के उपाय सोचने लगी। इस प्रकार कम्पनी तथा मुग़ल-

साम्राज्य के बीच झगड़ा पैदा हो गया। विदेशी व्यापारियों की धृष्टता पर औरङ्गज़ेब को बड़ा क्रोध आया। उसने उनके विरुद्ध लड़ाई छेड़ दी और पटना, क़ासिमबाज़ार, मछलीपट्टम तथा विज़गापट्टम की फ़ैक्टरियों को छीन लिया। पश्चिमी समुद्र-तट पर भी युद्ध प्रारम्भ हो गया। सूरत की फ़ैक्टरी पर मुग़लों ने अधिकार कर लिया। औरङ्ग़ज़ेब ने इस आशय का एक फ़रमान निकाला कि अँगरेज़ लोग राज्य से निकाल बाहर कर दिये जायँ। अन्त में कम्पनी ने मुग़ल-सम्राट् से क्षमा-प्रार्थना की और १६९० में दोनों में सन्धि हो गई। मुग़ल-सरकार ने १७००० पौण्ड कम्पनी से दण्ड-रूप में लिया और कम्पनी को चेतावानी दे दी कि भविष्य में फिर कभी ऐसा दुर्व्यवहार न होने पावे। जाब चारनाक को हुगली लौट जाने की आज्ञा मिली। उसे जो भू-भाग प्रदान किया गया था। उस पर उसने एक छोटा-सा उपनिवेश स्थापित किया। वही उपानवेश अपनी उन्नति कर बाद को कलकत्ता-नगर हो गया।

इस समय कम्पनी को इँगलेंड में भारी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। उसकी बढ़ती हुई शक्ति और अधिकारों का बड़ा विरोध हुआ और उसके सब मामलों की जाँच करने के लिए एक कमेटी नियुक्त हुई। किन्तु जोशिया चाइल्ड ने मन्त्रियों को रुपया देकर अपने पक्ष में कर लिया और १६९३ ई० में एक नया आज्ञापत्र (Charter) प्राप्त कर लिया। १६९८ ई० में एक प्रतिद्वन्द्वी कम्पनी की स्थापना हुई। भारत के व्यापार पर अपना एकाधिकार करने के लिए दोनों कम्पनियाँ तुरन्त आपस में लड़ने लगीं। यह झगड़ा १० वर्ष तक चलता रहा। अन्त में दोनों में समझौता हो गया और १७०८ ई० में दोनों कम्पनियाँ मिलकर एक हो गईं। इस प्रकार जिस नई कम्पनी का जन्म हुआ उसका नाम 'यूनाइटेड ईस्ट इण्डिया कम्पनी' (United East India Company) पड़ा।

औरङ्गज़ेब की मृत्यु के बाद, बङ्गाल के शासक से कम्पनी का फिर झगड़ा हो गया। इसका कारण यह था कि बङ्गाल के गवर्नर ने बिना कर के व्यापार करते रहने की आज्ञा नहीं दी। सन् १७१५ ई० में कम्पनी के दो प्रतिनिधि दिल्ली के दरबार में पहुँचे। विलियम हैमिल्टन (William Hamilton) नामक एक अँगरेज़ सर्जन की सहायता से उन्होंने नये अधिकार प्राप्त किये। हैमिल्टन ने मुग़ल-सम्राट् फ़र्रुख़सियर को एक भयङ्कर बीमारी से बचाया था। इसीलिए उस पर मुग़ल-सम्राट् ने कृपा की। कम्पनी को कलकत्ता और मद्रास के पास कुछ गाँव दिये गये। यह एक बड़ी मार्के की बात थी। अँगरेज़ों को अब मुग़लों की निर्बलता का साफ़-साफ़ पता लग गया। उन्होंने समझ लिया कि जिस सम्राट् के सम्मुख फ़ोर्ट विलियम के गवर्नर ने ज़मीन पर अपना माथा टेका था, वह अपने शक्तिशाली मंत्रियों के हाथ में कठपुतली मात्र था।

फ़्रांसीसियों की ईस्ट इण्डिया कम्पनी—अन्य देशों की देखा-देखी फ़्रांस ने भी पूर्वी द्वीपसमूह के साथ व्यापार करने के लिए कम्पनियाँ स्थापित कीं। सन् १६४२ ई० में रिशलू (Richelieu) ने तीन कम्पनियाँ स्थापित कीं किन्तु कुछ समय के पश्चात वे टूट गईं। उनकी विफलता का कारण सरकारी कर्मचारियों तथा पादरियों का हस्तक्षेप था। चौदहवें लुई (Louis XIV) के शासन-काल में उसके मन्त्री कोलवर्ट (Colbert) ने १६६४ ई० में दूसरी कम्पनी स्थापित की। उसके तीन उद्देश्य थे—राजनीतिक शक्ति की स्थापना, राजा की शक्ति को सबल बनाना और ईसाई-मत का प्रचार करना। १० वर्ष के वाद फ़्रांसिस मार्टिन (Francois Mārtin) ने पाण्डुचेरी की नींव डाली और चन्द्रनगर में एक फ़ैक्टरी बनवाई। फ़्रांस और हालैंड के बीच होनेवाले यूरोपीय युद्ध से कम्पनी की भारी क्षति हुई। किन्तु १७२० ई० में उसका पुन: संगठन हुआ और तब से उसका प्रबन्ध बड़े योग्य और हौसलामन्द गवर्नरों के हाथ में रहा। मारीशस (Mauritius) पर १७२० ई० में और मलाबार के तट पर स्थित माही पर १७२४ ई० में क़ब्ज़ा कर लिया गया। ड्यूमा (Duma-१७३५-४१) ने दक्षिण की अव्यवस्थित दशा को देखकर वहाँ के राजनीतिक मामलों में हस्तक्षेप किया। राजगद्दी के लिए होनेवाले एक युद्ध में उसने तंजौर के राजा की सहायता की और उससे कारीकल प्राप्त किया। इस प्रकार कम्पनी की शक्ति और अधिकार बढ़ गये और साथ ही फ़्रांसीसियों की प्रतिष्ठा भी बहुत बढ़ गई। सन् १७४२ ई० में जब डूप्ले (Dupleix) पाण्डुचेरी का गवर्नर नियुक्त हुआ तब कम्पनी के इतिहास में विजय और राजनीतिक विकास का एक नया अध्याय प्रारम्भ हुआ।

यूरोप-निवासियों के आने के साथ ही भारत का मध्यकालीन युग समाप्त हुआ। अब तक भारत का इतिहास केवल राजवंशों के उत्कर्ष और पतन का विवरण-मात्र था। अधिकांश राजवंश अपनी आन्तरिक अव्यवस्था तथा पतन के कारण ही इतिहास से लुप्त हो गये। यूरोप के लोगों और मुसलमानों में बहुत अन्तर था। वे ऐसे राष्ट्रों के प्रतिनिधि थे, जिनका स्वतन्त्रता के वायुमण्डल में विकास हुआ था। और जिनमें आधुनिक शासन-पद्धतियों का अनुसरण होता था। स्वाधीन-राष्ट्रों के नागरिक होने के कारण वे स्वतन्त्रता के भाव से ही प्रेरित होकर सब काम करते थे। वे सब राष्ट्रीयता और देशभक्ति के भावों से भरे रहने के कारण एकता के सूत्र में बँधे थे। उनमें से कुछ तो बड़े स्वार्थी थे परन्तु अधिकांश लोग अपने देश के हित का ध्यान रखते थे। देश की सेवा में वे अपने प्राणों का भी बलदान करने के लिए सदा तैयार रहते थे। उनकी देखादेखी भारतीय लोगों में भी नई आशाएं और उमंगें पैदा हुईं।

प्राचीन प्रथाओं के प्रति उनमें जो अन्धभक्ति थी वह यूरोपीय लोगों के संसर्ग से कम हो गई। उनमें परीक्षा और आलोचना करने का भाव पैदा हो गया। अपने विवेकपूर्ण दृष्टिकोण, प्रगतिशील शासन-पद्धति, वैज्ञानिक प्रवृत्ति तथा सामाजिक स्वतन्त्रता के कारण वे उन भारतीयों से आगे बढ़ गये जिनमें एकता और देश-प्रेम का अभाव था। उन्होंने जिन संस्थाओं को स्थापित किया, उनकी बदौलत प्रचलित शासन-व्यवस्था में बड़ी उन्नति हुई। अपने सुधारों-द्वारा उन्होंने जनता की सहानुभूति भी प्राप्त कर ली। उनकी अधीनता में विज्ञान की उन्नति हुई, शिक्षा का प्रचार हुआ और लोगों की रहन-सहन में भी बहुत कुछ सुधार हुआ।

संक्षिप्त सन्‌वार विवरण

घटना	सन्
कोलंबस-द्वारा अमरीका का पता लगाना	१४९२ ई०
वास्को-ड-गामा का कालीकट पहुँचना	१४९८ ,,
अल्मिडा का पुर्तगाली बस्तियों का गवर्नर नियुक्त होना ..	१५०५ ,,
एलबुकर्क का गोआ को जीतना	१५१० ,,
एलबुकर्क का मलक्का जीतना	१५११ ,,
पुर्तगाल का स्पेन में मिलाया जाना	१५८० ,,
अँगरेज़ी ईस्ट इंडिया कम्पनी का जन्म	१६०० ,,
डच ईस्ट इंडिया कम्पनी की स्थापना	१६०१ ,,
कप्तान हाकिन्स का जहाँगीर के दरबार में पहुँचना ..	१६०८ ,,
सर टामस रो का जहाँगीर के दर्बार में पहुँचना ..	१६१५ ,,
अम्बौयना का क़त्ल	१६२३ ,,
मद्रास की स्थापना	१६४० ,,
अँगरेज़ और डच लोगों की संधि	१६५४ ,,
चार्ल्स द्वितीय का आज्ञापत्र	१६६१ ,,
फ़्रांसीसी ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना	१६६४ ,,
बम्बई की प्राप्ति	१६६८ ,,
जाब चारनाक का शायस्ता खाँ द्वारा कलकत्ते से निकाला जाना	१६८६ ,,
क़म्पनी और मुग़लों के बीच संधि	१६९० ,,
दोनों अँगरेजी कम्पनियों का एक होना	१७०८ ,,
फ़्रांसीसियों का मौरीशस पर अधिकार	१७२१ ,,
फ़्रांसीसियों का माही पर अधिकार	१७२४ ,,
डूप्ले का पाण्डुचेरी का शासक नियुक्त होना	१७४२ ,,

अध्याय २९

अँगरेज़ों और फ़्रांसीसियों की लड़ाई हैदरअली का उत्कर्ष

दोनों कम्पनियों की स्थिति—भारत के व्यापार का लाभ उठाने के लिए ही अँगरेजी और फ़्रांसीसी कम्पनियों की स्थापना हुई थी। किन्तु ज्यों-ज्यों मुग़ल-साम्राज्य की शक्ति का ह्रास होता गया त्यों-त्यों उन्होंने अपनी राजनीतिक शक्ति को बढ़ाना शुरू कर दिया। परिणाम यह हुआ कि दोनों कम्पनियों में झगड़ा हो गया। सन् १७४४ ई० में अँगरेजी कम्पनी फ़्रांसीसी कम्पनी की अपेक्षा अधिक मज़बूत थी। वह अधिक सम्पत्तिशाली तथा अधिक संगठित भी थी। इसके अतिरिक्त उसके उपनिवेश भी अधिक शक्तिशाली थे। फिर, अँगरेजी कम्पनी एक व्यापारी लोगों की संस्था थी। वह राज्य की सहायता पर निर्भर नहीं थी। उसके संचालक प्रभावशाली व्यक्ति थे। उनमें से कुछ तो पार्लिया-मेन्ट के सदस्य थे, जो सरकारी नीति पर बड़ा प्रभाव डालते थे। इसके विपरीत, फ़्रांसीसी कम्पनी पूर्ण रूप से राज्य की सहायता पर निर्भर थी। सरकारी मदद के बिना उसका कोई काम नहीं हो सकता था। सरकार के हस्तक्षेप के कारण उसका कार-बार बड़ी सुस्ती से चलता था। उसके संचालकों की नियुक्ति फ़्रांस का राजा करता था। वे भारत के व्यापार में अधिक दिलचस्पी नहीं रखते थे। डयूमा और डूप्ले ने कम्पनी की स्थिति को सुधारने के लिए बड़े-बड़े प्रयत्न किये। किन्तु तो भी इसमें कोई संदेह नहीं कि अठारहवीं शताब्दी के मध्यकाल के लगभग फ्रांसीसियों की अपेक्षा अँगरेज़ों के पास अधिक साधन मौजूद थे। राजनीति के मैदान में सफलता प्राप्त करने के लिए उनकी स्थिति अधिक दृढ़ और अनुकूल थी।

पहला युद्ध (१७४०-४८)—उन दिनों यूरोप में इँगलैंड और फ़्रांस में शत्रुता थी। इसी कारण भारत में भी उनमें लड़ाई प्रारम्भ हो गई। फ़्रांसीसी सेनापति लाबूर्दोने (La Bourdonnais) को आज्ञा मिली कि १७४० ई० में अँगरेज़ों पर चढ़ाई कर दे। किन्तु जुलाई १७४६ ई० के पहले वह पाण्डु-चेरी नहीं पहुँच सका। उसने आते ही मद्रास पर आक्रमण किया। कुछ समय तक लड़ाई करने के बाद उसके हाथ में मद्रास आ गया। इसके बाद डूप्ले तथा लाबूर्दोने में झगड़ा हो जाने के कारण कुछ समय तक फ़्रांसीसियों को हमला करने का अवसर न मिला। लाबूर्दोने के वापस लौट जाने पर डूप्ले ने मद्रास को अपने क़ब्ज़े में कर लिया। उसने सेंट डेविड नामक क़िले पर धावा करने

की तैयारी की। इस धावे में फ्रांसीसियों को सफलता नहीं मिल सकी। मेजर स्ट्रिन्जर लारेन्स (Stringer Lawrence) ने बड़ी वीरता के साथ उन्हें हरा दिया। १७४८ ई० में यूरोप में एलाशपल (Aix la chapelle) की संधि हो गई। फलतः भारत में भी दोनों कम्पनियों की लड़ाई बन्द हो गई। मद्रास अँगरेज़ों को वापस मिल गया।

यद्यपि किसी भी पक्ष को विजय नहीं प्राप्त हुई तथापि युद्ध का परिणाम महत्त्व से खाली नहीं था। दोनों राष्ट्रों को देशी राजाओं की कमज़ोरी मालूम हो गई। बस्तियों के इर्द-गिर्द १०० मील तक की भूमि से वे अच्छी तरह से परिचित हो गये। वे यह भी समझ गये कि देशी राजाओं के पारस्परिक झगड़ों से कितना लाभ उठाया जा सकता है और सुव्यवस्थित यूरोपीय सेनाएँ उन्हें कितनी आसानी से हरा सकती हैं। डूप्ले को भारतीय स्थिति का पूरा-पूरा ज्ञान था। उसने देखा कि यूरोपीय युद्ध-प्रणाली और सैनिक संयम से यहाँ अपना शक्ति खूब बढ़ाई जा सकती है। इसी विचार से वह राजनीतिक मामलों में भाग लेने की बात गम्भीरता के साथ सोचने लगा। १७४८ ई० में निज़ामुलमुल्क आसफ़जाह की मृत्यु हो गई और उसे भारत के राजनीतिक मामलों में भाग लेने का मनचाहा अवसर मिल गया।

दूसरा युद्ध (१७४८-५४)—निज़ाम क़रीब-क़रीब एक स्वाधीन शासक था। १७४८ ई० में उसकी मृत्यु के बाद उसके दूसरे लड़के नाज़िरजंग और पोते मुज़फ़्फ़रजंग के बीच सिंहासन के लिए झगड़ा उठ खड़ा हुआ। इसी समय कर्नाटक के नवाब अनवरुद्दीन को गद्दी से उतार कर चान्दा साहब स्वयं नवाब बनने की कोशिश कर रहा था। मुज़फ़्फ़रजंग ने चान्दा साहब से मित्रता कर ली। इन दोनों ने मिलकर फ्रांसीसियों से सहायता माँगी। डूप्ले ने उनकी प्रार्थना को स्वीकार कर लिया और वह झट सहायता देने के लिए तैयार हो गया। उसने सोचा कि ऐसा करके मैं कर्नाटक तथा हैदराबाद में अपना प्रभाव जमा सकूँगा। अँगरेज़ तंजौर की राजगद्दी के झगड़े में पहले ही इस प्रकार का हस्तक्षेप कर चुके थे। इस दृष्टि से डूप्ले केवल अँगरेज़ों के दिखाये हुए मार्ग पर चल रहा था।

मुज़फ़्फ़रजंग तथा चान्दा साहब ने अपनी संयुक्त सेनाओं को लेकर अनवरुद्दीन पर आक्रमण कर दिया। अनवरुद्दीन पराजित हुआ और १७४९ ई० में अम्बर के युद्ध में मारा गया। उसका लड़का मुहम्मदअली त्रिचनापल्ली भाग गया। उसने अँगरेज़ों से सहायता माँगी। चान्दा साहब कर्नाटक का नवाब बन गया। उसने फ्रांसीसियों को उनके उपकार के बदले ८० गाँव प्रदान किये। उधर नाज़िरजंग ने मुज़फ़्फ़रजंग पर चढ़ाई कर दी। मुज़फ़्फ़रजंग पराजित हुआ। किन्तु थोड़े ही समय के बाद (दिसम्बर १७५० ई० में) नाज़िरजंग मारा गया।

मुज़फ्फ़रजंग दक्षिण का सूबेदार हो गया। उसकी सहायता के लिए एक फ्रांसीसी पल्टन हैदराबाद में नियुक्त की गई। उसने फ्रांसीसियों को कुछ रुपया और ज़िले प्रदान किये। एक जागीर डूप्ले को भी मिली। उसने कृष्णा से लेकर कुमारी अन्तरीप तक सम्पूर्ण दक्षिणी भारत के गवर्नर की उपाधि धारण की। उसकी प्रतिष्ठा अधिक बढ़ गई। वह भारतीय नवाबों की तरह पोशाक भी पहनने लगा। फ्रांसीसी सेनापति बुसी की संरक्षकता में मुज़फ्फ़रजंग अपनी राजधानी में पहुँचा। किन्तु वह एक लड़ाई में मार डाला गया। बुसी ने उसके किसी लड़के को गद्दी पर नहीं बैठने दिया। उसने निज़ामुलमुल्क के तीसरे लड़के सलाबतजंग को गद्दी पर बिठाया। उसकी शक्ति को दृढ़ करने के लिये वह स्वय ७ वर्ष तक हैदराबाद में डटा रहा।

चान्दा साहब तथा फ्रांसीसियों ने त्रिचनापल्ली को घेर रक्खा था। अभी तक अँगरेज़ों ने मुहम्मदअली को बहुत कम सहायता पहुँचाई थी। किन्तु अब उन्होंने समझ लिया कि उसकी ख़ूब सहायता करनी चाहिए। त्रिचनापल्ली शत्रुओं के हाथ में पड़नेवाला ही था कि क्लाइव ने उसकी रक्षा का एक उपाय सोचा। क्लाइव एक युवा सेनापति था। उसने सलाह दी कि अर्काट के क़िले को घेर लिया जाय। अर्काट कर्नाटक के नवाब चान्दा साहब की राजधानी थी। इसलिए उसने सोचा कि यदि अर्काट घेर लिया जायगा तो चान्दा साहब उसकी रक्षा के लिए त्रिचनापल्ली से कुछ सेना ज़रूर भेजेगा। इस प्रकार त्रिचनापल्ली बच जायगी और मुहम्मदअली के सिर से आफ़त टल जायगी। मद्रास के गवर्नर ने क्लाइव की इस सलाह को मान लिया। उसने उसे अर्काट पर आक्रमण करने की आज्ञा भी दे दी। क्लाइव अर्काट की तरफ़ रवाना हुआ और उसने क़िले के चारों ओर मोर्चाबन्दी कर दी। चान्दा साहब ने फ़ौरन त्रिचनापल्ली से अर्काट की रक्षा के लिए सेना भेजी। क्लाइव वीरता के साथ ५३ दिन तक अपनी रक्षा करता रहा और शत्रु से लोहा लेता रहा। अन्त में चान्दा साहब की सेना वापस लौटी और यद्यपि क्लाइव के ४५ गोरे और ३० देशी सिपाही मारे गये परन्तु जीत उसी की हुई और कम्पनी के अधिकारी उसकी प्रशंसा करने लगे। मुहम्मदअली की रक्षा के लिए और अँगरेज़ी फ़ौजें त्रिचनापल्ली पहुँचीं। चान्दा साहब त्रिचनापल्ली को छोड़ कर भागा। उसने तंजौर के सेनापति के हाथ में आत्मसमर्पण कर दिया, किन्तु उसने उसे मार डाला। मुहम्मदअली कर्नाटक का नावाब हो गया। फ्रांस की सरकार डूप्ले से अप्रसन्न हो गई। सन् १७५४ ई० में वह वापस बुला लिया गया। उसके स्थान पर गोडहयू (Godehu) गवर्नर नियुक्त हुआ। अँगरेज़ों और फ्रांसीसियों के बीच एक सधि हो गई जिसके अनुसार कर्नाटक में दोनों को समान अधिकार मिले। वह संधि

अभी कार्य-रूप पमें परिणत भी न हुई थी कि यूरोप में सप्तवर्षीय युद्ध छिड़ गया।

हैदराबाद में बुसी (Bussy)--जो काम बुसी के सुपुर्द किया गया था उसके लिए वह बड़ा ही उपयुक्त था। वह एक चतुर कूटनीतिज्ञ था। वह जानता था कि कठोरता की अपेक्षा नम्रता का व्यवहार और विजय-कीर्ति प्राप्त करने की अपेक्षा मनुष्य के जीवन की रक्षा करना अधिक हितकर होता है। वह अपने इरादे का बड़ा पक्का था और कठिनाइयों के उपस्थित होने पर साहस के साथ काम करता था। उसमें एक दुर्लभ गुण यह था कि वह सब चीज़ों की तह तक पहुँच जाता था और बिना किसी का दिल दुखाये अपने काम को पूरा कर लेता था। सेना का खर्च चलाने के लिए निज़ाम से उसे उत्तरी सरकार का प्रदेश मिल गया। सन् १७५८ ई० में बुसी वापस बुला लिया गया। उसके चले जाने के बाद हैदराबाद से फ्रांसीसियों का प्रभाव जाता रहा।

डूप्ले का चरित्र और उसकी नीति--सभी इतिहासकार इस बात को मानते हैं कि जिस उद्देश्य से प्रेरित होकर डूप्ले ने भारत में काम किया वह बड़ा ज़बर्दस्त तथा ऊँचा था। वह देशभक्त और निःस्वार्थी था। उसने सदा अपने देश का गौरव बढ़ाने की चेष्टा की। कूटनीति में तो वह सबसे चतुर था। अपनी कूटनीति ही के सहारे उसने मैसूर तथा मराठों को अँगरेज़ों से पृथक् कर दिया। भारतीय राजनीति का उसे अच्छा ज्ञान था। अपनी लालसा को पूरी करने के लिए उसे दक्षिण में अच्छा अवसर भी मिल गया। शान-शौक़त दिखलाने और अपनी शक्ति बढ़ाने की उसकी प्रबल इच्छा थी। कर्नाटक के नवाब की उपाधि धारण करके उसने बड़ी भूल की। अपने मातहतों के साथ उसका व्यवहार बड़ा कठोर था। जब वे असफल हो जाते, तो सारा अपराध वह उन्हीं के सिर मढ़ देता था।

कुछ लोग कहते हैं कि सबसे पहले उसी के दिमाग़ में यह बात पैदा हुई कि भारत में यूरोपीय राज्य स्थापित किया जाय। किन्तु वर्तमान काल के लेखक इस बात को नहीं मानते। उनका मत है कि १७५० ई० के पूर्व उसके दिमाग़ में कोई राजनीतिक योजना थी ही नहीं। उसने बुसी को हैदराबाद में इस आशा से रक्खा था कि नये नवाब फ्रांसीसी व्यापार को अधिक प्रोत्साहन देंगे और उनके कर्मचारी फ्रांसीसी बस्तियों से सम्बन्ध रखनेवाले माल के साथ कोई हस्तक्षेप नहीं करेंगे। राज्य क़ायम करने के लिए नहीं बल्कि मालगुज़ारी वसूल करने के लिए ही वह पाण्डुचेरी के पास का बड़ा इलाक़ा प्राप्त करना चाहता था।

कर्नाटक में उसके असफल होने के कई कारण थे। बिना कम्पनी की

सलाह लिये ही उसने चान्दा साहब तथा मुज़फ्फ़रजंग की सहायता की। वह जानता था कि इस देश के राजनीतिक मामलों में भाग लेने के लिए कम्पनी उसे कभी अनुमति नहीं देगी। धन के अभाव से भी उसके कार्य में बड़ी बाधा पड़ी। सेना के खर्च के लिए रुपये की आवश्यकता थी किन्तु उसे पर्याप्त रुपया प्राप्त न हो सका। अपनी सफलता का उसे आवश्यकता से अधिक विश्वास था। असफलता की सम्भावना उसे स्वप्न में भी नहीं थी। न तो कम्पनी के संचालकों ने उसे यथेष्ट सहायता दी और न उन्होंने उसकी भारतीय योजनाओं को ही पसन्द किया। वे लोग केवल शान्ति चाहते थे और चार वर्ष तक युद्ध करने पर भी डूप्ले शान्ति स्थापित न कर सका। इसके अतिरिक्त एक बात और थी। इँगलैंड और फ्रांस के बीच होनेवाले अमरीका के झगड़े के कारण भारत का प्रश्न ही सामने से हट गया था।

असफल हो जाने पर भी डूप्ले का नाम भारतीय इतिहास में सदा अमर बना रहेगा। उसकी सभी योजनाएँ साहसपूर्ण थीं और यदि वे सफल हो जातीं तो भारत में अँगरेज़ों का स्थान फ्रांसीसियों को मिला होता। उसके विरोधी भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि वह एक प्रतिभाशाली पुरुष था। फ्रांसीसियों की शक्ति को जिस प्रकार उसने बढ़ाया और अँगरेज़ लोग उससे जितने भयभीत हो गये थे, उससे ही हम उसकी राजनीतिक प्रतिभा का ठीक अनुमान कर सकते हैं।

तीसरा युद्ध (१७५६-६३)—चार वर्ष की शान्ति के बाद भारत में अँगरेज़ों और फ्रासीसियों के बीच फिर लड़ाई शुरू हो गई। इसका कारण यूरोप के सप्तवर्षीय युद्ध का आरम्भ होना था। फ्रांसीसियों के लिए यह बड़ा अच्छा अवसर था क्योंकि अँगरेज़ लोग उस समय बंगाल में बड़े संकट में पड़ गये थे और क्लाइव उनकी रक्षा के लिए अपनी विजयी सेना को लेकर वहाँ चला गया था। किन्तु फ्रांसीसी सेनापति लैली (Lally) बहुत देर से पहुँचा। उसके आने के समय (१७५८ ई०) तक बंगाल मे अँगरेज़ों कि स्थिति बहुत सुधर गई थी। प्लासी के युद्ध में उन्हें विजय प्राप्त हो चुकी थी।

लैली बड़ा बहादुर किन्तु हठी सैनिक था। अन्य अफ़सरों के साथ मिलकर वह कोई काम भी नहीं कर सकता था। उसने पहले सेंटडेविड (St. David) पर क़ब्ज़ा कर लिया। उसके बाद मद्रास पर आक्रमण किया किन्तु सेना म फूट हो जाने के कारण वह सफल नहीं हो सका। उसने बूसी को हैदराबाद से बुला लिया, यद्यपि फ्रांसीसी स्थिति को क़ायम रखने के लिए उसका वहाँ रहना बड़ा उपयोगी था। सेना के विद्रोह कर देने के कारण लैली के कार्य में बड़ा विघ्न पड़ा। उसके पास धन का अभाव था। पाण्डचेरी के गवर्नर के साथ उसका सम्बन्ध भी बिलकुल असन्तोषप्रद था। यद्यपि अँगरेज़ों की अपेक्षा फ्रांसीसियों का जहाज़ी

बेड़ा अधिक शक्तिशाली था तो भी वह शत्रु के सामने ठहर न सका। १७६० ई० में वांडवाश की लड़ाई में सर आयरकूट (Sir Eyre Coote) न लैली को हरा दिया। बुसी क़ैद कर लिया गया। दूसरे वर्ष पाण्डचेरी भी अँगरेज़ों के हाथ आ गया। लैली क़ैद करके इँगलैंड भेज दिया गया। वहाँ वह छोड़ दिया गया और उसे फ़्रांस जाने की आज्ञा दे दी गई। फ़्रांस में उस पर मुक़दमा चलाया गया और उसे फाँसी की सज़ा मिली।

सन् १७६० ई० में, पेरिस की संधि से, सप्तवर्षीय युद्ध का अन्त हो गया। संधि की शर्तों के अनुसार फ़्रांसीसियों की शक्ति बहुत कम हो गई। उनकी सेना की संख्या नियत कर दी गई। उन्हें बंगाल में जाने का अधिकार नहीं रहा। केवल व्यापारी की हैसियत से वे उस सूबे में जा सकते थे। मुहम्मदअली कर्नाटक का नवाब हो गया। हैदराबाद में फ़्रांसीसियों का प्रभाव मिट गया। सलाबतजंग को उसके भाई निज़ामअली ने मार डाला। उत्तरी सरकार के ज़िले अँगरेज़ों के हाथ आ गये। १७६५ ई० में मुग़ल-सम्राट् से फ़रमान प्राप्त कर उन्होंने इस अधिकार को क़ानूनी दृष्टि से और भी मज़बूत बना दिया।

अँगरेज़ों की सफलता के कारण—राजनीतिक युद्ध में अँगरेज़ों की सफलता के कई कारण थे। फ़्रांसीसी कम्पनी की अपेक्षा अँगरेज़ी कम्पनी की आर्थिक और व्यापारिक स्थिति बहुत अच्छी थी। फ़्रांसीसी कम्पनी राज्य की कम्पनी थी। उसके मालिक उसके कार्यों में दिलचस्पी नहीं लेते थे। अँगरेज़ी कम्पनी का प्रबन्ध बहुत अच्छा था। सरकार को उसने बहुत-सा क़र्ज़ दिया था। उसके संचालक सार्वजनिक नीति पर अधिक प्रभाव रखते थे। फ़्रांस का राजा यूरोप के युद्धों पर अधिक ध्यान देता था। अपने उपनिवेशों तथा व्यापारिक हितों का उसे कम ख़याल था। युद्ध के समय में भी अँगरेज़ लोग अपने व्यापार पर पूरा ध्यान देते थे। उन्होंने बंगाल को जीतकर अपनी संपत्ति और भी बढ़ा ली थी। फ़्रांसीसी लोग व्यापार की ओर बिलकुल ध्यान नहीं देते थे। वे उन लड़ाइयों में बहुत-सा धन नष्ट कर देते थे, जिनसे उनको कुछ लाभ न होता था। युद्ध की दृष्टि से, अँगरेज़ों की तरफ़ क्लाइव और लारेंस की भाँति योग्य और कार्यशील व्यक्ति थे। इसके विपरीत फ़्रांसीसी अफ़सर आपस ही में लड़ते-झगड़ते थे। वे एकमत होकर काम करना नहीं जानते थे। बंगाल को जीत लेने से अँगरेज़ों को युद्ध करने का एक अच्छा आधार मिल गया। फ़्रांसीसियों का आधार मौरीशस भारत से बहुत दूर था। फ़्रांसीसियों की अपेक्षा अँगरेज़ों की स्थिति एक और बात में अधिक दृढ़ थी। समुद्र पर उनकी प्रभुता स्थापित थी। जब तक समुद्र पर उनका अधिकार क़ायम था, तब तक और कोई देश भारत में विजय नहीं प्राप्त कर सकता था।

हैदरअली का उत्कर्ष—१५६५ ई० में विजय नगर साम्राज्य के छिन्न-भिन्न

होने के बाद मैसूर देश पर वौदेयार-वंश का राज्य हो गया। आठरहवीं शताब्दी के मध्यकाल के लगभग वह वंश बिलकुल शक्तिहीन हो गया। हैदरअली नामक एक योग्य सैनिक नेता ने बलपूर्वक मैसूर पर क़ब्ज़ा कर लिया। वह एक ऐसे विदेशी मुसलमान के घर में पैदा हुआ था जो आकर दक्षिण में बस गया था। उसका जन्म १७२२ ई० में हुआ था। उसके बाप और भाई, मैसूर की सेना में अफ़सर थे। हैदरअली ने युद्ध की शिक्षा देकर एक सेना का संगठन किया। इसलिए राज्य का मन्त्री उस पर बहुत प्रसन्न हुआ। सन् १७५५ ई० में वह डिंडीगल का फ़ौजदार हो गया। उसके बाद बंगलौर उसे जागीर में मिला और वह प्रधान सेनापति के पद पर नियुक्त हो गया। थोड़े समय तक उसकी स्थिति कमज़ोर पड़ गई। किन्तु शीघ्र ही उसने अपने प्रभाव को फिर जमा लिया। सन् १७६३ ई० में उसने बेदनूर को जीत लिया। तीन वर्ष के बाद मैसूर के राजा की मृत्यु हो गई। इस प्रकार उसे अपनी शक्ति को बढ़ाने का अवसर मिला। यद्यपि नाम मात्र के लिए राजवंश के व्यक्ति को उसने गद्दी पर बिठा दिया परन्तु वास्तव में राज्य का सारा अधिकार उसी के हाथ में था।

मैसूर की पहली लड़ाई (१७६७-६९)—उस समय दक्षिण के देशी राजाओं के साथ अँगरेज़ों के सम्बन्ध का प्रश्न कठिन था। कर्नाटक का नवाब अँगरेज़ों का मित्र था। मैसूर, मराठे और निज़ाम अपनी अपनी प्रभुता के लिए परस्पर लड़ रहे थे। कभी तो वे अँगरेज़ों के साथ मित्रता का व्यवहार रखते थे और कभी उनके शत्रु बन जाते थे। सन् १७६५ ई० में मद्रास की कौंसिल ने निज़ाम के साथ एक समझौता किया और हैदरअली तथा मराठों के विरुद्ध निज़ाम की सहायता करने का वादा किया। इस समझौते के थोड़े ही समय बाद मराठों ने मैसूर पर आक्रमण किया। हैदरअली ने रिश्वत देकर उन्हें लौटा दिया।

मद्रास कौंसिल ने निज़ाम की सहायता के लिए ख़तरनाक लड़ाई में भाग लेने का वचन देकर बड़ी मूर्खता की। निज़ाम छिपे-छिपे मराठों और हैदर-अली से सुलह की बातें करता था और हैदरअली उसे कर्नाटक का राज्य जितवाने का प्रलोभन देता था। अँगरेज़ सेनापति कर्नल स्मिथ (Colonel Smith) जब निज़ाम की सहायता के लिए उसके यहाँ गया, तब उसे यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि निज़ाम की सेना अँगरेज़ों के साथ युद्ध करने के लिए तैयार है। परन्तु इससे वह निराश नहीं हुआ। उसने १७६७ ई० में निज़ाम और हैदरअली की संयुक्त सेना को चंगामा और त्रिनोमली नामक स्थानों पर हराया। मद्रास कौंसिल ने निज़ाम के साथ फिर संधि कर ली। इससे हैदरअली बहुत नराज हो गया। उसके साथ लड़ाई जारी रही। १७६९ ई० में वह मद्रास नगर की दीवार तक जा पहुँचा। उसने अँगरेज़ों को एक अपमान-जनक संधि पर हस्ताक्षर करने के लिए विवश किया। दोनों ने एक दूसरे के

जीते हुए स्थानों को लौटा दिया। अँगरेज़ों ने हैदरअली को वचन दिया की अगर कोई दूसरी शक्ति तुम्हारे ऊपर आक्रमण करेगी तो हम तुम्हारी मदद करेंगे। सन् १७७१ ई० में मराठों ने मैसूर पर हमला किया। जब हैदरअली ने अँगरेज़ों से सहायता माँगी तो उन्होंने आनाकानी की। इस बात पर हैदर बहुत नाराज़ हुआ और वह अँगरेज़ों का घोर शत्रु बन गया।

संक्षिप्त सनवार विवरण

हैदरअली का जन्म	१७२२ ई०
एलाशपल की संधि	१७४८ ,,
निज़ामुलमुल्क आसफ़जाह की मृत्यु ..	१७४८ ,,
अम्बर की लड़ाई	१७४९ ,,
नाज़िरजंग का क़त्ल	१७५० ,,
डूप्ले का वापस जाना	१७५४ ,,
हैदरअली का डिंडीगल का फ़ौजदार नियुक्त होना ..	१७५५ ,,
लैली का भारत में आना	१७५८ ,,
बुसी को हैदराबाद से वापस बुलाना	१७५८ ,,
वांडवाश का युद्ध	१७६० ,,
पेरिस की सन्धि	१७६३ ,,
हैदरअली का बेदनूर जीतना	१७६३ ,,
चंगामा और त्रिनोमली के युद्ध	१७६७ ,,
मद्रास पर हैदरअली का आक्रमण	१७६९ ,,
मराठों का मैसूर पर आक्रमण	१७७१ ,,

अध्याय ३०

बंगाल में नवाबी का पतन और उसके बाद की दशा

(१७५७–६७ ई०)

अलीवर्दी खां—जिस समय अँगरेज़ और फ़्रांसीसी, अपनी प्रभुता के लिए, दक्षिण में लड़ रहे थे उस समय बंगाल में बड़ा राज्य-विप्लव हो रहा था। नवाबी का पतन हो रहा था और अँगरेज़ अपनी शक्ति को बढ़ा रहे थे। बंगाल का सूबा मुग़ल-साम्राज्य का एक भाग था। मुग़ल-सम्राट् ही सूबेदार की नियुक्ति

करते थे। सन् १७०१ ई० में मुर्शिद क़ुली खाँ बंगाल का दीवान था। वह असल में ब्राह्मण था और पीछे से मुसलमान हो गया था। वह अँगरेज़ों को देखकर जलता था। अँगरेज़ों ने, अपनी स्थिति को सुरक्षित बनाने के लिए, १७१७ ई० में दिल्ली के सम्राट् से एक नया फ़रमान हासिल कर लिया था। सन् १७२५ ई० में मुर्शिद क़ुली खाँ मर गया। उसका बेटा गद्दी पर बैठा। सन् १७४१ ई० में उसे गद्दी से उतारकर अलीवर्दी खाँ बङ्गाल का सूबेदार हो गया। वह एक योग्य शासक था। उसके समय में मराठों ने बङ्गाल पर हमले किये। उसने सफलतापूर्वक उनका सामना किया तो भी उड़ीसा का प्रदेश तथा १२ लाख रुपये उसे देने पड़े। अँगरेज, फ़्रांसीसी तथा हालेण्ड-निवासी क्रम से कलकत्ता, चन्द्रनगर तथा चिनसुरा में अपनी अपनी बस्तियाँ स्थापित कर बङ्गाल में बस गये थे। औरंगज़ेब से एक फ़रमान हासिल कर अँगरेज़ों ने फ़ोर्ट विलियम नाम का क़िला बनवा लिया था। कलकत्ता एक बड़ा नगर हो गया था। अलीवर्दी खाँ बड़ा समझदार आदमी था। वह सब बातों को खूब समझता था। उसे अँगरेज़ों की नियत पर सन्देह हो गया। वह समझता था कि हमें अपने पूरे अधिकार का प्रयोग करना चाहिए। इसलिए जब कभी अँगरेज़ अपनी स्वतन्त्रता दिखाने का प्रयत्न करते तब वह क्रोध प्रकट करता था। वह कहा करता था—"तुम लोग व्यापारी हो, तुम्हें क़िलों से क्या काम? मेरी संरक्षता में रहकर तुम्हें किसी शत्रु का भय न करना चाहिए।" वह जानता था कि ये लोग किसी समय खतरनाक हो सकते हैं। वह अँगरेज़ों की उपमा शहद की मक्खियों के छत्तों से देता था और कहता था कि "तुम उनसे शहद निकाल सकते हो परन्तु यदि उनके छत्तों को छेड़ोगे तो मक्खियाँ काटकर तुम्हारी जान ले लेंगी।" अलीवर्दी खाँ १७५६ ई० में मर गया और उसका पोता मिर्ज़ा मुहम्मद—जो इतिहास में सिराजुद्दौला के नाम से प्रसिद्ध है—गद्दी पर बैठा। उस समय उसकी अवस्था २३ वर्ष की थी।

अँगरेज़ों और नवाब के झगड़े के कारण—नये नवाब को शुरू से ही अँगरेज़ों पर अविश्वास था। वास्तव में कुछ विद्वानों का मत है कि मरते समय अलीवर्दी खाँ उसे इस बात की चेतावनी दे गया था कि यूरोपवाले बड़े भयंकर हैं। यूरोप में युद्ध होने की आशंका से अँगरेज़ और फ़्रांसीसी अपनी बस्तियों की क़िलाबन्दी करने लगे। नवाब ने उन्हें ऐसा करने से रोका। फ़्रांसीसी मान गये परन्तु अँगरेज़ों ने नवाब की आज्ञा को मानने से इनकार कर दिया और बड़ी गुस्ताखी के साथ नवाब को जवाब दिया।

इसके अतिरिक्त नवाब और अँगरेज़ों के झगड़े के और भी कारण थे। अँगरेज़ लोग उसका उचित सम्मान नहीं करते थे। १७१७ ई० के फ़रमान से उन्हें व्यापार करने के जो अधिकार मिले थे, उनसे उन्होंने अनुचित लाभ

उठाया। नवाब के यहाँ से भागे हुए अभियुक्तों को उन्होंने अपनी शरण में रख लिया था। नवाब ने जब उन्हें वापस भेजने को कहा तो अँगरेज़ों ने इनकार कर दिया। नवाब को इस बात का भय था कि अँगरेज़ों ने जैसा कर्नाटक में किया था वैसा यहाँ भी न करें। उनकी बस्तियाँ सबसे अधिक बड़ी और सम्पत्तिवान् थीं। उनके व्यापार पर जो शर्तें लगाई गई थीं, उनके कारण वे बड़े असन्तुष्ट थे। नवाब का ख़याल था कि अँगरेज़ों को बंगाल से बाहर निकाल देना मेरे हित के लिए आवश्यक है। प्रान्त की राजनीतिक तथा आर्थिक परिस्थितियों के कारण अँगरेज़ों का रुख़ और ख़राब हो गया था। हिन्दू, विशेषकर सेठ लोग, नवाब से असन्तुष्ट थे। उसके दुर्व्यवहार से तंग आकर उन्होंने अँगरेज़ व्यापारियों का साथ दिया और इस बात की कोशिश की कि सिराजुद्दौला से नवाबी छीन ली जाय।

ब्लैकहोल—अँगरेज़ों के उद्दण्डतापूर्ण उत्तर पर नवाब को बड़ा क्रोध आया। उसने क़ासिमबाज़ार की कोठी पर अधिकार करके कलकत्ते पर धावा कर दिया। गवर्नर, सेनापति तथा और बहुत-से अँगरेज़ भाग निकले। क़िले में कुछ सैनिक रह गये। हालवेल (Holwell) नाम का एक रिटायर्ड सर्जन सेनानायक चुना गया। उसने दो दिन तक क़िले की रक्षा की किन्तु अन्त में उसने क़िला नवाब को सौंप दिया। कहा जाता है कि नवाब के सिपाहियों ने १४६ अँगरेज़ क़ैदियों को एक छोटी-सी कोठरी में बन्द कर दिया था। जून का महीना था। गरमी से तड़प-तड़प कर बहुत-से क़ैदी रात में मर गये। दूसरे दिन सवेरे जब वह कोठरी खोली गई तो उसमें केवल २३ आदमी जीते निकले। इस बात को यूरोपीय लेखक भी मानते हैं कि नवाब को इस विषय में कुछ नहीं मालूम था। कुछ भारतीय विद्वानों का मत है कि ब्लैकहोल की घटना कपोल-कल्पित है। उस समय के लेखों में इस घटना का कुछ वर्णन नहीं मिलता। बाद को मीरजाफ़र के साथ जो संधियाँ हुईं उनमें भी हरजाने की कोई चर्चा नहीं थी। ब्लैकहोल की घटना का वर्णन हालवेल ने इस उद्देश्य से बहुत नमक-मिर्च मिलाकर किया है कि अँगरेज उत्तेजित होकर नवाब से बदला लेने का प्रयत्न किया करें।

बङ्गाल में क्लाइव—जब ब्लैकहोल का समाचार मद्रास पहुँचा तब गवर्नर ने तुरन्त क्लाइव और वाटसन की अध्यक्षता में एक सेना भेजी। उस सेना में ९०० गोरे और १,५०० हिन्दुस्तानी सिपाही थे। बङ्गाल पहुँचते ही उन्होंने कलकत्ता वापस ले लिया। इसके बाद वे हुगली की ओर रवाना हुए। नवाब की सेना के साथ उनकी मुठभेड़ हुई लेकिन हार-जीत का फ़ैसला होने के पहले ही एक सन्धि हो गई। इस सन्धि के शर्तों के अनुसार कम्पनी के सब अधिकार वापस कर दिये गये। क्लाइव ने बड़ी सावधानी से काम लिया।

फ़्रांसीसियों के भय से उसने कालकोठरी की घटना के विषय में एक शब्द भी नहीं कहा। वह जानता था कि फ़्रांसीसी लोग नवाब के साथ सन्धि करने के लिए तैयार हैं। इसलिए नवाव को वह अपनी ओर से असन्तुष्ट करना नहीं चाहता था। इसके बाद कर्नल वाटसन चन्द्रनगर की ओर रवाना हुआ और उसे जीत लिया। इसी बीच (जनवरी १७५७ ई०) में अहमदशाह अब्दाली ने देहली पर हमला किया। सिराजुद्दौला भी इस लूट-पाट का समाचार सुनकर डर गया था। वह अँगरेज़ों से मित्रता बनाये रखना चाहता था। इसी लिए वह किसी प्रकार फ़्रांसीसियों की सहायता करने के लिए तैयार नहीं हुआ।

नवाब के विरुद्ध षड्यन्त्र—नवाबी को नष्ट करने का निश्चय क्लाइव ने पहले ही कर लिया था। वह इसके लिए एक अच्छे अवसर की प्रतीक्षा कर रहा था। सिराजुद्दौला के विरुद्ध उसके बड़े-बड़े अफ़सरों ने मिलकर एक षड्यन्त्र रचा। नवाब की फ़ौज का बख्शी मीरजाफ़र भी उसमें शामिल था। वह अलीवर्दी खाँ का एक बहनोई था। अमीचन्द नामक एक सिक्ख सौदागर के द्वारा उन्होंने अँगरेज़ों से लिखा-पढ़ी करनी शुरू की। अमीचन्द ने कहा कि नवाब के खजाने में जो कुछ मिले, उसका ५ फ़ी सदी और जवाहिरात का चौथाई हिस्सा, कमीशन के रूप में, मुझे मिलना चाहिए। उसने इस बात की धमकी भी दी कि अगर मेरी माँग पूरी नहीं की जायगी तो मैं सब भण्डाफोड़ कर दूँगा। इस पर क्लाइव ने अमीचन्द को धोखा देने के लिए एक युक्ति सोच निकाली। मीरजाफ़र के साथ समझौता करने के लिए दो मसविदे तैयार किये गये। एक मसविदा लाल काग़ज़ पर और दूसरा सफ़ेद काग़ज़ पर था। असली मसविदा सफ़ेद काग़ज़ पर था। उसमें अमीचन्द के कमीशन की चर्चा नहीं की गई थी। लाल मसविदा झूठा था और वह धोखा देने के लिए ही तैयार किया गया था। वाटसन ने इस झूठे मसविदे पर दस्तखत करने से इनकार कर दिया। लेकिन क्लाइव ने उसका दस्तखत बनाकर अपना काम चलता किया। उसकी युक्ति सफल हुई। पीछे को उसने अपने इस काम को निर्दोष सिद्ध करने की चेष्टा की परन्तु उसके चरित्र पर यह कलङ्क सदा लगा रहेगा। मीरजाफ़र से वङ्गाल की नवाबी देने का वादा किया गया। उसके बदले में उसने अँगरेज़ों के सब अधिकार वापस देने का वचन दिया। इसके अतिरिक्त दण्ड-रूप में १ करोड़ रुपया और चौबीस परगने की ज़मींदारी भी देने का वादा किया। क्लाइव तथा कौंसिल के अन्य मेम्बरों को भी बहुत-सा धन देने का वचन दिया।

जब षड्यन्त्र का सब काम पक्का हो गया, तब क्लाइव ने सिराजुद्दौला के पास एक पत्र लिखा। इस पत्र में उस पर फ़्रांसीसियों के साथ लिखा-पढ़ी करने और सन्धि की शर्तों को भङ्ग करने का दोष लगाया गया। जब उसे नवाब से कोई उत्तर न मिला तब वह प्लासी की ओर रवाना हुआ। यह स्थान मुर्शिदा-

(प्लासी का युद्ध)
१७५७
मालपुर
सोनारडांगा
बलचर
नवाब की छावनी
मीर मदान
राजा दुर्लभ राय
रामनगर
आम का बगीचा
यार लुत्फ़ खाँ
मीर जाफ़र
भागीरथी
प्लासी गाँव
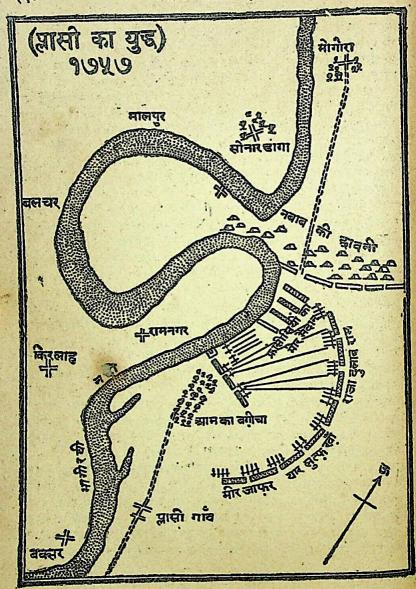
बाद के दक्षिण २३ मील की दूरी पर था। सिराजुद्दौला वहाँ पहले ही से ५० हज़ार आदमी इकट्ठा कर चुका था। २३ जनवरी को, दोपहर के समय, प्लासी की प्रसिद्ध लड़ाई हुई। नवाब की सेना के पैर उखड़ गये और वह मैदान छोड़कर भाग निकली। सिराजुद्दौला क़ैद कर लिया गया और मीरजाफ़र के बेटे मीरन ने उसे मार डाला। मीरजाफ़र अब बङ्गाल का नवाब हो गया।

प्लासी के युद्ध का महत्त्व—युद्ध-कला की दृष्टि से प्लासी की लड़ाई का विशेष महत्त्व नहीं है। यह कहना ठीक नहीं है कि अँगरेज़ों की विजय का कारण उनका सामाजिक सङ्गठन था। उनकी सफलता का मुख्य कारण उनकी चालाकी और नवाब के अफ़सरों का विश्वासघात था। अँगरेज़ों ने ही पहले सन्धि की शर्तों को तोड़ा और उन्होंने नवाब को पदच्युत करने के लिए छिपकर षड्यन्त्र किया। राजनीतिक दृष्टि से युद्ध का परिणाम महत्त्वपूर्ण था। इस युद्ध के बाद अँगरेज बङ्गाल के मालिक बन गये। सारे सूबे की सम्पत्ति उनके हाथ आ गई। नवाब उनके हाथों की कठपुतली बन गया। नई-नई माँगे पेश कर वे उसे तङ्ग करने लगे। बङ्गाल के धन की सहायता से ही दक्षिणी भारत में फ़्रांसीसियों के विरुद्ध अँगरेज़ों को सफलता मिली।

नवाब मीरजाफ़र—मीरजाफ़र बङ्गाल का नवाब हो गया। उससे कड़े शब्दों में सन्धि की शर्तों को पूरा करने के लिए कहा गया। क्लाइव तथा कौंसिल के अन्य सदस्यों को मुक्त हाथ से धन दिया गया। कुल २७३ लाख रुपया नवाब ने दिया। उसका अधिकार नाममात्र को रह गया। राज्य की असली शक्ति क्लाइव के हाथ मे थी। बड़े-बड़े प्रतिष्ठित हिन्दुओं की सहायता से ही उसने बङ्गाल में क्रान्ति की थी। इसलिए उसने उनकी रक्षा का भरसक प्रयत्न किया। सन् १७५९ ई० में अवध के नवाब वज़ीर की मदद से शाहज़ादा अलीगौहर ने बङ्गाल और विहार पर चढ़ाई की। अलीगौहर मुग़ल-सम्राट् का लड़का था, जो पीछे से शाहआलम द्वितीय के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उसने अपनी सेना के साथ पटना को घेर लिया। एक छोटी-सी सेना लेकर क्लाइव पटना की ओर रवाना हुआ। शाहज़ादा लौटकर अवध को चला गया। मीरजाफ़र क्लाइव से बहुत प्रसन्न हुआ और अपनी कृतज्ञता प्रकट करने के लिए उसने उसे एक जागीर दे दी। इस जागीर की वार्षिक आय तीस हज़ार पौंड थी। स्वयं अपने लिए इस सम्पत्ति को लेकर क्लाइव ने अनुचित काम किया, विशेषतः ऐसी स्थिति में जब वह जानता था कि नवाब मेरी माँग को किसी तरह इनकार नहीं करेगा। इसमें कम्पनी का भी दोष था। उसने अपने नौकरों के काम को अनुचित नहीं बताया और उन्हें कई वर्ष तक रुपया लेने दिया। क्लाइव ने अपनी शक्ति का प्रयोग कर, अपने विरोधियों को नीचा दिखाना चाहा। मीरजाफ़र ने, अँगरेज़ों से तङ्ग आकर, डच लोगों के साथ लिखा-पढ़ी शुरू की। उन्होंने उसकी

सहायता करने का वचन दिया। क्लाइव ने अपनी सब सेनाओं को इकट्ठा करके नवम्बर सन् १७५९ ई० में उनको हरा दिया। डच लोगों ने अपनी हार और ग़लती मान ली और हरजाना भी दिया। अँगरेज़ों का विरोध करने के लिए अब पूर्व में कोई यूरोपीय राष्ट्र बाक़ी न रह गया। सन् १७६० ई० में अस्वस्थ होकर क्लाइव इँगलैंड लौट गया।

गद्दी पर बैठने के साथ ही मीरजाफ़र के चारों ओर कठिनाइयाँ खड़ी हो गई थीं। कौंसिल के मेम्बरों की माँग को वह पूरा न कर सका। शासन-प्रबन्ध के कार्य को भी वह ठीक तरह से सङ्गठित नहीं कर सका। अँगरेज़ लोग बिना ज़िम्मेदारी के अपने अधिकार का उपभोग करते थे और उसके मार्ग में रोड़े अटकाते थे। हिन्दू मुसाहिब चाहते थे कि नवाब गद्दी से उतार दिया जाय। इसी लिए वे उसे धोखा देते थे। नवाब की आमदनी बहुत कम हो गई थी। उसका खज़ाना खाली हो गया था। कम्पनी के अफ़सरों को वह किसी तरह भारी रक़म नहीं दे सकता था। उसकी ऐसी दशा देखकर बङ्गाल की कौंसिल ने उसे गद्दी से उतार दिया और उसके दामाद मीरक़ासिम को नवाब बना दिया। वह एक योग्य और हौसलामन्द आदमी था। कम्पनी के नौकर हर तरह निजी लाभ उठाने के लिए प्रयत्न करते थे। उन्होंने मीरक़ासिम से बर्दवान, मिदनापुर और चटगाँव के ज़िले ले लिये। इसके अतिरिक्त कौंसिल के मेम्बरों ने अपने लिए २ लाख पौण्ड और लिये। रिश्वत और व्यापार दोनों साथ-साथ चलते थे। कम्पनी के कर्मचारियों में उचित-अनुचित, तथा आत्म-सम्मान का विचार नहीं था। वे अपने मालिकों को हानि पहुँचाते थे और केवल अपने लाभ का ख़याल करते थे।

मीरक़ासिम और अँगरेज़—मीरक़ासिम बड़ा योग्य तथा अनुभवी शासक था। वह बङ्गाल की दशा से भली भाँति परिचित था। बिगड़ी हुई दशा को सुधारने का निश्चय कर उसने अपनी स्थिति को दृढ़ करने की चेष्टा की। उसने अपनी सेना में विदेशों के सैनिक भर्ती किये। समरू (Sombre or Sumroo) नामक एक जर्मन को उसने अपना सेनापति बनाया और मुर्शिदाबाद से अपनी राजधानी हटाकर मुँगेर ले गया। उसने अँगरेज़ों के चङ्गुल से छुटकारा पाने की कोशिश की। मीरजाफ़र की तरह उसे भी यह मालूम हो गया कि अँगरेज़ अफ़सरों की रुपये की माँग को पूरा करना कठिन है। देश के भीतर होनेवाले व्यापार के प्रश्न पर उसके और अँगरेज़ों के बीच शीघ्र झगड़ा हो गया। मुग़ल बादशाहों के फरमानों से कम्पनी को बिना महसूल दिये व्यापार करने का अधिकार मिला था। पीछे से कम्पनी के नौकरों ने अपनी निजी व्यापार में भी इस अधिकार का प्रयोग करना चाहा। मीरजाफ़र ने उनकी इस बात को मान लिया था। अँगरेज़ लोग बिना कुछ महसूल दिये नमक, सुपारी और तम्बाकू आदि चीज़ों का व्यापार करते थे। दस्तक निकालकर वे यह दिखाते थे कि सब माल

कम्पनी के नौकरों का है। परन्तु अधिकतर अनुचित लाभ उठाने के लिए माल गुमाश्तों को दे दिया जाता था। इसका नतीजा यह हुआ कि नवाब की आय धीरे-धीरे कम होती गई और उसकी प्रजा को अँगरेज़ों के एकाधिकार के कारण हानि उठानी पड़ी। उसने बङ्गाल कौंसिल के पास कम्पनी के नौकरों की शिकायत लिख भेजी। परन्तु उसका कुछ परिणाम न हुआ। तब अत्यन्त क्रुद्ध होकर उसने सब कर उठा दिये और अँगरेज़ों का एकाधिकार छीन लिया। कौंसिल का बर्ताव ऐसा अनुचित था कि नवाब और अँगरेज़ों में शीघ्र युद्ध छिड़ गया। मीरक़ासिम पराजित हुआ। उसे गद्दी से उतारकर मीरजाफ़र को एक बार फिर नवाब बनाया गया। विवश होकर नये नवाब ने अँगरेज़ों को फिर सब अधिकार दे दिये। मीरक़ासिम ने पटना के अँगरेज़ों को मार डालने की धमकी दी। समरू ने आज्ञा पाकर, २०० अँगरेज़ों के साथ कोठी के अध्यक्ष एलिस को क़ैद कर लिया और सबको क़त्ल करा दिया। यह घटना 'पटना का हत्याकाण्ड' (Massacre of Patna) के नाम से प्रसिद्ध है।

बक्सर का युद्ध (१७६४ ई०)—मीरक़ासिम ने मुग़ल-सम्राट् तथा अवध के नवाब वज़ीर के साथ मेल करके अँगरेज़ों के विरुद्ध लड़ने की तैयारी की। उनकी सब सेना में मिलाकर चालीस हज़ार से साठ हज़ार तक सैनिक थे। वे सब बक्सर पहुँचे। २३ अक्टूबर सन् १७६४ ई० को जब लड़ाई हुई तो वे हार गये। अँगरेज़ों की सेना में कुल ७,०७२ सिपाही (जिनमें से ८५७ गोरे थे) और बीस तोपें थीं। मीरक़ासिम बड़ी वीरता के साथ लड़ा परन्तु अन्त में वह हार गया। उसकी पराजय का प्रधान कारण यह था कि मुग़ल-सम्राट् तथा अवध के नवाब ने दिल खोलकर उसकी सहायता नहीं की। शाहआलम अँगरेज़ों की शरण में आ गया। मीरक़ासिम और नवाब वज़ीर लड़ाई के मैदान से भाग गये।

बक्सर के युद्ध ने प्लासी के काम को पूरा कर दिया। इस विजय ने वास्तव में भारत में अँगरेज़ों की शक्ति को जमा दिया। अँगरेज़ों की प्रतिष्ठा और भी बढ़ गई, विशेषतः इसलिए कि मुग़ल-सम्राट् और उसके वज़ीर भी उनसे हार गये। मीरजाफ़र फिर नवाब हो गया। परन्तु १७६५ ई० में उसकी मृत्यु हो गई। उसके बाद उसका बेटा नजमुद्दौला गद्दी पर बैठा। वह अँगरेज़ों के हाथ में कठपुतली की तरह नाचता था और उसके राज्य में अँगरेज़ों ने पूर्ण अधिकार स्थापित कर लिया था।

सन् १७६५ ई० में कम्पनी की स्थिति—कम्पनी के नौकर बिलकुल आचरण-भ्रष्ट हो रहे थे। वे अब भी निजी व्यापार करते और भेंट लेते थे। कम्पनी के हिताहित की उन्हें कुछ भी पर्वाह नहीं थी। वे अपनी इच्छा के अनुसार नवाबों को गद्दी पर बिठाते और उतारते थे। वे ऐसा युद्ध आरम्भ कर देते थे जिससे कम्पनी को लाभ की अपेक्षा हानि अधिक होती थी। ऐसी दशा में कम्पनी

के सञ्चालकों ने क्लाइव को बङ्गाल का गवर्नर और प्रधान सेनापति बनाकर फिर दूसरी बार भारत भेजा। वह अब की बार यह निश्चय करके आया कि कम्पनी के नौकरों और गुमाश्तों की सब बुराइयाँ दूर करेगा। मई सन् १७६५ ई० में वह हिन्दुस्तान आ पहुँचा।

क्लाइव का दूसरी बार शासन (१७६५-६७)—इस काल में क्लाइव ने तीन मुख्य काम किये। पहला काम कम्पनी की फ़ौजी और दीवानी नौकरियों में सुधार करना था। दूसरा काम बङ्गाल की दीवानी (मालगुज़ारी वसूल करने का अधिकार) का प्राप्त करना था। तीसरा काम था दूसरे राज्यों के साथ कम्पनी का सम्बन्ध ठीक करना।

शासन-सुधार—पहले उसने कम्पनी के कर्मचारी-विभाग के दोषों को दूर करने का प्रयत्न किया। कम्पनी के कर्मचारियों में घूस और नज़राना लेने की चाल बहुत बढ़ गई थी। छोटे कर्मचारियों को बहुत जल्दी तरक्क़ी मिल जाती थी। निजी व्यापार द्वारा प्रत्येक मनुष्य अपने को धनाढ्य बनाने की कोशिश में लगा हुआ था। बहुत जल्दी-जल्दी तरक्क़ी देने की प्रथा को क्लाइव ने रोक दिया। उसने कर्मचारियों से प्रतिज्ञा-पत्र लिखवाये कि वे बहुमूल्य भेंट नहीं लेंगे। उनका वेतन कम था, इसलिए बड़े कर्मचारियों को क्लाइव ने नमक के व्यापार का एकाधिकार दिलवा दिया। एक व्यापार-समिति बनाई गई किन्तु बाद को डाइरेक्टरों की सभा ने उसे बन्द कर दिया। क्लाइव के फ़ौजी सुधारों से भी कम्पनी की स्थिति बहुत कुछ दृढ़ हो गई। नवाब की सेना को भी उसने घटा दिया। पहले सिपाहियों को दोहरा भत्ता दिया जाता था। क्लाइव ने उसको बन्द कर दिया। इन सुधारों का अफ़सरों ने विरोध किया परन्तु क्लाइव उनकी धमकी में आनेवाला व्यक्ति नहीं था। जिन्होंने नौकरी छोड़ देने की धमकी दी, उनका इस्तीफ़ा उसने शीघ्र स्वीकार कर लिया।

दूसरे राज्यों के साथ सम्बन्ध—क्लाइव ने अवध के नवाब वज़ीर और मुग़ल-सम्राट् के साथ कम्पनी का सम्बन्ध ठीक कर दिया। वान्सिटार्ट (Vansittart) ने सम्राट् को अवध देने का वादा किया था किन्तु क्लाइव ने ऐसा करना मूर्खता समझा। १६ अगस्त सन् १७६५ ई० को इलाहाबाद में सम्राट् के साथ सन्धि हुई। इस सन्धि की शर्तों के अनुसार कड़ा और इलाहाबाद के अतिरिक्त अवध का शेष भाग नवाब को लौटा दिया गया। लड़ाई के हरजाने के रूप में कम्पनी को ५० लाख रुपया देने के लिए नवाब राज़ी हो गया। उसके साथ एक सन्धि भी हो गई जिसके अनुसार दोनों ने एक दूसरे की मदद करने का वादा किया। अँगरेज़ इस बात पर राज़ी हो गये कि यदि नवाब ख़र्च देगा तो वे उसकी सीमा की रक्षा के लिए सेना देंगे। शाहआलम के साथ सन्धि का प्रश्न कठिन था। उसने अपनी इच्छा के विरुद्ध अँगरेज़ों को

बङ्गाल, विहार और उड़ीसा की दीवानी अर्थात् कर वसूल करने का अधिकार दे दिया। इसके वदले क्लाइव ने उसकी प्रतिष्ठा को बनाये रखने के लिए उसे कड़ा और इलाहाबाद के ज़िले दे दिये। इसके अतिरिक्त उसने सम्राट् को २६ लाख रुपया सालाना पेन्शन देना भी स्वीकार किया। शाहआलम ने कम्पनी को यह अधिकार भी दिया कि १० वर्ष के बाद वह क्लाइव की जागीर का उपभोग करे। दीवानी के मिलने से कम्पनी की स्थिति में बड़ा महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो गया। अब से मालगुज़ारी वसूल करने का अधिकार कम्पनी के हाथ में आ गया और निज़ामत, अर्थात् सैनिक शक्ति और फ़ौजदारी का इन्साफ़ नवाब के अधिकार में रहा। इस प्रकार क्लाइव ने बङ्गाल में दोहरा राज्य स्थापित कर दिया जिससे बाद को बड़ी-बड़ी कठिनाइयाँ उपस्थित हुईं। अँगरेज़ों के हाथ में अधिकार तो बहुत आ गया। परन्तु उनके ऊपर शासन की ज़िम्मेदारी कुछ भी न रही।

क्लाइव का इँगलेण्ड लौटना—चिन्ता और अधिक परिश्रम करने के कारण क्लाइव अस्वस्थ हो गया था। इसलिए वह १७६७ ई० में इँगलेंड लौट गया। उसके शत्रुओं ने उसको बदनाम करने की चेष्टा की। उस पर बेईमानी का इलज़ाम लगाया। किन्तु उनके सब प्रयत्न विफल हुए। अन्त में पार्लियामेंट ने एक प्रस्ताव पास किया और उसकी महान् सेवाओं की प्रशंसा की। परन्तु क्लाइव को इन सब बातों से बड़ा दुःख हुआ। उसने १७७४ ई० में, ५० वर्ष की अवस्था में, आत्महत्या कर ली।

क्लाइव का चरित्र—क्लाइव बड़ा बुद्धिमान्, राजनीतिक मामलों में चतुर और दृढ़प्रतिज्ञ मनुष्य था। कठिन से कठिन स्थिति में भी उसकी समझ में यह बात तुरन्त आ जाती थी कि इस समय क्या करना चाहिए। अपने देश के प्रति उसके हृदय में अपूर्व भक्ति थी और अपनी समझ के अनुसार वह उसकी सेवा के लिए सदैव उद्यत रहता था। उसमें नेता बनने की योग्यता थी। कठिन परिस्थितियों में भी वह कभी व्याकुल नहीं होता था। उसके शत्रु भी उसके इन गुणों की प्रशंसा करते थे अपनी शक्ति और पराक्रम द्वारा उसने भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना की और अपने व्यक्तित्व के बल से उसने जितना कार्य किया उतना कार्य अधिक धन और साधन के होते हुए भी दूसरे लोग नहीं कर सकते थे। क्लाइव में दोष भी थे। उसे अनुचित उचित का कुछ विचार नहीं था। उसने बहुमूल्य भेंटें लीं और कम्पनी के नियमों के विरुद्ध काम किया। अपने ओहदे का दुरुपयोग कर उसने अपने को धनाढ्य बना लिया। उसने वाटसन के जाली दस्तखत बनाये और साथ ही यह भी ज़ोर से कहा कि देश की भलाई के लिए मैं फिर ऐसा कर सकता हूँ। इन दोषों के होते हुए भी इसमें सन्देह नहीं कि वह एक बड़ा दूरदर्शी राजनीतिज्ञ था। वह जानता था कि कठिन समय

में किस प्रकार काम करना चाहिए और किस प्रकार उपलब्ध साधनों-द्वारा अधिक से अधिक लाभ उठाया जा सकता है।

संक्षिप्त सनुवार विवरण

मुर्शिद क़ुली खाँ की मृत्यु	१७२५ ई०
अलीवर्दी खाँ का बङ्गाल का गवर्नर होना ..	१७४१ ,,
अलीवर्दी खाँ की मृत्यु	१७५६ ,,
प्लासी का युद्ध	१७५७ ,,
मीरजाफ़र का बङ्गाल का नवाव होना	१७५७ ,,
शाहज़ादा अलीगौहर का बङ्गाल पर आक्रमण ..	१७५९ ,,
क्लाइव का डच लोगों को हराना ..	१७५९ ,,
क्लाइव का इँगलेंड लौटना	१७६० ,,
मीरक़ासिम का बङ्गाल का नवाव होना	१७६० ,,
बक्सर की लड़ाई	१७६४ ,,
मीरजाफ़र की मृत्यु	१७६५ ,,
क्लाइव का दूसरी बार गवर्नर होकर आना ..	१७६५ ,,
क्लाइव का इँगलेंड वापस जाना	१७६७ ,,
क्लाइव की मृत्यु	१७७४ ,,

अध्याय २१

बङ्गाल का नया प्रबन्ध

वारेन् हेस्टिंग्ज़ (Warren Hastings—१७७२-८५ ई०)

क्लाइव के जाने के बाद बंगाल की दशा—क्लाइव के इँगलेंड लौट जाने के बाद वर्ल्स्ट (Verelst—१७६७-६९) और कार्टियर (Cartier—१७७०-७२) बङ्गाल के गवर्नर नियुक्त हुए। वे साधारण योग्यता के मनुष्य थे। इन पाँच वर्षों के अन्दर दोहरे शासन-प्रबन्ध के दोष स्पष्ट दिखाई देने लगे। बङ्गाल का आधा प्रबन्ध कम्पनी के हाथ में था और आधा नवाब के। इस प्रकार प्रबन्ध का दायित्व दोनों पर बँटा था। लेकिन असल में इससे बड़ी गड़बड़ी होती थी। कार्य-काल की अवधि के निश्चित न होने से नवाब तथा कम्पनी के अफ़सर यथासम्भव अधिक से अधिक रुपया पैदा करने की

चेष्टा करते थे। क्लाइव ने जिन बुराइयों को सख्ती के साथ दूर किया था वे फिर दिखाई देने लगी। सन् १७६९-७० ई० में बङ्गाल में एक भीषण दुर्भिक्ष पड़ा। इससे लोगों को भयानक पीड़ा हुई। उनकी दशा अत्यन्त शोचनीय हो गई। उस समय के विवरणों से मालूम होता है कि अपनी क्षुधा को शान्त करने के लिए लोग लाशों को भी खा जाते थे। कम्पनी के नौकरों ने चावल खरीदकर इकट्ठा कर लिया और फिर उसे अधिक दाम लेकर बेचा। मालगुज़ारी बड़ी सख्ती के साथ वसूल की गई। किसानों और ज़मींदारों के बहुत से कुटुम्ब नष्ट हो गये। कम्पनी का लाभ कम हो गया। उसकी प्रतिष्ठा में बड़ा बट्टा लगा। रुपये के अभाव के कारण उसकी धाक कम हो गई। बङ्गाल के बाहर की राजनीतिक स्थिति भी क्लाइव के जाने के बाद बदल गई थी। पानीपत की पराजय के बाद मराठों ने फिर अपनी खोई हुई शक्ति को प्राप्त कर लिया। अब वे उत्तरी भारत पर छापा मारने लगे। मुग़ल-सम्राट् उनकी संरक्षकता में इलाहाबाद से दिल्ली चला गया था। अवध के नवाब के साथ जो मैत्री-सम्बन्ध स्थापित था, वह शिथिल पड़ गया। किन्तु कोई झगड़ा नहीं हुआ।

बङ्गाल का गवर्नर वारेन् हेस्टिंग्ज़ (सन् १७७२-७४)—वारेन् हेस्टिंग्ज़ १७५० ई० में, १८ वर्ष की अवस्था में, ईस्ट इण्डिया कम्पनी में एक लेखक होकर आया था। उसको हिन्दुस्तान के मामलों का बड़ा अनुभव प्राप्त हो गया था। सन् १७६८ ई० से १७७२ ई० तक वह मद्रास-कौंसिल का मेम्बर रह चुका था। १७७२ ई० में वह बङ्गाल का गवर्नर नियुक्त किया गया। इस पद पर उसने दो वर्ष तक काम किया। उसने अनेक सुधार किये जिनसे कम्पनी की शक्ति अधिक बढ़ गई। नवाब की पेन्शन ३२ लाख से घटाकर १६ लाख कर दी गई और दोहरे प्रबन्ध की प्रणाली उठा दी गई। कम्पनी ने वास्तव में दीवान बनने का निश्चय किया और चाहा कि अपने ही गुमाश्तों द्वारा बङ्गाल, बिहार और उड़ीसा की मालगुज़ारी वसूल करे। खज़ाना मुर्शिदाबाद से कलकत्ता हटा दिया गया और वहाँ एक 'सेण्ट्रल बोर्ड आफ़ रेवेन्यू' स्थापित किया गया। प्रत्येक जिले में नायब दीवान की जगह अँगरेज़ कलक्टर नियुक्त किये गये। मालगुज़ारी को वसूल करने का असली ज़िम्मा उन्हीं के हाथों में था। अभी तक मालगुज़ारी का सालाना बन्दोबस्त होता था। किन्तु उससे बड़ी हानि और तकलीफ़ उठानी पड़ती थी। हेस्टिंग्ज़ ने उसके स्थान पर पञ्चवर्षीय (पंचसाला) बन्दोबस्त करने का नियम बना दिया। ज़मीन का ठेका उन्हें दिया गया जो सबसे अधिक देने के लिए तैयार हुए। इस बन्दोबस्त से बङ्गाल के पुराने परिवारों को अधिक हानि उठानी पड़ी, क्योंकि उनके हाथ से ज़मीन निकल गई। सन् १७७७ ई० में डाइरेक्टरों के बोर्ड ने सालाना बन्दोबस्त को फिर से दुहराया। किन्तु जिस उद्देश्य को सामने रखकर उन्होंने इस बन्दोबस्त को किया

था वह पूरा न हुआ। न्याय-विभाग का सङ्गठन फिर से किया गया। ज़िले की दीवानी और फ़ौजदारी दोनों अदालतें कलक्टर के अधीन थीं। हेस्टिंग्ज़ ने कलकत्ते में अपील की दो अदालतें स्थापित कीं। एक का नाम था सदर दीवानी अदालत और दूसरी का सदर निज़ामत अदालत। सदर दीवानी अदालत में माल के मुक़दमों की अपीलें सुनी जाती थीं और सदर निज़ामत अदालत में फ़ौजदारी की अपीलें तय होती थीं। पहली अदालत में गवर्नर-जनरल और कौंसिल के दो मेम्बर बैठते थे। दूसरी अदालत में एक मुसलमान जज प्रधान का काम करता था।

हेस्टिंग्ज़ हिन्दुस्तानियों को न्याय-विभाग से अलग रखना चाहता था और यदि उसको पूरा अधिकार दिया जाता तो वह सब अदालतों को अँगरेज़ों के ही सुपुर्द कर देता। उसने ऐसे नियम बना दिये जो सब अदालतों में चालू किये गये और हिन्दू-धर्मशास्त्र का अँगरेज़ी में अनुवाद कराया। पुलिस को भी सङ्गठित किया और डाकुओं और संन्यासियों का, जो लड़कों को भगा ले जाते थे, दमन किया। तिव्वत के साथ व्यापारिक सम्वन्ध स्थापित करने के लिए उसने वहाँ एक मिशन भेजा।

यह नहीं कहा जा सकता कि हेस्टिंग्ज़ शासन-प्रवन्ध को पूर्णतया सुधारने में सफल हुआ। वास्तव में उसमें इतने दोष पैदा हो गये थे कि सबको दूर करना बड़ा कठिन था। यद्यपि इनमें से अनेक सुधार डाइरेक्टरों के प्रयत्न से हुए परन्तु इस कारण हेस्टिंग्ज़ की प्रशंसा न करना अन्याय होगा। उसने अपने काम को बड़ी योग्यता, उत्साह और जोश के साथ पूरा किया। यह खेद की वात है कि उसका कार्य समाप्त होने के पहले ही उसके हाथ से शक्ति छीन ली गई।

विदेशी नीति—अपने वाप-दादों के सिंहासन को प्राप्त करने की आशा से मुग़ल-सम्राट् शाहआलम सिन्धिया की संरक्षकता में दिल्ली चला गया। वह पहले ही मराठों को इलाहावाद और कड़ा के ज़िले दे चुका था। हेस्टिंग्ज़ ने सोचा कि बङ्गाल की सीमा पर स्थित इन दो पूर्वी ज़िलों का मराठों के हाथ में जाना बड़ा अनिष्टकारी होगा। उसने तुरन्त शाहआलम की पेन्शन बन्द कर दी। कड़ा और इलाहावाद के ज़िलों को उसने अवध के नवाव को लौटा दिया। इसके बदले में नवाव ने कम्पनी को ५० लाख रुपया देने का वादा किया। मुग़ल-सम्राट् को २६ लाख रुपया सालाना की पेन्शन १७६९ ई० से नहीं मिली थी। इससे अँगरेज़ों की नेकनीयती पर शाहआलम को सन्देह होने लगा था। नवाव वज़ीर के साथ वनारस की जो सन्धि हुई थी उसके कारण रुहेला-युद्ध हुआ। इसके लिए वाद को हेस्टिंग्ज़ की बहुत कड़े शब्दों में निन्दा हुई।

रुहेला-युद्ध—(१७७३-७४)—रुहेला-युद्ध के लिए वाद को हेस्टिंग्ज़ पर बड़ा दोषारोपण किया गया था इसलिए ठीक से यह जान लेना उचित है कि इस युद्ध का क्या कारण था। रुहेलखण्ड दोआब का एक उपजाऊ भाग है।

उस समय वहाँ हाफ़िज़ रहमत ख़ाँ नामक एक पठान शासन करता था। जिस प्रकार अन्य बहुत से सरदारों ने मुग़ल-साम्राज्य के कुछ भाग को दबाकर स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिये थे, उसी तरह उसने भी अपना राज्य बनाया था। मराठों ने रुहेलखण्ड के सीमा-प्रान्त पर आक्रमण किया। पठान राजा की स्थिति बड़ी भयङ्कर हो गई। सन् १७७२ ई० में रुहेलों ने नवाब वज़ीर के साथ बनारस में सन्धि की थी और यह तय हुआ था कि यदि रुहेलों पर मराठे हमला करेंगे तो नवाब उनकी सहायता करेगा और इसके बदले में रुहेले नवाब को ४० लाख रुपया देंगे। सन् १७७३ ई० में मराठों ने रुहेलखण्ड पर आक्रमण किया। अँगरेज़ी फ़ौज की मदद से अवध के नवाब वज़ीर ने उन्हें हराकर भगा दिया। मराठों के लौट जाने पर नवाब ने ४० लाख रुपया माँगा। इस पर हाफ़िज़ रहमत ख़ाँ ने टालमटोल की। तब नवाब ने रुहेलों को दण्ड देने के लिए अँगरेज़ों से सहायता माँगी। हेस्टिंग्ज़ को उस समय रुपये की बड़ी आवश्यकता थी। इसलिए वह एक अँगरेज़ी फ़ौज देने के लिए राज़ी हो गया। नवाब और अँगरेज़ों की संयुक्त सेना रुहेलखण्ड की ओर रवाना हुई और उसने रुहेलों को (२३ अप्रैल सन् १७७४ ई०) मीरनकटरा के युद्ध में पराजित किया। हाफ़िज़ रहमत अन्त समय तक लड़ता हुआ मारा गया। रुहेले, जिनकी संख्या २०,००० थी, ज़बरदस्ती देश से निकाल दिये गये। उनका राज्य शुजाउद्दौला के राज्य में मिला लिया गया।

इस युद्ध के लिए हेस्टिंग्ज़ की कड़े शब्दों में निन्दा की गई है। हेस्टिंग्ज़ पर दोषारोपण करनेवालों ने रुहेलों की मुसीबतों का वर्णन नमक-मिर्च लगाकर किया है। परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि रुहेलों ने अँगरेज़ों का कुछ नहीं बिगाड़ा था। इस मामले में हेस्टिंग्ज़ ने अपनी स्वाभाविक विचारशीलता से काम नहीं किया। जिन कारणों से प्रभावित होकर उसने इस युद्ध में भाग लिया उनसे उसकी बुद्धि और अनुभव की सराहना नहीं की जा सकती। सबसे अच्छी बात तो यह होती कि वह दोनों को लड़ने देता और स्वयं अलग रहता। इसमें हस्तक्षेप करने के लिए कम्पनी किसी सन्धि से बाध्य नहीं थी। हेस्टिंग्ज़ का यह ख़याल ग़लत था कि प्रतिज्ञा-पत्र उसे ऐसा करने के लिए विवश कर रहे थे। इसके अतिरिक्त जिस आशा से उसने इस नीति का अनुशीलन किया था वह भी पूरी नहीं हुई। हाफ़िज़ रहमत ख़ाँ एक दयालु और उदार शासक था। उस समय के अन्य राजाओं की अपेक्षा ग़ैर-मुसलमान प्रजा के साथ उसका व्यवहार अच्छा था। शुजाउद्दौला का शासन अच्छा नहीं था। उसकी मृत्यु के बाद, उसके उत्तराधिकारियों के शासन-काल में, रुहेलखण्ड की दशा और भी ख़राब हो गई।

रेग्यूलेटिंग ऐक्ट (१७७३)—ईस्ट इंडिया कम्पनी के मामलों की ओर अब इँगलेंड की सरकार का ध्यान आकृष्ट हुआ। सन् १७७३ ई० में जाँच करने से यह मालूम हुआ कि कम्पनी का सालाना ख़र्च बहुत बढ़ गया है और उसका

दिवाला निकलनेवाला है। उसके संचालकों ने सरकार से कहा कि यदि कम्पनी को क़र्ज़ नहीं मिलेगा तो उसके लिए भारत में अपना कार-बार चलाना असम्भव हो जायगा। बहुत वाद-विवाद के बाद १७७३ ई० में दो क़ानून (ऐक्ट) पास किये गये। पहले क़ानून से कम्पनी को कुछ शर्तों पर ४ प्रति सैकड़ा व्याज पर १४ लाख पौंड का क़र्ज़ मिला। दूसरे क़ानून का नाम रेग्यूलेटिंग ऐक्ट (Regulating Act) था। इसके अनुसार कम्पनी के शासन-विधान का संशोधन हुआ और उसमें कुछ परिवर्तन किया गया। कम्पनी के मामलों पर इँगलेंड की सरकार का नियन्त्रण रक्खा गया। रेग्यूलेटिंग ऐक्ट में निम्नलिखित बातें थीं—

(क) बङ्गाल का गवर्नर भारत का गवर्नर-जनरल बना दिया गया और उसका कार्य-काल ५ वर्ष नियत किया गया। भारत के सारे सूबों पर उसका अधिकार स्थापित कर दिया गया।

(ख) उसकी सहायता के लिए चार मेम्बरों की एक कौंसिल बनाई गई, परन्तु मतभेद होने पर गवर्नर-जनरल को कौंसिल की राय रद्द करने का अधिकार नहीं दिया गया।

(ग) गवर्नर-जनरल को मद्रास और बम्बई अहातों की विदेशी नीति पर नियन्त्रण रखने का अधिकार मिला।

(घ) भारत की मालगुज़ारी के सम्बन्ध में जो लिखा-पढ़ी होती थी उसे कम्पनी के डाइरेक्टर इँगलेंड की सरकार के सामने उपस्थित करने के लिए बाध्य हो गये। साथ ही यह भी नियम हुआ कि फ़ौजी अथवा व्यापारिक मामलों के सम्बन्ध में कम्पनी जो कुछ कार्यवाही करे, उसकी सूचना इँगलेंड की सरकार को दे।

(ङ) कलकत्ते में 'सुप्रीम कोर्ट' नाम की एक बड़ी अदालत स्थापित हुई। उस पर गवर्नर-जनरल और उसकी कौंसिल का कुछ भी अधिकार न था। सर एलीजा इम्पी इस अदालत का सबसे बड़ा जज नियुक्त हुआ।

इन सब अफ़सरों को अच्छी-अच्छी तनख्वाहें दी गईं और व्यापार करने और भेंट लेने की मनाही कर दी गई।

रेग्यूलेटिंग ऐक्ट द्वारा इँगलेंड की सरकार ने ब्रिटिश भारत के शासन को नया रूप देने का प्रयत्न किया। उसमें कई दोष थे। कम्पनी पर इँगलेंड की सरकार ने अपना अधिकार तो स्थापित कर लिया; परन्तु वस्तुतः व्यवहार-रूप में, उससे अधिक लाभ न हुआ। इसका कारण यह था कि मन्त्रि-मण्डल को अपने ही कामों से फ़ुर्सत नहीं मिलती थी। गवर्नर-जनरल को यह अधिकार नहीं दिया गया कि वह कौंसिल के बहुमत को रद्द कर सके। मेम्बरों की दलबन्दी और शत्रुता के कारण उसके मार्ग में बड़ी बाधाएँ पड़ीं। मद्रास और बम्बई अहातों के सिर्फ़ विदेशी मामले ही भारत-सरकार के अधीन रक्खे गये। अपने अन्दरूनी मामलों में वे अपने इच्छानुसार काम करने के लिए स्वतन्त्र थे। सुप्रीम

कोर्ट के अधिकारों की ठीक-ठीक व्याख्या नहीं की गई थी। इसके कारण कौंसिल और कोर्ट में झगड़ा होता था और इन झगड़ों से शासन-कार्य में बड़ी रुकावट पैदा होती थी।

कौंसिल के सदस्यों का विरोध—भारत में पहुँचते ही कौंसिल के मेम्बर गवर्नर-जनरल का विरोध करने लगे। उन्होंने उसके मार्ग में हर प्रकार की रुकावट डालने का प्रयत्न किया। फ़्रांसिस (Francis) नामक मेम्बर उसका घोर शत्रु था। उसने हेस्टिंग्ज़ पर बड़ी तीव्रता के साथ आक्रमण किया और बड़े कड़े शब्दों में उसके कार्य्यों की निन्दा की। रुहेला-युद्ध की निन्दा की गई और कम्पनी की विदेशी नीति पलट दी गई। अवध के नवाब वज़ीर के साथ एक नई सन्धि हो गई और उसकी आर्थिक सहायता बढ़ा दी गई। जब मराठा-युद्ध छिड़ा तब कौंसिल और गवर्नर-जनरल में मतभेद खड़ा हो गया।

नन्दकुमार का मुक़दमा—इतने पर सन्तुष्ट न होकर कौंसिल के मेम्बरों ने हेस्टिंग्ज़ के व्यक्तिगत चरित्र पर भी आक्षेप किया। उन्होंने राजा नन्दकुमार को, उस पर रिश्वत लेने का अभियोग लगाने के लिए, उत्साहित किया। नन्द-कुमार एक उच्च कुल का बङ्गाली ब्राह्मण था। उसने कौंसिल के सामने कहा कि हेस्टिंग्ज़ ने मीरजाफ़र की विधवा बेगम से साढ़े तीन लाख रुपया, रिश्वत में, लिया है। हेस्टिंग्ज़ ने उसकी बात सुनने से इनकार कर दिया और साथ ही कौंसिल को बर्खास्त कर दिया। परन्तु मेम्बरों ने कुछ भी पर्वाह न की। उन्होंने इस आशय का एक प्रस्ताव पास किया कि हेस्टिंग्ज़ ने रिश्वत ली है। यह बात सत्य है कि उसने डेढ़ लाख रुपया लिया था और उसके बड़े से बड़े समर्थक भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि उसने इस रुपये को लेने में ग़लती की थी। हेस्टिंग्ज़ के भाग्य से नन्दकुमार पर उसी समय मोहनप्रसाद नामक कलकत्ते के व्यापारी ने जालसाज़ी का मुक़दमा चलाया। उसका अपराध साबित हो गया और उसे फाँसी की सज़ा दी गई।

बाद को हेस्टिंग्ज़ पर यह दोष लगाया गया कि उसने जज इम्पी की सहायता से नन्दकुमार को फाँसी की सज़ा दिलाई थी। परन्तु यह दोष सर्वथा निर्मूल था। नन्दकुमार का मुक़दमा बड़ी सावधानी के साथ किया गया था। इतना मानना पड़ेगा कि उसे जो दण्ड दिया गया, वह अवश्य बहुत कठोर था। यह भी स्पष्ट नहीं है कि इस मुक़दमे को करने का अधिकार सुप्रीम कोर्ट को था भी या नहीं। कुछ हो, नन्दकुमार के मामले में अँगरेज़ी क़ानून का प्रयोग करना सर्वथा अनुचित था। इसके अतिरिक्त जेल में उसके साथ बड़ी सख़्ती का बर्ताव किया गया और उसके ब्राह्मण होने का कुछ भी खयाल नहीं किया गया। यद्यपि हेस्टिंग्ज़ ने बदला लेने के लिए उसे फाँसी नहीं दिलाई परन्तु उसके साथ अन्याय अवश्य हुआ। अपने पुराने शत्रु की मृत्यु से हेस्टिंग्ज़ को जो

प्रसन्नता हुई उससे लोगों ने नतीजा निकाला कि नन्दकुमार की फाँसी का कारण वही था।

मराठों की पहली लड़ाई (१७७५-८२)—मराठे अँगरेज़ों के सबसे ज़बर्दस्त शत्रु थे। उनकी घरेलू राजनीति में भाग लेकर अँगरेज़ों ने उन पर अपना प्रभाव जमाना चाहा। सन् १७७२ ई० में मराठों के चौथे पेशवा माधवराव की मृत्यु हो गई। इससे अँगरेज़ों को एक अच्छा अवसर मिला गया। माधवराव के बाद उसका छोटा भाई नारायणराव पेशवा बना। ९ महीने के बाद वह मार डाला गया। फिर उसका चचा राघोवा पेशवा हुआ। परन्तु उस पर अपने भतीजे नारायणराव के ख़ून करने का सन्देह किया गया। उसके विरोधियों ने नारायण-राव के लड़के को—जो उसकी मृत्यु के बाद पैदा हुआ था—पेशवा बनाना चाहा। राघोवा ने उसके दावे को झूठा ठहराया और अँगरेज़ों से सहायता माँगी। बम्बई की सरकार के साथ, ७ मार्च सन् १७७५ ई० को, उसने सूरत में एक सन्धि कर ली जिसके अनुसार अँगरेज़ों को, सहायता के बदले में, सालसट और बेसीन के टापू देने का वादा किया। अँगरेज़ों ने शीघ्र सालसट पर अधिकार कर लिया।

कलकत्ते की सरकार ने सूरत की सन्धि को अस्वीकार किया। वारेन् हेस्टिंग्ज़ ने उसके इस कार्य को 'आपत्तिजनक, अननुमोदित तथा नीति और न्याय के विरुद्ध' बतलाया। एक अँगरेज़ कर्नल पूना भेजा गया। उसने एक दूसरे मराठा नेता नाना फड़नवीस के साथ, मार्च सन् १७७६ ई० में, पुरन्दर नामक स्थान पर एक नई सन्धि कर ली। इसके अनुसार अँगरेज़ों ने इस शर्त पर राघोवा की सहायता करने से हाथ खींच लिया कि सालसट पर उनका अधिकार रहने दिया जाय। डाइरेक्टरों ने इस सन्धि को पसन्द नहीं किया। उन्होंने सलाह दी कि सूरत की सन्धि का पालन और राघोवा के पक्ष का समर्थन किया जाय। पुरन्दर की सन्धि का पालन न तो अँगरेज़ों ने किया और न मराठों ने। इसी बीच पेशवा के पास फ़्रांसीसियों का एक दूत पहुँचा। उसने अपने देश के लिए कुछ सुविधाएँ प्राप्त कीं। बस, अँगरेज़ों को युद्ध करने का बहाना मिल गया।

फिर क्या था, सन् १७७८ ई० में लड़ाई छिड़ गई। मराठों ने बम्बई-सरकार की सेना को पराजित कर दिया। जनवरी सन् १७७९ ई० में बड़गाँव नामक स्थान पर अँगरेज़ों को एक अपमानजनक सन्धि करनी पड़ी। इसकी शर्तों के अनुसार बम्बई-सरकार को वे सब प्रदेश लौटा देने पड़े जिन्हें उसने १७७३ ई० से अब तक प्राप्त किया था। इसके अतिरिक्त राघोवा को मराठों के हाथ में समर्पित कर देना पड़ा। हेस्टिंग्ज़ ने इस सन्धि को अस्वीकृत कर दिया। सन् १७८० ई० में गोडार्ड ने नर्मदा नदी को पार किया और बेसिन के किले पर क़ब्ज़ा कर लिया। मेजर पॉफ़म ने उधर ग्वालियर के क़िले को जीत लिया।

सिन्धिया को पूना के दरबार से अलग करने के लिए हेस्टिंग्ज़ ने बड़ी उदार शर्तें पेश कीं। मराठा सरदारों में माहादजी सिन्धिया सबसे अधिक योग्य तथा शक्ति-शाली था। उसकी सहायता से, मई सन् १७८२ ई० में, सालबाई की सन्धि हो गई और युद्ध का अन्त हो गया। सालसट और बेसीन अँगरेज़ों के अधिकार में आ गये और राघोबा को पेन्शन दे दी गई। अँगरेज़ों ने उसका पक्ष लेने से हाथ खींच लिया। जमुना नदी के पश्चिम की ज़मीन सिन्धिया को वापस दे दी गई। अन्य सब मामलों में युद्ध के पूर्व की स्थिति क़ायम कर दी गई।

सालबाई की सन्धि से अँगरेज़ों और मराठों के बीच एक नया सम्बन्ध स्थापित हो गया। राजनीतिक मामलों में अँगरेज़ों की प्रभुता क़ायम हो गई। इस युद्ध से यह साफ़ पता चल गया कि संगठन करने की योग्यता हेस्टिंग्ज़ में कितनी थी। उसने बड़ी मुस्तैदी के साथ काम किया और युद्ध में सफलता प्राप्त करने के लिए जिन जिन साधनों की आवश्यकता हुई उन्हें शीघ्र प्रस्तुत किया। माहादजी सिन्धिया अभी तक पेशवा का एक सरदार था। किन्तु अब उसकी स्थिति बहुत मज़बूत हो गई। इसके बाद वह १२ वर्ष तक स्वच्छदता-पूर्वक अपने राज्य का विस्तार करने के लिए अपनी योजनाओं की पूर्ति करने में लगा रहा।

मैसूर की दूसरी लड़ाई (१७८०-८४)—१७७८ ई० में इँगलैंड और फ़्रांस में, अमेरिका में, युद्ध छिड़ गया। उसके फल-स्वरूप भारत में भी अँगरेज़ों और फ़्रांसीसियों में युद्ध होने लगा। अँगरेज़ों ने पाण्डुचेरी को छीन लिया और मलाबार-तट पर स्थित माही पर अधिकार कर लिया। ऐसा करने से हैदरअली अँगरेज़ों से बड़ा क्रुद्ध हुआ। परन्तु उसकी अप्रसन्नता का वास्तविक कारण यह था कि अँगरेज़ों ने १७६९ ई० में जो उसके साथ सन्धि की थी उसे मानने से इनकार कर दिया। अब वह समझ गया कि अँगरेज़ों की मित्रता से मेरा कोई लाभ नहीं हो सकता। निज़ाम ने अँगरेज़ों और राघोबा की सन्धि का समर्थन कभी नहीं किया था। उसने मराठा सरदारों को उनसे लड़ने के लिए उत्साहित किया। सन् १७८० ई० में हैदरअली ने एक बड़ी सेना लेकर कर्नाटक पर आक्रमण कर दिया। वह जहाँ गया वहाँ आग लगा दी और मनुष्यों को क़त्ल कर दिया। अँगरेज़ों के लिए यह बड़ा कठिन समय था क्योंकि मराठों के साथ उनका युद्ध अभी चल रहा था।

इस समय मद्रास सरकार का कार्य-भार बड़े अयोग्य अफ़सरों के हाथ में था। कर्नल बेली (Baillie), जो हैदर से लड़ने के लिए भेजा गया था, बुरी तरह से काट डाला गया। कर्नाटक की राजधानी अर्काट शत्रुओं के हाथ में चली गई। अँगरेज़ों का भाग्य-सितारा मन्द पड़ रहा था किन्तु हेस्टिंग्ज़ ने बड़ी बुद्धिमानी और साहस के साथ काम किया। उसने मद्रास के गवर्नर को अपने पद से कुछ समय के लिए हटा दिया और सर आयरकूट को एक सेना के साथ

बंगाल से भेजा। जुलाई १७८१ ई० में सर आयरकूट ने पोर्टोनोवो नामक स्थान पर हैदरअली को पराजित किया। इसके बाद पोलीलोर का युद्ध हुआ परन्तु उसमें किसी की हार-जीत का फ़ैसला न हुआ। शोलिंगढ़ नामक स्थान पर एक और युद्ध हुआ और उसमें हैदरअरी हार गया। सन् १७८२ ई० में सालवाई की सन्धि हो गई जिससे मराठों ने हैदरअली की मदद करने से हाथ खींच लिया।

डच लोगों के साथ भी युद्ध छिड़ गया और अँगरेज़ों ने त्रिकोमाली के बन्दरगाह को छीन लिया। किन्तु टीपू ने तंजौर में कर्नल ब्रैथवेट (Brrathwaite) को मार डाला। उसी समय सेनापति सफ़रन ने हैदरअली के साथ एक सन्धि की और कडलोर पर क़ब्ज़ा कर लिया। फ्रांसीसियों को समुद्री युद्ध में अधिक सफलता मिली। हैदरअली ६ दिसम्बर सन् १७८२ ई० को मर गया। उसकी मृत्यु के बाद उसके बेटे टीपू ने युद्ध को जारी रक्खा। सन १७८३ ई० में उसने बेदनूर के क़िले को जीत लिया। परन्तु जब वह मँगलोर पर घेरा डालने के लिए आगे बढ़ा तब फुलर्टन (Fullertan) ने मैसूर पर चढ़ाई कर दी और टीपू की राजधानी श्रीरंगपट्टम तक जा पहुँचा। वह अपने काम को पूरा भी नहीं करने पाया था कि वापस बुला लिया गया। सन्धि के लिए लिखा-पढ़ी शुरू हुई और १७ मार्च १७८४ ई० को मँगलोर की सन्धि पर हस्ताक्षर हो गये। इसके अनुसार फिर वही स्थिति हो गई जो युद्ध के पहले थी।

हैदरअली का चरित्र और शासन-प्रबन्ध—हैदरअली की मृत्यु से भारत के राजनीतिक क्षेत्र से एक बड़ा सैनिक नेता और शासक उठ गया। उसकी बुद्धि और स्मृति बड़ी विलक्षण थी। जिसको वह एक बार देख लेता था, उसे कभी न भूलता था। २० वर्ष के बाद भी वह मनुष्य की शकल को पहचान लेता था। हिन्दुओं और मुसलमानों में उसने कुछ भेद-भाव नहीं किया। वह दोनों को एक दृष्टि से देखता था। उसने हिन्दुओं को ऊँचे पदों पर नियुक्त किया। अपने ब्राह्मण अफ़सरों पर वह बहुत विश्वास करता था और जिम्मेदारी का काम उनके सुपुर्द कर देता था। उसका भोजन साधारण होता था। जो कुछ भी उसके सामने परोस दिया जाता था उसे वह खा लेता था। वह बोलता बहुत कम था और बातूनी आदमियों को वह नापसन्द करता था। उसकी बुद्धि इतनी तीक्षण थी कि वह बिना किसी कठिनाई के युद्ध और राजनीति के बड़े-बड़े जटिल प्रश्नों को समझ जाता था। उसे घमण्ड छू तक नहीं गया था और उसके व्यवहार में छल और कपट का लेश भी न था। ग़रीबों के साथ उसका वर्ताव बहुत नम्र था। वह कई भाषाओं को समझ सकता था। राज्य के हिसाब-किताब के कागज़ों को वह स्वयं देखता था। घोड़े के व्यापारियों पर वह विशेष रूप से दयालु था। जब उसके राज्य में कोई घोड़ा मर जाता तो वह उसके मालिक को

उसका आधा मूल्य देता था। उसका स्वभाव सिपाहियों का-सा था। दण्ड देने में वह कभी-कभी कठोरता से काम लेता था।

हैदरअली ने अपनी अद्भुत वीरता से एक बड़ा राज्य स्थापित किया। उसकी मृत्यु के समय उसके राज्य का क्षेत्रफल ८० हज़ार वर्गमील था और दो करोड़ रुपया वार्षिक उसकी आय थी। राज्य के कामों को वह स्वयं बड़े ध्यान से देखता था और निष्पक्ष भाव से मुक़दमों का फ़ैसला करता था। अपने बेईमान और रिश्वत लेनेवाले अफ़सरों को वह दण्ड देता था। शासन के प्रत्येक विभाग में एक गुप्त लेखक रहता था। वह अपने विभाग में होनेवाली सब बातों की सूचना उसे देता रहता था। यदि कहीं डकैती हो जाती तो तुरन्त उस स्थान के पहरेदार की खाल जीते-जी खिंचवा ली जाती थी। कृषि और व्यापार को वह सदा प्रोत्साहन देता था। व्यापारियों के साथ उसने कभी विश्वासघात नहीं किया। उसके पास एक संगठित शक्तिशाली सेना थी, जिसके नियम बहुत कड़े थे। उसकी दृष्टि में सार्वजनिक पदों पर काम करने के लिए वे ही लोग उपयुक्त होते थे जिनमें काफ़ी योग्यता होती थी। वह इसी सिद्धान्त पर चलता था। कभी-कभी वह अपना भेष बदल कर लोगों में घूमता था और उनकी वास्तविक दशा का पता लगा लेता था। वास्तव में यह उसकी अपूर्व प्रतिभा का प्रमाण है कि उसने ऐसे शत्रुओं के बीच में रहते हुए भी, जो सदा उसके विरुद्ध षड्यन्त्र रचा करते थे, एक विस्तीर्ण राज्य स्थापित कर लिया।

चेतसिंह का मामला—मराठों और मैसूर की लड़ाइयों में कम्पनी का बहुत-सा रुपया खर्च हो गया। उसकी आर्थिक दशा बिगड़ गई। गवर्नर-जनरल को रुपये की बड़ी आवश्यकता हुई। इस आर्थिक संकट में उसने बनारस के राजा और अवध की बेगमों से सहायता लेने की चेष्टा की। बनारस का राजा पहले अवध के अधीन था। परन्तु १७७५ ई० से उसने कम्पनी की अधीनता स्वीकार कर ली। इसी कारण हेस्टिंग्ज़ ने अपनी आवश्यकता को पूरा करने के लिए एक बड़ी रक़म माँगी। राजा प्रतिवर्ष एक बँधी हुई रक़म 'कर' के रूप में कम्पनी को देता था। सन् १७७८ ई० में उस निर्दिष्ट धन के अतिरिक्त हेस्टिंग्ज़ ने ५ लाख रुपया और माँगा। दूसरे साल उतनी ही रक़म फिर माँगी गई। चेतसिंह ने फिर रुपया दिया किन्तु इस बार गवर्नर-जनरल की माँग का उसने कुछ विरोध भी किया। इसके बाद हेस्टिंग्ज़ ने उससे १००० सवार देने के लिए कहा परन्तु आज्ञा-पालन में विलम्ब होते देख वह नाराज हो गया। उसने चेतसिंह पर ५० लाख रुपया जुर्माना करने का निश्चय किया और धृष्टता के लिए उसे दण्ड देने के उद्देश्य से वह स्वयं बनारस की ओर रवाना हुआ। चेतसिंह ने बक्सर में हेस्टिंग्ज़ से भेंट करने की प्रार्थना की। हेस्टिंग्ज़ ने मिलने से इनकार कर दिया। विलम्ब हो जाने के सम्बन्ध में चेतसिंह ने जो कुछ सफ़ाई दी उससे उसे

संतोष न हुआ। बनारस पहुँचकर हेस्टिंग्ज़ ने राजा को गिरफ्तार करने की कोशिश की। इस पर चेतसिंह की फ़ौज ने बलवा कर दिया। गवर्नर-जनरल ने अपने को बड़ी भयंकर परिस्थिति में पाया। वह तुरन्त चुनार लौट गया और वहाँ उसने कुछ फ़ौज इकट्ठा की। चेतसिंह की सेना युद्ध में पराजित हुई और वह ग्वालियर की ओर भाग गया।

चेतसिंह के मामले में हेस्टिंग्ज़ ने बड़ी धींगाधींगी की। इस प्रश्न पर बहस करना कि वह राजा था अथवा ज़मींदार, बिलकुल निरर्थक है। सन् १७७५ ई० की सन्धि के अनुसार हेस्टिंग्ज़ को नियत 'कर' के अतिरिक्त और कुछ भी माँगने का अधिकार नहीं था। कम्पनी की सन्धियों में धन की आवश्यकता होने पर परिवर्तन करना न्याययुक्त नहीं था। राजा को उसी की राजधानी में गिरफ्तार करने का प्रयत्न करने में भी हेस्टिंग्ज़ ने बड़ी भूल की। यदि हम इस बात को मान भी लें, कि कम्पनी की आर्थिक दशा को सुधारने के लिए उसने जो कुछ किया वह उचित था तो भी हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि उसे इस उद्देश्य में भी सफलता न मिल सकी। कम्पनी को इससे कुछ भी लाभ न हुआ। इसके विपरीत हेस्टिंग्ज़ के सामने बड़ी कठिनाइयाँ उपस्थित हो गई। चेतसिंह को देश से निकाल देने के कारण उसकी प्रजा पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ा। दस वर्ष के बाद बनारस के कमिश्नर ने रिपोर्ट की कि ज़मीन मीलों तक बंजर पड़ी है और प्रजा शासन-प्रबन्ध बिगड़ जाने से तंग आ गई है।

हेस्टिंग्ज़ और अवध की बेगमें—अवध की बेगमों का मामला चेतसिंह के मामले से भी अधिक निन्द्य था। अवध के नवाब वज़ीर आसफ़ुद्दौला ने बहुत दिनों से कम्पनी का कर नहीं दिया था। उसकी माँ और दादी के पास एक जागीर थी और उनके ख़ज़ाने में २० लाख पौंड (तीन करोड़ रुपया) था।

नवाब इस रुपये को लेना चाहता था। वह समझता था कि मैं अन्याय-पूर्वक इस रुपये से वंचित किया गया हूँ। सन् १७७५ ई० में छोटी बेगम ने ३ लाख पौंड इस शर्त पर दिया कि नवाब और कम्पनी दोनों मिलकर यह लिख दें कि हम भविष्य में और कुछ नहीं माँगेंगे। सन् १७८१ ई० में आसफ़ुद्दौला ने फिर रुपया माँगा। उसने कम्पनी को सलाह दी कि बेगमों के साथ जो समझौता किया गया था उसे रद्द कर मुझे ख़ज़ाना और जागीर छीन लेने की आज्ञा दे दी जाय। यद्यपि बेगमों को पूरी तौर से विश्वास दिलाया गया था कि भविष्य में उनसे कुछ नहीं माँगा जायगा परन्तु इसकी कुछ पर्वाह न करके हेस्टिंग्ज़ ने अँगरेज़ रेज़ीडेन्ट को लिख दिया कि बेगमों पर दबाव डालने में वह नवाब की मदद करे। उसे रुपये की बड़ी आवश्यकता थी। इस प्रकार प्रोत्साहित किये जाने पर नवाब ने बेगमों पर बड़ा दबाव डाला। उनके साथ कठोर बर्ताव किया गया। उनके दो वज़ीर कुछ समय तक गिरफ्तार कर लिये

गये और उनका खाना-पीना बन्द कर दिया गया। अन्त में विवश होकर बेगमों को रुपया देना पड़ा।

हेस्टिंग्ज़ का कहना था कि बेगमों का धन उनकी निजी सम्पत्ति नहीं थी और इसके अलावा उन्होंने बलवे के समय चेतसिंह की सहायता की थी। किन्तु वह धन चाहे उनकी निज की सम्पत्ति रही हो या न रही हो, अँगरेज़ लोगों का उससे कुछ सरोकार नहीं था। सन् १७७५ ई० में कम्पनी ने उन्हें विश्वास दिलाया था कि भविष्य में उनसे कुछ न माँगा जायगा। इस प्रतिज्ञा को भंग करना किसी प्रकार उचित नहीं कहा जा सकता। दूसरा बहाना सर्वथा निर्मूल था। इस बात का ज़रा भी प्रमाण नहीं मिलता कि चेतसिंह के विद्रोह में बेगमों ने भाग लिया था। यदि हेस्टिंग्ज़ को इस बात का दृढ़ विश्वास था तो उसे उचित था कि बेगमों की सफ़ाई लेता, लेकिन उसने यह सब नहीं किया। उसकी आर्थिक कठिनाइयों पर पूरा ध्यान देते हुए भी यह कहना पड़ता है कि अवध का मामला एक निन्द्य, अन्याय-पूर्ण तथा खेदजनक काम था। औरतों और हिजड़ों के साथ ज़बर्दस्ती करके रुपया छीनने की नीति का किसी प्रकार समर्थन नहीं किया जा सकता। हेस्टिंग्ज़ के नाम पर यह धब्बा हमेशा लगा रहेगा। सन् १७८१ ई० में उसने नवाब से १ लाख पौण्ड रुपया लिया था। यद्यपि रुपया कम्पनी के हित के लिए ख़र्च किया गया था तो भी इसमें सन्देह नहीं कि बेगमों के प्रति उसका व्यवहार सर्वथा अनुचित और निर्दयतापूर्ण था।

सुप्रीम कोर्ट और कौंसिल—सुप्रीम कोर्ट की स्थापना सन् १७७३ ई० के रेग्यूलेटिङ्ग ऐक्ट द्वारा हुई थी। इंगलेण्ड के राजा ने जिन जजों की नियुक्ति की थी उन्होंने कौंसिल के अधिकारों की कुछ भी पर्वाह नहीं की। कौंसिल और अदालत के अधिकारों की सीमा निर्दिष्ट न होने से उनके बीच झगड़ा पैदा होना अनिवार्य था। उनके झगड़ों से प्रजा को, विशेषकर ज़मींदारों और किसानों को, बहुत हानि उठानी पड़ी। अदालत मालगुज़ारी के मामलों में हस्तक्षेप करती थी और कौंसिल के अधिकारों की उपेक्षा करती थी। अदालत की कार्यवाही मनमानी होती थी इसलिए जज लोग बहुत अप्रिय बन गये थे। हिन्दुस्तानियों के साथ बड़ी सख़्ती का बर्ताव किया जाता था। शासन का काम ठीक तरह से नहीं होता था। सन् १७८१ ई० में अदालत के विधान में कुछ संशोधन किया गया। ब्रिटिश प्रजा-सम्बन्धी मामलों के अतिरिक्त गवर्नर-जनरल और कौंसिल के सदस्य किसी बात में अदालत के अधीन नहीं थे। मालगुज़ारी के मामलों से अदालत का कुछ भी सम्बन्ध न रहा। कलकत्ते में रहनेवाले लोगों के सब मुक़दमे इस अदालत के अधीन हो गये। परन्तु हिन्दुओं और मुसलमानों के झगड़े उन्हीं के क़ानून के अनुसार तय किये जाते थे। उनके मामलों में अँगरेज़ी क़ानून से काम नहीं लिया जाता था।

पिट का इण्डिया ऐक्ट (१७८४ ई०)—रेग्यूलेटिङ्ग ऐक्ट के दोष शासन-कार्य में प्रत्यक्ष रूप से प्रकट होने लगे थे। पार्लियामेन्ट के मेम्बर हिन्दुस्तान के मामलों में बड़ी दिलचस्पी लेने लगे और शासन-प्रबन्ध को सुधारने की इच्छा करने लगे। सन् १७८३ ई० में फ़ौक्स (Fox) ने अपने प्रसिद्ध 'इण्डिया बिल' को पार्लियामेन्ट में पेश किया। राजा के हस्तक्षेप के कारण वह बिल पास नहीं हो सका। सन् १७८४ ई० में पिट का 'इण्डिया बिल' (India Bill) पास हुआ जिससे ईस्ट इण्डिया कम्पनी की नीति और शासन-विधान में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। कम्पनी के दीवानी और फ़ौजी मामलों का निरीक्षण करने के लिए इँगलेंड में एक 'बोर्ड आफ़ कन्ट्रोल' (Board of Control) नामक कमेटी स्थापित की गई। उसमें छः मेम्बर थे। इँगलेंड और भारत के बीच होनेवाले सारे पत्र-व्यवहार पर उसका पूरा अधिकार हो गया। एक गुप्त-समिति नियुक्त की गई जिसका काम डाइरेक्टरों को बिना ख़बर किये बोर्ड की गुप्त आज्ञाओं को हिन्दुस्तान भेजना था।

गवर्नर-जनरल की कौंसिल के मेम्बरों की संख्या ३ नियत कर दी गई। बम्बई और मद्रास के अहाते बंगाल के अधीन कर दिये गये। गवर्नर-जनरल और उसकी कौंसिल को आदेश किया गया कि डाइरेक्टरों के कोर्ट से अनुमति लिये बिना वे भारतीय राजाओं के साथ युद्ध अथवा सन्धि न करें।

हेस्टिंग्ज़ का इँगलेंड लौट जाना—सन् १७८५ ई० में हेस्टिंग्ज़ वापस बुला लिया गया। इँगलेंड पहुँचने पर पार्लियामेंट ने उस पर मुक़दमा चलाया और बड़े-बड़े अपराध लगाये। यह मुक़दमा सात वर्ष तक चलता रहा। अन्त में वह सब मामलों में निर्दोष ठहराया गया और ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने उसे पेंशन दी। अपने शेष जीवन को उसने डेलिसफ़ोर्ड में अपने बाप-दादों के घर पर शान्तिपूर्वक व्यतीत किया।

हेस्टिंग्ज़ का चरित्र—हेस्टिंग्ज़ असाधारण योग्यता का मनुष्य था। उसमें काम करने की इतनी शक्ति थी कि वह कभी थकता न था। उसका साहस भी अदम्य था। केवल अपनी योग्यता के बल से ही वह एक लेखक से भारत का गवर्नर-जनरल हो गया था। उसमें संगठन करने की अद्भुत शक्ति थी और युद्ध के समय वह बड़ी कुशलता से काम लेता था। कूटनीति में वह बड़ा दक्ष था। उसने सदा अपने देश के हित का ध्यान रक्खा और एशिया में एक राज्य स्थापित कर दिया। इस उद्देश्य की पूर्ति में जितनी कठिनाइयाँ उपस्थित हुई उन सबको उसने बड़ी सफलता के साथ दूर किया। यह ठीक है कि उसने कई कार्य ऐसे किये जिनका समर्थन करना कठिन है। अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने अनुचित उचित का विचार छोड़कर सब प्रकार के साधनों से काम लिया। यद्यपि डाइरेक्टरों ने आज्ञा दी थी कि रिश्वत और भेंट न ली जायँ तो भी उसने बहुत-

सा रुपया लिया। उसे अपने कर्त्तव्य का इतना अधिक ध्यान था कि अपने साथियों के विरोध करने पर भी वह अपने काम पर डटा रहता था। पार्लियामेंट ने उसके ऊपर मुक़दमा चलाया, परन्तु तब भी वह हताश नहीं हुआ। ये सब बातें होते हुए भी हम उसे उच्च कोटि का राजनीतिज्ञ नही कह सकते। उसने भारत के लोगों के हित के लिए कुछ नहीं किया। अपने सब कामों और योजनाओं में वह भारत की अपेक्षा इँगलेंड को अधिक प्रधानता देता था। परन्तु इतना मानना पड़ेगा कि भारत में ब्रिटिश साम्राज्य के स्थापित करने और इँगलेंड को सबसे अधिक लाभ पहुँचानेवालों में उसका नाम सदा अग्रगण्य रहेगा।

वह विद्या-प्रेमी था। उसके समय में कलकत्ता और मद्रास में कालिज स्थापित हुए। प्राच्य कला और विज्ञान के अध्ययन के लिए सर विलियम जोन्स ने 'एशियाटिक सोसायटी आफ़ बंगाल' नामक प्रसिद्ध संस्था की स्थापन की।

संक्षिप्त सन्‌वार विवरण

वारेन् हेस्टिंग्ज़ का बंगाल का गवर्नर होना	१७७२ ई०
पेशवा माधवराव की मृत्यु	१७७२ ,,
बनारस की सन्धि	१७७३ ,,
रुहेला-युद्ध	१७७३-७४ ,,
रेग्यूलेटिंग ऐक्ट	१७७३ ,,
मीरनकटरा की लड़ाई	१७७४ ,,
सूरत की सन्धि	१७७४ ,,
पुरंदर की सन्धि	१७७५ ,,
बड़गाँव का समझौता	१७७९ ,,
सालबाई की सन्धि	१७८२ ,,
हैदरअली की मृत्यु	१७८२ ,,
पोर्टोनोवो की लड़ाई	१७८२ ,,
बेदनूर पर टीपू का अधिकार करना	१७८३ ,,
मँगलोर की सन्धि	१७८४ ,,
पिट का इण्डिया ऐक्ट	१७८४ ,,
हेस्टिंग्ज़ का इँगलंड वापस जाना	१७८५ ,,

अध्याय ३२

साम्राज्य-विस्तार—मराठों का पतन

(१७८६-१८२८ ई०)

नवीन नीति—सन् १७८६ ई० तक कम्पनी का ध्यान राज्य-विस्तार की ओर नहीं गया था। किन्तु उसके बाद ब्रिटिश राज्य का विकास बड़ी शीघ्रता के साथ हुआ और बहुत दिनों तक जारी रहा। कम्पनी के डाइरेक्टरों ने गवर्नर-जनरलों को हुक्म दे दिया था कि वे हिन्दुस्तान के मामलों में कुछ हस्तक्षेप न करें। किन्तु यहाँ की परिस्थितियों ने उनके लिए यह असम्भव कर दिया कि वे एकदम हाथ बाँधकर बैठे रहें। कार्नवालिस, वेलज़ली और हेस्टिंग्ज़ बड़े भारी सेनापति और शासक थे। उन्होंने अनेक युद्ध किये और देश में शान्ति स्थापित की। उनके इस काम में कई बातें सहायक हुईं। भारत में मराठे आपस में लड़ रहे थे। उधर इँगलेंड मे उद्योग-धन्धों की बड़ी उन्नति हो गई थी और अँगरेज लोग सम्पत्तिशाली बन गये थे। इसके सिवा अँगरेजों ने समुद्र पर भी अपनी प्रभुता जमा ली थी। नेपोलियन की लड़ाइयों का हिन्दुस्तान पर भी बड़ा प्रभाव पड़ा था। परन्तु ब्रिटिश राज्य खूब सुरक्षित रहा। देशी राजाओं और नवाबों का बल चूर कर दिया गया। लूट-पाट करनेवालों और अराजकता फैलानेवालों को बड़ी सख्ती के साथ दबाया गया और शासन में महत्त्वपूर्ण सुधार किये गये।

विधान में एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन—हेस्टिंग्ज़ के बाद कौंसिल का सीनियर मेम्बर मैकफ़र्सन (Macpherson) गवर्नर-जनरल बनाया गया। उसने इस पद पर डेढ़ वर्ष तक काम किया, परन्तु उसे कुछ सफलता न मिली। तब डाइरेक्टरों ने लार्ड कार्नवालिस (Lord Cornwallis) को गवर्नर-जनरल बना कर भेजा। वह एक अनुभवी सैनिक था। सन् १७८६ ई० में एक क़ानून पास किया गया कि जिसके अनुसार गवर्नर-जनरल प्रधान सेनापति बना दिया गया। उसे यह अधिकार भी मिला कि आवश्यकता पड़ने पर वह कौंसिल के बहुमत को न माने। इस परिवर्तन के कारण गवर्नर-जनरल की स्थिति बहुत सँभल गई। पहले के गवर्नर-जनरलों की भाँति अब वह कौंसिल के मेम्बरों की दया पर निर्भर न रह गया।

शासन-सुधार—लार्ड कार्नवालिस ने तीन बड़े महत्त्वपूर्ण कार्य किये—कम्पनी की नौकरी में सुधार, बंगाल का इस्तमरारी बन्दोबस्त और अदालतों का सुधार। इन कामों को करने के लिए वह विशेष योग्यता रखता था। एक

तो वह बड़ा अनुभवी शासक था, दूसरे वह बड़ा ईमानदार था। उच्च श्रेणी का एक रईस होने के कारण अपने लिए रुपया पैदा करने की इच्छा उसे बिलकुल न थी। कम्पनी के नौकर अभी तक निजी व्यापार करने में लगे थे और अपनी आमदनी बढ़ाने के लिए वे सब तरह के उपायों को काम में लाते थे। हिन्दुस्तान आकर कार्नवालिस ने देखा कि प्रायः सभी कलक्टर अपने किसी मित्र या रिश्तेदार के नाम से व्यापार करते हैं। उसने बड़े साहस के साथ इस प्रथा को रोका और इस बात की कोशिश की कि कम्पनी का कोई नौकर अनुचित लाभ न उठाने पाये। कमीशन के बदले उसने तनख्वाहें नियत कर दीं। कम्पनी के कलक्टरों के हाथ में न्याय और शासन दोनों का काम था। इसलिए वे अपने अधिकारों का बड़ा दुरुपयोग करते थे। कार्नवालिस ने इन दोनों विभागों को अलग अलग कर दिया। किन्तु उसने एक बड़ी भारी भूल की। शासन-प्रबन्ध के काम से उसने हिन्दुस्तानियों को अलग कर दिया। उसका खयाल था कि उनमें न योग्यता है और न चरित्र है। उसका यह अनुमान बिलकुल ग़लत था।

इस्तमरारी बन्दोबस्त—वारेन् हेस्टिंग्ज़ ने ठेकेदारों के साथ ५ साल के लिए मालगुज़ारी का बन्दोबस्त किया था। यह व्यवस्था ठीक तरह से नहीं चली। जिन ठेकेदारों ने बड़ी-बड़ी बोलियाँ बोलाकर ठेके लिये थे वे सब रुपया नहीं अदा कर सके। वे प्रजा को बहुत सताते थे। ऐसी दशा में खेती खराब हो गई और व्यापार भी मन्द पड़ गया। ज़मींदार और रिआया दोनों तबाह हो गये। सन् १७८४ ई० में डाइरेक्टरों ने सालाना बन्दोबस्त फिर से जारी किया। पार्लियामेंट ने उन्हें इस्तमरारी बन्दोबस्त करने की सलाह दी। दो साल बाद ज़मींदारों के साथ एक दससाला बन्दोबस्त किया गया और यह निश्चय हुआ कि अगर यह व्यवस्था सन्तोषप्रद सिद्ध हुई तो उसे स्थायी रूप दे दिया जायगा। लार्ड कार्नवालिस ने इस सम्पूर्ण प्रश्न पर खूब मनन किया। सर जान शोर नामक बंगाल के एक योग्य सिविलियन ने इस सम्बन्ध में उसको बड़ी सहायता दी। सर जान शोर ने इस्तमरारी बन्दोबस्त के विरुद्ध सम्मति प्रकट की। लार्ड कार्नवासिल उसके विचारों से सहमत नहीं हुआ। उसने १७९३ ई० में बंगाल की मालगुज़ारी का स्थायी बन्दोबस्त कर दिया।

इस बन्दोबस्त से सरकार, ज़मींदार और प्रजा तीनों की स्थिति पर प्रभाव पड़ा। सरकार को बड़ा भारी नुक़सान उठाना पड़ा, क्योंकि भविष्य में ज़मीन की क़ीमत बढ़ जाने पर भी वह लगान बढ़ा नहीं सकती थी। किन्तु उसे एक लाभ भी हुआ। उसे समय-समय पर मालगुज़ारी नियत करने और कर वसूल करने की झंझट से छुट्टी मिल गई। ज़मींदारों को बड़ा लाभ हुआ। उनकी हालत अब बहुत अच्छी हो गई। वे समृद्ध बन गये। उनकी राजभक्ति से ब्रिटिश सरकार की स्थिति दृढ़ हो गई। भारत में बंगाल का प्रान्त सबसे अधिक समृद्धि-

शाली और उन्नतिशील बन गया। बहुत-सी ज़मीन खेती के लायक़ बना दी गई। ज़मींदारों को पहले की अपेक्षा अधिक लगान मिलने लगा। उनके हाथ में रुपया जमा हो जाने से वाणिज्य-व्यापार में भी बड़ी सुविधा हुई।

परन्तु इस सुधार से प्रजा का कुछ भी लाभ नहीं हुआ। उनसे अधिक लगान वसूल किया गया और उनके साथ बुरा बर्ताव किया गया। धनाढ्य ज़मींदारों के क़ारिन्दे उन पर अत्याचार करते थे। उनके विरुद्ध दीन किसान अदालती कार्रवाई भी नहीं कर सकते थे। ऐसी दशा में उनके अधिकारों की बहुधा उपेक्षा की जाती थी। ज़मींदारों के अत्याचारों से उनकी रक्षा करने के लिए १८५९ ई० में बंगाल टेनैन्सी ऐक्ट (Bengal Tenancy Act) पास किया गया।

अदालतों का सुधार—लार्ड कार्नवालिस ने अदालतों का संगठन यूरोपीय ढंग पर किया। यूरोपीय लोग ही जज नियुक्त किये गये। हिन्दू और मुसलमानों के क़ानून की व्याख्या करने के लिए सब अदालतों में हिन्दुस्तानी रक्खे गये। इन सुधारों से न्याय बड़ा आसान और सस्ता हो गया। कलक्टरों को उन अदालतों में न्याय करने का अधिकार नहीं रहा।

कई तरह की अदालतें स्थापित हो गईं। अमीन और मुन्सिफ़ छोटे-छोटे मुक़दमों को सुनते थे और इस काम के लिए उन्हें कुछ कमीशन दिया जाता था। हर एक ज़िले में एक अदालत स्थापित की गई। उसका सदर (प्रेसीडेन्ट) एक अँगरेज़ जज होता था। उसकी सहायता के लिए हिन्दुस्तानी असेसर नियुक्त किये गये थे। चार प्रान्तीय अदालतें स्थापित की गईं। हर एक में तीन अँगरेज़ जज रक्खे गये। सदर निज़ामत अदालत में गवर्नर-जनरल और कौंसिल के मेम्बर अपीलें सुनते थे। इसी प्रकार फ़ौजदारी अदालतों का भी संगठन किया गया। सूबों की दीवानी अदालतों के जज दौरा भी करते थे। वे विभिन्न ज़िलों में जाते और फ़ौजदारी के मुक़दमे फ़ैसल करते थे। इनके फ़ैसलों के विरुद्ध सदर निज़ामत अदालत में अपील की जाती थी। मुसलमान क़ानूनी हाकिमों की सहायता से गवर्नर-जनरल उनका निर्णय करता था।

कार्नवालिस का अदालती सुधार बिलकुल दोष-रहित नहीं था। उसने हिन्दुस्तानियों को न्याय-विभाग में नहीं नियुक्त किया। इससे उसका खर्च बहुत बढ़ गया। यूरोपीय जजों को लोगों के रीति-रवाज, भाषा और देश की अवस्था का कुछ भी ज्ञान नहीं था। अतः वे ठीक-ठीक न्याय नहीं कर पाते थे। इन अदालतों में काम करने का ढंग विदेशी था। काम बड़ी सुस्ती से होता था। इसलिए लोगों को बड़ी मुसीबतें उठानी पड़ती थीं। फ़ीस की प्रथा के बन्द हो जाने से मुक़दमेबाज़ी बहुत बढ़ गई और अदालतें काम से दब गईं।

कार्नवालिस की विदेशी नीति—कार्नवालिस चाहता था कि पिट के इण्डिया

ऐक्ट की नीति पर चले। परन्तु परिस्थितियों ने उसके लिए ऐसा करना असम्भव कर दिया। शाहआलम का बेटा अँगरेजों की सहायता से दिल्ली का सिंहासन फिर से प्राप्त करना चाहता था। परन्तु कार्नवालिस ने उसकी मदद करने से इनकार कर दिया। वह ऐसे झगड़ों और झंझटों में नहीं पड़ना चाहता था। किन्तु टीपू के साथ युद्ध करना उसके लिए अनिवार्य हो गया। १७८७ ई० में उसने टर्की और फ्रांस को राजदूत भेजे थे। वह चाहता था कि वे अँगरेजों के विरुद्ध उसकी मदद करें। दो वर्ष बाद उसने ट्रावन्कोर के राजा पर हमला कर दिया। वह राजा अँगरेजों का मित्र था। उसका अपराध यह था कि मलाबार-तट से भागे हुए मनुष्यों को उसने अपनी शरण में रख लिया था। कार्नवालिस ने १७९० ई० में निज़ाम और पेशवा के साथ मिल कर एक सन्धि की और टीपू के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी।

मद्रास-सरकार ने युद्ध संचालन करने के लिए जनरल मेडोज़ (Meadows) को भेजा। लेकिन उसे अधिक सफलता नहीं मिली। तब कार्नवालिस स्वयं सेनापति बन कर लड़ाई के मैदान में उपस्थित हुआ। उसने बंगलोर को जीत लिया और उसके बाद श्रीरंगपट्टम की ओर बढ़ा। घेरा डालने की तैयारी की गई परन्तु फिर सन्धि की बातचीत होने लगी। टीपू अपने राज्य का एक भाग देने के लिए राजी हो गया, जिसकी वार्षिक आय १ करोड़ रुपया थी। इसके सिवा उसने ३ करोड़ रुपया हरजाना देने का वादा किया और अपने दो लड़कों को बन्धक-रूप में दे दिया। जो इलाक़ा टीपू से मिला उसको अँगरेजों, निज़ाम और पेशवा ने आपस में बाँट लिया।

माहादजी सिन्धिया की मृत्यु—माहादजी सिन्धिया ने रुहेला सर्दार गुलाम-क़ादिर को मारकर मुग़ल-सम्राट् की रक्षा की थी। उसने राजपूतों को दबाया था और १७९२ ई० में होल्कर की सेना को लखेरी नामक स्थान पर हराया था। वह अँगरेजों की शक्ति से खूब परिचित था। यूरोपीय ढंग से शिक्षा देकर उसने एक बड़ी सेना भी संगठित कर ली थी। उसकी सेना में फ्रांसीसी जनरल नौकर थे जिनमें डी बॉइन (De Boigne) प्रधान था। राजनीतिक मामलों में माहादजी का बड़ा प्रभाव था। मराठा सरदारों में वह सबसे अधिक शक्ति-शाली था। सन १७९४ ई० में उसकी मृत्यु हो गई। उसकी जगह दौलतराव सिन्धिया गद्दी पर बैठा।

माहादजी सिन्धिया एक बुद्धिमान् और दूरदर्शी राजनीतिज्ञ था। वह अपने भाग्य का निर्माता था। जब तक वह जीवित रहा तब तक भारत की राजनीति में उसका बड़ा प्रभाव रहा। नेता बनने की योग्यता उसमें उच्च कोटि की थी। यूरोपीय ढंग पर शिक्षा देकर उसने अपनी सेना की शक्ति को खूब बढ़ा लिया था। माहादजी एक महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति अवश्य था परन्तु वह अपनी त्रुटियों को

जानता था। वह जल्दी अधीर हो जाता था और बदला लेने की उसे प्रबल इच्छा रहती थी। परन्तु इतना कहना पड़ेगा कि उसने कभी अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए अनुचित उपायों का आश्रय नहीं लिया।

कम्पनी का नया आज्ञा-पत्र (१७९३)—कम्पनी को फिर २० वर्ष के लिए नया आज्ञा-पत्र मिला। इँगलैंड के व्यापारी भारत के व्यापार में भाग लेना चाहते थे परन्तु निजी तौर पर व्यापार करने का सिद्धान्त स्वीकृत नहीं किया गया और, कम्पनी के सब अधिकार पहले की तरह बने रहे। किसी को व्यापार करने की आज्ञा नही दी गई। सिविल सर्विस के सम्बन्ध में कुछ नये नियम बनाये गये। सन् १७९३ ई० में लार्ड कार्नवालिस वापस लौट गया और उसके स्थान में सर जान शोर गवर्नर-जनरल नियुक्त हुआ।

हस्तक्षेप न करने की नीति (Policy of non-intervention) और उसके परिणाम (१७९३-९८ ई०)—सर जान शोर गवर्नर-जनरल के पद के लिए उपयुक्त नहीं था। वह पिट के इण्डिया ऐक्ट का अक्षरशः पालन करना चाहता था। उसकी इस कायरता का परिणाम भयानक हुआ। निज़ाम अँगरेज़ों का मित्र था। जब सन् १७९५ ई० में मराठों नें उसके देश पर हमला किया तब उसने अँगरेज़ों से मदद माँगी। गवर्नर-जनरल मराठा-संघ के साथ युद्ध करने से डरता था। फलतः उसनें निज़ाम की सहायता नहीं की। परिणाम यह हुआ कि मराठों ने निज़ाम को खर्दा के युद्ध में पराजित कर दिया। हरजाने के रूप में निज़ाम को एक भारी रक़म देनी पड़ी और अपने राज्य का आधा भाग भी उसे मराठों के हवाले करना पड़ा। इस उदासीनता के कारण अँगरेज़ों की प्रतिष्ठा कम हो गई। निज़ाम उनका शत्रु हो गया। मराठों के पारस्परिक झगड़ों और भारतीयों में एकता का अभाव होने के कारण ही अँगरेज़ों की शक्ति नष्ट होने से बची।

इन बातों से उत्साहित होकर टीपू ने फ़्रांस और अफ़ग़ानिस्तान को दूत भेजे। उसका विचार था कि अँगरेज़ों को हिन्दुस्तान से निकाल बाहर किया जाय। परन्तु इसी समय अँगरेज़ों का भाग्य-सितारा फिर चमका। अफ़ग़ानिस्तान के बादशाह ज़मानशाह ने पंजाब पर हमला किया था। परन्तु इसी समय उसके राज्य के पश्चिम-भाग में कुछ उपद्रव हो गया, जिसके कारण उसे वापस लौट जाना पड़ा। सिक्खों और अफ़ग़ानों के बीच झगड़ा हो जाने से सीमा-प्रान्त विदेशियों के आक्रमणों से बच गया।

ज़मानशाह को लाहौर में उपस्थित देखकर सर जान शोर ने अवध के सम्बन्ध में दृढ़ नीति से काम किया। आसफ़उद्दौला सन् १७९७ ई० में मर गया और उसके स्थान में उसका बेटा गद्दी पर बैठा। वह बिलकुल निकम्मा था। गवर्नर-जनरल ने सआदतअली खाँ को, जो भूतपूर्व नवाब का भाई था, गद्दी पर

बिठाया। उसने अँगरेज़ों के साथ एक सन्धि कर ली जिसके अनुसार उसे ७६ लाख रुपया सालाना और इलाहाबाद का क़िला देना पड़ा। अँगरेज़ों ने वादा किया कि जब कभी आवश्यकता पड़ेगी, हम तुम्हें सैनिक सहायता देंगे।

सर जान शोर के शासन से दो बातें स्पष्ट हो गईं। पहली बात तो यह थी कि हस्तक्षेप न करने की नीति पर दृढ़ रहना असम्भव था; दूसरी बात यह प्रकट हुई कि कम्पनी का कोई कर्मचारी गवर्नर-जनरल के पद पर काम करने योग्य न था।

कार्नवालिस फिर गवर्नर-जनरल नियुक्त किया गया। किन्तु वह दूसरी बार इस पद को स्वीकार न कर सका। फलतः १७९८ ई० में लार्ड वेलज़ली (Lord Wellesley) गवर्नर-जनरल होकर हिन्दुस्तान आया।

भारतीय स्थिति (१७९८)—लार्ड वेलज़ली मॉर्निङ्गटन का अर्ल था। जिस समय गवर्नर-जनरल के पद पर उसकी नियुक्ति हुई उस समय उसकी अवस्था ३७ वर्ष की थी। वह बड़ा साहसी और साम्राज्यवादी राजनीतिज्ञ था। वह ऐसे समय में भारत आया जब कि हस्तक्षेप न करने की नीति असफल सिद्ध हो चुकी थी और उसमें परिवर्तन करने की आवश्यकता थी। इस समय इंगलैंड फ़्रांस के साथ ऐसे युद्ध में संलग्न था जो उसके जीवन-मरण का प्रश्न था। फ़्रांस का नया नेता नेपोलियन बोनापार्ट पूर्व तथा पश्चिम में विजय लाभ करने की बड़ी-बड़ी योजनाएँ कर रहा था। लार्ड वेलज़ली ने देखा कि इन परिस्थितियों में तटस्थ रहना असम्भव है। उसने भारतीय शक्तियों को नष्ट करके सारे भारत में अँगरेज़ों का प्रभुत्व स्थापित करने का निश्चय किया। वह भारत में सात वर्ष रहा। इस काल में उसने बड़ी ज़बरदस्त नीति का अवलम्बन किया। उसने एक के बाद दूसरे राजा को पराजित किया। उसका काम आसान नहीं था। टीपू अँगरेज़ों का कट्टर शत्रु था। अँगरेज़ों को भारत से बाहर निकालने के लिए अब वह विदेशी शक्तियों के साथ षड्यन्त्र कर रहा था। खर्दा की लड़ाई के बाद अँगरेज़ों पर निज़ाम का कुछ भी भरोसा न रहा। उसने फ़्रांस के साथ लिखा-पढ़ी की थी और अपने दरबार में एक फ़्रांसीसी सेना रखना मंजूर किया था। मराठा-संघ अभी बड़ा शक्तिशाली था। सिन्धिया के अधिकार में एक बहुत बड़ा इलाक़ा था। उसकी सैनिक शक्ति किसी प्रकार अँगरेज़ों से कम न थी।

कम्पनी की अन्दरूनी हालत काफ़ी खराब थी। उसके कर्मचारी आपस में लड़ते-झगड़ते थे और अपने हाकिमों की आज्ञा का पालन नहीं करते थे। माली हालत भी इस समय बहुत खराब थी। खज़ाने में रुपया नहीं था। इस स्थिति में लार्ड वेलज़ली ने बड़ी शक्ति और साहस के साथ काम करने का निश्चय किया।

मैसूर की चौथी लड़ाई—टीपू का पतन (सन् १७९९ ई०)—टीपू खुल्लम-खुल्ला अँगरेज़ों से शत्रुता रखता था। उनके विरुद्ध सहायता माँगने के लिए उसने

फ़ांस तथा बाहर के अन्य देशों में अपने राज-दूत भेजे थे। उसकी सहायता के लिए अप्रैल १७९८ ई० में एक फ़ांसीसी सेना मैसूर में पहुंची। यही नहीं, इस समय यूरोप की स्थिति भी नाज़ुक थी। नेपोलियन बोनापार्ट (Napoleon Bonaparte) मिस्र पर आक्रमण कर रहा था। वह भारत पर भी हमला करना चाहता था। लार्ड वेलज़ली ने टीपू से पूर्ण रीति से अँगरेज़ों की अधीनता स्वीकार करने के लिए कहा। परन्तु टीपू ने यह कहकर टाल दिया कि अँगरेज़ों के साथ मेरी कोई शत्रुता नहीं है। गवर्नर-जनरल ने तुरन्त युद्ध की घोषणा कर दी। वास्तव में टीपू और उसके वंश को सिंहासनच्युत करने का वह पहले ही निश्चय कर चुका था। उसके मन में पूर्ण विश्वास था कि यदि मैसूर की शक्ति को नष्ट कर दिया जाय तो फ़ांसीसियों से कोई खतरा न रहेगा। पुराने राजाओं के वंशजों से, इस सम्बन्ध में, उसने लिखा-पढ़ी करना भी आरम्भ कर दिया था। उन्हें वह गद्दी पर बिठाने का प्रलोभन देता था। टीपू के दो राजभक्त अफ़सर भी अँगरेज़ों के साथ लिखा-पढ़ी कर रहे थे।

लार्ड वेलज़ली ने सितम्बर सन् १७९८ ई० में निज़ाम के साथ एक सन्धि की। इस सन्धि के अनुसार निज़ाम एकदम से अँगरेज़ों के अधीन हो गया। किन्तु मराठा लोग बड़े चतुर थे। वे वेलज़ली की कूटनीति के जाल में नहीं फँसे और बिलकुल अलग रहे।

इस युद्ध में मुख्य सेनापति लार्ड हैरिस (Lord Harris) था। निज़ाम की सेनाओं की सहायता से उसने पूर्व की ओर से मैसूर पर हमला किया। एक छोटी-सी सेना स्टुअर्ट (Stuart) की अध्यक्षता में पश्चिम की ओर से बढ़ी। टीपू ने बड़े साहस के साथ युद्ध किया परन्तु हैरिस ने मलावली नामक स्थान पर उसे पराजित कर दिया। टीपू ने भागकर श्रीरङ्गपट्टम में शरण ली। ४ मई सन् १७९९ ई० में अँगरेज़ों ने श्रीरङ्गपट्टम को भी जीत लिया। सन्धि का प्रस्ताव हुआ परन्तु जो शर्तें पेश की गई उन्हें टीपू ने अस्वीकार कर दिया। अपने क़िले की दीवार के नीचे वह बड़ी वीरता के साथ लड़ता हुआ मारा गया।

अँगरेज़ों और उनके मित्रों ने टीपू के राज्य को आपस में बाँट लिया। निज़ाम को उत्तर-पश्चिम की ओर के कुछ ज़िले मिले। मराठों को भी कुछ भाग एक शर्त पर दिया गया परन्तु उन्होंने शर्त को स्वीकार नहीं किया। कम्पनी ने पश्चिम की तरफ़ कनारा, दक्षिण की तरफ़ कोयम्बटूर और श्रीरङ्गपट्टम के सहित पूर्व के कुछ ज़िलों को अपने राज्य में मिला लिया। मैसूर की गद्दी पर उस हिन्दू-वंश का एक लड़का बिठाया गया जिससे हैदर ने राज्य छीन लिया था। शासन-प्रबन्ध के काम को चलाने के लिए टीपू का चतुर मन्त्री पूर्णिया नियुक्त किया गया। टीपू के लड़कों को बड़ी-बड़ी पेंशनें दी गईं।

टीपू का चरित्र—टीपू एक महान् शासक, योद्धा और सेनाध्यक्ष था। उसने शासन में कई सुधार किये थे। शासन के कार्य को वह बड़े उत्साह और परिश्रम के साथ करता था। उसे साहित्य से प्रेम था। फ़ारसी, कनाड़ी और उर्दू भाषा वह धड़ाके के साथ बोल सकता था। उसने एक बड़ा पुस्तकालय भी बनाया था जिसे उसकी मृत्यु के बाद अँगरेज कलकत्ते ले गये थे। वह निर्दय और धर्मान्ध मुसलमान नहीं था। वह हिन्दू मठों और मन्दिरों को भी दान देता था। परन्तु सेना का सञ्चालन करने की योग्यता उसमें नहीं थी। वह अपने बाप की भाँति न तो दूरदर्शी था और न उसकी तरह कभी दूसरों को समझने में उसका अनुमान ही ठीक था। विल्क्स (Wikls) ने ठीक कहा है कि हैदर साम्राज्य स्थापित करने के लिए पैदा हुआ था और टीपू उसे खोने के लिए।

टीपू के पतन के कई कारण थे। उसके साथियों ने उसे धोखा दिया। दूसरे वह अपने शत्रुओं की शक्ति का ठीक अनुमान न कर सका। यूरोपीय राजनीतिक स्थिति का उसे कुछ भी ज्ञान नहीं था। वह नहीं समझ सका कि अँगरेजों को निकालने में फ़्रांस उसकी सहायता करेगा कि नहीं।

सहायक सन्धि की प्रथा—टीपू के पतन के बाद लार्ड वेलजली ने निजाम और मराठों के साथ की हुई पुरानी सन्धि को दुहराने का निश्चय किया। इसी समय उसने अपनी सहायक सन्धि का प्रस्ताव किया। यह कोई नई नीति नहीं थी। क्लाइव और हेस्टिंग्ज ने इस नीति का अनुसरण किया था। प्रारम्भ में सैनिक सहायता पहुँचाकर भारतीय नरेशों की रक्षा की जाती थी। इसके बदले उन्हें रुपया देना पड़ता था। जब वे रुपया नहीं अदा कर पाते थे तब राज्य का कुछ भाग देने के लिए उन्हें बाध्य किया जाता था। लार्ड वेलजली ने इस प्रथा को और आगे बढ़ाया। सहायक सन्धि का नियम इस प्रकार था। जो सन्धि करता था वह अनिवार्य रूप से अँगरेजों की अधीनता स्वीकार कर लेता था। वह किसी विदेशी शक्ति के साथ युद्ध या सन्धि नहीं कर सकता था और उसे अपने यहाँ अँगरेजी सेना रखनी पड़ती थी और उसका सारा खर्च देना पड़ता था। वह किसी विदेशी को अपने यहाँ नौकर नहीं रख सकता था। इसके अतिरिक्त उसे अपने दरबार में एक अँगरेज रेजीडेंट रखना पड़ता था।

इन सन्धियों की बदौलत अँगरेजों की स्थिति बहुत दृढ़ हो गई। वे भारत में सबसे अधिक शक्तिशाली हो गये। उनके पास एक सुशिक्षित विशाल सेना थी जिसके लिए उन्हें कुछ भी खर्च नहीं करना पड़ता था। उस सेना से, आवश्यकता पड़ने पर, वे काम ले सकते थे। सन्धि करनेवाले मित्र-राज्यों की विदेशी नीति पर उनका पूर्ण अधिकार हो गया। अतः अब अँगरेजों को यूरोपीय लोगों के आक्रमण का कोई भय नहीं रहा। लार्ड वेलजली ने सहायता सन्धि करने के लिए भारतीय राजाओं पर बड़ा दबाव डाला और उनके साथ सख्ती का बर्ताव

किया। अपनी अयोग्यता और स्वार्थपरता के कारण वे आसानी के साथ उसके प्रभाव में आ गये।

हिन्दुस्तान के राजाओं पर इन सन्धियों का बड़ा बुरा प्रभाव पड़ा। अब उन्हें विदेशियों के आक्रमण और आन्तरिक विद्रोहों का कुछ भय नहीं रहा और वे निकम्मे और कमज़ोर हो गये। शासन-प्रबन्ध की ओर से उनका ध्यान हट गया। उनका आत्म-सम्मान भी जाता रहा और उनका राजनीतिक जीवन शक्तिहीन हो गया। षड्यन्त्र अधिक होने लगे। अत्याचार और कुशासन को दूर करने के लिए अन्त में देशी राज्यों को कम्पनी के राज्य में मिला लेने के सिवाय और कोई चारा ही नहीं रह गया। टामस मनरो (Thomas Munro) ने कड़े शब्दों में इस प्रथा की आलोचना की और कहा कि भारतीय शासक इसके द्वारा पूर्ण रीति से चरित्र-हीन और दुर्बल हो गये।

सबसे पहले निज़ाम ने सहायक सन्धि की ओर पूर्ण रूप से अँगरेज़ों की अधीनता स्वीकार कर ली।

तञ्जौर, सूरत और कर्नाटक का अँगरेजी राज्य में मिलाया जाना—लार्ड वेलज़ली कम्पनी के राज्य को बढ़ाने पर तुला हुआ था। अपने उद्देश्य को पूरा करने के लिए कभी-कभी उसे कठोर उपायों का सहारा लेना पड़ता था। तञ्जौर में गद्दी के लिए झगड़ा हो रहा था। उस झगड़े से लाभ उठाकर अक्टूबर १७९९ ई० में उसने राजा के साथ सन्धि की। इस सन्धि के अनुसार राजा ने अपना सम्पूर्ण शासन-प्रबन्ध अँगरेज़ों को सौंप दिया। वेलज़ली ने इसके बदले में उसे ४० हज़ार पौंड सालाना देने का वादा किया।

सूरत में भी यही बात हुई। जब वहाँ सिंहासन के लिए झगड़ा हुआ तब वेलज़ली ने नवाब को हटाकर सूरत को अँगरेज़ी राज्य में मिला लिया।

कर्नाटक में दोहरा शासन-प्रबन्ध था। उसका परिणाम यह हुआ कि वहाँ के लोग बड़ी मुसीबत में पड़ गये। श्रीरङ्गपट्टम में जो काग़ज़ात मिले थे उनको देखने से मालूम होता था कि नवाब और उसका लड़का, दोनों, टीपू के साथ लिखा-पढ़ी करते थे। लार्ड वेलज़ली को अप्रसन्न करने के लिए यह मसाला काफ़ी था। इसी बहाने से उसने सूरत के मामले में दखल दिया। जुलाई सन् १८०१ ई० में जब नवाब मर गया तब वेलज़ली ने उसका शासन अपने हाथ में ले लिया। नवाब के लड़के के हक़ पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया गया और उसकी पेंशन मजूर हो गई।

लार्ड वेलज़ली और अवध—अवध का राज्य कम्पनी के राज्य की उत्तरी सीमा पर स्थित था। नवाब के ज़िम्मे कम्पनी का रुपया बाक़ी था। उसकी सेना बड़ी उच्छृङ्खल थी और शासन-प्रबन्ध भी ठीक न था। लार्ड वेलज़ली ने फ़ौज की संख्या बढ़ाने को कहा। नवाब इस बात को मानने के लिए किसी प्रकार

राज़ी न था। उसने कहा कि यदि मेरा लड़का गद्दी का मालिक बना दिया जाय तो मैं नवाबी के पद को छोड़ने के लिए तैयार हूँ। लार्ड वेलज़ली उसके इस व्यवहार से बहुत नाराज़ हुआ। उसने नवाब को इस बात के लिए मजबूर किया कि वह सदा के लिए कम्पनी को रुहेलखंड और गोरखपुर के ज़िले दे दे। इस प्रकार नवाब के राज्य का लगभग आधा भाग अँगरेज़ी राज्य में सम्मिलित हो गया। ऐसा करने में लार्ड वेलज़ली ने नवाब के साथ अत्याचार किया। उसने न तो हिन्दुस्तानी राजाओं के भावों का कुछ भी ख़याल किया और न उनके क़ानूनी अधिकारों पर ही कुछ ध्यान दिया। उसको तो केवल ब्रिटिश राज्य के विस्तार और उसकी रक्षा का ख़याल था। अँगरेज़ इतिहासकारों ने इसी बात के लिए उसकी नीति का समर्थन किया है। नवाब के साथ जो अन्याय हुआ वह स्पष्ट है। जिस प्रकार का वर्ताव उसके साथ किया गया वह किसी प्रकार उचित नहीं कहा जा सकता। प्रजा की दशा कुछ सुधरी नहीं और जो ज़िले अँगरेज़ी राज्य में मिला लिये गये थे उनकी मालगुज़ारी का बन्दोबस्त लोगों के लिए हानिकारक सिद्ध हुआ।

लार्ड वेलज़ली और मराठे (१८०२–५)—बेसीन की सन्धि—महादजी की मृत्यु के बाद १७९४ ई० में नाना फड़नवीस मराठों के राजनीतिक क्षेत्र का प्रधान व्यक्ति बन गया। उसकी शक्ति असीम थी; किन्तु उसकी संरक्षकता से युवक पेशवा माधवराव नारायण को इतना क्रोध आया कि १७९५ ई० में उसने आत्महत्या करके अपने जीवन का अन्त कर दिया। राघोबा के बेटे बाजीराव ने पेशवा की गद्दी पर अधिकार करना चाहा। इस पर नाना फड़नवीस और उसके बीच एक भयानक झगड़ा उठ खड़ा हुआ। मराठों में इससे बड़ा अशान्ति फैल गई। सन् १८०० ई० में नाना फड़नवीस भी मर गया। उसके साथ, कर्नल पामर (Conoel Palmer) के शब्दों में, मराठों की बुद्धिमत्ता और संयम का भी अन्त हो गया। सिन्धिया और होल्कर दोनों ने पूना दर्बार में अपना प्रभुत्व जमाना चाहा। परन्तु होल्कर अधिक शक्तिशाली था। उसने अक्टूबर सन् १८०२ ई० में सिन्धिया और पेशवा की संयुक्त सेना को, पूना के पास, युद्ध में पराजित कर दिया। पेशवा बेसीन को भाग गया और वहाँ जाकर उसने अँगरेज़ों के यहाँ शरण ली। लार्ड वेलज़ली ने ३१ दिसम्बर सन् १८०२ ई० को उसके साथ बेसीन की सन्धि की। पेशवा ने सहायक सन्धि की सभी शर्तें मान लीं। उसने पूना मे एक अँगरेज़ी फ़ौज और एक अँगरेज रेज़ीडेंट रखना स्वीकार कर लिया। अँगरेज़ी फ़ौज के खर्चे के लिए उसने कुछ देश भी देने का वादा किया और यह भी स्वीकार कर लिया कि उसकी विदेशी नीति पर अँगरेज़ों का नियन्त्रण रहेगा। इसके अतिरिक्त उसने निज़ाम और गायकवाड़-सम्बन्धी झगड़ों में अँगरेज़ों को पंच मान लिया। सन्धि के

होने बाद मई १८०३ ई० में अँगरेज़ी फ़ौज की संरक्षकता में पेशवा पूना पहुँचाया गया।

मराठों के साथ युद्ध—बेसीन की सन्धि से मराठों की राजनीतिक शक्ति को बड़ा धक्का पहुँचा। इँगलैंड मे भी उसकी कड़ी आलोचना की गई। मराठों ने अँगरेज़ों को अप्रसन्न करने का कोई काम नहीं किया था। पेशवा एक अयोग्य मनुष्य था। वह अपने काम के परिणाम पर विचार नहीं कर सकता था। अन्य मराठा-सरदारों के झगड़ों मे अँगरेज़ों का पंच बनना उनके लिए अपमानजनक था। इससे सम्भव था कि बड़ी कठिनाइयाँ उठ खड़ी होतीं। ऐसी अवस्था में इस सन्धि पर मराठा-सरदारों का क्रुद्ध होना अनुचित और आश्चर्य-जनक नहीं था। सिन्धिया ने क्रोध में आकर कहा कि इस सन्धि ने तो मेरे सिर से पगड़ी उतार ली। भोंसला ने इसे राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का घातक बतलाया। पेशवा भी इस विचार से सहमत था। वह छिप-छिप उनकी बातों का समर्थन करता रहा। होल्कर पूना छोड़कर चला गया और गायकवाड़ तटस्थ रहा।

लार्ड वेलज़ली ने बड़े साहस और उत्साह के साथ युद्ध की घोषणा कर दी। गवर्नर-जनरल का भाई आर्थर वेलज़ली (Arthur Wellesley) ब्रिटिश सेना का प्रधान सेनापति बना। लड़ाई दक्षिण और उत्तरी भारत में हुई। १८०३ ई० में अहमदनगर पर अँगरेज़ों का क़ब्ज़ा हो गया। आर्थर वेलज़ली ने २३ सितम्बर १८०३ ई० को सिन्धिया और भोंसला की संयुक्त सेना को असाई (Assaye) के पास हरा दिया। इसके बाद असीरगढ़ और बुरहानपुर के क़िले पर अधिकार करने का प्रयत्न किया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि सिन्धिया ने सन्धि का प्रस्ताव किया। नवम्बर सन् १८०३ ई० में भोंसला अरगाँव नामक स्थान पर पराजित हुआ और ग्वालीगढ़ के क़िले पर अँगरेज़ों का अधिकार हो गया।

उत्तरी भारत में अँगरेज़ी सेना को अधिक सफलता मिली। जनरल लेक (General Lake) ने अलीगढ़ को जीत लिया और दिल्ली की लड़ाई में सिन्धिया की सेनाओं को हरा दिया। मुग़ल-सम्राट् की रक्षा का भार उसने अपने ज़िम्मे ले लिया और उसे ९० हज़ार वार्षिक पेंशन देना स्वीकार किया। दिल्ली तथा आस-पास के ज़िलों पर उसकी प्रभुता सुरक्षित रही। इसके बाद जनरल लेक आगरा की ओर रवाना हुआ। भरतपुर के राजा के साथ भी सन्धि हो गई और आगरा भी अँगरेज़ों के अधिकार में आ गया। नवम्बर में सिन्धिया की फ़ौजें लासवाड़ी नामक स्थान पर पराजित हुईं और अन्य स्थानों में भी मराठों की हार हुई।

सिन्धिया और भोंसला के साथ भी अलग-अलग सन्धि हो गई। भोंसला के साथ देवगाँव की सन्धि हुई। इससे अँगरेज़ों को कटक का प्रान्त और बरार का वह भाग, जो भोंसला के अधीन था, मिला। अँगरेज़ी राज्य में इन दोनों प्रदेशों

के सम्मिलित हो जाने से बंगाल और मद्रास के अहाते एक दूसरे से मिल गये। सिन्धिया ने सुर्जी अर्जुनगाँव में एक सन्धि की। इसके अनुसार उसने दिल्ली, आगरा और यमुना नदी के दक्षिण का प्रदेश अँगरेज़ों को दे दिया। असीरगढ़ के अतिरिक्त दक्षिण में और कोई प्रदेश अब उसके अधिकार में न रह गया सिन्धिया और भोंसला दोनों ने बेसीन की सन्धि को मान लिया। उन्होंने अपने-अपने दर्बार में अँगरेज़ रेज़ीडेंट रखना भी स्वीकार कर लिया। सिन्धिया को मुग़ल-साम्राज्य से जो उपाधियाँ और पुरस्कार मिले वे सुरक्षित बने रहे।

होल्कर के साथ युद्ध (१८०५ ई०)—जसवन्तराव होल्कर अभी तक अन्य मराठा राजाओं से अलग रहा था। अब उसने जयपुर के राज्य में लूट-मार आरम्भ कर दी। लार्ड वेलज़ली नें उससे एसा न करने को कहा। बस युद्ध छिड़ गया। कर्नल मांनसन (Colonel Monson) ने राजपूताना पर चढ़ाई कर दी। किन्तु उसकी फ़ौज पीछे खदेड़ दी गई और उसके बहुत-से सिपाही मारे गये। जाट, सिन्धिया और पिण्डारियों के नेता अमीर ख़ाँ तथा और कुछ सरदारों न होल्कर की सहायता की थी। उसने दिल्ली पर आक्रमण किया परन्तु वह विफल हुआ। भरतपुर के पास डीग की लड़ाई में उसकी सेना पराजित हो गई। जनरल लेक होल्कर की सेना को फ़र्रुखाबाद के पास पहले ही हरा चुका था। अब उसने शीघ्रता के साथ भरतपुर के जाट राजा पर आक्रमण किया। क़िले पर उसके चार हमले विफल हुए। अन्त में अप्रैल १८०५ ई० में सिन्धिया के भय से एक सन्धि कर ली गई।

वेलज़ली का वापस जाना—लार्ड वेलज़ली के शत्रुओं ने इँगलैंड में उसके विरुद्ध बड़ा आन्दोलन किया। भरतपुर की भीषण पराजय की बड़ी तीव्र आलोचना की गई। फलतः वह १८०५ ई० में वापस बुला लिया गया। उसके बाद लार्ड कार्नवालिस भारत का गवर्नर-जनरल नियुक्त किया गया। उसकी अवस्था इस समय ६७ वर्ष की थी। उसने आते ही सिन्धिया और होल्कर के साथ सन्धि कर ली। इसका परिणाम यह हुआ कि मध्यभारत और राजपूताना में अब वे स्वच्छन्द धावा करने लगे।

शासन-प्रबन्ध—कर्मचारियों को नियुक्त करन तथा उनका वेतन निश्चित करने में लार्ड वेलज़ली अपने सम्बन्धियों का बड़ा पक्षपात करता था। किन्तु शासन में उसने कई महत्त्वपूर्ण सुधार किये। कम्पनी के कर्मचारियों की शिक्षा के लिए उसने फ़ोर्ट विलियम में एक कालेज स्थापित किया परन्तु डाइरेक्टरों ने इस योजना को पसन्द नहीं किया। देश की आर्थिक दशा में सुधार करके उसने बजट को ठीक करने की कोशिश की। उसने सरकार की आय को बढ़ा कर उसकी प्रतिष्ठा बढ़ाई। उसका स्वभाव उग्र था। कम्पनी के संचालकों की आज्ञा की पर्वाह न करके वह मनमानी करता था। उसने भारतीय नरेशों के साथ भी

वेलेज़ली का भारत
१७९८-१८०५
पेशावर
सिन्धु नदी
सतलज नदी
अम्बाला
दिल्ली
मेरठ
बरेली
लासवाड़ी
भरतपुर
आगरा
कानपुर
लखनऊ
ग्वालियर
इलाहाबाद
बनारस
पटना
सोन
करांची
गुजरात
इन्दौर
नर्मदा नदी
बुरहानपुर
असीरगढ़
सूरत
नागपुर
बेसीन
बम्बई
अहमदनगर
पूना
हैदराबाद
महानदी
कलकत्ता
गोआ
मंगलौर
मदरास
माही
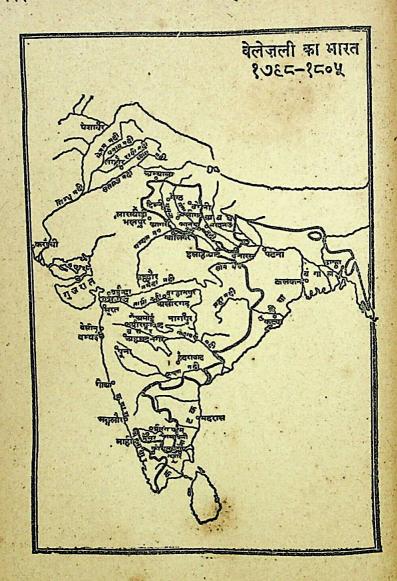
अनुचित व्यवहार किया। इन सब बातों से कम्पनी के संचालक उससे बहुत रुष्ट हो गये। वेलज़ली उन्हें संकुचित विचारवाली बूढ़ी स्त्रियों का गुट्ट कहा करता था। इँगलैंड लौटने पर उस पर अभियोग चलाने का प्रयत्न किया गया परन्तु पार्लियामेंट ने इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। इतना ही नहीं, एक प्रस्ताव पास किया गया जिसमें उसकी सार्वजनिक सेवाओं की प्रशंसा की गई। इसमें सन्देह नहीं कि वारेन हेस्टिंग्ज़ की अपेक्षा लार्ड वेलज़ली अधिक भाग्यशाली था।

अशान्ति का समय (१८०६–१३)—लार्ड कार्नवालिस वेलज़ली की नीति को बदल देना चाहता था। किन्तु उसका स्वास्थ्य इतना खराब था कि ५ अक्टूबर सन् १८०५ ई० को गाज़ीपुर में उसका देहान्त हो गया। उसके बाद सर जार्ज बार्लो (Sir George Barlow) गवर्नर-जनरल नियुक्त हुआ। वह कौंसिल का सीनियर मेम्बर था। उसने देशी राज्यों के मामलों में हस्तक्षेप न करने की नीति का पालन पूर्ण रीति से किया। उसके शासन-काल में केवल एक उल्लेखनीय घटना हुई। वह वैल्लोर का ग़दर था। सेनापति ने सिपाहियों को एक नई तरह की पगड़ी बाँधने और माथे पर तिलक न लगाने की आज्ञा दी थी। इस हुक्म से सारी सेना में सनसनी फैल गई। सिपाहियों ने समझा कि सरकार हमें विधर्मी बनाना चाहती है। फिर क्या था, उन्होंने जुलाई १८०६ ई० में विद्रोह खड़ा कर दिया। उस समय यह कहा जाता था कि टीपू के लड़कों ने सिपाहियों को भड़का कर विद्रोह कराया है परन्तु यह बात ग़लत थी। विद्रोहियों ने क़िले पर क़ब्ज़ा कर लिया और अँगरेज़ सिपाहियों को मार डाला। अर्काट से एक फ़ौज भेजी गई। उसने विद्रोह को शान्त कर दिया। टीपू के लड़के कलकत्ते भेज दिये गये। सन् १८०७ ई० में सर जार्ज बार्लो मद्रास का गवर्नर बना दिया गया और उसके स्थान पर लार्ड मिन्टो (Lord Minto) नियुक्त हुआ।

हस्तक्षेप न करने की नीति के कारण देश भर में बड़ी अशान्ति फैल गई। जनता के सुख और समृद्धि का बलिदान किये बिना उसका जारी रखना कठिन था। बुन्देलखण्ड में पूर्ण अराजकता फैल गई थी। अनेक छोटे-छोटे सरदार आपस में लड़ने-झगड़ने लगे। इस तरह देश भर में उपद्रव खड़ा हो गया। झुंड के झुंड डाकू स्वतन्त्रतापूर्वक घूमते-फिरते थे और लोगों का माल-असबाब लूट लेते थे। शान्ति स्थापित करने का प्रयत्न किया गया; सरदारों के पारस्परिक झगड़ों का निपटारा किया गया और डाकुओं का सख़्ती के साथ दमन किया गया।

सिक्ख—अहमदशाह अब्दाली के आक्रमण के बाद पंजाब में गड़बड़ी मच गई थी। सिक्ख-संघ अर्थात् खालसा ने १७६४ ई० में लाहौर को जीत लिया और झेलम से लेकर यमुना नदी तक सारे देश पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। खालसा अनेक मिसलों में विभक्त था। हर एक मिसल का एक नेता होता था। उसके पास कुछ भूमि और आश्रितों का एक छोटा-सा दल रहता

था। इन मिसलों में १२ अधिक प्रसिद्ध थे। रणजीतसिंह का पितामह चरतसिंह सुखेरकुचिया मिसल का नेता था। अपने पड़ोसियों की भूमि पर क़ब्ज़ा करके उसने अपनी शक्ति को बढ़ा लिया था। उसके लड़के महासिंह ने भी अपने पिता के कार्य को जारी रक्खा। सन् १७९२ ई० में उसकी मृत्यु के बाद उसका बेटा रणजीतसिंह उत्तराधिकारी हुआ। वह बड़ा योग्य और पराक्रमशील पुरुष था।

रणजीतसिंह का जन्म सन् १७८० ई० में हुआ था। जिस समय उसने आस-पास के प्रदेशों पर विजय प्राप्त करना आरम्भ किया उस समय वह लड़का ही था। कुछ ही वर्षों में उसने अपने लिए एक राज्य बना लिया। ज़मानशाह से उसे लाहौर मिला और १८०२ ई० में उसने अमृतसर को जीत लिया। अगले चार-पाँच वर्षों में उसकी शक्ति की उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई। उसने सब मिसलों को अपने अधीन कर लिया और उन्हें एकता के सूत्र में बाँध कर एक सुदृढ़ सिक्ख-राज्य स्थापित करने की चेष्टा की। वह चाहता था कि सरहिंद के राज्यों पर क़ब्ज़ा कर ले। ये राज्य कम्पनी की संरक्षकता में थे इसी लिए रणजीतसिंह को अँगरेज़ों के सम्पर्क में आना पड़ा।

यूरोप में नेपोलियन बोनापार्ट १८०७ ई० में अपनी उन्नति की चरम सीमा को पहुँच गया था। उसने ठीक इसी समय रूस के बादशाह के साथ टिलसिट (Tilsit) की सन्धि की थी। अँगरेज़ों के व्यापार को नष्ट करने के लिए वह जहाज़ी नाकाबन्दी द्वारा भरसक प्रयत्न कर रहा था। पूर्वी देशों को जीतने का भी उसका इरादा था। इससे भारत में ब्रिटिश राज्य के नष्ट हो जाने का बड़ा भय था। इस आपत्ति का निवारण करने के लिए लार्ड मिन्टो ने हस्तक्षेप न करने की नीति का परित्याग कर दिया। विजय और राजनीतिक सन्धियों के द्वारा उसने भारत में अँगरेज़ों की स्थिति को दृढ़ करने का प्रयत्न किया।

उसने ईरान, अफ़ग़ानिस्तान और पंजाब को मिशन (दूत) भेजे। सन् १८०८ ई० में जान मालकम (John Malcolm) ईरान भेजा गया। इँगलेंड की सरकार की सलाह से जिस सन्धि पर हस्ताक्षर किये गये थे उसे, काफ़ी लड़ने-झगड़ने के बाद, उसने पक्का कर दिया। उस सन्धि में यह शर्त थी कि ईरान की सरकार फ़ांसीसियों को अपने यहाँ से निकाल देगी और अँगरेज़ लोग विदेशी आक्रमणों से ईरानियों की रक्षा करेंगे।

माउंट स्टुअर्ट एलफ़िन्स्टन (Mount Stuart Elphinstone) काबुल भेजा गया। शाहशुजा से उसकी पेशावर में भेंट हुई। उसने वचन दिया कि यदि फ़ांसीसी तथा ईरानी फ़ौजें हमारे देश से होकर जायँगी, तो हम उन्हें रोकेंगे। इस सन्धि का कुछ परिणाम न निकला क्योंकि शाहशुजा उसके बाद ही अफ़ग़ानिस्तान से निकाल दिया गया। सिन्ध के अमीरों के साथ भी एक सन्धि की गई। उन्होंने अपने देश से फ़ांसीसियों को निकाल देने का वादा किया।

रणजीतसिंह के साथ किसी तरह का समझौता करना कठिन था; क्योंकि वह, सतलज के इस ओर के राज्यों के विरुद्ध, अँगरेजों की सहायता चाहता था। स्पेन में फ्रांसीसियों पर विजय पाने के कारण अँगरेजों की स्थिति बदल गई। अँगरेज दूत सर चार्ल्स मेटकाफ़ (Sir Charles Metcalf) ने अपनी सारी चतुराई और कूटनीति का उपयोग करके रणजीतसिंह से अप्रैल सन् १८०९ ई० में अमृतसर की सन्धि पर हस्ताक्षर करा लिये। सतलज के इस पार के ज़िलों को उसने छोड़ दिया। इस प्रकार ब्रिटिश सरकार और सिक्ख-राज्य के बीच मैत्री-सम्बन्ध स्थापित हो गया। जब तक रणजीतसिंह जीवित रहा तब तक इस सन्धि का पूर्णतया पालन होता रहा। परन्तु उसकी मृत्यु के बाद खालसा ने सन्धि की शर्तों की कुछ भी पर्वाह न की और लड़ने का इरादा किया।

यह आवश्यक समझा गया कि पूर्व में फ़्रांसीसियों के जो उपनिवेश थे उन पर आक्रमण करने के लिए फ़ौजें भेजी जायँ। १८१० ई० में भारत-सरकार ने एक जहाज़ी बेड़ा तैयार करके भेजा। फलतः बूर्बों और मारीशस के टापुओं पर अँगरेज़ों का अधिकार स्थापित हो गया।

लार्ड मिन्टो को इस बात का बड़ा गर्व था कि भारतीय शक्तियों के विरुद्ध हथियार उठाये बिना ही उसने सारी अराजकता को दबा दिया। सन् १८१३ ई० में वह इँगलैंड वापस चला गया और उसके स्थान पर लार्ड हेस्टिंग्ज़ गवर्नर-जनरल नियुक्त किया गया।

कम्पनी का नया आज्ञा-पत्र (१८१३ ई०)—कम्पनी का आज्ञा-पत्र २० वर्ष के लिए जारी किया गया। अभी तक व्यापार पर कम्पनी का एकाधिकार था। किन्तु इसके विरुद्ध बड़ा आन्दोलन किया गया। फलतः कम्पनी के हाथ से वह अधिकार छीन लिया गया। चीन के व्यापार पर उसका एकाधिकार सुरक्षित रहा। परन्तु राजनीतिक अधिकारों को छीन लेनें का प्रस्ताव अस्वीकृत कर दिया गया। कम्पनी अथवा 'बोर्ड आफ़ कन्ट्रोल' से लाइसेन्स लिये बिना किसी यूरोप-निवासी का भारत में आना असम्भव हो गया। हिन्दुस्तानियों में शिक्षा का प्रचार करने के लिए कम्पनी ने पहली बार दस हज़ार पौंड की एक रक़म मंजूर की। यद्यपि शिक्षा-प्रचार के लिए यह रक़म काफ़ी नहीं थी तो भी उसका अधिक महत्त्व इसलिए था कि सरकार ने इस बात को स्वीकार किया कि जनता की दशा को सुधारना उसका कर्त्तव्य है।

सन् १८१३ ई० में भारतीय स्थिति—वेलज़ली ने मराठों पर बड़ा आघात किया था, इसलिए उसके मीठे शब्द उनके क्रोध को शान्त न कर सके। वे किसी प्रकार ब्रिटिश राज्य से सुलह करने के लिए तैयार नहीं थे। कार्नवालिस और बार्लो की नीति कमजोर थी। उन्होंने राजपूत-राज्यों को पिण्डारियों और मराठों की दया पर छोड़ दिया था। हस्तक्षेप न करने की नीति का अँगरेज़ों पर

बड़ा भयानक प्रभाव पड़ा। उनकी प्रतिष्ठा बहुत कम हो गई। सिन्धिया ने गोहद, ग्वालियर तथा अन्य प्रदेशों पर फिर से क़ब्ज़ा कर लिया। होल्कर को राजपूताना के कुछ ज़िले वापस कर दिये गये। मध्यभारत में बड़ी राजनीतिक गड़बड़ी फैल गई। जसवन्तराव होल्कर १८११ ई० में मर गया और उसका अवैध पुत्र मल्हारराव गद्दी पर बैठा। भिन्न-भिन्न दलों के पारस्परिक झगड़ों के कारण शासन-व्यवस्था बिगड़ गई। राज्य की शक्ति इतनी कम हो गई कि बिना तलवार दिखाये मालगुज़ारी वसूल करना कठिन हो गया। होल्कर और सिन्धिया के झगड़ों के कारण सिन्धिया के राज्य में बड़ी गड़बड़ी मच गई और पिण्डारियों की बन आई। उन्होंने सारे देश में लूट-मार मचा दी और लोगों को खूब परेशान किया। मैलकौम के शब्दों में लोग निरंकुश राजाओं द्वारा पीड़ित किये गये और अधिक लगान देने के कारण तबाह हो गये। देश को डाकुओं ने रौंद डाला और शासन का अस्तित्व ही मिट गया।

गोरखा-युद्ध (१८१४-१६ ई०)—नैपाल के राजा से लार्ड हेस्टिंग्ज़ की आते ही मुठभेड़ हुई। नैपाल का पहाड़ी देश अवध और बंगाल की उत्तरी सीमा पर स्थित था। उस देश के रहनेवाले गोरखा कहलाते थे और शारीरिक बल और सहन-शक्ति में अँगरेज़ों से किसी प्रकार कम न थे। वे सम्पूर्ण तराई प्रदेश को अपना समझते थे। उन्होंने श्योराज और बुतवल के ज़िलों पर क़ब्ज़ा कर लिया। अँगरेज़ी सरकार ने झट उनके विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी।

पहाड़ी देश में जाकर युद्ध करना सहज नहीं था। जनरल आक्टर-लोनी (Ochterlony) का पहला आक्रमण विफल हुआ। जनरल जिलेस्पी (Guillespie) पराजित हुआ और एक पहाड़ी क़िले पर हमला करते समय मारा गया। इसी प्रकार अन्य अँगरेज़ सेनापति भी परास्त हुए और पीछे हटा दिये गये। किन्तु पश्चिमी नैपाल में आक्टर लोनी अपने स्थान पर डटा रहा और गोरखों की राजधानी पर हमला करने के लिए आगे बढ़ा। इतने में सन्धि की बातचीत शुरू हो गई और मार्च १८१६ ई० में सिगौली नामक स्थान पर सन्धि-पत्र लिखा गया। इस सन्धि के अनुसार गोरखों ने तराई प्रदेश को छोड़ दिया और अँगरेज़ों को कुमायूँ और गढ़वाल दे दिये। इस प्रकार वह सुरम्य देश, जहाँ आज-कल शिमला स्थित है, अँगरेज़ों के अधिकार में आ गया। कम्पनी की उत्तर-पश्चिमी सीमा हिमालय तक पहुँच गई। गोरखों ने शिकम को भी छोड़ दिया और काठमाण्डू में एक रेज़ीडेंट रखना स्वीकार किया। उसी समय से अँगरेज़ों और गोरखों के बीच मित्रता का सम्बन्ध स्थापित हो गया और आवश्यकता पड़ने पर दोनों ने एक दूसरे को सहायता देने का वचन दिया।

पिण्डारियों की लड़ाई (१८१६-१८ ई०)—पिण्डारी लोग पहले मराठों की फ़ौज में शामिल होकर युद्ध करते थे और शत्रुओं को लूट-पाट कर अपना

निर्वाह करते थे। दक्षिण में शिवाजी और औरंगज़ेब के युद्धों में उनका नाम पहले-पहल सुनाई पड़ता है। उनका सम्बन्ध किसी विशेष धर्म अथवा जाति से नहीं था। थोड़े दिनों में सब जातियों के बदमाश, गुण्डे और लुटेरे उनके साथ हो गये और इस प्रकार पिण्डारियों का दल बहुत बढ़ गया। वे सारे राजपूताना और मध्यभारत में छापा मारते थे। वहाँ के निवासियों को उन्होंने बहुत कष्ट दिया और उन्हें तबाह कर डाला। वे बड़ी निर्दयता के साथ लोगों को शारीरिक यन्त्रणा देते और अपनी धन-सम्पत्ति दे देने के लिए उन्हें विवश करते थे। इतना ही नहीं, वे कभी-कभी गाँवों में आग लगा देते थे। अमीर खाँ, वासिल मुहम्मद, चीतू और करीम खाँ उनके मुख्य नेता थे। इनमें से प्रत्येक की अधीनता में हज़ारों पिण्डारी रहते थे और वे चारों ओर लूट-मार करते थे। मराठा सरदार भी उनकी सहायता करते और उन्हें ऐसा करने के लिए उत्साहित करते थे। लार्ड हेस्टिंग्ज़ ने पिण्डारियों का दमन करने के लिए बड़ी भारी तैयारी की। दमन का काम उत्तरी भारत तथा दक्षिण में आरम्भ किया गया। १ लाख १३ हज़ार सिपाहियों की एक विशाल सेना संगठित की गई और उसे चार भागों में विभक्त किया गया। उत्तरी सेना के सचालन का भार गवर्नर-जनरल ने स्वयं अपने ऊपर लिया। दक्षिणी सेना का अध्यक्ष सर टामस हिसलौप (Sir Thomas Hislop) नामक अफ़सर नियुक्त किया गया। उसी समय मराठों के साथ भी युद्ध आरम्भ हो गया। पिण्डारियों का दमन कार्य जारी रहा। पिण्डारी लोग चारों तरफ़ से घेर लिये गये। बहुतों का पीछा किया गया और मार डाले गये। सन् १८१८ ई० के अन्त तक पिण्डारी दल बिल्कुल तितर-बितर और नष्ट कर दिये गये। अमीर खाँ ने अँगरेज़ों की अधीनता स्वीकार कर ली। उसे टोंक का राज्य दे दिया गया और वहाँ उसके वंशज अभी तक राज्य कर रहे हैं। करीम खाँ ने भी हथियार रख कर अँगरेज़ों की अधीनता स्वीकार कर ली। चीतू जंगल में भाग गया। और वहाँ एक चीते ने उसे मार डाला। बहुत-से पिण्डारी किसान और कारीगर बन गये। वे इधर-उधर बस गये और शान्तिपूर्वक अपना जीवन व्यतीत करने लगे।

मराठा-संघ का अन्तिम पतन (१८१७-१९)—पेशवा बाजीराव द्वितीय, जिसे अँगरेज़ों ने १८०२ ई० में पूना की गद्दी पर फिर से बिठा दिया था, मराठा-संघ का अध्यक्ष बनना चाहता था। उसका मन्त्री त्र्यम्बकजी उसे इस काम के लिए उत्साहित करता था। त्र्यम्बकजी के षड्यन्त्र द्वारा ही गायकवाड़ का मन्त्री पं० गंगाधर शास्त्री, जुलाई सन् १८१५ ई० में, मारा गया। एक विद्वान् ब्राह्मण की इस घृणित हत्या से मराठों में सनसनी फैल गई। लोगों को सन्देह हुआ कि पेशवा ने ही अपने मन्त्री के साथ षड्यन्त्र रचकर शास्त्री की हत्या की है। पूना के रेज़ीडेंट एल्फ़िन्स्टन (Elphinstone) ने

पेशवा से त्र्यम्बकजी को समर्पित कर देने के लिए कहा। उसने इस आज्ञा का पालन किया। त्र्यम्बकजी जेल में बन्द कर दिया गया परन्तु वहाँ से किसी प्रकार निकल भागा। कहा जाता है कि इसमें भी पेशवा का हाथ था। एलफ़िन्स्टन पेशवा के इस व्यवहार से बहुत अप्रसन्न हुआ। अतः जून १८१७ ई० में एक सन्धि पर हस्ताक्षर करने के लिए वह विवश किया गया। इस सन्धि के अनुसार पेशवा को कुछ इलाक़ा अँगरेज़ों के हवाले करना पड़ा और मराठों का मुखिया बनने का अधिकार भी उसे छोड़ देना पड़ा। सिन्धिया ने भी नवम्बर १८१७ ई० में एक सन्धि कर ली। इस सन्धि के अनुसार उसने पिण्डारियों के विरुद्ध सहायता देने का वचन दिया। इसी तरह की एक सन्धि साल भर पहले नागपुर के संरक्षक अप्पा साहब के साथ हो चुकी थी।

पहले-पहल पेशवा ने सन्धि की शर्तों को तोड़ा। उसने ब्रिटिश रेज़ीडेंसी पर हमला किया परन्तु किर्की नामक स्थान पर उसकी हार हुई। अप्पा साहब भी अँगरेज़ों का शत्रु बन गया और वह भी नवम्बर १८१७ ई० में सीताबल्दी की लड़ाई में पराजित हुआ। पेशवा ने होल्कर से सहायता के लिए प्रार्थना की। वह अँगरेज़ों के विरुद्ध लड़ने को तैयार हो गया। परन्तु सेना के सन्तोष तथा राज्य के झगड़ों के कारण अँगरेज़ों के हाथों उसकी हार अवश्यम्भावी हो गई। २१ दिसम्बर को वह महीदपुर नामक स्थान पर परास्त हुआ और उसके राज्य के कुछ भाग पर अँगरेज़ों का अधिकार हो गया। भोंसला और होल्कर दोनों ने अँगरेज़ों का आधिपत्य स्वीकार कर लिया।

पेशवा अपने प्राणों पर खेल कर लड़ता रहा परन्तु कोरीगाँव और अष्टी की लड़ाइयों में वह पराजित हुआ। वह बड़ी वीरता के साथ लड़ा किन्तु अन्त में सर जान मैलकौम के हाथों में उसने आत्मसमर्पण कर दिया। मैलकौम (Sir John Malcolum) ने उसे ८० हज़ार पौंड सालाना की पेंशन देनी स्वीकार की। वह पेशवा के पद से हटा दिया गया और उसे बिठूर में रहने की आज्ञा मिली। बिठूर कानपुर के उत्तर-पश्चिम २० मील की दूरी पर है। इसके बाद पेशवा का पद उठा दिया गया। उसके राज्य का कुछ भाग सतारा के राजा को दे दिया गया और शेष बम्बई अहाते में शामिल कर लिया गया।

सन् १८१८ ई० में सिन्धिया ने कम्पनी के साथ एक नई सन्धि की। इसके अनुसार उसने अजमेर अँगरेज़ों को दे दिया और अपने राज्य की सीमा को निर्धारित करना स्वीकार कर लिया। गायकवाड़ ने अपनी सहायक सेना को बढ़ाना मंजूर किया और एक नक़द रक़म के बदले उसने अहमदाबाद के उस भाग को—जिस पर उसका अधिकार था—अँगरेज़ों को दे दिया। इसके बदले

में उसे दूसरा इलाक़ा मिला। राजपूत राज्य पिण्डारियों के अत्याचार से मुक्त कर दिये गये और अब वे अँगरेज़ों की संरक्षकता में आ गये।

इन युद्धों का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि काश्मीर, सिन्ध और पंजाब को छोड़कर समस्त भारत पर अँगरेज़ों की प्रभुता स्थापित हो गई। मराठों की स्वतन्त्रता का और उसके साथ ही देश में फैली हुई अव्यवस्था और मार-काट का अन्त हो गया।

मराठों के पतन के कारण—मराठा-संघ का संगठन शिथिल था। उसमें एकता का अभाव था। भिन्न-भिन्न सरदार आपस में लड़ते-झगड़ते रहते थे और एक दूसरे के प्रभाव को मिटाने की चेष्टा करते थे। यही कारण है कि नाना जैसे प्रतिभाशाली राजनीतिक को भी अधिक सफलता नहीं प्राप्त हुई। पेशवा इस संघ का नाम-मात्र का अध्यक्ष था। उसमें इतना बल नहीं था कि वह सब सरदारों को अपने वश में रखता। मराठों के नेता सदा अपनी शक्ति को बढ़ाने के लिए लड़ते थे। अपने प्रतिद्वन्द्वियों के सर्वनाश के लिए वे सब प्रकार के षड्यन्त्र काम में लाते थे। पूना तथा अन्य दरबारों में सदा झगड़े मचे रहते थे। शासन-प्रबन्ध की ओर कम ध्यान दिया जाता था। मराठा-सरकार के हाकिम भी ठीक तरह से काम नहीं करते थे। राज्य के हित का उन्हें कुछ भी ध्यान न था। मराठों में युद्ध करने की योग्यता का अभाव नहीं था किन्तु उनका संगठन बड़ा दोषपूर्ण था। फ़ौज के सिपाहियों को सैनिक शिक्षा नहीं दी जाती थी। वे विभिन्न जातियों और दलों के होते थे। 'गुरीला' युद्ध-प्रणाली को छोड़कर उन्होंने बड़ी भूल की। उसी के द्वारा वे अतीत काल में बड़ी-बड़ी कठिनाइयों का सामना कर सफलता प्राप्त कर चुके थे। पिण्डारियों को सहायता देने के कारण उनके प्रति लोगों की श्रद्धा न रही। वे अपने सरदारों के प्रति राजभक्ति का समुचित भाव नहीं रखते थे। अनुचित-उचित का विचार छोड़कर वे बहुधा शत्रुओं से जा मिलते थे। इसके लिए उनके मन में कुछ खेद भी नहीं होता था। जीते हुए देशों में वे सार्वजनिक हित के भाव से प्रेरित होकर काम नहीं करते थे, बल्कि वहाँ के लोगों से सख्ती के साथ कर वसूल करते थे। हिन्दुस्तानी राजाओं के प्रति उनका व्यवहार अनुचित और अनुदार था। इसी कारण उन राजाओं ने विदेशियों की शरण ली। साम्राज्य को क़ायम रखने के लिए युद्ध की आवश्यकता तो थी किन्तु ऐसे शिथिल संगठन से वे अँगरेज़ों के विरुद्ध सफलता नहीं प्राप्त कर सकते थे। मराठों की अपेक्षा अँगरेज सैनिक अधिक शिक्षित और सुसज्जित थे। इसके अतिरिक्त उन्हें अँगरेज़ों की शक्ति और साधनों का पर्याप्त ज्ञान नहीं था।

मराठों के सम्मुख एक उज्ज्वल भविष्य था। यदि उनके नेता आपस के भेद-भाव को भूल जाते और यह समझ लेते कि लूट-मार से कोई स्थायी राज्य क़ायम नहीं हो सकता तो वे बड़ी आसानी के साथ मुग़ल-साम्राज्य का स्थान ले

सकते थे। जनता के सुख-कल्याण की उन्हें अधिक पर्वाह नहीं थी। उनकी आपस की लड़ाई के कारण व्यापार और उद्योग-धन्धों की उन्नति असम्भव हो गई। ऐसी नीति और सिद्धान्तों के कारण मराठा-साम्राज्य का पतन अनिवार्य हो गया।

मराठों का शासन-प्रबन्ध—अठारहवीं शताब्दी में मराठों का शासन-प्रबन्ध शिवाजी के सिद्धान्तों पर अवलम्बित नहीं था। राजा की अपेक्षा पेशवा ने धीरे-धीरे अधिक शक्ति प्राप्त कर ली और वही राज्य का वास्तविक शासक बन गया। एक ज़िले की मालगुज़ारी को कई सरदारों में बाँटकर उसने उनके बीच ईर्ष्या-द्वेष और झगड़े का बीज बो दिया। इस प्रकार उसने अपनी शक्ति क़ायम रक्खी और उनके हौसलों को रोकने की चेष्टा की।

पेशवा के यहाँ एक बड़ा दफ्तर था जहाँ सब ज़िलों की आय और व्यय का पूरा ब्योरा रहता था। यह दफ्तर हिसाब की जाँच करता था। शासन का सारा संगठन गाँवों के आधार पर था। प्रत्येक गाँव में एक पटेल रहता था। वही मालगुज़ारी का अफ़सर और मजिस्ट्रेट था। पटेल का पद पुश्तैनी था। गाँव के लोगों से उसे वेतन मिलता था। गाँव का दूसरा अफ़सर कुलकर्णी था। शान्ति और रक्षा के लिए वह पटेल के प्रति उत्तरदायी था। कुलकर्णी सदा ब्राह्मण होता था।

पटेल के ऊपर कामविसदार होता था। वह परगने का हाकिम होता था। उसके ऊपर के हाकिम को मामलतदार कहते थे। हर एक मामलतदार के अधीन एक सरकार या सूबा होता था। ये हाकिम मालगुज़ारी वसूल करते थे और गाँव के कर्मचारियों के ख़िलाफ़ फ़रियादें भी सुनते थे। इन हाकिमों पर देशमुख और देशपाण्डे का नियन्त्रण रहता था। इन दोनों की सहायता के लिए आठ दरख-दार होते थे जो पेशवा के पास गुप्त रिपोर्ट भेजा करते थे। अपनी नियुक्ति के समय प्रत्येक अफ़सर एक बड़ी रक़म पेश करता था। बाजीराव द्वितीय के समय में मामलतदार का पद ठेके पर दिया जाता था जिसके फल-स्वरूप जनता को बड़ी मुसीबत उठानी पड़ी।

न्याय-विभाग का संगठन भी दोषपूर्ण था। मुक़दमे की सुनवाई के लिए न तो कोई कार्यक्रम था और न क़ानूनों का कोई संग्रह ही किया गया था। अधिकांश मामलों में रीति-रवाज का ही अनुसरण किया जाता था। दीवानी के मुक़दमे पंचायत के सामने पेश किये जाते थे। पंचायत की नियुक्ति पटेल करता था। उसके विरुद्ध मामलतदार के यहाँ अपील की जाती थी। पंचायतों का अधिकार सीमित होता था। अपने फ़ैसलों को कार्यान्वित करने का अधिकार उन्हें नहीं था। फ़ौजदारी के मामलों का फ़ैसला पंचायतें करती थीं। दंड बहुत कठोर दिये जाते थे। बेत लगाने का रिवाज साधारण रूप से प्रचलित था। मामूली अपराधों के लिए भी हाथ-पैर आदि शरीर के अंग काट लिए जाते थे। बाजीराव

द्वितीय के समय में पुलिस-विभाग का संगठन नये सिरे से किया गया परन्तु यह व्यवस्था भी दोष-रहित न थी। झूठे अपराध लगाकर अफसर लोगों से रुपया ऐंठते थे। यही नहीं, बहुधा वे डाकुओं और लुटेरों से भी मिले रहते थे।

राज्य की आय के मुख्य साधन चौथ और सरदेशमुखी थे। जमीन की मालगुजारी के अतिरिक्त राज्य की भारी आय टैक्स, आयात-निर्यात-कर, चुंगी, क्रय-विक्रय और घाट की उतराई के महसूल से होती थी। जकात सब जातियों और सम्प्रदायों के सौदागरों से वसूल की जाती थी। यद्यपि मराठा-राज्य की ठीक-ठीक आय बताना कठिन है; परन्तु अनुमान किया जाता है कि सन् १७९८ ई० में कुल आय ६ करोड़ थी और अकेले पेशवा की आमदनी ३ करोड़ थी।

मराठा-राज्य एक सैनिक राज्य था। उसकी संरक्षकता में कला अथवा साहित्य की उन्नति के लिए कुछ नहीं हुआ। वाणिज्य-व्यवसाय को उससे कोई प्रोत्साहन नहीं मिला। किसानों की दशा सुधारने की भी कोई विशेष चेष्टा नहीं की गई।

मराठों के शासन-प्रबन्ध का यही रूप था। लोगों की दशा शोचनीय हो गई। निरन्तर युद्ध होने के कारण लोग तंग आ गये। सैनिक राज्य के प्रति प्रजा के हृदय में भक्ति का भाव नहीं जाग्रत् होता और न वह उसका प्रीतिभाजन ही बन सकता है। इन्हीं सब दोषों के कारण मराठा लोग वीर एवं शक्तिशाली होते हुए भी कोई स्थायी साम्राज्य नहीं स्थापित कर सके।

शासन-सुधार (१८१३-२६)—लार्ड हेस्टिंग्ज के सौभाग्य से उसके अधीन अनेक योग्य और परिश्रमी अफसर थे, जिन्हें भारत की दशा का अच्छा ज्ञान था। टामस मनरो (Thomas Munro) ने मद्रास की मालगुजारी का बन्दोबस्त किया और रय्यतवाड़ी प्रथा कायम की। किसानों को अब यह डर नहीं रह गया कि हम किसी ऐसे अजनबी के हाथ में पड़ जायँगे जो केवल अपने लाभ की चिन्ता करेगा। जमींदारों और पोलीगारों से फौजी ताकत छीन ली गई। सामाजिक व्यवस्था को उनसे बड़ा भय रहता था। वे एक दूसरे से युद्ध करते तथा गाँवों को लूट लेते थे। सन् १८१८ ई० तक वे बिलकुल वश में कर लिये गये। उनके सम्बन्धी शान्तिमय नागरिकों की भाँति बस गये। न्याय-विभाग का फिर से संगठन किया गया। नई अदालतें इतनी लोकप्रिय बन गईं कि पंचायतों के हाथ से उनका बहुत-सा काम निकल गया।

जो प्रदेश पेशवा से प्राप्त हुए थे उनका प्रबन्ध एलफिन्स्टन ने बड़ी सफलता के साथ किया। मालगुजारी के बन्दोबस्त के लिए उसने रय्यतवाड़ी प्रथा को अपनाया।

बंगाल के न्याय-विभाग का संगठन फिर से करना आवश्यक था। दीवानी

अदालतों का कार्य-क्रम सरल कर दिया गया। फौजदारी अदालतों के प्रबन्ध में भी सुधार किया गया। कलक्टर और मजिस्ट्रेट के काम फिर एक कर दिये गये। नगरों में पुलिस की दृढ़ व्यवस्था कर दी गई और देहात में चौकीदारों का नया प्रबन्ध किया गया।

इस्तमरारी बन्दोवस्त जमींदारों के लिए लाभदायक था। किन्तु उससे रय्यत के हितों की कुछ भी रक्षा नहीं होती थी। किसानों के अधिकारों की रक्षा के लिए उपाय किया गया। मनमानी वेदखली से वचाने के लिए उन्हें मौरूसी हक दे दिया गया।

लार्ड हेस्टिंग्ज ने हिन्दुस्तानियों में शिक्षा-प्रचार के लिए प्रयत्न किया। सन् १८१८ ई० में सीरामपुर के पादरियों ने देशी भाषा में एक पत्र निकालना शुरू किया। वड़े-वड़े सरकारी कर्मचारियों के विरोध करने पर भी लार्ड हेस्टिंग्ज ने इस काम को प्रोत्साहन दिया। उसने अँगरेजी पत्रों पर से उन प्रतिवन्धों को हटा लिया जिन्हें वेलजली ने लगा रक्खा था। दिल्ली के निवासियों को पीने का अच्छा पानी देने के लिए उसने अलीमर्दान खाँ की नहर को फिर से जारी करने का हुक्म दिया और उसके लिए कोई अतिरिक्त कर नहीं लगाया।

लार्ड हेस्टिंग्ज की मंजूरी लेकर 'पामर एण्ड को०' (Palmer & Co) ने, अधिक सूद की दर पर, निजाम को भारी कर्ज दिया था। ऋण देनेवालों को वेईमानी के कारण उसकी बड़ी निन्दा हुई। इसमें गवर्नर-जनरल ने बड़ी भारी भूल की। सन् १८२३ ई० में वह वापस लौट गया। उसके स्थान में लार्ड एमहर्स्ट (Lord Amherst) गवर्नर-जनरल नियुक्त हुआ। अपने दस वर्ष के शासन-काल में लार्ड हेस्टिंग्ज ने प्रायः सभी प्रतिद्वन्द्वी शक्तियों को परास्त कर वेलजली के काम को पूरा कर दिया।

ब्रह्मा की पहली लड़ाई (१८२४-२६ ई०)—सन् १७६० ई० के लगभग, जव कि अँगरेज बंगाल में अपनी शक्ति जमाने में लगे हुए थे, अलोम्प्रा नामक सरदार ने ब्रह्मा में अपना राज्य स्थापित किया था। उसके उत्तराधिकारी अपने राज्य की सीमा को वढ़ाते रहे। सन् १८१३ ई० में ब्रह्मा के राजा ने मनीपुर पर कब्जा कर लिया और १८१७-१८ ई० में उसने ब्रिटिश सरकार के पास एक अनुचित पत्र लिखा। इस पत्र के द्वारा ब्रह्मा के राजा ने चटगाँव, ढाका, मुर्शिदा-बाद और कासिमवाजार पर अपना दावा पेश किया। ब्रिटिश सरकार इस समय पिण्डारियों के साथ युद्ध करने में लगी हुई थी इसलिए इस पत्र पर उसने कुछ ध्यान नहीं दिया। किन्तु ब्रह्मावालों के हमले जारी रहे। सन् १८२२ ई० में उन्होंने आसाम को जीत लिया और इस सफलता से उत्साहित होकर उन्होंने १८२३ ई० में चटगाँव के निकटवर्ती शाहपुरी नामक टापू पर आक्रमण कर दिया। यह टापू अँगरेजों के अधिकार में था। गवर्नर-जनरल ने ब्रह्मा-नरेश के इस

कार्य का विरोध किया। जब कोई उत्तर न मिला तब २४ फरवरी १८२४ ई० को युद्ध की घोषणा कर दी गई।

ब्रह्मा देश की जलवायु नम और मलेरिया फ़ैलानेवाली थी। इसलिए वहाँ जाकर युद्ध करना कठिन था और सेना की बहुत हानि होने की सम्भावना थी। अँगरेजी सेना समुद्र के मार्ग से रवाना हुई। सर आरचीवाल्ड कैम्पवेल (Sir Archibald Campbell) ने रंगून पर अधिकार कर लिया। किन्तु वर्षा के कारण सेना ६ महीने तक आगे न बढ़ सकी। ब्रह्मा के राजा ने अपने सेनापति महाबुन्देला को उत्तर-पूर्व की ओर से बंगाल पर आक्रमण करने के लिए भेजा। किन्तु वह थोड़े ही समय के बाद वापस बुला लिया गया। अँगरेजों ने आसाम पर फिर कब्जा कर लिया। कैम्पवेल ने अराकान और टेनासरिम को जीत लिया और सन् १८२५ ई० में वह समुद्र तथा स्थल दोनों मार्गों से इरावदी की ओर बढ़ा। बुन्देला पराजित हुआ और बड़ी वीरता के साथ लड़ता हुआ मारा गया। ३ सप्ताह के बाद लोअर ब्रह्मा की राजधानी प्रोम पर अँगरेजों का अधिकार हो गया। जब ब्रिटिश सेना यांडवू की ओर बढ़ी तब सन्धि की बातचीत शुरू हुई। फरवरी सन् १८२६ ई० में यांडवू की सन्धि हो गई। इसके अनुसार ब्रह्मा के राजा ने अँगरेजों को अराकान और टेनासरिम देना स्वीकार किया। उसने आसाम और कचार से अपना अधिकार हटा लेना भी मंजूर किया और मनीपुर की स्वाधीनता को स्वीकार कर लिया। उसने आवा में एक अँगरेज रेजीडेंट रखना भी स्वीकार किया और साथ ही दंड-रूप में एक भारी रकम देने का वादा किया।

इस युद्ध में कम्पनी को बड़ी मुसीबत और आर्थिक हानि उठानी पड़ी। किन्तु इससे उत्तर-पूर्व की सीमा निर्धारित हो गई और अब उस ओर से विदेशी आक्रमण का कोई भय नहीं रह गया।

भरतपुर का घेरा (१८१६ ई०)—लार्ड वेलजली के समय में लार्ड लेक ने भरतपुर के किले को जीतने का प्रयत्न किया था। किन्तु उसे इसमें सफलता नहीं मिली थी। सन् १८२६ ई० में भरतपुर का राजा मर गया। अँगरेजों की सलाह से उसका नाबालिग लड़का गद्दी पर बिठलाया गया। किन्तु दुर्जनसाल ने जबर्दस्ती गद्दी पर अपना अधिकार जमा लिया। उसने अँगरेजों की कुछ भी पर्वाह नहीं की। उसके इस कार्य से मालवा, बुन्देलखण्ड और मराठा देश में बड़ी अशान्ति मच गई। लार्ड कौम्बरमियर (Lord Combermere) भरतपुर भेजा गया। उसने किले पर अधिकार कर लिया और दुर्जनसाल को किले से बाहर निकाल दिया। परन्तु किले के खजाने को लूटकर अँगरेज अफसरों ने बड़ा निन्दनीय कार्य किया। सन् १८२६ ई० में लार्ड एमहर्स्ट इँगलैंड लौट गया और उसके स्थान में लार्ड विलियम बेंटिक (William Bentinck)

भारत का गवर्नर-जनरल नियुक्त हुआ। वह पहले मद्रास का गवर्नर रह चुका था।

संक्षिप्त सन्‌वार विवरण

घटना	सन्
रणजीतसिंह का जन्म	१७८० ई०
टीपू के साथ युद्ध	१७९० „
लखेरी के पास होल्कर की हार	१७९२ „
कम्पनी का नया आज्ञापत्र	१७९३ „
बंगाल का इस्तमरारी बन्दोवस्त	१७९३ „
महादजी सिन्धिया की मृत्यु	१७९४ „
खर्दा की लड़ाई	१७९५ „
माधवराव नारायणराव पेशवा की मृत्यु	१७९५ „
आसफुद्दौला की मृत्यु	१७९७ „
मैसूर की चौथी लड़ाई	१७९९ „
तंजौर का अँगरेजी राज्य में मिलना	१७९९ „
नाना फड़नवीस की मृत्यु	१८०० „
कर्नाटक का अँगरेजी राज्य में मिलना	१८०१ „
होल्कर और सिन्धिया का पेशवा को हराना	१८०२ „
बेसीन की सन्धि	१८०२ „
अहमदनगर की विजय	१८०३ „
असाई का युद्ध	१८०३ „
अरगाँव की लड़ाई	१८०३ „
देवगाँव और सुर्जी अर्जुनगाँव की सन्धि	१८०५ „
डीग की लड़ाई	१८०५ „
लार्ड कार्नवालिस की मृत्यु	१८०५ „
वैलोर का गदर	१८०६ „
लार्ड मिन्टो का दरबारों में दूत भेजना	१८०८ „
अमृतसर की सन्धि	१८०९ „
कम्पनी का नया आज्ञापत्र	१८१३ „
गोरखों की पहली लड़ाई	१८१४-१६ „
गंगाधर शास्त्री का कत्ल	१८१५ „
सिगौली की सन्धि	१८१६ „
पिण्डारी-युद्ध	१८१६-१८ „
सीताबल्दी की लड़ाई	१८१७ „

कोरीगाँव और अष्टी की लड़ाइयाँ	..	..	१८१८ ई०
ब्रह्मा की पहली लड़ाई	..	..	१८२४-२६ „
भरतपुर का घेरा	..	..	१८२६ „

अध्याय ३३

शान्ति और सुधार का काल

(१८२८-३५ ई०)

नवीन काल—लार्ड विलियम वेंटिक (William Bentinck) एक उदार व्यक्ति था। शासन-सुधार को वह आवश्यक समझता था और उसकी दृष्टि में प्रजा का कल्याण ही सरकार का मुख्य उद्देश्य था। जिस समय वह गवर्नर-जनरल होकर भारत में आया, इँगलेंड में नई शक्तियाँ काम कर रही थीं। पार्लियामेंट में सुधार करने के प्रस्ताव हो रहे थे। वहाँ के सुधार-आन्दोलन से वह पूर्णतया सहमत था। जब तक वह गवर्नर-जनरल के पद पर रहा तब तक उसने शान्ति बनाये रखने की कोशिश की। वह चाहता था कि भारतीय शासन में अँगरेजों की स्वतन्त्रता का भाव भर दे। उसी के शासन-काल में पहले-पहल यह नियम बनाया गया कि जाति, धर्म अथवा रंग के कारण कोई भी भारतवासी किसी पद पर नियुक्त होने से रोका न जाय। टामस मनरो ने भी कहा कि ब्रिटिश सरकार संरक्षक के रूप में भारत को अपने अधीन रक्खेगी और उसका ध्येय भारतीयों को अपने देश का शासन करने के योग्य बनाना होगा।

लार्ड वेंटिक के सुधारों को हम तीन श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं—आर्थिक, शासन-सम्बन्धी और सामाजिक।

आर्थिक—शासन के व्यय को कम करना आवश्यक था। लार्ड वेंटिक ने दोहरे भत्ते को कम कर दिया। उसने यह नियम बना दिया कि जो फ़ौजें कलकत्ते से ४०० मील तक की दूरी पर स्थित हों उन्हें केवल आधा भत्ता दिया जाय। इससे सेना में बड़ा असन्तोष फैला। किन्तु लार्ड वेंटिक ने बड़ी दृढ़ता के साथ डाइरेक्टरों की आज्ञा का पालन किया। सिविल सर्विस का खर्च भी कम कर दिया गया। इससे ५ लाख रुपये की बचत हो गई। बङ्गाल की मालगुज़ारी का जो हिस्सा वसूल नहीं हुआ था, उसे उसने वसूल किया और मालवा की अफ़ीम पर एकाधिकार सुरक्षित रक्खा।

शासन-सुधार—लार्ड वेंटिक ने दौरा और अपील की प्रान्तीय अदालतों को

तोड़ दिया। उनका काम सुस्ती से होता था। इससे तीन बड़ी बुराइयाँ पैदा होती थीं। एक तो मुक़दमे फ़ैसल होने में देर होती थी, दूसरे खर्च बहुत पड़ता था, तीसरे लोगों को इतमीनान नहीं होता था। दीवानी अपीलों का काम सदर अदालतों के सुपुर्द कर दिया गया और सेशन की अदालतों का काम कमिश्नरों के हाथ में दे दिया गया। किन्तु यह व्यवस्था सन्तोषप्रद नहीं सिद्ध हुई और १८३२ ई० में डिस्ट्रिक्ट जज इस काम को करने लगे।

राबर्ट बर्ड (Robert Bird) को लगान-सम्बन्धी विषयों का अच्छा ज्ञान था। उसने पश्चिमोत्तर सूबे के बन्दोबस्त का काम पूरा किया। यह बन्दोबस्त ३० साल के लिए किया गया। इसी समय इलाहाबाद में माल का बड़ा दफ़्तर (Board of Revenue) स्थापित किया गया।

लार्ड कार्नवालिस ने ऊँची-ऊँची सरकारी नौकरियों का दरवाज़ा हिन्दुस्तानियों के लिए बन्द कर दिया था। इससे भारतीयों के साथ बड़ा अन्याय हुआ। लार्ड बेंटिंक ने हिन्दुस्तानी जजों को पहले की अपेक्षा अधिक अधिकार दिया और उनका वेतन बढ़ा दिया। अब तक अदालतों का काम फ़ारसी भाषा में होता था। इससे लोगों को बड़ी दिक्क़त होती थी। अब गवर्नर-जनरल ने अदालतों में फ़ारसी की जगह उर्दू भाषा का प्रयोग करने का हुक्म दे दिया।

सामाजिक—अँगरेज़ों ने भारतवासियों के धार्मिक और सामाजिक रीति-रवाजों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं किया था। राजनीति के साथ धर्म का मेल करके पुर्तगालवालों ने अपने को बड़ी आपत्ति में डाल दिया था। उनकी इस भूल से अँगरेज़ों ने शिक्षा ग्रहण की; परन्तु उनके लिए यह असम्भव था कि सती, बालहत्या आदि अमानुषिक प्रथाओं के विरुद्ध जो भाव धीरे-धीरे जाग्रत् हो रहा था उसकी उपेक्षा करते। सती-प्रथा की उत्पत्ति का मूलकारण हिन्दू-स्त्रियों का पातिव्रत-धर्म था। प्रारम्भ में विधवाएँ अपने मृत पति के साथ चिता में जलकर प्राण दे देती थीं परन्तु पीछे से यह प्रथा बड़ी कठोर हो गई और स्त्रियाँ चिता में जल मरने के लिए बाध्य की जाने लगीं। लार्ड बेंटिंक ने इस भीषण प्रथा का अन्त कर देने का संकल्प किया। राजा राममोहन राय आदि शिक्षित भारतीय भी सती प्रथा के विरुद्ध थे। इससे उत्साहित होकर लार्ड बेंटिंक ने १४ दिसम्बर सन् १८२९ ई० को एक प्रस्ताव पास किया जिससे सती का रवाज क़ानून के विरुद्ध बतलाया गया। नये क़ानून के अनुसार सती होने में सहायक होना क़त्ल के बराबर अपराध ठहराया गया। बंगाल में इस क़ानून का कुछ विरोध हुआ परन्तु कुछ परिणाम न निकला। कट्टर हिन्दुओं ने यह समझ कर, कि इस क़ानून से धर्म पर आघात हुआ है, गवर्नर-जनरल की नीति के विरुद्ध प्रिवी कौंसिल में अपील की परन्तु वह खारिज कर दी गई।

अन्य कुरीतियों ने भी गवर्नर-जनरल के ध्यान को आकर्षित किया। उड़ीसा

कचार—सन् १८३२ ई० में कचार का छोटा-सा राज्य जो बंगाल के उत्तर-पूर्व में है, अँगरेज़ी राज्य में मिला गया। इसके लिए उस राज्य के निवासियों ने स्वयं प्रार्थना की थी।

कुर्ग—कुर्ग की परिस्थिति और भी अधिक शोचनीय थी। राजा का आचरण बहुत ख़राब था। जो लोग उसके साथ कुछ अपराध करते थे उन्हें वह बहुत कठोर दंड देता था। क्रुद्ध हो जाने पर अपने निकट के सम्बन्धियों के साथ भी वह दुर्व्यवहार करता था। सन् १८३४ ई० में राजा शासन करने के अयोग्य ठहराया गया और लोगों की इच्छा के अनुसार कुर्ग का देश अँगरेज़ी राज्य में मिला लिया गया। उस समय से कुर्ग मद्रास अहाते का एक अंग बन गया है।

अवध—अवध का नवाब निरंकुश शासक था। वज़ीरों के काम में हस्तक्षेप करके उसने शासन-प्रबन्ध को चौपट कर डाला था। रेज़ीडेंट ने केन्द्रीय सरकार के पास इसकी रिपोर्ट भेजी। लार्ड बेंटिक ने लखनऊ में नवाब से भेंट की और साफ़-साफ़ कह दिया कि यदि तुम अपना शासन-प्रबन्ध ठीक नहीं करोगे तो तुम्हारी हालत ठीक वैसी ही होगी जैसी कि तंजौर और कर्नाटक के राजाओं की हुई है। नवाब ने उत्तर दिया कि ब्रिटिश सरकार के हस्तक्षेप से शासन की बुराइयाँ और बढ़ती हैं। लार्ड बेंटिक के हस्तक्षेप से अवध के लोगों में यह ख़्याल पैदा हो गया था कि ब्रिटिश सरकार उनके देश को अँगरेज़ी राज्य में मिला लेने का बहाना ढूँढ़ रही है। वज़ीर ने तंग आकर इस्तीफ़ा दे दिया और शासन-प्रबन्ध को नवाब और उसके कृपापात्रों पर छोड़ दिया।

देशी राज्यों के प्रति ब्रिटिश सरकार की नीति एक-सी, और स्थिर, नहीं रही। पहले हस्तक्षेप न करने की नीति से काम लिया गया और बाद को उसकी अवहेलना की गई। भारतीय राजे बहुधा इस बात की शिकायत करते थे कि न तो हमें ब्रिटिश सरकार से कुछ सहायता मिलती है और न हम अपने इच्छानुसार अपने शासन की ठीक व्यवस्था ही करने पाते हैं।

मराठे—भोंसला राजा अब बालिग़ हो गया था। उसकी इच्छा थी कि शासन-प्रबन्ध के काम को अपने हाथों में ले ले। गवर्नर-जनरल ने भी उसकी इच्छा का समर्थन किया। राज्य के सब मामलों की व्यवस्था सुचारु रूप से होने लगी और प्रजा भी सन्तुष्ट हो गई।

किन्तु गायकवाड़ के राज्य में बड़ी गड़बड़ी थी। शासन-प्रबन्ध ख़राब था। होल्कर के राज्य में भी गद्दी के लिए झगड़ा हो रहा था। ब्रिटिश सरकार ने जसवन्तराव होल्कर के भतीजे हरी होल्कर के पक्ष का समर्थन किया। किन्तु वह गद्दी के उपयुक्त नहीं सिद्ध हुआ और अपने मन्त्री के हाथ की कठपुतली बन गया। इस कारण राज्य में विद्रोह उठ खड़ा हुआ।

मार्च सन् १८२७ ई० में दौलतराव सिन्धिया का देहान्त हो गया। उसके

कोई लड़का नहीं था। किन्तु उसकी विधवा स्त्री बैजाबाई ने जनकोजी नामक ११ वर्ष के एक बालक को गोद ले लिया और वह संरक्षक बनकर राज्य का शासन करती रही। जनकोजी के बालिग़ हो जाने पर भी रानी ने राज्य के प्रबन्ध को उसके हाथ में सौंपने से इनकार कर दिया। इस पर बड़ा भारी झगड़ा उठ खड़ा हुआ। समय पर रेज़ीडेंट ने बीच में पड़कर राज्य को गृह-युद्ध से बचा लिया। बैजाबाई ने जब देखा कि उसका पक्ष बिलकुल कमज़ोर पड़ गया है और गद्दी पर अधिकार रखना असम्भव है तब वह निराश हो एक अच्छी पेंशन लेकर दक्षिण में, अपनी जागीर में, चली गई।

सिक्ख—सन् १८०९ ई० की सन्धि के बाद रणजीतसिंह ने अपनी शक्ति खूब बढ़ा ली थी। उसके पास एक विशाल सेना भी थी जिसमें हिन्दुस्तानी और गोरे अफ़सर नियुक्त थे। यूरोपीय ढंग की क़वायद सीख कर सेना खूब शक्तिशाली बन गई थी। सिक्ख लोग भारत के सर्वोत्कृष्ट सैनिक थे। उन्हीं की सहायता से रणजीतसिह ने सम्पूर्ण पंजाब को अपने अधीन कर लिया था। उसने सिन्ध नदी के तट पर अटक को जीत लिया और उसे अपने राज्य की सीमा बनाया। १८१८ ई० में मुलतान उसके हाथ आ गया। कुछ समय के बाद, उसने काश्मीर को जीत लिया। इस विजयोत्सव के अवसर पर लाहौर और अमृतसर में, तीन रात तक, खूब रोशनी की गई। सन् १८२३ ई० में एक विशाल सेना को लेकर उसने अफ़ग़ानों और पठानों को पराजित किया और पेशावर पर अधिकार कर लिया। खैबर के दर्रे तक उसने सारे देश को रौंद डाला और अपने शत्रुओं के हृदय में भय पैदा कर दिया। सिन्ध नदी और सुलेमान पर्वत के बीच के संकीर्ण प्रदेश को, जिसे देराजात कहते हैं, वह पहले ही जीत चुका था।

रणजीतसिंह इस बात को खूब समझता था कि अँगरेज़ों के साथ मैत्री-सम्बन्ध रखने से क्या लाभ होगा। वह यह भी जनता था कि शायद उसके लड़के इस योग्य न हों कि वीर सिक्ख जाति को अपने क़ाबू में रख सकें। इधर लार्ड बेंटिंक भी ब्रिटिश सरकार और खालसा दरबार के बीच मैत्री-सम्बन्ध बनाये रखना चाहता था।

फलतः १८३१ ई० में रूपर नामक स्थान पर दोनों की भेंट हुई। गवर्नर-जनरल ने बड़े सम्मान और शिष्टाचार के साथ रणजीतसिंह का स्वागत किया और उसके साथ सन्धि की। इस सन्धि के अनुसार दोनों के बीच सदा के लिए मित्रता स्थापित हो गई। महाराजा ने वादा किया कि वह सतलज और सिन्ध नदी के ऊपरी भाग के किनारे अँगरेज़ी व्यापार को प्रोत्साहन देगा।

सन् १८३२ ई० में सिन्ध के अमीरों के साथ भी सन्धि हो गई। कम्पनी की सरकार की नीयत पर उन्हें बड़ा सन्देह था। वे डरते थे कि ऐसा करने से हमारी स्वतन्त्रता खतरे में न पड़ जाय। अन्त में वे सन्धि करने के लिए तैयार

हो गये। बाद को जो कुछ हुआ उससे प्रकट होता है कि उनका सन्देह और भय विलकुल उचित था। ११वर्ष के भीतर ही सिन्ध अँगरेज़ी राज्य का एक सूबा बन गया।

कम्पनी का आज्ञा-पत्र (१८३३ ई०)—सन् १८३३ ई० में कम्पनी का आज्ञापत्र फिर २० साल के लिए जारी किया गया। चीन के व्यापार का ठेका कम्पनी के हाथ से ले लिया गया। उसे भारत पर शासन करने की आज्ञा दी गई परन्तु शासन में कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्तन कर दिया गया। गवर्नर-जनरल की कौंसिल में एक और मेम्वर बढ़ाया गया। इस तरह अव उसमें चार सदस्य हो गये। नये सदस्य को क़ानून का विभाग सौंपा गया। पहले-पहल मैकौले ही इस पद पर नियुक्त किया गया। बम्बई और मद्रास के अहाते निश्चयात्मक रूप से गवर्नर जनरल के अधीन कर दिये गये। यूरोपीय लोगों को कह दिया गया कि वे भारत में अपनी वस्तियाँ न वनायें।

सवसे अधिक महत्त्व की घोषणा पार्लियामेंट ने यह की कि भारत का कोई निवासी अथवा ब्रिटिश सम्राट् की प्रजा का कोई व्यक्ति अपने धर्म, जन्मस्थान, वंश या रंग के कारण किसी पद या नौकरी से वंचित नहीं रक्खा जायगा।

लार्ड बेंटिक ने १८३५ ई० में अपने पद से इस्तीफ़ा दे दिया। सर चार्ल्स मेटकाफ़ (Sir Charles Metcalf), जो आगरा-प्रान्त का गवर्नर नियुक्त किया गया था, थोड़े समय के लिए गवर्नर-जनरल बना दिया गया।

प्रेस ऐक्ट—मेटकाफ़ के शासनकाल का सवसे महत्त्वपूर्ण काम यह था कि समाचारपत्रों को स्वतन्त्रता मिल गई। उसका मत था कि प्रेस की स्वतन्त्रता पर जो वन्धन लगाये गये हैं वे अँगरेज़ जाति की मर्यादा के विरुद्ध हैं। गवर्नर-जनरल की कौंसिल के क़ानूनी मेम्वर मैकौले ने भी इस राय का समर्थन किया। अतः सितम्बर सन् १८३५ ई० में एक क़ानून पास हो गया जिसके द्वारा समाचारपत्रों के वन्धन हटा दिये गये।

चार्ल्स मेटकाफ़ के बाद गवर्नर-जनरल का पद माउन्ट स्टुअर्ट एलफ़िन्स्टन को दिया गया किन्तु अस्वस्थता के कारण उसने स्वीकार नहीं किया। लार्ड आकलेंड (Lord Auckland) गवर्नर-जनरल नियुक्त किया गया। उसके समय में ब्रिटिश सरकार की नीति ने एक नया ही रूप धारण किया।

लार्ड बेंटिक का चरित्र—अँगरेज़ शासकों में लार्ड विलियम बेंटिक का स्थान सदा ऊँचा रहेगा। वह एक उदार राजनीतिज्ञ था। जनता के सुख और कल्याण की वृद्धि करना ही उसकी हार्दिक कामना थी। उसके सव मन्सूबे साहस से भरे होते थे। उसने बड़ी दृढ़ता और बुद्धिमानी के साथ उनको पूरा किया। भारतवासियों के साथ उसकी बड़ी सहानुभूति थी। उनके लिए उसने ऊँची-ऊँची नौकरियों का दरवाज़ा खोल दिया परन्तु देशी राज्यों के प्रति उसकी

नीति दृढ़ न थी। इसका परिणाम यह हुआ कि देश में अशान्ति फैल गई और शासन-प्रबन्ध बिगड़ गया।

संक्षिप्त सन्‌वार विवरण

सती-प्रथा का बन्द होना	..	..	१८२९ ई०
मैसूर के शासन-प्रबन्ध को हाथ में लेना	..	..	१८३१ ,,
रणजीतसिंह के साथ सन्धि ..	..	..	१८३१ ,,
कचार को अँगरेजी राज्य में मिला लेना	..	..	१८३२ ,,
सिन्ध के अमीरों के साथ सन्धि	..	..	१८३२ ,,
कम्पनी का नया आज्ञापत्र	..	..	१८३३ ,,
अँगरेज़ी का शिक्षा का माध्यम निश्चित होना		..	१८३५ ,,
समाचारपत्रों की स्वतन्त्रता	..	..	१८३५ ,,

अध्याय ३४

पश्चिमोत्तर और पूर्वी सीमाएँ

अफ़ग़ान, सिक्ख और ब्रह्मा के निवासी

(१८३६-५६ ई०)

अफ़ग़ानिस्तान की स्थिति—पश्चिमोत्तर-सीमा ने भारतीय सरकार को सदैव चिन्तित रक्खा है। अकबर से लेकर औरङ्गजेब तक सभी मुग़ल सम्राटों ने सेना भेजकर इस बात की चेष्टा की थी कि वहाँ की जातियों को जीत कर उन पर अपना प्रभाव जमा लें। रूस के आक्रमण से बचने लिए अफ़ग़ानिस्तान को वश में रखना ब्रिटिश सरकार को भी आवश्यक प्रतीत हुआ। लार्ड आकलेंड रूस की ओर से आवश्यकता से अधिक भयभीत हो गया। उसने सीमा की स्थिति को समझने में भूल की और इस भूल ने भारतीय सरकार को बड़ी मुसीबतों में डाल दिया।

इस समय अफ़ग़ानिस्तान में बड़ी गड़बड़ी मची थी। दोस्तमुहम्मद अब्दाली वंश को हटाकर स्वयं काबुल का अमीर बन गया था। वह बारुकजाई जात का था। अब्दाली-वंश का निर्वासित सरदार शाहशुजा लुधियाने में आकर रहने

लगा था। वह चाहता था कि किसी तरह अपनी गद्दी को फिर से प्राप्त करे। सन् १८३७ ई० में ईरानियों ने रूसवालों की सहायता से हिरात को घेर लिया। उस पर कब्जा कर लेने के बाद वे भारत में आसानी से प्रवेश कर सकते थे। अतः अँगरेज लोग हिरात को उनके हाथ में नहीं जाने देना चाहते थे। दोस्तमुहम्मद अँगरेजों के साथ सन्धि करने के लिए तैयार था। परन्तु वह चाहता था कि ब्रिटिश सरकार रणजीतसिंह से कह-सुनकर पेशावर उसे वापस दिला दे। अँगरेज लोग ऐसा करके सिक्ख-सरदार की मित्रता को खतरे में डालना नहीं चाहते थे। ईरान और रणजीतसिंह के विरुद्ध दोस्तमुहम्मद ने अँगरेजों से सहायता माँगी। इसके उत्तर में ब्रिटिश सरकार ने कहा कि स्वतन्त्र राज्यों के मामले में हम हस्तक्षेप नहीं करना चाहते। दोस्तमुहम्मद एक योग्य शासक था। रूस की अपेक्षा अँगरेजों के साथ सन्धि करना वह अधिक पसन्द करता था। किन्तु लार्ड आकलेंड और उसके सलाहकारों का रुख उसके प्रति अच्छा नहीं था। इसलिए विवश होकर उसे रूस के साथ बातचीत करनी पड़ी। थोड़े ही समय के बाद काबुल के दरबार में रूसी राजदूत का खूब स्वागत-सत्कार किया गया।

लार्ड आकलेंड ने अब हस्तक्षेप करने का निश्चय किया। २६ जून १८३८ ई० को उसने रणजीतसिंह के साथ एक सन्धि की कि शाहशुजा को काबुल की गद्दी पर फिर से बिठलाया जाय। यह नीति अच्छी नहीं थी। दोस्तमुहम्मद एक स्वाधीन शासक था। ईरान अथवा रूस के साथ सन्धि करने का उसे पूरा अधिकार था। शाहशुजा की अपेक्षा वह कहीं अधिक योग्य था। शाहशुजा अफगानों का विश्वासपात्र नहीं था। यह एक आश्चर्यजनक बात है कि आकलेंड को पहले से यह नहीं मालूम हो सका कि सिक्खों की मदद से हस्तक्षेप करने का क्या भीषण परिणाम होगा। कुछ समय के बाद रूस की ओर से कुछ भी भय नहीं रहा और हिरात का घेरा भी उठा लिया गया परन्तु तब भी गवर्नर-जनरल तथा उसके साथियों ने अपने इरादों को नहीं छोड़ा। उन्होंने युद्ध की घोषणा कर दी और सेनाओं ने कूच कर दिया।

अफगानों की पहली लड़ाई—अँगरेजी सेना ने सिन्ध के मार्ग से अफगानिस्तान में प्रवेश किया। यह बात अमीरों के साथ की हुई सन्धि के विरुद्ध थी। कन्दहार पर कब्जा कर लिया गया। अगस्त सन् १८३९ ई० में गजनी भी अँगरेजों के अधिकार में आ गया। शाहशुजा काबुल की गद्दी पर फिर से बिठाया गया। परन्तु वह लोकप्रिय तो था नहीं, वह पूर्ण रूप से अँगरेजों की सहायता पर निर्भर था। ब्रिटिश सेना के दुर्व्यवहार से उत्तेजित होकर अफगानों ने सारे देश में गड़बड़ी मचा दी। कुछ लोगों ने अँगरेज राजदूत अलेक्जेंडर बर्न्स (Alexander Burnes) पर हमला कर दिया और उसकी बोटी-बोटी काट डाली। दोस्तमुहम्मद के बेटे अकबर खाँ के साथ एक सन्धि हो गई जिसके

अनुसार यह तय हुआ कि अँगरेज लोग अफगानिस्तान को खाली कर दें, दोस्त-मुहम्मद छोड़ दिया जाय और शाहशुजा को या तो हिन्दुस्तान भेज दिया जाय या पेंशन देकर अफगानिस्तान में रहने दिया जाय। अकबर खाँ ने वादा किया कि मैं अपनी संरक्षकता में अँगरेजी सेना को पहाड़ी देश के बाहर तक पहुँचा दूँगा। परन्तु १८४२ ई० में, जब कि अँगरेजों की सेना वापस लौट रही थी, अफगानों ने उस पर पीछे से आक्रमण कर दिया। हजारों अँगरेज सिपाही मार डाले गये। लार्ड आकलेंड की सरकार की अयोग्यता के कारण अँगरेज स्त्री-पुरुषों और अफसरों को जो मुसीबतें उठानी पड़ीं उनका वर्णन करना असम्भव है। १६ हजार अँगरेज भारत की ओर रवाना हुए थे। उनमें से केवल एक डा० ब्राइडन (Brydon) उस भीषण घटना की दुःखद कहानी वर्णन करने के लिए जीता बचा। १२० सिपाहियों को अकबर खाँ ने गिरफ्तार कर लिया। शेष सब आदमी मारे गये। लार्ड आकलेंड ने इस स्थिति को सँभालने का प्रयत्न किया। परन्तु उसे सफलता न हुई। अँगरेजी सेना जनरल सेल (sale) की अध्यक्षता में जलालाबाद में लड़ती रही और जनरल नौट (Nott) कन्दहार में डटा रहा। परन्तु गजनी में कर्नल पामर (Palmet) का बुरा हाल हुआ। इतने में लार्ड आकलेंड वापस बुला लिया गया और उसकी जगह लार्ड एलिनबरा गवर्नर-जनरल होकर आया।

जनरल पौलक ने जलालाबाद को बचा लिया परन्तु गजनी की हार से गवर्नर-जनरल घबरा गया। उसने फौरन हुक्म दिया कि सेना अफगानिस्तान से चल दे। इतने में शाहशुजा को अफगानों ने मार डाला और एलिनबरा की नीति की चारों ओर निन्दा होने लगी। अन्त में उसने पौलक और नौट को काबुल और गजनी होकर लौटने के लिए लिखा।

नौट कन्दहार से चलकर काबुल पहुँचा और पौलक भी जा मिला। काबुल को सजा देने का इरादा किया गया। अफसरों ने कहा कि बालाहिसार का विध्वंस कर दिया जाय परन्तु पौलक ने उस बाजार को उड़ा देने की सलाह दी जहाँ मैकनाटन की लाश डाल दी गई थी। कुछ समय के बाद काबुल से सेनाएँ लौट आईं।

लार्ड एलिनबरा ने एक घोषणापत्र जारी किया जिसमें लार्ड आकलेंड की नीति की आलोचना की और इसके बाद उसने बड़ी धूम-धाम से गजनी से सोमनाथ के फाटक को लाने की आज्ञा दी। यह फाटक आगरे लाया गया परन्तु देखने पर मालूम हुआ कि न वह सन्दल का है और न सोमनाथ का।

दोस्तमुहम्मद अफगानिस्तान लौट आया और फिर गद्दी पर बैठ गया। वह सन् १८६३ तक राज्य करता रहा। गवर्नर-जनरल का इंगलेंड की सरकार ने सम्मान किया और अर्ल (Earl) की उपाधि दी।

इस प्रकार प्रथम अफगान-युद्ध शान्त हुआ। सेना को बड़ी तकलीफें उठानी पड़ीं और बहुत-सा रुपया फजूल खर्च हो गया।

सिन्ध—इस समय सिन्ध में अमीर लोग शासन करते थे। उनमें से खैरपुर, मीरपुर और हैदराबाद के अमीर अधिक प्रसिद्ध थे। सिन्ध को अपने राज्य में मिलाने के लिए सिक्ख और अँगरेज दोनों लालायित थे। अँगरेजों का स्वार्थ यह था कि अफगानों पर आक्रमण करने के लिए उन्हें एक अच्छा और सुविधा-जनक आधार मिल जाता। इसके अतिरिक्त सिन्ध नदी व्यापारिक दृष्टि से भी लाभजनक थी। सन् १८३८ ई० में अमीरों के साथ एक सन्धि की गई। उन्हें अपने यहाँ एक अँगरेज रेजीडेंट रखने के लिए विवश किया गया। जब युद्ध आरम्भ हुआ तब ब्रिटिश सेना सिन्ध-प्रदेश से होकर रवाना हुई। फलतः अमीरों के साथ एक नई सन्धि की गई। इस सन्धि के अनुसार उन्हें ३ लाख रुपया वार्षिक कर देना पड़ा। उन्होंने सिन्ध की शर्तों का पालन किया और अफगान-युद्ध के समय भी किसी प्रकार का विद्रोह नहीं किया। इतने पर भी उन पर यह अपराध लगाया गया कि वे अँगरेजों के साथ द्वेष रखते हैं। सन् १८४२ ई० में सर चार्ल्स नेपिअर (Sir Charles Napier) वहाँ भेजा गया। वह बड़ा जल्दबाज और चिड़चिड़े स्वभाव का आदमी था। उसने घोषणा कर दी कि अमीरों पर जो अपराध लगाये गये हैं वे सत्य हैं और इसके बाद ईमानगढ़ के किले पर चढ़ाई कर दी। किला ढहा दिया गया। अमीरों ने सामना किया और वे १७ फर्वरी सन् १८४३ ई० को मियानी के युद्ध में पराजित हुए। उनके खजाने पर अँगरेजों ने कब्जा कर लिया और सिन्ध का सूबा अँगरेजी राज्य में मिला लिया गया। शासन-प्रबन्ध को ठीक करने के लिए नेपियर वहीं रुक गया।

सिन्ध के प्रति अँगरेजों की नीति अन्यायपूर्ण थी। उन्होंने अमीरों के साथ बड़ी धींगा-धींगी की। अमीरों पर सन्धि तोड़ने का दोष लगाना गलत था। वास्तव में अपराध नेपियर का था। उसने गवर्नर-जनरल से सन्धि की वास्तविक स्थिति को छिपाया और एकदम से सख्ती करने की सलाह दी। पार्लियामेंट ने इस नीति की निन्दा की किन्तु उसे पलटा नहीं; क्योंकि उससे अँगरेजों को राजनीतिक और व्यापारिक लाभ हुआ।

ग्वालियर—लार्ड एलिनबरा (Ellenborough) का अन्तिम कार्य ग्वालियर पर प्रभुता को दृढ़तापूर्वक स्थापित करना था। दौलतराव सिन्धिया की मृत्यु (१८२७ ई०) के बाद उसकी विधवा स्त्री ने एक लड़के को गोद ले लिया था। वही लड़का अब तक गद्दी का मालिक बना हुआ था। प्रतिद्वन्द्वी दलों के षड्यन्त्र के कारण सारा शासन नष्ट हो रहा था। सेना इतनी शक्तिशाली हो गई थी कि उसे काबू में लाना मुश्किल था। रणजीतसिंह की मृत्यु के बाद पंजाब की स्थिति भी अधिक चिन्ताजनक हो गई थी। लार्ड एलिनबरा ग्वालियर

जैसे बड़े राज्य को गड़बड़ की हालत में नहीं छोड़ना चाहता था। अँगरेजी फौज चम्बल की ओर रवाना हुई। दो लड़ाइयाँ हुईं। सर ह्यू गफ (Sir Hugh Gough) ने २९ दिसम्बर सन् १८४३ ई० को, महराजपुर नामक स्थान पर, मराठों को पराजित कर दिया। इसके बाद उसने पनियार के युद्ध में विजय प्राप्त की। ग्वालियर-दरबार ने हार मान ली। राज्य का प्रबन्ध एक कौंसिल के हाथ में सौंप दिया गया और उसे रेजीडेंट के परामर्श के अनुसार काम करने का आदेश किया गया।

लार्ड एलिनबरा का वापस जाना—कम्पनी के संचालकों ने लार्ड एलिनबरा की नीति को पसन्द नहीं किया। वह १८४४ ई० में वापस बुला लिया गया। उसके बाद लार्ड हार्डिंज (Lord Hardinge) गवर्नर-जनरल नियुक्त हुआ।

रणजीतसिंह की मृत्यु—सन् १८३९ ई० में रणजीतसिंह का देहान्त हो गया। मृत्यु के समय उसका राज्य उत्तर में लद्दाख और तिब्बत तक और दक्षिण की ओर खैबर से सिन्ध तक फैला हुआ था। पूर्व की ओर सिक्ख और अँगरेजी राज्य के बीच की सीमा सतलज नदी थी।

रणजीतसिंह का चरित्र—रणजीतसिंह एक वीर और निर्भीक सिपाही था। उसे युद्ध में बड़ा आनन्द आता था। वीर पुरुषों का वह सत्कार करता था और उन्हें पुरस्कार तथा भेंट देता था। सेनापति के रूप में वह अपने सिपाहियों का प्रेमपात्र बन गया था। वे उसकी आज्ञा का पालन करते थे और उसके लिए प्राण तक देने को तैयार रहते थे। वह अपना सब काम नियत समय पर करता था। स्वयं एक कट्टर सिक्ख होते हुए भी उसने कभी किसी को सिक्ख-धर्म स्वीकार करने के लिए विवश नहीं किया। परन्तु उसकी कृपा प्राप्त करने के लिए बहुत-से लोग सिक्ख हो गये थे। अपने समय के अधिकांश राजाओं की तरह वह शराब पीने और ऐश-आराम का शौकीन था। परन्तु विलास में पड़कर उसने कभी अपने काम में विघ्न नहीं होने दिया। यद्यपि वह स्वयं लिखा-पढ़ा न था परन्तु विद्वानों का आदर करता और शिक्षा के महत्त्व को समझता था। उसकी बुद्धि तीक्ष्ण थी और नई बातों को जानने के लिए वह सदैव उत्सुक रहता था। वह इतिहास का प्रेमी था और प्रोत्साहन देकर इतिहास लिखवाता था। वह अपने भाग्य का निर्माता था। युद्ध में निर्भीक रहता था और सभा में बड़ी बुद्धिमानी के साथ परामर्श देता था। रणजीतसिंह एक निरंकुश सैनिक शासक था। उसने सिक्खों की शक्ति को संगठित कर उससे पूरा लाभ उठाया और पंजाब में ऐसा दृढ़ शासन स्थापित किया जिसकी उन्हें बड़ी आवश्यकता थी।

रणजीतसिंह का शासन-प्रबन्ध—सारा राज्य चार सूबों में विभक्त था—लाहौर, मुल्तान, काश्मीर और पेशावर। ये सूबे परगनों में बँटे हुए थे। हर एक सूबा एक नाजिम के अधीन था। उसके नीचे कारदार होते थे। रणजीतसिंह
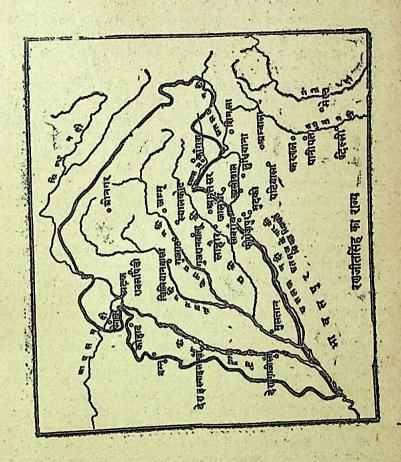
योग्य मनुष्यों को पदों पर नियुक्त करता था और उसके कार्यों की देख-भाल बड़ी सावधानी से करता था। किसानों से पैदावार का तिहाई और कभी-कभी आधा भाग मालगुजारी के रूप में लिया जाता था। उनके हित का ध्यान रक्खा जाता था और अकाल के समय खजाने से तकावी दी जाती थी। न्याय साधारण रीति से होता था। न तो कानून के जाब्ते थे और न कार्यक्रम का ही कोई निश्चित नियम था। कर्ज वसूल करने के लिए महाजन लोग किसानों के माल और मवेशियों को नीलाम नहीं करा सकते थे। कर्ज से सम्बन्ध रखनेवाले मुकदमों का फैसला पंचों की सहायता से स्थानीय कारदार करता था। परन्तु अन्य दीवानी मुकदमों का फैसला पंचायतों में होता था। फौजदारी कानून बहुत कठोर था। यदि किसी चोर का पता किसी गाँव-विशेष में लगता था तो सारा गाँव उसका जिम्मेदार समझा जाता था। जुरमाना और अंगच्छेद ही साधारण थे। प्राण-दंड नहीं दिया जाता था। कभी-कभी अपराधियों का माथा खूब गरम लोहे से दाग दिया जाता था और कभी-कभी वे गधे पर बिठलाकर सारे शहर में घुमाये जाते थे। महाराजा मितव्ययी था। उसने बड़ा भारी खजाना जमा कर लिया था।

रणजीतसिंह की सेना में पैदल, घुड़सवार तथा तोपखाना सम्मिलित थे। सेना को यूरोपियन युद्ध-प्रणाली की शिक्षा दी गई थी। वेन्टूरा (Ventura) एलार्ड (Allard) तथा एवीटेबाइल (Avitabile) जैसे उसके विश्वसनीय सेनापति थे। सेना में सभी जातियों और धर्मों के लोग भर्ती किये जाते थे किन्तु जाट और सिक्ख अधिक पसन्द किये जाते थे। उन्हें जमीन दी जाती थी और साल में दो बार फसल कटने के समय कुछ रुपया भी दिया जाता था। न तो वेतन का कोई निर्दिष्ट स्केल था और न तरक्की देने के लिए कोई नियम बनाया गया था। महाराजा को घोड़ों का शौक था और उसके अस्तबलों में सभी प्रकार के घोड़े रहते थे। उसके कठोर नियन्त्रण में रहकर सिक्ख-सेना ने काफी उन्नति की और अँगरेजों के साथ युद्धों में अपनी वीरता का प्रमाण दिया।

रणजीतसिंह की मृत्यु के बाद पंजाब की दशा—रणजीतसिंह की मृत्यु के बाद देश में बड़ी अशान्ति फैल गई। यद्यपि उसके शासन-काल में सिक्ख राज्य देखने में शक्तिशाली था परन्तु उसमें कमजोरी के चिह्न मौजूद थे। एक तो रणजीत-सिंह का शासन निरंकुश था; उसमें सब कुछ केवल एक प्रतिभाशाली व्यक्ति पर निर्भर था। जैसे ही उसका देहान्त हुआ, सब नेता अपनी शक्ति और अपना प्रभाव स्थापित करने के लिए आपस में लड़ने लगे। दूसरे, सिक्ख अशान्तिप्रिय जाति के लोग थे। शासन के नीरस और नियमित कार्यक्रम की अपेक्षा वे लड़ाई के लिए अधिक उपयुक्त थे। उनको अपने वश में रखना कठिन था। उनकी लड़ाकू शक्तियाँ निरन्तर अपने उपयुक्त काम ढूँढ़ा करती थीं। तीसरे रणजीत-सिंह के किसी लड़के में इतनी योग्यता नहीं थी कि वह एक बड़े राज्य का

शासन-प्रबन्ध करता। उसके बेटे खड़गसिंह और नौनिहालसिंह साल ही भर के अन्दर मर गये। उनके उत्तराधिकारी शेरसिंह (रणजीतसिंह का पुत्र) ने अपने को ऐसे दलों के बीच में पाया जो आपस में एक दूसरे से लड़ रहे थे। जम्मू के राजपूत, गुलाबसिंह, ध्यानसिंह तथा सुचेतसिंह का राज्य में बड़ा भारी प्रभाव था। सिक्ख, विशेषकर सिन्धनवाले उनसे जलते थे और उन्हें पदच्युत करने की कोशिश करते थे। खालसा की फौज ने भी बड़ा उपद्रव खड़ा कर दिया। उसने दरबार की कुछ भी परवाह नहीं की और पंचायतों-द्वारा अपने सब मामले तय करना शुरू कर दिया। शेरसिंह, जो प्रतिद्वन्द्वी नेताओं के हाथ की कठपुतली बना हुआ था, सन् १८४३ ई० में मार डाला गया और उसकी जगह दिलीपसिंह गद्दी पर बिठाया गया। दिलीपसिंह रणजीतसिंह का बेटा था और रानी झिण्डन के गर्भ से उत्पन्न हुआ था।

खालसा-दरबार ने सहायता के लिए अँगरेजों से प्रार्थना की। परन्तु वे दिलीपसिंह के पक्ष का समर्थन करना नहीं चाहते थे; क्योंकि वह रणजीतसिंह का वैध लड़का नहीं था। पंजाब की गड़बड़ी और बढ़ गई और ब्रिटिश सरकार ने फौजी तैयारियाँ कीं जिससे सिक्ख लोग भयभीत हो गये। लाहौर में रहने-वाले अँगरेज एजेंटों के आचरण को देखकर सिक्खों के मन में सन्देह पैदा हो गया। इसके अतिरिक्त सेना को वश में रखना रानी को कठिन मालूम हुआ और यह निश्चय किया गया कि उसे कहीं काम में लगाया जाय। अनेक सिक्ख सरदारों ने सोचा कि यदि अँगरेजों के साथ युद्ध करने में सिक्ख सेना नष्ट हो जायगा तो उनके लिए अपनी शक्ति स्थापित करना आसान हो जायगा। ११ दिसम्बर सन् १८४५ ई० को सिक्ख सैनिक ने सतलज को पार किया।

सिक्खों की पहली लड़ाई (१८४५-४६)—लार्ड हार्डिज और प्रधान सेना-पति सर ह्यू गफ (Hugh Gough) दोनों अनुभवी सैनिक थे। उन्होंने सिक्खों का सामना करने के लिए फौरन एक बड़ी सेना इकट्ठी की और उन्हें मुदकी नामक स्थान पर पराजित किया। फीरोजशाह के पास दूसरी लड़ाई हुई जिसमें दोनों तरफ के बहुत-से सिपाही मारे गये। सिक्ख लोग ऐसी वीरता से लड़े कि लार्ड हार्डिज को सर ह्यू गफ पर कुछ भरोसा न रहा और वह वापस बुला लिया गया। इसके बाद वह स्वयं सेनापति बना। अलीवाल (Aliwal) के युद्ध में उसने सिक्खों को परास्त कर दिया। सिक्खों की लगभग ५० बन्दूकें छिन गईं। सोबराँव (Sobraon) के घोर युद्ध में अँगरेजों की फिर विजय हुई। इस युद्ध में सिक्खों की पराजय का प्रधान कारण उनके नेताओं का विश्वासघात था।

लार्ड हार्डिज ने पंजाब को अँगरेजी राज्य में नहीं मिलाया। लाहौर दरबार के साथ उसने (मार्च, सन् १८४६) एक सन्धि की जिसके अनुसार दिलीपसिंह

महाराजा स्वीकार किया गया और सर हेनरी लारेंस (Sir Menry Lawrence) रेजीडेंट नियुक्त किया गया। सेना की शक्ति घटा दी गई। महाराजा से कहा गया कि विना अँगरेजों की सलाह लिये किसी विदेशी को अपने यहाँ नौकर न रक्खे। सिक्खों को जलन्धर का दोआवा देना पड़ा और साथ ही डेढ़ करोड़ रुपया दंड-रूप में देना पड़ा। चूँकि खजाने से केवल ५० हजार रुपया दिया जा सकता था इसलिए काश्मीर का सूवा डोगरा सरदार गुलावसिंह के हाथ एक करोड़ रुपये में वेंच डाला गया और महाराजा ने उसे स्वतन्त्र राजा स्वीकार किया।

वाद को काश्मीर में एक विद्रोह होने के कारण सन्धि में कुछ संशोधन किया गया। कहा गया कि विद्रोह को उभाड़नेवाले सिक्ख लोग ही थे। आठ सरदारों की एक रीजेन्सी कौंसिल वनी और यह तय हुआ कि कौंसिल अपना सव काम रेजीडेंट की सलाह से करे। लाहौर में एक अँगरेजी सेना तैनात कर दी गई और उसका सारा खर्च खालसा दरवार को देना पड़ा। रानी के हाथ से सव शक्ति छीन ली गई और वह निर्वासित कर बनारस भेज दी गई।

लार्ड हार्डिज का शासन-प्रवन्ध—यद्यपि पंजाव के मामलों ने लार्ड हार्डिज का सारा समय ले लिया तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि उसने शासन-प्रवन्ध के लिए कुछ भी नहीं किया। गंगा से नहर निकालने की योजना का उसने समर्थन किया और उसके लिए रुपये की भी व्यवस्था कर दी। उसने मनुष्य-बलिदान, सती एवं शिशु-हत्या को रोकने का उपाय किया। उसका ध्यान सरकार की आर्थिक दशा की ओर भी गया और उसने भारतीय सेना को घटाकर सैनिक वजट में कुछ कमी की। लार्ड हार्डिज १८४८ ई० में वापस लौट गया और उसकी जगह लार्ड डलहौजी (Dalhousie) गवर्नर-जनरल नियुक्त हुआ। नियुक्ति के समय उसकी अवस्था केवल ३६ वर्ष की थी।

सिक्खों की दूसरी लड़ाई (१८४८-४९)—लाहौर-दरवार के साथ जो सन्धि हुई थी उससे पंजाब में शान्ति स्थापित नहीं हुई थी। सिक्खों का राष्ट्रीय दल अँगरेजों की शक्ति को अविश्वास की दृष्टि से देखता था। ऊँचे-ऊँचे पदों से अलग रक्खे जाने के कारण कुलीन वंशों के लोग रुष्ट हो गये थे। अँगरेज रेजीडेंट (Sir Frederick Currie) ने ऐसी नीति से काम लिया था जिसके कारण सिक्खों का विश्वास जाता रहा। मुलतान में शीघ्र ही उपद्रव आरम्भ हो गया और वहाँ के हाकिम मूलराज ने खुल्लम-खुल्ला विद्रोह किया। लाहौर-दरवार ने उससे, जो रुपया उसके जिम्मे था, उसे अदा कर देने के लिए कहा। परन्तु इसकी उसने कुछ भी परवाह न की और अपने पद से इस्तीफा देने के लिए तैयार हो गया। दरवार ने खानसिंह नामक सिक्ख-सरदार को भेजा और उसकी सहायता के लिए दो अँगरेज अफसरों को भेज दिया। मूलराज इस

पर बहुत क्रुद्ध हुआ और उसकी उत्तेजना से दोनों अँगरेज़ अफ़सर वहाँ पहुँचने के थोड़ी ही देर बाद मार डाले गये। लार्ड डलहौज़ी ने इस पर कुछ कार्रवाई करने की जल्दी नहीं की किन्तु हर्बर्ट एडवर्ड (Herbert Edward) नामक एक युवक अफ़सर ने आनन-फ़ानन में एक फ़ौज इकट्ठा की और मुलतान पर आक्रमण कर दिया। सारे देश में विद्रोह फैल गया और ब्रिटिश सरकार को रानी झिण्डन पर बड़ा क्रोध आया। उस पर दोष लगाया गया कि मुलतान के मामले में उसकी भी साज़िश थी। वह बनारस भेज दी गई। इससे सिक्खों के जातीय अभिमान पर बड़ा आघात पहुँचा और उनके नेताओं ने अँगरेज़ों के विरुद्ध, धर्म के नाम पर, युद्ध छेड़ दिया। पेशावर का ज़िला दे कर उन्होंने अफ़ग़ानिस्तान के अमीर दोस्तमुहम्मद को अपने पक्ष में कर लिया।

गवर्नर-जनरल ने इस चुनौती को तुरन्त स्वीकार कर लिया। लार्ड गफ़ ने (नवम्बर १८४८ ई०) रावी नदी को पार किया और चेनाब के तट पर, रामनगर स्थान पर, युद्ध किया। इसमें किसी पक्ष की हार जीत नहीं हुई। सादुल्लापुर में सिक्खों की भारी हानि हुई किन्तु चिलियाँवाला की लड़ाई में, जो १३ जनवरी १८४९ ई० को हुई, बड़ा खून बहा। उसमें सिक्खों ने अँगरेज़ों को एक प्रकार से पराजित कर दिया। लगभग तीन घंटे के अन्दर सैकड़ों सिपाही और अफ़सर मार डाले गये। किन्तु सिक्ख लोग अपनी विजय पर अधिक समय तक गर्व नहीं कर सके। अँगरेज़ों ने २२ फ़रवरी को उन्हें गुजरात की लड़ाई में पराजित कर दिया। ९ महीने के घेरे के बाद मुलतान पर अँगरेज़ों ने क़ब्ज़ा कर लिया और मूलराज ने आत्म-समर्पण कर दिया। लार्ड डलहौज़ी ने रणजीतसिंह के बेटे दिलीपसिंह के साथ कठोर व्यवहार किया। वह गद्दी से उतार दिया गया और उससे एक पत्र पर हस्ताक्षर करा लिये गये जिसमें यह लिखा था कि वह और उसके वारिस पंजाब के राज्य पर कोई दावा नहीं करेंगे। उसे ५० हज़ार पौंड सालाना की पेंशन दी गई और उसे 'राजकुमार' की उपाधि रखने की आज्ञा दी गई। बाद को वह इँगलेंड चला गया। वहाँ अँगरेज़ी रईसों की तरह रहने लगा और उसने ईसाई मत ग्रहण कर लिया। मूलराज पर क़त्ल का मुक़दमा चलाया गया और उसे फाँसी की सज़ा दी गई। पंजाब अँगरेज़ी राज्य में मिला लिया गया।

पंजाब का शासन-प्रबन्ध—सर हेनरी लारेंस (Sir Henry Lawrence) के विरोध करने पर भी पंजाब अँगरेज़ी राज्य का एक सूबा बना दिया गया। लारेंस ने इस बात पर ज़ोर दिया कि रणजीतसिंह के उत्तराधिकारी के साथ अच्छा बरताव करना चाहिए। परन्तु लार्ड डलहौज़ी का कहना था कि अँगरेज़ी राज्य की रक्षा के लिए सिक्खों को दबाना आवश्यक है। अपने स्वाभाविक उत्साह के साथ वह शासन का संगठन करने में लग गया। उसने

एक बोर्ड कायम किया जिसमें तीन बड़े अफ़सर थे—सर हेनरी लारेंस, उसका भाई जान लारेंस तथा मैंसल (Mansel)। ये तीनों कम्पनी की नौकरी में थे। सिक्खों के हथियार छीन लिये गये और उनके सरदारों से ज़मीन तथा जागीरें भी ले ली गईं। दीवानी और फ़ौजदारी अदालतों का सुधार किया गया। अंगच्छेद करने तथा शिकंजा आदि में कसने की रीति उठा दी गई। ज़मीन की पड़ताल की गई और किसानों के हक़ बड़ी सावधानी के साथ दर्ज कर लिये गये। ज़मीन का लगान एक न्याय-संगत आधार पर (उपज का चौथा भाग) निश्चित कर दिया गया। आधे दर्जन करों के अलावा और सब कर उठा दिये गये। नहरें बनवाई गईं और जंगलों का भी प्रबन्ध किया गया। स्कूल खोले गये और सिक्खों में समाजिक सुधार करने का प्रयत्न किया गया। अमृतसर में एक सभा की गई जिसमें सिक्खों, हिन्दुओं तथा मुसलमानों ने सगाई तथा विवाह का खर्च घटाने और शिशु-हत्या की भीषण प्रथा को बन्द करने का संकल्प किया। गुलामी की प्रथा वन्द कर दी गई और ठगों और डाकुओं का दमन किया गया।

सर हेनरी लारेंस ने गवर्नर-जनरल की नीति का समर्थन नहीं किया, इसलिए वह उसका कृपापात्र नहीं रहा। सन् १८५३ ई० में बोर्ड तोड़ दिया गया और पंजाब का सूबा जान लारेंस के सुपुर्द किया गया और वह उसका पहला चीफ़ कमिश्नर नियुक्त हुआ।

ब्रह्मा की दूसरी लड़ाई (सन् १८५२ ई०)—ब्रह्मा की दूसरी लड़ाई उन सौदागरों के हितों की रक्षा के लिए की गई जो १८२६ ई० में यान्डव की सन्धि के बाद ब्रह्मा के दक्षिणी समुद्र-तट पर बस गये थे। रंगून के हाकिम ने उनको बहुत तंग किया और उनके व्यापार में रुकावट डाली। तंग आकर उन्होंने भारत-सरकार से क्षतिपूर्ति कराने के लिए प्रार्थना की। गवर्नर-जनरल ने फ़ौरन ही व्यापारियों की शिकायत दूर करने और एक लाख पौंड बतौर हर्जे के देने को कहा। परन्तु ब्रह्मा दरबार से कुछ उत्तर नहीं मिला। युद्ध आरम्भ हो गया। लार्ड डलहौज़ी ने स्वयं हर एक बात की निगरानी की और सेना की सुविधा और स्वास्थ्य के लिए पहले से ही सब प्रबन्ध कर दिया। मर्तबान पर अँगरेज़ों ने क़ब्ज़ा कर लिया और रंगून के मन्दिर पर चढ़ाई करके उसको भी जीत लिया। प्रोम पर भी अँगरेज़ों का अधिकार हो गया और उसे जीत कर लोअर ब्रह्मा अँगरेज़ी राज्य में मिला लिया गया (२० दिसम्बर सन् १८५२ ई०) इसके बाद युद्ध का अन्त हो गया। बंगाल की खाड़ी का सम्पूर्ण समुद्र-तट केप कमोरिन से लेकर मलाया प्रायद्वीप तक अँगरेज़ों के अधिकार में आ गया।

लार्ड डलहौज़ी ने अपनी स्वाभाविक शक्ति और उत्साह के साथ नये प्रान्त के शासन की व्यवस्था की। योग्य अफ़सर नियुक्त किये गये और उन्होंने जुर्म करनेवालों को कड़ी सज़ा दी। ब्रह्मा के लोगों को ईमानदारी और परिश्रम के

साथ जीविका कमाना सिखाया गया। धन-सम्पत्ति की वृद्धि हुई; व्यापार उन्नत हुआ और रंगून एक समृद्धशाली बन्दरगाह बन गया।

लार्ड डलहौज़ी की सीमाप्रान्तीय नीति के परिणाम—लार्ड डलहौजी की सीमाप्रान्तीय नीति को अच्छी सफलता प्राप्त हुई। पंजाब को अँगरेज़ी राज्य में मिला लेने से यद्यपि सिक्खों के मनोभावों पर आघात पहुँचा किन्तु बाह्य आक्रमणों से ब्रिटिश राज्य की रक्षा का प्रबन्ध हो गया। शिकम के पहाड़ी देश को जीत लेने से अँगरेज़ों के अधिकार में चाय का एक विस्तृत प्रदेश आ गया। उसकी उन्नति की बड़ी सुविधाएँ थीं। अन्त में ब्रिटिश ब्रह्मा के बन जाने से पूर्वीय सीमा सुरक्षित हो गई और चावल तथा सागौन की लकड़ी का व्यापार अँगरेज़ों के हाथ आ गया।

संक्षिप्त सन्‌वार विवरण

हिरात का घेरा	१८३७ ई०
रणजीतसिंह के साथ सन्धि	१८३८ ,,
अँगरेज़ों का क़न्दहार और ग़ज़नी को लेना	१८३९ ,,
रणजीतसिंह की मृत्यु	१८३९ ,,
काबुल से अँगरेज़ी सेना का लौटना	१८४२ ,,
मियानी की लड़ाई	१८४३ ,,
महाराजपुर और पनियार की लड़ाइयाँ	१८४३ ,,
एलिनबरा का वापस बुलाया जाना	१८४४ ,,
सिक्खों की पहली लड़ाई	१८४५-४६ ,,
सिक्खों के साथ सन्धि	१८४६ ,,
चिलियाँवाला की लड़ाई	१८४९ ,,
पंजाब का अँगरेज़ी राज्य में मिलना	१८४९ ,,
लोअर ब्रह्मा का अँगरेज़ी राज्य में मिलाया जाना	१८५२ ,,

अध्याय २५

लार्ड डलहौज़ी और नई शासन-व्यवस्था

(१८४८-५६ ई० तक)

लार्ड डलहौज़ी और देशी रियासतें—लार्ड डलहौज़ी एक महान् साम्राज्यवादी था। उसने 'शान्तिमय' आक्रमणों के द्वारा ब्रिटिश राज्य का विस्तार बढ़ाने की

चेष्टा की। निर्बल राज्यों के साथ उसे कोई सहानुभूति नहीं थी और उनके अस्तित्व को कायम रहने देने में उसे कोई लाभ नहीं दिखाई देता था। उसका दृढ़ विश्वास था कि ब्रिटिश शासन लोगों के लिए लाभकारी है, चाहे वे उसे पसन्द करें या न करें। उसने देशी राज्यों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया।

(१) स्वतन्त्र राज्य, जिनमें भारत-सरकार राजा की मृत्य के बाद उपयुक्त उत्तराधिकारी को गद्दी पर पर बिठाती थी।

(२) वे राज्य जिन्होंने मुग़ल-सम्राट् अथवा पेशवा के स्थान में अँगरेज़ों की अधीनता स्वीकार कर ली थी।

(३) अधीनस्थ राज्य, जिनको ब्रिटिश सरकार ने बनाया था अथवा विजय-द्वारा प्राप्त किया था और जो उसके अधीन थे।

पहले दो प्रकार की रियासतों को तो उसने गोद लेने का अधिकार दे दिया परन्तु उसकी राय थी कि तीसरी श्रेणी की रियासतों को यह अधिकार न देना चाहिए। उसने अपना नया सिद्धान्त, जिसे (Doctring of lapse) कहते हैं, इन राज्यों में लागू किया। इसका आशय यह था कि यदि किसी राजा के पुत्र न हो तो उसका राज्य अँगरेज़ी राज्य में मिला लिया जायगा। शास्त्रों के लेखानुसार सब निस्सन्तान हिन्दुओं को गोद लेने का अधिकार है परन्तु लार्ड डलहौज़ी ने राजा की व्यक्तिगत सम्पत्ति और उसके राज्य में भेद किया और यह नियम बना दिया कि किसी राजा का राज्य उसके गोद लिये बेटे को नहीं मिल सकता जब तक कि वह ब्रिटिश सरकार से अनुमति न प्राप्त कर ले। वह ऐसी प्रथा को जारी नहीं रखना चाहता था जिससे देश में अशान्ति फैले और शासन में गड़बड़ी पैदा हो। कम्पनी के कुछ अफ़सरों ने इस सिद्धान्त का तीन कारणों से विरोध किया। पहला कारण यह था कि अधीन राज्य उपयोगी थे; क्योंकि उनमें अच्छे घराने के लोगों को नौकरियाँ मिल जाती थीं। दूसरे ऐसे नीति से स्वाधीन देशी नरेशों को भी भय होगा और वे खयाल करेंगे कि हमारा राज्य भी कहीं इसी प्रकार न हड़प लिया जाय। तीसरे भारतवासी अँगरेज़ी राज्य की अपेक्षा देशी राज्य को अधिक पसन्द करते थे और सरकार की नीति से असन्तुष्ट थे। लार्ड डलहौज़ी ने इस राय की कुछ भी परवाह न की और अधीन राज्यों में अपने नये सिद्धान्त को लागू किया। भिन्न-भिन्न प्रकार के राज्यों के बीच रेखा खींचना कठिन था। करौली के मामले में इँगलेंड की सरकार ने गवर्नर-जनरल की आज्ञा को रद्द कर दिया। इन सब बातों से देशी राजाओं को खयाल हुआ कि गवर्नर-जनरल उनके राज्यों का अन्त करना चाहता है।

सन् १८४८ ई० में अप्पा साहब की मृत्यु के बाद सतारा का राज्य अँगरेज़ी राज्य में मिला लिया गया। झाँसी की रानी ने जो लड़का गोद लिया था उसे १८५३ ई० में गवर्नमेंट ने अस्वीकार कर दिया। एक साल बाद नागपूर

का राज्य भी अँगरेज़ों के हाथ में चला गया। वहाँ का अन्तिम राजा विना किसी सन्तान के मर गया। उसकी विधवा रानी ने एक लड़का गोद लिया परन्तु ब्रिटिश सरकार ने उसे स्वीकार न किया। राजा के जवाहिरात, माल-असबाव नीलाम कर दिये गये जिससे भारत के लोगों और राजाओं को बड़ी ग्लानि हुई। यह एक ऐसी लूट थी जिसके लिए हम गवर्नर-जनरल की निन्दा किये विना नहीं रह सकते।

जैतपुर और सम्भलपुर (१८४९ ई०), वाघट (१८५० ई०) तथा उदयपुर (१८५२ ई०) के राज्य भी इसी प्रकार अँगरेज़ी राज्य में मिला लिये गये। अन्तिम दो राज्यों के सम्वन्ध में लार्ड डलहौज़ी का फ़ैसला उसके उत्तराधिकारी द्वारा रद्द कर दिया गया। डाइरेक्टरों ने करौली के राज्य को स्वाधीन ठहराया और वह अँगरेज़ी राज्य में मिलाये जाने से वच गया।

डलहौज़ी का नया सिद्धान्त उपाधियों तथा पदों पर भी लगाया गया। कर्नाटक के नवाव तथा तंजौर के राजा की उपाधियाँ छीन ली गईं। उसने यह भी प्रस्ताव किया कि मुग़ल-सम्राट् से उसकी उपाधि ले ली जाय किन्तु डाइरेक्टरों ने उसे अस्वीकृत कर दिया। सन् १८५३ ई० में पेशवा वाजीराव द्वितीय की मृत्यु के बाद उसकी ८ लाख की पेंशन वन्द कर दी गई और उसका दत्तक पुत्र धोंधूपन्त, जो पीछे से नाना साहव के नाम से प्रसिद्ध हुआ, स्वीकार नहीं किया गया। यद्यपि सरकार ने उसे बिठूर की जागीर माफ़ी में दे दी तो भी यह कहना पड़ेगा कि गवर्नर-जनरल का कार्य कठोर तथा अन्यायपूर्ण था।

अवध का अँगरेज़ी राज्य में मिलाया जाना (१८५६ ई०)—अवध के राज्य में डलहौज़ी के सिद्धान्त का प्रयोग नहीं किया गया। शासन का प्रवन्ध अच्छा न होने के कारण वह अँगरेज़ी राज्य में मिलाया गया। अवध तथा अँगरेज़ी सरकार के वीच जो सम्वन्ध था उसका वर्णन यहाँ पर संक्षेप में कर देना उचित है। सन् १८०१ ई० की सन्धि के द्वारा ब्रिटिश सरकार ने अवध के नवाव वज़ीर के राज्य की रक्षा करने की ज़िम्मेदारी अपने ऊपर ले ली थी। इसके वदले में नवाव ने वचन दिया था कि मैं अपने राज्य का शासन ठीक करूँगा और सव काम ईस्ट इंडिया कम्पनी की सलाह से करूँगा। इस सहायक सन्धि में दोहरे राज्य के सभी दोष मौजूद थे। वाह्य आक्रमणों तथा आन्तरिक विद्रोह से सुरक्षित हो जाने के कारण अवध के शासकों ने शासन की ओर कुछ भी ध्यान नहीं दिया। उधर अँगरेज़ों ने भी प्रजा की रक्षा का कुछ भी उपाय न किया। ब्रिटिश सरकार ने नवाव को ताकीद की और शासन को सुधारने के लिए कहा। सन् १८३१ ई० में लार्ड विलियम बेंटिंक ने कर्नाटक और तंजौर की हालत का स्मरण दिलाया और कहा कि यदि शासन में सुधार न किया गया तो नवाव कम्पनी का पेंशनर वना दिया जायगा। लार्ड आकलेंड ने नवाव के साथ

१८३७ ई० में एक नई सन्धि की। इस सन्धि की शर्त यह थी कि यदि शासन में सुधार नहीं हुआ तो ब्रिटिश सरकार जब तक आवश्यक समझेगी कुशासित प्रदेशों का प्रबन्ध करने के लिए अपने अफ़सर नियुक्त करेगी। कम्पनी के संचालकों (Court of Directors) ने इस सन्धि को मंजूर नहीं किया। परन्तु नवाब से यह बात कभी नहीं कही गई। वह इसी ख़याल में रहा कि सन्धि अभी क़ायम है और ब्रिटिश सरकार बहुत करेगी तो कुछ समय के लिए शासन-प्रबन्ध को अपने हाथों में ले लेगी। सन् १८४७ ई० में लार्ड हार्डिंज ने अवध के नवाब के पास जो पत्र भेजे उनमें १८३७ ई० की सन्धि का इस प्रकार उल्लेख किया कि मानो वह अभी तक जारी है। शासन के दोषों को दूर करने के लिए दो वर्ष का समय दिया गया। किन्तु कुछ भी सुधार न हो सका। लखनऊ के रेजीडेंट कर्नल स्लीमैन (Colonel Sleeman) से सन् १८५१ ई० में अवध के बारे में एक रिपोर्ट तैयार करने के लिए कहा गया। अपनी रिपोर्ट में उसने ताल्लुक़दारों की लूट-मार, फ़ौज की कमज़ोरी और किसानों की दुरवस्था का वर्णन किया। उसने यह भी लिखा कि राजा भोगविलास में डूबा रहता है और गवैयों, नर्तकों, मसखरों तथा हिजड़ों के साथ अपना समय नष्ट करता है। १८४५ ई० में लार्ड डलहौज़ी कुछ कार्रवाई करने के लिए बाध्य हुआ। उसने नये रेज़ीडेंट कर्नल आउट्रम (Outram) से अवध की दशा के सम्बन्ध में एक रिपोर्ट लिखने को कहा। आउट्रम ने भी वही विचार प्रकट किये जो स्लीमैन ने किये थे। सन् १८५५ ई० में गवर्नर-जनरल ने स्वयं अवध की दशा की जाँच की और एक रिपोर्ट तैयार की। उसने १८३७ ई० की सन्धि को रद्द कर दिया और अवध को अँगरेज़ी राज्य में मिला लेने का निश्चय किया। उसने इस बात पर कुछ भी ध्यान न दिया कि अवध के नवाब अँगरेज़ों के सच्चे मित्र रह चुके थे। उसने आउट्रम को लिखा कि वह अवध को अँगरेज़ी राज्य में मिला लेनेवाली सन्धि पर नवाब से इस्ताक्षर कराये। वाजिदअली शाह ने, जो इस समय नवाब था, ऐसी सन्धि को अस्वीकार किया जिसके द्वारा उसका राज्य छीन लिया जाता और वह १२ लाख रुपया सालाना पर ईस्ट इंडिया कम्पनी का पेंशनर मात्र रह जाता। गवर्नर-जनरल के हुक्म से घोषणा कर दी गई कि अवध का राज्य अँगरेज़ी राज्य में मिला दिया गया। एक यूरोपीय लेखक का कथन है कि यद्यपि नवाब के हाकिम खराब थे परन्तु यदि अवध के लोगों से पूछा जाता कि वे नवाबी और नये शासन में से किसको पसन्द करेंगे तो वे नवाबी को अधिक पसन्द करते।

अवध को अँगरेज़ी राज्य में मिलाना अनुचित कार्य था। यह कार्य सन् १८३७ ई० की सन्धि के विरुद्ध था जो नवाब के अनुसार उस समय भी क़ायम थी। लार्ड डलहौज़ी का सन्धि को रद्द समझना ठीक न था जब कि उसके पहले

के गवर्नर-जनरल उसे मान चुके थे। नवाब और उसके पूर्वज अँगरेज़ों के सच्चे मित्र रह चुके थे। इस दृष्टि से उसके साथ जो व्यवहार किया गया उसका समर्थन करना कठिन है। इस कार्य से भारतीय राजाओं के चित्त में एक बड़ी शंका उत्पन्न हो गई। वे डर गये कि कहीं हमारे राज्य और हमारी उपाधियाँ भी न छिन जायें। अवध के लोग डलहौज़ी की इस नीति से असन्तुष्ट हुए और जब साल भर के बाद ग़दर आरम्भ हुआ तो उन्होंने अँगरेज़ों के विरुद्ध शस्त्र उठाकर यह दिखा दिया कि वे अवध को अँगरेज़ी राज्य में मिला लेने की नीति के विरुद्ध थे।

कम्पनी का नया आज्ञापत्र (१८५३ ई०)—सन् १८५३ ई० में कम्पनी को फिर एक नया आज्ञापत्र मिला। उसके विधान और शासन में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किये गये। कम्पनी कायम रही परन्तु व्यापार करने का अधिकार उससे छीन लिया गया। डाइरेक्टरों की संख्या २४ से घटा कर १८ कर दी गई। इनमें से ६ को नामज़द करने का अधिकार ब्रिटिश सम्राट् को दिया गया। उनके अनेक अधिकार 'बोर्ड आफ़ कन्ट्रोल' को दे दिये गये। डाइरेक्टर हमेशा अपने रिश्तेदारों को बड़े ओहदों पर नियुक्त करते थे परन्तु अब इंडियन सिविल सर्विस के लिए एक परीक्षा का नियम कर दिया गया। सन् १८३३ ई० में जो ला मेम्बर (क़ानून का सदस्य) नियुक्त किया गया था वह गवर्नर-जनरल की कौंसिल का एक सदस्य बना दिया गया। लेजिस्लेटिव कौंसिल के मेम्बरों की संख्या बढ़ा दी गई। गवर्नर-जनरल बंगाल की गवर्नरी के काम से मुक्त कर दिया गया और उस प्रान्त के लिए एक अलग लेफ्टिनेंट गवर्नर नियुक्त किया गया।

शासन-सुधार—लार्ड डलहौज़ी ने शासन में अनेक सुधार किये। जो सूबे ब्रिटिश राज्य में मिला लिये गये थे वे नान-रेग्यूलेशन प्रान्त कहलाये। उनका शासन पुराने सूबों से विभिन्न था। स्थानीय लोगों को बड़ी स्वतन्त्रता दी गई। लार्ड डलहौज़ी ने सेना का भी सुधार किया। सैनिकों के आराम और स्वास्थ्य-रक्षा का काफ़ी उपाय किया गया। उसने सिक्खों और गोरखों की एक पल्टन बनाई और यूरोपीय सेना को बढ़ाने की सलाह दी। उसने अर्थ-विभाग का प्रबन्ध बड़ी सावधानी के साथ किया। जहाँ पहले धन की कमी पड़ती थी वहाँ अब कुछ बचत होने लगी। उसने सार्वजनिक कार्यों के लिए रुपया उधार लेने की रीति चलाई। उसके शासन-काल में भारत की कुल आय २४५ लाख से बढ़कर ३०७½ लाख हो गई। साथ ही साथ शासन को दृढ़ बनाने का काम भी होता रहा। लार्ड डलहौज़ी ने भारत के विभिन्न भागों को लोहे की जंजीरों से बाँध दिया। उसने पहली रेल चलाई और तार लगवाया। इन सुधारों से देश खूब सुरक्षित हो गया और व्यापार की वृद्धि और उन्नति में प्रोत्साहन मिला। उसने एक सार्वजनिक कार्य-विभाग (Public Works Department)

स्थापित किया और आध आने में दूर-दूर तक पत्र भेजवाने की व्यवस्था की जो भारत के लोगों के लिए बहुत हितकर सिद्ध हुई। उसने देशी भाषा की शिक्षा को प्रोत्साहन दिया और यह सिफ़ारिश की कि टामसन (Mr. Thomoson) की प्रणाली सारे पश्चिमोत्तर-प्रान्त में प्रचलित की जाय। सन् १८५४ ई० में सर चार्ल्स वुड (Sir Charles Wood) ने, जो बाद को लार्ड हैलीफ़ैक्स (Lord Halifa) के नाम से प्रसिद्ध हुआ, अपना वह प्रसिद्ध मसविदा लिखा जिसने आधुनिक देशी शिक्षा की नींव डाली।

लार्ड डलहौज़ी का कार्य—लार्ड डलहौज़ी ने जो नई शक्तियाँ उत्पन्न कीं उनसे भारत की दशा बदल गई। रेल और तार ने भिन्न-भिन्न जातियों और प्रान्तों को एक कर दिया। परन्तु उसकी नीति सर्वथा दोष-रहित न थी। उसने भारतीय राजाओं के विचारों और रीति-रवाजों की कुछ परवाह नहीं की। उसके अनेक मसविदे इस बात को प्रकट करते हैं कि जहाँ कहीं भी हो सकता था, वह भारतीय शासन के स्थान में ब्रिटिश शासन की स्थापना करना चाहता था। उसने अपने अधीनस्थ कर्मचारियों के परामर्श पर कुछ ध्यान नहीं दिया। वह समझता था कि वह हर एक बात को स्वयं कर सकता है। उसके चले जाने के बाद इस नीति का बुरा परिणाम हुआ। इस बात को मानना पड़ेगा कि वह बड़ा अध्यवसायी, परिश्रमी तथा कर्त्तव्य-परायण शासक था। अधिक परिश्रम के कारण उसका स्वास्थ्य बिगड़ गया और, मार्च सन् १८५६ ई० में, जिस समय उसने घर की यात्रा के लिए प्रस्थान किया, वह बिलकुल अस्वस्थ और दुर्बल हो गया था। वहाँ पहुँचने के चार वर्ष बाद उसकी मृत्यु हो गई और वह अपने वंश के प्राचीन क़ब्रस्तान में, अपनी स्त्री की क़ब्र के पास, दफ़न कर दिया गया।

संक्षिप्त सनूवार विवरण

सतारा का अँगरेज़ी राज्य में मिलना	१८४८ ई०
जैतपुर सम्भलपुर राज्यों का अँगरेज़ी राज्य में मिलना	१८४९ "
बाघट का अँगरेज़ी राज्य में मिलना	१८५० "
उदयपुर का अँगरेज़ी राज्य में मिलना	१८५२ "
नाना साहब की पेंशन का बन्द होना	१८५३ "
कम्पनी का नया आज्ञापत्र	१८५३ "
सर चार्ल्स वुड की रिपोर्ट	१८५४ "
अवध का अँगरेज़ी राज्य में मिलना	१८५६ "
लार्ड डलहौज़ी का वापस जाना	१८५६ "

अध्याय ३६

राष्ट्रीय विप्लव (१८५७)

लार्ड कैनिंग—लार्ड डलहौजी के बाद फरवरी १८५६ ई० में लार्ड कैनिंग भारत का गवर्नर-जनरल नियुक्त हुआ। ईस्ट इण्डिया कम्पनी का वह अन्तिम गवर्नर-जनरल था। वह एक योग्य और ईमानदार शासक था। आक्सफोर्ड में अपनी विद्वत्ता के कारण उसने ख्याति पाई थी। और पोस्टमास्टर जनरल के पद पर काम करके उसने शासन का अनुभव प्राप्त कर लिया था। परन्तु वह ऐसे समय भारत में आया जब सारे देश में घोर असन्तोष का भाव व्याप्त हो रहा था। लोग अँगरेजी शासन के अन्यायों और अत्याचारों से ऊब गये थे। उनमें राजनीतिक चेतना का संचार हो चला था। अपनी सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक दुरवस्था का मुख्य कारण उन्हें अपनी परतन्त्रता दिखाई पड़ती थी। अँगरेजी राज्य के प्रति यह असन्तोष बढ़ता गया और देश के कोने-कोने में नीरव अशान्ति छा गई। कालान्तर में इसी अशान्ति ने सशस्त्र विद्रोह का रूप धारण किया जिसका भीषण विस्फोट सन् १८५७ ईसवी में हुआ।

१८५७ का विप्लव कोई आकस्मिक घटना न थी। इसकी चिनगारी बहुत दिनों से सुलग रही थी जो बढ़ते-बढ़ते एक भयंकर ज्वाला के रूप में परिणत हो गई। इसका ध्येय भारतवर्ष के अँगरेजी शासन को ध्वस्त कर देना था। कुछ वर्ष पहले कतिपय विद्वानों का मत था कि यह विप्लव केवल सिपाही-विद्रोह था और इसका कारण केवल चर्बीयुक्त कारतूस ही थे। परन्तु अब इतिहासकार ऐसा नहीं मानते। उनका कथन है कि देश की स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए यह एक भारी चिरनियोजित विप्लव था, जिसमें देश के भिन्न-भिन्न वर्गों ने प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से भाग लिया था। इस विप्लव के अनेक कारण थे, जो बहुत दिनों से चुपचाप अपना काम कर रहे थे। इन्हें हम मुख्यतया तीन भागों में बाँट सकते हैं :—राजनीतिक, सामाजिक तथा सैनिक।

राजनीतिक—देशी राज्यों को अँगरेजी राज्य में मिलाने की जिस नीति का अवलम्बन लार्ड डलहौजी ने किया, उससे भारत में बड़ी अशान्ति फैल गई। पिछली संधियों की अवैधानिक रूप से तोड़कर लार्ड डलहौजी ने जब १३ फरवरी, १८५६ में अवध को ब्रिटिश राज्य में मिलाया तो वहाँ की जनता में तीव्र असन्तोष की भावना फैल गई। यद्यपि नवाबी शासन में अनेक दोष थे तथापि जनता अँगरेजी शासन से उसे अच्छा समझती थी। अवध के ताल्लुकदार भी डलहौजी की इस नीति से बड़े असन्तुष्ट हुए क्योंकि इससे उनकी समृद्धि को बड़ा

धक्का लगा। इसी प्रकार सतारा, नागपुर और झांसी को अँगरेजी राज्य में मिला लेने से वहाँ के शासकों के हृदय को गहरी चोट पहुँची थी। मराठों के क्षोभ और क्रोध का तो कोई ठिकाना न था। अन्तिम पेशवा का उत्तराधिकारी नाना साहब अँगरेजों का घोर शत्रु था और बराबर बदला देने की तैयारी कर रहा था।

सामाजिक—ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन-काल में देश की सामाजिक दशा बड़ी शोचनीय हो गई थी। नये बन्दोवस्त से जमीन का नियंत्रण अँगरेजों के हाथ में आ गया था। उन्होंने पुराने देशी रईसों को हटाकर उनके स्थान पर योरपीय अफसर नियुक्त किये। इससे देश के रईस और किसान दोनों को भारी हानि हुई। जमीन हाथ से निकल जाने पर उसकी आमदनी कम हो जाने से इन रईसों की आर्थिक स्थिति को धक्का लगा और ये अँगरेजी शासन के शत्रु बन गये। इधर नये कानूनों और नये अफसरों के अत्याचारपूर्ण व्यवहार से किसानों की दशा बड़ी शोचनीय हो गई। उनकी दशा मजदूरों की-सी हो गई। बेचारे दिन-रात परिश्रम करते थे, परन्तु उनकी आय का अधिकतर भाग अँगरेजों की जेबों में जाता था। ऐसे अर्थहीन धन्धे को यदि वे छोड़ना चाहते थे, तो छोड़ भी न सकते थे। उन्हें काम करने पर विवश किया जाता था। अँगरेज अफसरों के लगान-वसूली के तरीके भी अति कठोर थे।

यही दशा भारतीय व्यापारियों और शिल्पकारों की भी थी। अँगरेज अफसर भारतवर्ष के कच्चे माल को सस्ते से सस्ते दाम पर इँगलैंड भेजते थे और वहाँ की बनी हुई चीजें बहुत बड़ी संख्या में प्रतिवर्ष यहाँ आया करती थीं। भारतीय व्यापारी यदि कोई माल इँगलैंड भेजते थे तो उस पर ७० और ८० फी सदी तक चुंगी लगा दी जाती थी। इसका परिणाम यह हुआ कि भारतवर्ष में विदेशी वस्तुओं का आयात तो बढ़ता गया, परन्तु स्वदेशी वस्तुओं का निर्यात दिन पर दिन कम होता गया। परिणाम-स्वरूप यहाँ का धन प्रतिवर्ष अतुल परिमाण में इँगलैंड जाने लगा और देश निर्धन होता गया।

लार्ड डलहौजी ने जो परिवर्तन किये, उनसे हिन्दुओं के रीति-रिवाजों और धार्मिक विचारों को बड़ा धक्का लगा। रेल और तार के नये आविष्कारों से जनता सशंकित थी। अँगरेजी शिक्षा के प्रचार से भी वह सन्तुष्ट न थी। उसका विचार था कि इस प्रकार भारतीय संस्कृति का नाश हो जायगा और उसके स्थान पर अँगरेजी सभ्यता और संस्कृति स्थापित हो जायगी। अँगरेजी शिक्षा के प्रचार के साथ-साथ अँगरेजों ने देश में जो ईसाई-धर्म का प्रचार करना प्रारम्भ किया उससे यह शंका और भी दृढ़ हो गई। ये प्रचारक घूम-घूमकर हिन्दू-धर्म की कटु आलोचना करते थे और भाँति-भाँति के प्रलोभन देकर तथा कभी-कभी बल-प्रयोग द्वारा भी भारतवासियों को ईसाई बनाते फिरते थे। बहु-विवाह, विधवा-

विवाह और पुर्नविवाह के संबंध में जो नये नियम बनाये गये, वे भी कट्टर हिन्दुओं को अप्रिय लगे। इन सब परिवर्तनों से मुसलमान भी असन्तुष्ट थे। हाथ से राजनीतिक शक्ति निकल जाने से उन्हें बड़ा दुःख था और दिल्ली तथा अवध के राजवंशों के पतन से उनका क्रोध और भी बढ़ गया था।

सैनिक—भारतीय और योरपीय सेनाओं में बड़ी असमानता थी। अँगरेज अफसरों का बर्ताव अपने अधीनस्थ भारतीय सैनिकों और अफसरों के साथ अच्छा न था। वे भारतवासियों को गुलाम समझते थे और उन्हें प्रायः अवज्ञा की दृष्टि से देखते थे। बंगाल की सेना, जिसमें अधिकांश ब्राह्मण और राजपूत थे और जिसे अपनी वीरता पर गर्व था, अपने लिए विशेष अधिकार चाहती थी। सन् १८५६ ई० में एक कानून पास हुआ जिसमें जात-पाँत के विचारों पर कुछ ध्यान न दिया गया और सैनिकों को जहाँ कहीं आवश्यकता पड़े जाने के लिए बाध्य होना पड़ा। यद्यपि यह नया नियम भविष्य में लागू होनेवाला था, परन्तु सैनिकों को इस बात से बड़ा दुःख पहुँचा कि उनके लड़के सेना की नौकरी से अलग कर दिये जायेंगे और उनकी सन्तान अपने अधिकार से वंचित कर दी जायेगी। इन कारणों के अतिरिक्त एक कारण और था। फौजी नौकरी से भारतीयों को अलग कर देने से सेना में बड़ा असन्तोष फैल गया था और ब्रिटिश सरकार के साथ सैनिकों की सहानुभूति नहीं रह गई थी।

विप्लव की योजना—इस चतुर्दिक आशान्ति और असन्तोष से लाभ उठाकर देश के प्रमख नेताओं ने अँगरेजी शासन का अन्त कर देने के लिए योजना बनाना प्रारम्भ किया। इनमें नाना साहब का नाम प्रमुख है। तीसरे मराठा युद्ध के पश्चात् बाजीराव पेशवा कानपुर के समीप विठूर में एक निर्वासित की भाँति रहता था। उसे ८ लाख रुपया वार्षिक पेंशन मिलती थी। उसके कोई पुत्र न था। अतः सन् १८२७ में उसने धून्धू पन्त अथवा नाना साहब को गोद लिया। बाजीराव सन् १८५१ में मर गया और शीघ्र ही डलहौजी ने नाना साहब की पेंशन बन्द कर दी। उसी दिन से नाना साहब अँगरेजों का कट्टर शत्रु हो गया था। अजीमुल्ला खां नामक उसका मन्त्री अपने समय का एक अत्यन्त प्रतिभाशाली व्यक्ति था। वह नाना साहब के मुकदमे को लेकर इँगलैंड भी गया था। वहाँ उससे सतारा के राजा के मन्त्री रंगो बापू से भेंट हुई। रंगो बापू भी अपने राजा के केस को लेकर इँगलैंड आया था। परन्तु उन दोनों को अपने कार्य में सफलता न मिली। अतः उन्होंने अँगरेजी शासन के विरुद्ध एक देशव्यापी क्रांति की योजना बनाई। रंगो बापू भारतवर्ष में अँगरेजों के विरुद्ध संगठन करने के लिए लौट आया परन्तु अजीमुल्लाखाँ ने विदेशी सहानुभूति प्राप्त करने के लिए रूस, मिस्र, इटली और टर्की का दौरा किया।

अजीमुल्ला खाँ के वापस आने पर नाना साहब ने विद्रोह के लिए उत्तरी

भारत का संगठन करना प्रारम्भ किया। उसके दूत तीर्थ-यात्रियों और भिक्षुकों के रूप में सम्पूर्ण उत्तरी भारत में घूमने लगे। मुगल-सम्राट् बहादुरशाह और उसकी प्रतिभाशालिनी बेगम जीनत महल ने इस योजना में पूरा सहयोग दिया। दिल्ली नगर और लाल किला गुप्त अधिवेशनों का केन्द्र हो गया। उधर अवध-राज्य के छिन जाने से नवाब वाजिदअलीशाह तथा उसकी बेगम हजरत महल भी अत्यन्त क्षुब्ध थे। अतः उन्होंने भी इस देशव्यापी योजना में भाग लिया। उनका मन्त्री अली नकी खाँ एक सुयोग्य व्यक्ति था। उसने अल्प काल में ही सम्पूर्ण अवध का संगठन कर लिया। क्रान्ति के नेताओं ने विद्रोह की चिनगारी अँगरेजी छावनियों में भी पहुँचा दी। भारतीय सैनिक तो पहले से ही अँगरेजी अन्याय और अनीति से असन्तुष्ट थे। अतः उन्होंने विद्रोह की योजना का स्वागत किया। नेताओं ने कमल के फूल और चपाती को अपना क्रान्तिसूचक चिह्न बनाया। कमल के फूल का प्रचार सेना के भीतर किया गया। यह फूल एक सैनिक के पास से दूसरे सैनिक के पास घूमने लगा। यह क्रान्ति का सन्देश था। इसी प्रकार चपाती गाँव-गाँव में घुमाई गई। प्रति गाँव के चौकीदार का कर्त्तव्य था कि वह अपने गाँव के निवासियों को क्रान्ति का सन्देश सुनाकर दूसरी चपाती बनाकर आगेवाले गाँव में भेज दे। इस प्रकार विद्रोह की लहर समस्त उत्तर भारत में दौड़ गई। यह निश्चय हुआ कि ३१ मई सन् १८५७ को सम्पूर्ण भारतवर्ष में एक साथ विद्रोह कर दिया जाय और अँगरेजी शासन को हटाकर देश में स्वराज्य की घोषणा कर दी जाय।

विप्लव का आरम्भ—परन्तु अभाग्यवश कुछ भारतीय सिपाहियों की अविवेकपूर्ण जल्दबाजी और उतावलेपन से यह योजना निश्चित तिथि के पहले ही प्रकट हो गई। बात यह हुई कि इसी समय सिपाहियों को एक नये ढंग के कारतूस दिये गये जिन्हें प्रयोग करने के लिए दाँत से काटना पड़ता था। लोगों में यह अफवाह फैल गई कि इन कारतूसों में गाय और सूअर की चर्वी लगी हुई थी। इस बात से हिन्दू और मुसलमान दोनों क्षुब्ध हो उठे। सैनिकों ने सोचा कि सरकार हमारे धर्म को भ्रष्ट करना चाहती है। अतः देश की विभिन्न छावनियों में अशान्ति और असन्तोष की लहर दौड़ गई। लार्ड कैनिंग ने एक विज्ञप्ति निकालकर लोगों को बतलाया कि यह अफवाह झूठी है, परन्तु इसका कोई प्रभाव न हुआ। बंगाल की सेना भड़क उठी। २९ मार्च, १८५७ में बारकपुर में विद्रोह हो गया और वहाँ की सेना के एक सिपाही मंगल पाण्डेय ने तीन अँगरेज अफसरों को मार डाला। देश के नेताओं ने बड़ी कोशिश की कि सिपाही नियत तिथि के पहले विद्रोह न करें, परन्तु उनके प्रयत्न विफल हो गये। अप्रैल में मेरठ के सैनिकों ने अपने अफसरों की आज्ञा मानने और नये कारतूसों के प्रयोग करने से इनकार कर दिया। उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया और प्रत्येक को दस-दस साल की सजा दी गई। इस

पर वहाँ की सारी भारतीय सेना क्रुद्ध हो उठी और उसने विद्रोह कर दिया। अँगरेज अफसरों को मारकर उसने जेल पर अपना अधिकार कर लिया और अपने बन्द भाइयों को जेल से मुक्त कर दिया। इसके बाद वे दिल्ली की ओर चले। बस, यहीं से १८५७ के विप्लव का श्रीगणेश हुआ।

जब वे दिल्ली पहुँचे तो वहाँ की सारी भारतीय सेना उनके साथ मिल गई और उसने नगर पर अपना अधिकार जमा लिया। वे महल के अन्दर घुसे और उन्होंने बूढ़े मुगल बादशाह बहादुरशाह को भारत का सम्राट् घोषित किया। विद्रोह बड़ी जल्दी से रुहेलखण्ड तथा मध्य-भारत के अनेक भागों में फैल गया। बरेली, लखनऊ, बनारस तथा कानपुर के भारतीय सिपाहियों ने अँगरेजों के विरुद्ध खुल्लम-खुल्ला विद्रोह कर दिया बुन्देलखण्ड में झाँसी की रानी ने विद्रोहियों का नेतृत्व किया और अँगरेजों को कत्ल कर दिया। कानपुर में नाना साहब ने अँगरेजी सेना को घेरने का हुक्म दिया। इसके बाद क्रान्तिकारियों ने लखनऊ की रेजीडेंसी पर धावा किया।

दिल्ली का घेरा—दिल्ली पर अधिकार कर लेना एक बड़ी महत्त्वपूर्ण बात थी। विद्रोहियों ने किले के पिछले भाग पर अधिकार कर लिया और बड़ी कठिनता के साथ वे शत्रुओं के विरुद्ध अपने स्थान पर दृढ़तापूर्वक जमे रहे। उनके शत्रुओं की संख्या ३० हजार थी। जब निकोल्सन (Nicholson) सेना लेकर पंजाब से आया तब काश्मीरी दरवाजा उड़ा दिया गया और ६ हफ्ते तक जी-जान से लड़ने के बाद शहर पर अधिकार स्थापित हुआ। बहादुरशाह अपने दो लड़कों के साथ गिरफ्तार हो गया। एक अँगरेज सैनिक ने दोनों शाहजादों को, बिना उनके अपराध की कुछ जाँच किये ही, गोली से मार दिया। मुगल-सम्राट् पर (जनवरी १८५८ ई० में) मुकदमा चलाया गया। वह विद्रोहियों को सहायता पहुँचाने के लिए अपराधी ठहराया गया। सरकार ने उसे रंगून भेज दिया और वहाँ १८६२ में, ८७ वर्ष की अवस्था में उसकी मृत्यु हो गई।

अँगरेजों की कूटनीति—मेरठ-विद्रोह और दिल्ली पर क्रान्तिकारियों के अधिकार का समाचार पाकर वायसराय लार्ड कैनिंग के होश उड़ गये। पर उसने बड़े धैर्य से काम लिया और विद्रोह-दमन की योजना बनाना प्रारम्भ कर दी। उसने शीघ्रातिशीघ्र भारतीय सेनाओं के निरस्त्रीकरण की आज्ञा दी। हिन्दू और मुसलमानों के बीच साम्प्रदायिक वैमनस्य उत्पन्न करने के लिए भाँति-भाँति की निराधार बातें फैलाई गईं। सिक्खों को औरंगजेब के धार्मिक अत्याचारों की कहानी सुनाकर मुगल-सम्राट् बहादुरशाह के विरुद्ध किया गया। वे औरंगजेबी अत्याचार का बदला लेने के लिए अँगरेजों के पक्षपाती बन गये। इसी प्रकार हैदराबाद, ग्वालियर, पटियाला, नाभा, नैपाल आदि राज्यों को भाँति-

भाँति के प्रलोभन देकर अँगरेजों ने अपनी ओर कर लिया। पंजाब, नैपाल और देशी राज्यों के विद्रोह में सम्मिलित न होने से क्रान्तिकारियों की शक्ति को बड़ा आघात पहुँचा। बहादुरशाह ने इन राज्यों को अपनी ओर मिलाने का प्रयत्न किया। उसने स्वयं घूम-घूमकर क्रान्ति के राष्ट्रीय ध्येय को जनता के समक्ष रक्खा और अँगरेजों की साम्प्रदायिकता को उभाड़नेवाली नीति का घोर विरोध किया। परन्तु उसके सम्पूर्ण प्रयत्न व्यर्थ गये। देश का एक बहुत बड़ा भाग अँगरेजों की कूटनीति में पड़कर उनका सहयोगी बना।

क्रान्ति का प्रसार—इस प्रकार धन-जन के अपने साधनों का संगठन करके अँगरेजों ने दिल्ली को हस्तगत करने का प्रयत्न किया। ब्रिटिश सेनापति ऐन्सन और विल्सन ने उस पर आक्रमण किया और इस प्रकार दिल्ली का घेरा आरम्भ हुआ। परन्तु भारतीय सैनिकों और नेताओं की वीरता के समक्ष उनके प्रारम्भिक प्रयत्न व्यर्थ हुए।

उधर अँगरेजी सेनापति नील ने आगरा और अवध पर आक्रमण किया। उसने बनारस को अपना सैनिक केन्द्र बनाया। नील ने बड़ी ही निर्दयता से कार्य किया। उसकी नृशंस घटनाओं का वर्णन सुनकर रोमाञ्च हो जाता है। बनारस के आस-पास गाँव के गाँव फूंक दिये गये। अगणित निरीह स्त्री-पुरुष गोली के शिकार बनाये गये अथवा पेड़ों पर लटका दिये गये। कहते हैं कि बनारस में तीन मास तक ८ गाड़ियाँ प्रतिदिन शवों को उठाने के लिए प्रातःकाल से सायंकाल तक सड़कों पर घूमा करती थीं। ऐसी क्रूर बर्बरता के दृष्टान्त सभ्य संसार के इतिहास में बहुत कम मिलेंगे।

बनारस से नील इलाहाबाद की ओर बढ़ा। मार्ग के गाँवों, खेतों और घरों को उजाड़कर उसने चंगेज खाँ की नृशंसता को भी लज्जित कर दिया। उसने शीघ्र ही इलाहाबाद पर अधिकार कर लिया और फिर नगर की निरीह जनता का हत्याकाण्ड आरम्भ हुआ। उसकी बर्बरता से नगर की नारियाँ एवं बालक भी न बच सके। अनगिनती महिलाएँ अपमानित की गईं, बच्चे गोली के शिकार हुए और पुरुष पेड़ों पर लटका-लटका कर मार डाले गये। इलाहाबाद चौक में कोतवाली के समक्ष तीन नीम के पेड़ इस पाशविक काण्ड के मूक साक्षी हैं।

तत्पश्चात् कानपुर का युद्ध आरम्भ हुआ। दिल्ली-विजय के पश्चात् ही नाना साहब ने कानपुर पर अपना अधिकार कर लिया था और अँगरेजी सेनापति ह्वीलर को किले में घेर लिया था। रक्षा का कोई उपाय न देखकर ह्वीलर ने आत्म-समर्पण कर दिया। नाना साहब ने समस्त अँगरेजों को सुरक्षित रूप से नावों द्वारा इलाहाबाद भेज देने का वचन दिया। समस्त अँगरेज प्रस्थान के लिए सतीचौक घाट पर एकत्रित हुए। परन्तु उसी समय क्रुद्ध भारतीय जनता ने उन पर आक्रमण कर दिया और अधिकांश को मार डाला। पर यह घटना पूर्व-

नियोजित न थी। नाना साहब को इसका बिलकुल ज्ञान न था। उसे जब सूचना मिली तो उसने तुरन्त हत्याकाण्ड बन्द कराया और १२५ अँगरेज महिलाओं को सम्मानपूर्वक नजरबन्द कर लिया। हत्याकाण्ड का मुख्य कारण नील की क्रूरता का समाचार था। भारतीय जनता उसके काले कारनामों को सुनकर क्रोध से उबल पड़ी। ऐसी स्थिति में उसमें प्रतिकार की भावना होना स्वाभाविक ही था।

झाँसी में विद्रोहियों का नेतृत्व वहाँ की रानी लक्ष्मीबाई कर रही थी। सन् १८५४ में डलहौजी ने झाँसी को अपने अधिकार में कर लिया था। तभी से लक्ष्मीबाई अँगरेजों की कट्टर शत्रु हो गई थी। वह एक वीर महिला थी। विद्रोह आरम्भ होते ही उसने झाँसी पर अपना अधिकार कर लिया और अपने पुत्र दामोदर को गद्दी पर बैठाकर उसके संरक्षक के रूप में राज्य करने लगी।

अन्य स्थानों की भाँति अवध में भी क्रान्तिकारियों को प्रारम्भिक सफलता मिली। विद्रोह आरम्भ होते ही भारतीयों ने दस दिन के भीतर ही लखनऊ रेजीडेन्सी को छोड़कर समस्त अवध पर अपना अधिकार जमा लिया। सर्वत्र नवाब का शासन स्थापित हो गया। अँगरेज सेनापति हेनरी लारेंस अपनी सेना के साथ रेजीडेन्सी में घिर गया।

पर क्रान्तिकारियों की सफलता चिरस्थायी न हो सकी। अँगरेजों ने अपने श्रेष्ठ साधनों की सहायता से उनका दमन करना आरम्भ किया। यद्यपि भारतीय सैनिकों ने अदम्य साहस और वीरता का परिचय दिया, परन्तु संगठन और साधन के अभाव में वे असफल रहे। फिर भी उन्होंने प्रतिइंच भूमि की रक्षा में अपना रक्त पानी की भाँति बहाया और मातृभूमि की स्वतन्त्रता के प्रथम संग्राम को चिरस्मरणीय कर दिया।

कानपुर—ऊपर बताया जा चुका है कि नाना साहब ने कानपुर को अपने अधिकार में कर लिया था और अनेक अँगरेज स्त्री-बच्चों को बन्दी बना लिया था। कानपुर पर अधिकार करने के लिए हैवलाक और नील की सेनाएँ आगे बढ़ीं। उन्होंने नाना साहब की सेनाओं को हराकर फतेहपुर पर अपना अधिकार कर लिया और उस पर नृशंस अत्याचार किये। इस बर्बरता का समाचार पाकर कानपुर के भारतीय सैनिक उत्तेजित हो उठे और उन्होंने बीबीगढ़ में नजरबन्द सब अँगरेज स्त्रियों और बच्चों को मार डाला तथा उनके शव को एक कुएँ में फेंक दिया। परन्तु नाना साहब की सेनाएँ अँगरेजों की प्रगति को न रोक सकीं। वे पराजित हुई और कानपुर पर पुनः अँगरेजों का अधिकार हो गया।

लखनऊ—सर हेनरी लारेंस ने रेजीडेंसी की रक्षा की किन्तु वह मारा गया। हैवलाक जनरल आउट्रम के साथ बड़ी द्रुतगति से लखनऊ की ओर रवाना

हुआ और नगर में प्रवेश करने के पहले तीन और लड़ाइयों में उसने विद्रोहियों को हराया। नवम्बर में सर कोलिन कैम्पवेल (Colin Campbell) की अध्यक्षता में कुछ सैनिक सहायता के लिए आये किन्तु निरन्तर युद्ध करने के कारण थककर हैवलाक मर गया। लखनऊ को आउट्रम के सुपुर्द कर कैम्पवेल कानपुर लौट गया।

मध्यभारत—बुन्देलखण्ड तथा मध्यभारत में विप्लव का दमन करना एक कठिन काम था। सर ह्यू रोज (Hugh Rose) ने झाँसी को घेर लिया और एक सेना को, जिसका नेता ताँतिया टोपे था, पराजित कर किले पर कब्जा कर लिया। झाँसी की वीर रानी लक्ष्मीबाई और ताँतिया टोपे ने ग्वालियर पर आक्रमण किया और सिन्धिया को खदेड़कर आगरे में शरण लेने को बाध्य किया। ग्वालियर पर विद्रोहियों का कब्जा हो गया और नाना पेशवा घोषित किया गया। सिन्धिया के मंत्री दिनकरराव ने उसे विद्रोहियों के दल में शरीक होने से बचा लिया। सर ह्यू रोज ग्वालियर की ओर बढ़ा और उसने विद्रोहियों को दो लड़ाइयों में पराजित किया। वीर रानी पुरुष के वेष में अन्त तक लड़ती हुई मारी गई। उसके वीरतापूर्ण सैनिक-आचरण को देखकर सर ह्यू रोज ने भी उसकी प्रशंसा की। उसने विद्रोही नेताओं में उसे सबसे अधिक योग्य तथा बहादुर बतलाया। ताँतिया टोपे कुछ समय तक मालवा, बुन्देलखण्ड तथा राजपूताना में घूमता रहा किन्तु अन्त में (अप्रैल १८५९ ई० में) ग्वालियर के एक जागीरदार ने धोखा देकर उसे अँगरेजों के हाथ में सौंप दिया। उसे फाँसी का दंड दिया गया।

लार्ड कैनिंग की बुद्धिमत्तापूर्ण नीति—विप्लव का दमन बड़ी निर्दयता से किया गया। हजारों आदमी मारे गये। बहुतों को फाँसी हुई। गाँव के गाँव तोप से उड़ा दिये गये। आज भी इन भीषण हत्याकाण्डों का वृत्तान्त पढ़कर रोमांच हो जाता है। बदला लेने के लिए योरोपीय लोग चारों ओर आन्दोलन कर रहे थे। किन्तु लार्ड कैनिंग ने बड़ी शान्ति से काम लिया। उसने ऐसी नीति का अनुसरण किया जो न्याय-संगत तथा दयापूर्ण थी। उसके विरोधी उसे क्लीमेन्सी कैनिंग (Clemency Canning) अथवा दयावान् कैनिंग कहा करते थे, परन्तु वह हिन्दुस्तानियों के प्रति बराबर विश्वास दिखाता रहा। उसने अपने विरोधियों से साफ-साफ कह दिया कि मैं ऐसी नीति का अवलम्बन नहीं कर सकता जो निर्दोष और अपराधी में कुछ भेद न करे और जो प्रत्येक हिन्दू तथा मुसलमान के सिर पर विद्रोह का अपराध मढ़े।

विप्लव की विफलता—विप्लव यद्यपि दूर-दूर तक फैल गया था किन्तु वह देशव्यापक नहीं था। उत्तर-पश्चिम में अफगान लोग शान्त रहे और सिक्खों तथा गोरखों ने अँगरेजों की सहायता की। विप्लव की असफलता का प्रधान

कारण यह है कि विद्रोही लोग संगठित नहीं थे और झाँसी की रानी के अतिरिक्त उनमें कोई योग्य नेता नहीं था। उनका उद्देश्य भी एक नहीं था। मुसलमान मुगल-साम्राज्य को पुनर्जीवित करने की चेष्टा में लगे थे और हिन्दू लोग नाना की अध्यक्षता में अपना आधिपत्य स्थापित करना चाहते थे। भारतीय राजा लोग अँगरेजों के पक्ष में थे। सिन्धिया, होल्कर, निजाम तथा राजपूत नरेश सभी ने विद्रोह के दमन में अँगरेजों को सहायता पहुँचाई। इसके विपरीत अँगरेज अफसर, जिन्होंने विद्रोह के दमन में भाग लिया था, योग्य तथा अनुभवी व्यक्ति थे। लार्ड कैनिंग की क्षमा और धैर्य की नीति ने अँगरेजों को सबसे अधिक सहायता पहुँचाई। इस नीति का जनता पर अच्छा प्रभाव पड़ा और देश में शान्ति स्थापित करने का कार्य सरल हो गया।

कम्पनी का अन्त—इस क्रान्ति ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी का अन्त कर दिया। उसे फिर नया आज्ञापत्र नहीं दिया गया और भारत का शासन उससे ले लिया गया। सन् १८५८ ई० में एक कानून (Act for the Better Government of India) पास हुआ जिसके अनुसार भारत का शासन इँगलैंड के राजछत्र (Crown) के अधीन कर दिया गया। बोर्ड आफ कन्ट्रोल तोड़ दिया गया। उसके स्थान पर एक 'भारत-सचिव' (Secretary of State for India) नियुक्त किया गया जिसकी सहायता के लिए १५ सदस्यों की एक कौंसिल बना दी गई जो 'इण्डिया कौंसिल' के नाम से प्रसिद्ध है। गवर्नर-जनरल भारत का वाइसराय बना दिया गया।

विक्टोरिया का घोषणा-पत्र—जनता को आश्वासन देने के लिए लार्ड कैनिंग ने इलाहाबाद में पहली नवम्बर सन् १८५८ ई० को एक दरबार किया और महारानी विक्टोरिया का प्रसिद्ध घोषणा-पत्र पढ़ा। घोषणा-पत्र-द्वारा महारानी ने विश्वास दिलाया कि कम्पनी और देशी नरेशों के बीच जो सन्धियाँ और प्रतिज्ञाएँ हुई हैं उनका पालन किया जायगा। देशी नरेशों को गोद लेने का अधिकार भी दे दिया गया। सरकारी नौकरियों का द्वार सबके लिए खोल दिया गया। जातिवर्ण अथवा धर्म का कुछ भी भेद-भाव इस सम्बन्ध में नहीं रक्खा गया। यह भी वचन दिया गया कि धार्मिक विषयों में सरकार किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करेगी। उन सब लोगों को क्षमा-प्रदान की गई जो अँगरेजों की हत्या करने में सम्मिलित नहीं थे।

भारतीय समाज और संस्कृति

सामाजिक स्थिति—भारत के इतिहास में १८५८ का साल एक युग का अन्त करता है। मुगल-साम्राज्य के पतन और यूरोपीय लोगों के आगमन के कारण भारतीय समाज में एक महान् परिवर्तन हो गया था। राजनीतिक अधिकार

हाथ से निकल जाने से मुसलमानों की शक्ति घट गई थी। मुगल-साम्राज्य के नष्ट होने के बाद जो राज्य प्रादुर्भूत हुए उनमें से अधिकांश में कोई शासन-सम्बन्धी अथवा आर्थिक सुधार नहीं किया गया। दीर्घ काल तक सारे देश में गड़बड़ी मची रही और लोगों को पिण्डारी, लुटेरों तथा ठगों से उतनी ही मुसीबत उठानी पड़ी जितनी कि शक्तिहीन शासकों से। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के डाइरेक्टरों को मुख्यतया अपने व्यापारिक लाभ की चिन्ता रहती थी। शिक्षा अथवा सामाजिक उन्नति की ओर उन्होंने कुछ भी ध्यान नहीं दिया। भारत के उच्च श्रेणी के लोगों की उपाधियाँ और जमीनें छीन ली गईं। उनमें से बहुत-सी देशी राज्यों में नौकरी करने लगे और बहुत-से निर्धनता और असन्तोष का जीवन व्यतीत करने के लिए विवश हो गये। भूमि के बन्दोबस्त से उनको बड़ी हानि उठानी पड़ी। दीवानी अदालतों ने जमींदारों और ताल्लुकदारों के हितों पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया। अदालती फैसलों ने प्राचीन भूस्वामियों को किसान बना दिया।

हिन्दुओं में जात-पाँत के भेद-भाव का प्राबल्य था। उच्च जाति के लोगों को सती, शिशु-हत्या तथा बाल-विवाह में कोई बुराई नहीं देख पड़ती थी। समाज की प्रत्येक श्रेणी में ब्राह्मण-धर्म का प्रभाव था। समुद्र-यात्रा को अब भी लोग बुरा समझते थे। पाश्चात्य साहित्य और विज्ञान के विषय में बहुत-से लोग कुछ जानते ही नहीं थे। यहाँ तक कि १८५६ ई० में भी सार्वजनिक शिक्षा की योजना को लोगों ने हिन्दुस्तानियों को ईसाई बनाने का एक साधन समझा था। नई शिक्षा ने मुसलमान मुल्लाओं के हृदय में भी सन्देह उत्पन्न कर दिया और उन्होंने उन्नति के मार्ग में बड़ी बाधा पहुँचाई।

आर्थिक स्थिति—ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन-काल में लोगों की आर्थिक दशा में कुछ उन्नति नहीं हुई। समुचित आश्रय और संरक्षकता के अभाव से कला और कारीगरी की अवनति हो गई। अधिक महसूल लगाकर रेशम के माल और सूती तथा रेशमी कपड़े विदेशी बाजारों में जाने से रोक दिये गये। जो लोग स्वतन्त्रतापूर्वक इस प्रकार के माल तैयार करते थे उनका कारबार धीरे-धीरे बन्द हो गया। अकाल अनेक बार पड़े और यद्यपि सरकार ने दुर्भिक्ष-पीड़ितों को सहायता पहुँचाने की चेष्टा की तो भी लोगों को बहुत मुसीबत उठानी पड़ी। हर साल एक बड़ी रकम सूद तथा डिविडेंट चुकाने के लिए कम्पनी के डाइरेक्टरों के पास भेजी जाती थी। साधारण लोगों के जीवन-निर्वाह का खर्च अधिक न था। टामस मनरो का कथन है कि उसके समय में खेत में काम करनेवाले मजदूरों की मजदूरी प्रतिमास ४ और ६ शिलिंग के बीच में थी और उनका सालाना खर्च १८ से २७ शिलिंग तक था। लार्ड डलहौजी के

सुधारों से अँगरेज पूँजीपतियों को ही विशेष लाभ हुआ। उनसे भारत की आर्थिक स्थिति में कुछ भी सुधार न हुआ।

कला और साहित्य—मुगल-साम्राज्य के पतन से ललित कलाओं की उन्नति में भारी व्याघात पहुँचा। कारीगरों ने प्रान्तीय दरबारों में जाकर शरण ली और वहाँ उन्हें आश्रय मिला। भारतीय शिल्पकार तथा कारीगर अपने हिन्दू मालिकों के लिए घाट और मन्दिर बनाने में लग गये और उन्होंने अपने धार्मिक भावों को ईंटों और पत्थरों-द्वारा अभिव्यक्त किया। ब्रिटिश सरकार का सार्वजनिक कार्य-विभाग (Public Works Department) ऐसी इमारतें नहीं बनवा सका जिन्हें हम कला-कौशल के उत्तम नमूने कह सकें। चित्रकारी की भी अवनति हो गई। दिल्ली के दरबारी चित्रकार हैदराबाद और अवध को चले गये और उनमें से अनेक बंगाल और बिहार में बस गये। राजपूत अथवा हिन्दू चित्रकारों ने या तो हिन्दुओं के धर्म-ग्रन्थों से अच्छे-अच्छे दृश्य लेकर चित्रित किये अथवा सर्वसाधारण के जीवन का चित्र खींचा। उनका प्रधान केन्द्र जयपुर था। काँगड़ा में चित्रकारों का अलग एक नया दल (School) पैदा हुआ जिसे पहाड़ी दल कहते हैं। टेहरी तथा मध्यभारत के राज्यों में उसका अधिक प्रभाव था। सिक्खों के दरबार में भी अनेक चित्रकार थे। उनमें सबसे प्रसिद्ध कपूरसिंह था। जब पंजाब अँगरेजी राज्य में मिला लिया गया तब उनका रोजगार जाता रहा और कला का शीघ्रता के साथ ह्रास हो गया।

दक्षिण में हैदराबाद तथा तंजौर के दरबारों में चित्रकला ने खूब उन्नति की। तंजौर के चित्रकार लकड़ी तथा हाथीदाँत पर बहुत सुन्दर खुदाई करते थे।

अन्य ललित कलाओं की भाँति संगीत को भी हिन्दू राजाओं के यहाँ प्रश्रय मिला। संगीत-विद्या पर अनेक ग्रन्थ रचे गये और सर विलियम जोन्स (Sir William Jones) जैसे यूरोपीय लोगों ने भी भारतीय गाने की बड़ी प्रशंसा की।

अठारहवीं शताब्दी में विद्या और साहित्य की भी अवनति हुई। १८५७ ई० के पहले भारत में विश्वविद्यालयों की स्थापना नहीं हुई थी और अँगरेजी शिक्षा अभी अपनी प्रारम्भिक अवस्था में थी। हैदराबाद, लखनऊ, मुर्शिदाबाद, दिल्ली तथा जौनपुर आदि स्थानों में फारसी भाषा का पठन-पाठन अब तक होता था और राज्य का कारबार सब फारसी भाषा में ही किया जाता था। कुछ ग्रन्थ हिन्दी में लिखे गये। इस सम्बन्ध में सीरामपुर के पादरियों ने ही पहले-पहल प्रयास किया। फोर्ट विलियम कालेज में हिन्दी भाषा को गिलक्राइस्ट (Gilchrist) से प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। लल्लूजीलाल का 'प्रेमसागर' उसी प्रोत्साहन का परिणाम है।

उत्तरकालीन मुगल-सम्राटों की संरक्षकता में उर्दू-कविता ने बड़ी उन्नति

की। ख्वाजा मीर दर्द, मीर हसन, सौदा तथा मीर उस समय के बहुत प्रसिद्ध कवि थे। अन्तिम मुगल-सम्राट् बहादुरशाह द्वितीय स्वयं एक अच्छा कवि था। वह 'जफर' के नाम से कविता करता था। अवध के नवाबों को भी उर्दू-कविता से बड़ा प्रेम था। अन्तिम नवाब वाजिदअली शाह बड़ा अच्छा कवि था। शीराज के कवि सादी की भाँति आगरा-निवासी नासिर भी नीति की शिक्षा देता था। उसकी कविताओं में शान्ति और कल्याण के भाव भरे हुए हैं। दिल्ली का कवि-समुदाय १९वीं शताब्दी में फिर से पुनर्जीवित हुआ। गालिब और जौक ने अपनी सुन्दर कविताओं से सारे संसार को मुग्ध कर दिया। गालिब फारसी तथा उर्दू दोनों में उच्च कोटि की कविता करता था और जौक ने कसीदों और गजलों की रचना में कमाल हासिल किया था। उर्दू-गद्य-रचना का सर्व-प्रथम प्रयास फोर्ट विलियम कालेज में किया गया। परन्तु सन् १८३५ ई० से तो—जब कि उर्दू अदालतों की भाषा बन गई—उसकी उन्नति बड़ी द्रुत गति से हुई।

अध्याय ३७

भारत का नया शासन-प्रबन्ध

(१) शासन की नई व्यवस्था

विधान में परिवर्तन—विद्रोह के पश्चात् भारत का शासन-प्रबन्ध ब्रिटिश राजछत्र के अधीन कर दिया गया। जैसा पहले कहा जा चुका है, 'कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स' की जगह पर १५ मेम्बरों की एक कौंसिल (इण्डिया कौंसिल) नियुक्त की गई। इनमें से ८ सदस्यों की नियुक्ति का अधिकार इँगलैंड के राजा के हाथ में रहा और बाकी ७ को डाइरेक्टर लोग निर्वाचित करने लगे। कौंसिल के सदस्यों के कार्य-काल की कोई अवधि नहीं बाँधी गई। यह नियम बना दिया गया कि जब तक वे ठीक काम करेंगे तब तक अपने पद पर बने रहेंगे। उनको हटाने के लिए यह आवश्यक था कि पार्लियामेंट की दोनों सभाएँ एक प्रार्थना-पत्र उपस्थित करें। यह कौंसिल केवल उन्हीं मामलों में अपनी राय दे सकती थी जिन्हें भारत-सचिव (सेक्रेटरी आफ स्टेट) उसके सामने पेश करता। भारत-सचिव उस कौंसिल का सभापति था और उसे अधिकार था कि वह कौंसिल के फैसले को रद्द कर दे। भारत के आन्तरिक शासन-प्रबन्ध में भी एक परिवर्तन किया गया। सन् १८६१ ई० के इण्डियन कौंसिल ऐक्ट-द्वारा गवर्नर-जनरल

की कौंसिल के साधारण सदस्यों की संख्या पाँच कर दी गई और यह नियम कर दिया गया कि उनमें (१) कम-से-कम तीन ऐसे हों जो भारत में नौकरी कर चुके हों, (२) एक बैरिस्टर हो अथवा स्काटलैंड की 'फैकल्टी आफ एडवोकेट्स' का सदस्य हो; और (३) एक आर्थिक मामलों का विशेषज्ञ (अर्थ-विशेषज्ञ) हो। प्रधान सेनापति कौंसिल का एक असाधारण सदस्य बना दिया गया। गवर्नर-जनरल को यह अधिकार दिया गया कि वह ऐसे नियम बनावे जिससे कि कौंसिल की कार्यवाही सुविधा के साथ हो सके। इसके अतिरिक्त कौंसिल का सारा काम अलग अलग विभागों में विभक्त कर दिया गया और प्रत्येक विभाग एक-एक सदस्य के सुपुर्द कर दिया गया। ये सदस्य अपने-अपने विभाग के कार्य के लिए गवर्नर-जनरल के प्रति उत्तरदायी थे। इस व्यवस्था की बदौलत कौंसिल के लिए यह सम्भव हो गया कि वह अपना काम योग्यता और तत्परता के साथ करे। कौंसिल के सदस्य सरकारी कर्मचारी थे और वे भारतीय जनता के प्रति नहीं बल्कि पार्लियामेंट के प्रति उत्तरदायी थे।

कानून बनाने के अभिप्राय से गवर्नर-जनरल को अतिरिक्त सदस्य (additional member) नियुक्त करने का अधिकार दिया गया। ऐसे सदस्य की संख्या ६ से कम और १२ से अधिक नहीं हो सकती थी। इनमें से कम से कम आधे सदस्यों का गैर-सरकारी होना आवश्यक था। विद्रोह के बाद तुरन्त ही कानून बनाने के काम में सहायता देने के लिए व्यवस्थापिका सभा में कतिपय भारतीय सदस्य भी मनोनीत किये गये। ये सदस्य पटियाला के महाराज, बनारस के राजा तथा ग्वालियर के प्रसिद्ध मंत्री सर दिनकरराव थे।

बम्बई, मद्रास तथा बंगाल की कौंसिलों को कानून बनाने का अधिकार—जो सन् १८३३ ई० में छीन लिया गया था—फिर से दिया गया। बाद में अन्य प्रान्तों को भी यह अधिकार प्रदान किया गया।

आर्थिक सुधार—विद्रोह के कारण देश की आर्थिक दशा अव्यवस्थित हो गई थी। सन् १८५९ ई० में जेम्स विल्सन (James Wilson) नामक एक अर्थशास्त्रवेत्ता तथा अर्थ-विशेषज्ञ आर्थिक सुधार करने के लिए इंगलैंड से आया। उसने बजट बनाने की प्रथा प्रचलित की और तीन नये कर लगाने का प्रस्ताव किया। (१) ५०० रुपये से अधिक आय पर आय-कर अर्थात् इनकम-टैक्स, (२) व्यापार और व्यवसाय (पेशे) पर एक लाइसेंस-कर और (३) एक कर भारत में उत्पन्न होनेवाली तम्बाकू पर। विदेश से आनेवाली अधिकांश वस्तुओं पर १० प्रतिशत का एक साधारण कर और देश के बाहर भेजी जानेवाली अनेक वस्तुओं पर ४ प्रतिशत का टैक्स नियत किया गया। नमक का महसूल बढ़ा दिया गया और फौजी तथा दीवानी दोनों महकमों में खर्च घटाने का प्रस्ताव किया गया। आठ महीने के बाद विल्सन की मृत्यु हो गई, किन्तु नये अर्थ-सचिव

सैम्युएल लैंग (Samuel Lang) ने उसके काम को जारी रक्खा। उसने फौज का खर्च घटा दिया और वजट में वचत दिखलाई।

सैनिक सुधार—१८६१ ई० में ब्रिटिश सैनिकों की संख्या घटाकर ७६,००० और भारतीय सैनिकों की १,२०,००० कर दी गई। भारतीय सेना तोड़ दी गई और उसके अफसरों को पेंशन दे दी गई। नाविकों में से कुछ को वरखास्त कर दिया गया और कुछ को राजकीय नाविक सेना (Royal navy) में भर्ती कर लिया गया।

शिक्षा—सन् १८५७ ई० में लंदन-विश्वविद्यालय के आदर्श पर कलकत्ता, बम्वई और मद्रास के विश्वविद्यालयों की स्थापना की गई। प्रारम्भिक, माध्यमिक तथा शिल्प-सम्वन्धी शिक्षा को अग्रसर करने के लिए प्रयत्न किये गये। भारतीय लोगों ने अनेक समाचार-पत्र निकाले और बड़ी योग्यता के साथ उनका संचालन किया। पुस्तकों की माँग बढ़ गई। सन् १८५७ ई० में केवल कलकत्ता में ३०० पुस्तकें विक्री के लिए आईं।

अदालतों का सुधार—सन् १८६१ ई० में इंडियन हाईकोर्ट ऐक्ट पास हुआ। पुराना सुप्रीम कोर्ट तथा सदर अदालत तोड़ दी गई। कलकत्ता, वम्वई तथा मद्रास में हाईकोर्ट स्थापित किये गये। १८६६ ई० में एक हाईकोर्ट इलाहावाद में स्थापित किया गया। जजों की नियुक्ति ब्रिटिश सम्राट् करता था और जब तक वह चाहता था तव तक वे अपने पद पर रह सकते थे।

कानूनों का संशोधन किया गया। सर वार्नेस पीकौक (Sir Barnes Peacock) द्वारा संशोधित भारतीय दंड-विधान (Indian Penal Code) का मसविदा सन् १८६० ई० में पास किया गया। एक साल वाद जाब्ता फौजदारी (Criminal Procedure Code) जारी किया गया। इनका उपयोग कलकत्ता, बम्वई तथा मद्रास की अदालतों के अतिरिक्त अन्य सब अदालतों में होता था। जाब्ता दीवानी (Code of Civil Procedure) भी पास किया गया और सन् १८६२ ई० में उसका उपयोग हाईकोर्टों में होने लगा।

बंगाल का काश्तकारी कानून—बंगाल के इस्तमरारी वन्दोवस्त से जमींदारों का फायदा हुआ, लेकिन किसानों के लिए वह हानिकारक सिद्ध हुआ। किसानों को वेदखल किया जा सकता था और बिना किसी उचित कारण के उनका लगान वढ़ाया जा सकता था। सन् १८५९ ई० में वंगाल का लगान-सम्वन्धी कानून पास हुआ। इसके अनुसार वे किसान जिन्हें किसी खेत को जोतते हुए बारह वर्ष से अधिक हो गये थे मौरूसी काश्तकार करार दिये गये। उनका लगान केवल उन्हीं शर्तों के अनुसार वढ़ाया जा सकता था जो उस कानून में दर्ज थीं। इस प्रकार काश्तकारों को कुछ आराम मिला, लेकिन मुकदमेवाजी वढ़ गई और उनका वहुत-सा रुपया उसमें खराव होने लगा।

सार्वजनिक हित के कार्य—सन् १८६२ ई० में इलाहाबाद तक ईस्ट इंडियन रेलवे की गाड़ी खुल गई और जी० आई० पी० रेलवे पर बम्बई से ४०० मील की दूरी तक ट्रेनें दौड़ने लगीं। ग्रांडट्रंक रोड कलकत्ता से पेशावर तक बनकर तैयार हो गई। देश के विभिन्न भागों में सैकड़ों मील तक पक्की सड़कें बनवाई गईं। नहरें भी खोदी गईं। जंगलों को आग और बरबादी से बचाने का प्रबन्ध किया गया। चाय, नील और सिनकोना की खेती को प्रोत्साहन दिया गया।

म्युनिसिपैलिटी का शासन-प्रबन्ध अब भी बहुत असन्तोषप्रद था। सबसे बड़े नगरों में भी नियमित रूप से मीठा पानी पहुँचाने का प्रबन्ध नहीं था। कलकत्ते के कुछ भागों में सड़कों पर पानी का छिड़काव भिश्तियों-द्वारा होता था। लोग परोपकार की दृष्टि से तालाब, मन्दिर अथवा कुआँ बनवाने के निमित्त, धन देने के लिए तैयार रहते थे।

लार्ड कैनिंग का इस्तीफा—सन् १८६१ ई० के नवम्बर में लार्ड कैनिंग की स्त्री का देहान्त हो गया इसलिए उसे शीघ्र भारत छोड़ना पड़ा। अपने कार्य-काल में उसे बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था। लेकिन वह इन कठिनाइयों के बाहर बेदाग निकल आया था। उसने बड़ी दृढ़ता, बुद्धिमानी और धैर्य के साथ एक भीषण परिस्थिति को अपने काबू में किया। अपने यूरोपीय विरोधियों के—जो बदला लेने के लिए तैयार थे—निन्दापूर्ण शब्दों पर वह कभी क्रुद्ध नहीं हुआ। कभी किसी ने उसकी निष्कपटता, कर्त्तव्यपरायणता और न्याय-शीलता पर सन्देह नहीं किया है। उसकी दयालुता ने, जिसकी उस समय इतनी निन्दा की गई थी, भारतीय साम्राज्य को नष्ट होने से बचा लिया। उसके शासन-सुधारों ने उसके उत्तराधिकारियों के मार्ग को प्रशस्त कर दिया। उसके पश्चात् लार्ड एलगिन (Lord Elgin) वायसराय हुआ जो अपनी नियुक्ति के एक साल बाद ही पंजाब में, धर्मशाला नामक स्थान पर, मर गया।

संक्षिप्त सन्वार विवरण

कलकत्ता, बम्बई और मद्रास-विश्वविद्यालयों की स्थापना ..	१८५७ ई०
बंगाल का लगान-सम्बन्धी कानून	१८५९ „
इंडियन हाईकोर्ट ऐक्ट	१८६१ „
कैनिंग की धर्मपत्नी का देहान्त	१८६१ „
इलाहाबाद में हाईकोर्ट की स्थापना	१८६६ „

(२) सीमा-प्रान्तीय समस्याएं—अफगानिस्तान और ब्रह्मा
(सन् १८६२-९९ ई०)

दोस्तमुहम्मद की मृत्यु के बाद अफगानिस्तान की दशा—प्रथम अफगान-युद्ध के बाद दोस्तमुहम्मद अमीर मान लिया गया। गदर के समय तक उसके और

ब्रिटिश सरकार के बीच मैत्री का सम्बन्ध स्थापित रहा। सन् १८३३ ई० में दोस्त-मुहम्मद ८० वर्ष की अवस्था में मर गया। उसने अपने लड़के शेरअली को अपना उत्तराधिकारी मनोनीत किया था किन्तु उसके सोलह लड़कों में से बारह गद्दी के लिए लड़ने-झगड़ने लगे। लार्ड लारेंस (Lord Lawrence) सन् १८६४ ई० में वायसराय नियुक्त हुआ। उसने 'महान् अकर्मण्यता' (masterly inactivity), की नीति का अवलम्बन किया और अफगानिस्तान के झगड़े में कुछ भी हस्तक्षेप नहीं किया। जब अफगान-राजकुमारों ने सहायता माँगी तब उसने उत्तर दिया कि जो कावुल की गद्दी पर अपना अधिकार जमा लेगा उसी को ब्रिटिश सरकार अमीर स्वीकार करेगी। इस उत्तर से शेरअली को यह शंका हुई कि अँगरेजों को केवल अपने स्वार्थ का ख्याल रहता है। शेरअली और उसके भाइयों में आपस में बहुत दिनों तक युद्ध हुआ। अन्त में शेरअली की जीत हुई। उसने अपने प्रतिद्वन्द्वियों में से कुछ को मार डाला और बाकी को देश से बाहर खदेड़ दिया। इस प्रकार वह सन् १८६८ ई० में अफगानिस्तान का अमीर बन गया।

इसी बीच में रूसी लोग अफगानिस्तान की उत्तरी सीमा की ओर बढ़े चले आ रहे थे। उन्होंने बुखारा को जीत लिया और एक साल बाद उसे तुर्किस्तान का सूबा बना दिया। सन् १८६८ ई० में उन्होंने समरकन्द को ले लिया और उस पर अपना अधिकार जमा लिया। वे अफगानिस्तान के निकट बढ़े आ रहे थे। वे चाहते थे कि तुर्किस्तान में हम अपनी सैनिक-स्थिति को इतना दृढ़ बना लें कि जिससे भारत के मामलों में हस्तक्षेप करने की धमकी देकर इँगलैंड को भयभीत कर सकें। लारेंस को मालूम हो गया कि मेरी नीति यथेष्ट नहीं है किन्तु तो भी वह चुप मारकर बैठा रहा।

उसके उत्तराधिकारी लार्ड मेयो (Lord Mayo सन् १८६९-७२ ई०) ने सन् १८६९ ई० में शेरअली से अम्बाला में भेंट की। वायसराय के व्यक्तिगत शिष्टाचार और सहानुभूति का उस पर बड़ा प्रभाव पड़ा। उसने एक निश्चित नीति बर्तने, प्रतिवर्ष आर्थिक सहायता देने तथा धन और जन से मदद करने की प्रार्थना की और कहा कि मेरे सबसे बड़े लड़के याकूब खाँ के बदले मेरा लड़का अब्दुल्लाजान मेरा उत्तराधिकारी माना जाय। लार्ड मेयो ने उसके पास एक पत्र भेजा जिसमें उसने सहायता देने का वादा किया और कहा कि यदि उसे गद्दी से उतारने का प्रयत्न किया जायगा तो ब्रिटिश सरकार बड़ी अप्रसन्नता प्रकट करेगी। सन् १८७३ ई० में जब रूस ने आमू नदी के पास के छोटे राज्यों को मिटा दिया। तब अमीर ने ब्रिटिश सरकार के साथ मित्रता करने के लिए फिर प्रयत्न किया। उसने लार्ड नार्थब्रुक (Lord Northbrook) सन् १८७३-७६ ई०) के पास जो लार्ड मेयो का उत्तराधिकारी था एक राजदूत भेजा और

सहायता माँगी। किन्तु गवर्नर-जनरल ने याकूब खाँ के बदले अब्दुल्लाजान को पसन्द करने के लिए उसे बुरा-भला कहकर बहुत नाराज कर दिया। शेरअली ने रूस से सहायता माँगी। इँगलैंड की सरकार ने लार्ड नार्थब्रुक को सलाह दी कि अमीर से अपने देश में एक अँगरेज रेजीडेंट रखने के लिए कहा जाय। लार्ड ब्रुक इस विचार से सहमत नहीं हुआ। उसने उत्तर दिया कि शेरअली इस प्रकार के प्रस्ताव का घोर विरोध करेगा। किन्तु परराष्ट्रसचिव (Foreign Secretary) लार्ड सैलिसबरी (Lord Salisbury) अपनी बात पर डटा रहा। वायसराय ने सन् १८७६ ई० में अपने पद से इस्तीफा दे दिया। भारत से विदा होने के पहले उसने लार्ड सैलिसबरी से कह दिया कि तुम्हारी नीति का परिणाम निस्सन्देह अफगानिस्तान के साथ युद्ध करना होगा।

उसके बाद लार्ड लिटन (Lard Lytton सन् १८७६-८० ई०) वायसराय होकर आया। वह 'आगे बढ़ने की नीति' (Forward Policy) का समर्थक था। उसने शेरअली से एक मिशन स्वीकार करने के लिए कहा, लेकिन उसने मंजूर नहीं किया। सन् १८७६ ई० में रूस और टर्की के बीच यूरोप में युद्ध छिड़ गया। इँगलैंड ने तुर्कों के मामले में हस्तक्षेप करने से रूस को रोकने की चेष्टा की। रूसी लोगों ने जबर्दस्ती अपना एक राजदूत अमीर के यहाँ भेज दिया और उसे सन्धि करने के लिए विवश किया। लार्ड लिटन ने अमीर पर फिर जोर डाला कि वह एक अँगरेज रेजीडेंट अपने यहाँ रक्खे। किन्तु जिस दिन उसका यह पत्र काबुल पहुँचा उसी दिन अब्दुल्लाजान की मृत्यु हो चुकी थी। अतः लार्ड लिटन को कोई उत्तर नहीं मिला। बर्लिन की संधि (सन् १८७८ ई०) से यूरोप का युद्ध समाप्त हो गया। किन्तु वायसराय ने अपने इस विचार को नहीं छोड़ा कि काबुल में अँगरेजों का प्रभाव स्थापित किया जाय।

नैविल चेम्बरलेन (Neville Chamberlain) राजदूत बनाकर पेशावर में भेजा गया किन्तु उसे खैबर के दर्रे में प्रवेश करने की आज्ञा नहीं मिली। लार्ड लिटन ने इसमें अपना बड़ा अपमान समझा और २१ नवम्बर सन् १८७८ ई० को युद्ध की घोषणा कर दी।

अफगानों की दूसरी लड़ाई—अँगरेजों की फौजें अफगानिस्तान के तीन बड़े दर्रों से घुस पड़ीं। सर सैम्युएल ब्राउन (Samuel Browne) खैबर से तथा राबर्ट्स (Roberts) कुर्रम की घाटी से होकर चले और स्टूअर्ट (Stewart) ने क्वेटा से बोलान के दर्रे में होकर कन्दहार पर धावा किया। अफगानों ने उनका विरोध नहीं किया। शेरअली रूसी तुर्किस्तान की ओर भाग गया। वहाँ उसने रूस से सहायता माँगी किन्तु उसका कुछ फल न हुआ और वह फरवरी सन् १८७९ ई० में मजर शरीफ में मर गया।
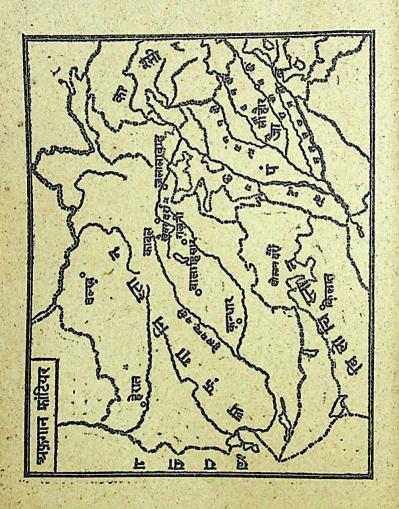
मई के महीने में गंडमक नामक स्थान पर शेरअली के बेटे याकूब खाँ के साथ एक संधि हो गई। इस संधि के अनुसार वह अमीर स्वीकार किया गया। याकूब खाँ इस पर राजी हो गया कि ब्रिटिश सरकार उसकी विदेशी नीति पर नियन्त्रण रक्खे। इसके अतिरिक्त, वह अपने यहाँ एक अँगरेज रेजीडेंट रखने और कुर्रम दर्रे को अँगरेजों के हवाले कर देने के लिए भी राजी हो गया। अँगरेजों ने इसके बदले ६ लाख रुपया सालाना देना और अफगानिस्तान से अपनी सब फौजों को हटा लेना स्वीकार किया। गंडमक की संधि को लार्ड लिटन ने अपनी व्यक्तिगत विजय माना।

किन्तु वास्तव में उसने बड़ी भूल की। अफगान लोग ऐसे राजा का कुछ आदर नहीं करते जो विदेशी सैनिक शक्ति पर निर्भर हो। अँगरेज रेजीडेंट सर लुई कैवगनरी (Louis Cavagnari) अपने रक्षकदल के समेत मार डाला गया। जनरल राबर्ट्‌स ने काबुल में प्रवेश किया। उसने कत्ल करनेवालों को दंड दिया। याकूब अँगरेजों से जा मिला। उसने कहा कि अफगानिस्तान का बादशाह होने के बजाय में घसियारा होना अधिक पसन्द करूँगा। वह पेंशनर बनाकर भारत भेज दिया गया। यहाँ वह अपनी मृत्यु के समय सन् १९२३ ई० तक रहा। अब्दुर्रहमान काबुल की गद्दी पर बैठने के लिए प्रोत्साहित किया गया। वह दोस्तमुहम्मद का भतीजा था और सन् १८७० ई० से निर्वासित था। इसी दर्मियान में इँगलैंड में लार्ड लिटन की पार्टी चुनाव में पराजित हो गई। अतः उसने १८८० ई० में अपने पद से इस्तीफा दे दिया। उसके बाद लार्ड रिपन (Lord Ripon सन् १८८०-८४ ई०) वायसराय होकर आया।

लार्ड लिटन की नीति असफल सिद्ध हुई थी। लार्ड रिपन से कहा गया कि वह अफगानों के साथ शान्तिपूर्ण रीति से निपटारा करे। उसने अब्दुर्रहमान को काबुल का अमीर मान लिया (सन् १८८१ ई०) और उसकी परराष्ट्र-नीति (Foreign policy) पर अपना नियन्त्रण स्थापित किया। किन्तु अब्दुर्रहमान अभी तक सारे अफगानिस्तान का मालिक नहीं हुआ था। हिरात अब भी शेरअली के लड़के आयूब खाँ के कब्जे में था। कन्दहार एक दूसरे सरदार के हाथ में था। लड़ाई फिर छिड़ गई। मैवन्द नामक स्थान पर आयूब खाँ ने शत्रुओं को गहरी पराजय दी। वहाँ से वह कन्दहार की ओर रवाना हुआ। जनरल राबर्ट्‌स फिर भेजा गया। आयूब खाँ कन्दहार की लड़ाई में हार गया। कुछ ही महीनों के बाद अँगरेजी फौजें काबुल और कन्दहार से हटा ली गईं। अब्दुर्रहमान के हाथों से फिर पराजित होना पड़ा। अब्दुर्रहमान अब निश्चिन्त हो सम्पूर्ण अफगानिस्तान का अमीर बन गया। कन्दहार का सरदार गद्दी छोड़ देने के लिए राजी किया गया और भारत भेज दिया गया। इस प्रकार अफगानों की दूसरी लड़ाई का अन्त हुआ।

पंजदेह की घटना—नयें वायसराय लार्ड डफरिन (सन् १८८४-८८ ई०) के सामने मुख्य प्रश्न रूस तथा अफगानिस्तान के बीच की सीमा को निश्चित करना था। अफगानों और रूसियों ने, झगड़े की भूमि के अधिक से अधिक भाग पर कब्जा करने का प्रयत्न किया। रूसी लोगों ने मर्व पर कब्जा कर लिया। यह एक नखलिस्तान था जो आक्सस नदी के दक्षिण-पश्चिम लगभग १५० मील की दूरी पर स्थित था। हिरात जानेवाले मार्ग पर यह एक मुख्य स्थान था। रूसी लोगों ने मर्व के सरदार पर अपना प्रभाव जमा लिया। इसका विरोध किया गया किन्तु उन्होंने उस पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया। इसके बाद वे मर्व के दक्षिण में पंजदेह नामक गाँव की ओर बढ़े। यह गाँव अफगान-राज्य में शामिल था और उस पर अफगानी फौजों का अधिकार था। अफगानों ने रूसी लोगों को लौट जाने के लिए कहा किन्तु वे हटे नहीं। उन्होंने अफगानों पर हमला कर दिया और उन्हें वहाँ से खदेड़ दिया। इँगलैंड और रूस के बीच युद्ध छिड़ने के लक्षण प्रकट दिखाई देने लगे। स्थिति बड़ी नाजुक हो गई।

लार्ड डफरिन की चतुरता और अब्दुर्रहमान की बुद्धिमानी ने इस परिस्थिति को सँभालने में बड़ा काम किया। अमीर ने मामलों को खूब समझ कर घोषित किया कि मैं निश्चित रूप से नहीं कह सकता कि पंजदेह मेरे अधिकार में है कि नहीं। वह एक दूसरे दर्रे के बदले में उसे छोड़ देने को राजी हो गया। रूसी लोग पंजदेह से हट गये और अफगानिस्तान की उत्तरी सीमा को निर्धारित करने के लिए एक साहसी कमीशन नियुक्त हुआ।

लार्ड डफरिन के शिष्टाचार और वर्ताव से अमीर बहुत प्रसन्न हुआ किन्तु अपने देश में ब्रिटिश सेना के प्रवेश का भी विरोध करने में वह उतना ही दृढ़ था जितना कि शेरअली। सन् १८८५ ई० में रावलपिंडी में लार्ड डफरिन के साथ उसकी जो भेंट हुई, उसका अमीर पर अच्छा प्रभाव पड़ा। इस मुलाकात ने अमीर और ब्रिटिश सरकार की मित्रता को दृढ़ कर दिया।

परन्तु यह मित्रता अधिक समय तक कायम न रही। दोनों ओर शीघ्र उदासीनता और अविश्वास का भाव पैदा हो गया। झगड़ा सरहदी मामले के बारे में उठा। सिन्ध की सीमा पूर्ण रूप से कब्जे में कर ली गई थी। उस पर कड़ा पहरा बिठला दिया गया था। बिना पास के सरहदी फिरके का कोई आदमी अँगरेजी राज्य में आने नहीं दिया जाता था। ब्रिटिश सरकार और बलूची सरदारों के बीच मित्रतापूर्ण सम्बन्ध स्थापित हुआ। सरहदी जातियों पर इन सरदारों का बड़ा प्रभाव था। किन्तु पंजाब की सीमा के बारे में यह बात नहीं थी। सन् १८९३ ई० में ड्यूरेंड (Durand) ने अफगानिस्तान और भारत के बीच सीमा नियत कर अमीर को राजी कर लिया। उसके साथ एक संधि हो गई। इस संधि के अनुसार अमीर ने यह वचन दिया कि वह भारतीय सीमा के

इस ओर बसनेवाली सरहदी जातियों के साथ किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करेगा। उसने चमन के रेलवे स्टेशन पर से भी अपना अधिकार उठा लिया। इसके बदले भारत-सरकार ने अमीर को दी जानेवाली मदद १२ लाख से बढ़ाकर १८ लाख कर दी।

चितराल का मामला—सन् १८९४ ई० में लार्ड लैन्सडोन (Lord Lansdowne) के बाद लार्ड एलगिन द्वितीय वायसराय बनाकर भेजा गया। उसके समय में चितराल में एक उपद्रव खड़ा हो गया। चितराल, हिन्दूकुश के दक्षिण में एक छोटी-सी पहाड़ी रियासत थी। सन् १८९३ ई० के ड्यूरंड के समझौते के द्वारा उस पर अँगरेजों ने अपना प्रभाव जमा लिया था। सन् १८९५ ई० में चितराल का मेहतर, एक पूर्ववर्ती सरदार के उभाड़ने से मार डाला गया। ब्रिटिश प्रतिनिधि विद्रोहियों को दबाने के लिए रवाना हुआ किन्तु वह राजधानी में घेर लिया गया। ब्रिटिश सेना वहाँ गई और उसने चितराल को विद्रोहियों से मुक्त कर दिया। चितराल से लेकर अँगरेजी राज्य की सीमा तक एक सड़क बनवाई गई और उस पर बहुत-से सिपाही तैनात कर दिये गये। चितराल के इस मामले ने सरहदी जातियों में बड़ी अशान्ति उत्पन्न कर दी। कई बड़े-बड़े उपद्रव हुए। अमीर तथा सरहदी प्रदेश के सरदारों ने ब्रिटिश सरकार की नीयत पर संदेह किया। सन् १८९७ ई० में मोहमन्द लोगों ने पेशावर तक अँगरेजी राज्य पर हमला किया। खैबर दर्रे के समीप अफरीदियों ने भी विद्रोह किया। सन् १८९८ ई० में घोर युद्ध करके उनका दमन किया गया।

तीराह की लड़ाई—इस सिलसिले में तीराह की चढ़ाई (सन् १८९८ ई०) भी उल्लेखनीय है। तीराह की घाटी पेशावर के दक्षिण-पश्चिम में है। अफरीदियों ने अँगरेजी सरकार के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। घोर युद्ध के बाद वे पराजित हुए। जब दोबारा हमला करने की धमकी दी गई तब उन्होंने हार मान ली।

उत्तरी ब्रह्मा की विजय—ब्रह्मा की पहली लड़ाई के बाद अराकान और टनसरिम अँगरेजी राज्य में मिला लिये गये थे। सन् १८५२ ई० में पीगू को जिता कर लार्ड डलहौजी ने अँगरेजों के प्रभाव-क्षेत्र को और अधिक बढ़ा दिया था। उत्तरी ब्रह्मा अभी तक स्वतन्त्र था। ब्रह्मावालों ने अँगरेजों की व्यापारिक उन्नति में बाधा पहुँचाई।

थीबौ ने जो सन् १८७९ ई० में ब्रह्मा का राजा हुआ था, अँगरेजों की एक व्यापारिक कम्पनी पर भारी जुर्माना कर दिया। भारतीय सरकार ने प्रस्ताव, किया कि मामला एक स्पेशल अँगरेज कमिश्नर के सामने पेश किया जाय। किन्तु थीबौ ने इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। इसके अतिरिक्त उसने जर्मनी, इटली और फ्रांस के साथ व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करने के लिए लिखा-पढ़ी करना भी आरम्भ कर दिया था। उसने अपने दरबार में एक फ्रांसीसी
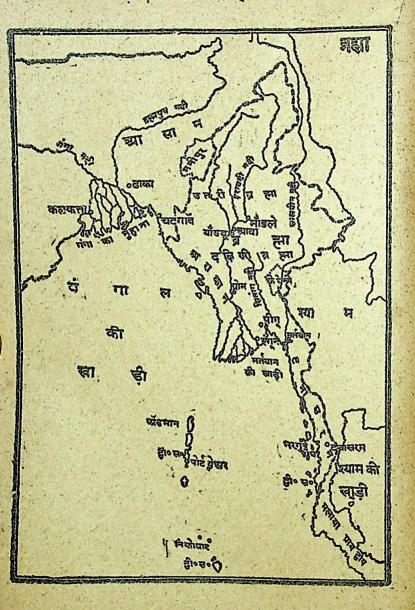
राजदूत रख लिया। इस पर उससे कहा गया कि अपने यहाँ एक ब्रिटिश रेजीडेंट रक्खें, अँगरेजी व्यापारिक कम्पनी के मामलों में कोई हस्तक्षेप न करे और विदेशों के साथ कोई सम्बन्ध न रक्खे। इस अनुचित माँग की पूर्ति करने के लिए रंगून में दस हजार सैनिक जमा किये गये। थीबौ ने अँगरेजों की इस माँग को पूरी करने से इनकार कर दिया। इस पर युद्ध छिड़ गया। बर्मी लोग थोड़ी-सी लड़ाई के बाद ही पराजित हो गये। थीबौ ने अपने को स्वयं एक कैदी के रूप में अँगरेजों के हवाले कर दिया। लार्ड डफरिन मांडले की ओर बढ़ा। सन् १८८६ ई० की पहली जनवरी को एक घोषणा-पत्र जारी किया गया जिसके अनुसार उत्तरी ब्रह्मा अँगरेजी राज्य में मिला लिया गया। देश को जीत लेने की अपेक्षा उसे शान्त करने का कार्य अधिक कठिन था। दल के दल हथियारबन्द डाकू देश में लूट-मार करते थे। दो साल तक वे अँगरेज अफसरों से लड़ते रहे। अन्त में सेना की सहायता से शान्ति स्थापित की गई। सन् १८९७ ई० में उत्तरी और दक्षिणी ब्रह्मा दोनों एक कर दिये गये और वह एक लेफ्टिनेंट गवर्नर के सुपुर्द कर दिया गया। सन् १९२२ ई० में भारत के अन्य प्रान्तों की भाँति ब्रह्मा को भी एक प्रान्त बना दिया गया और शासन के लिए एक गवर्नर नियुक्त किया गया।

ब्रह्मा के सम्बन्ध में भारत-सरकार ने जो नीति बर्ती उसे हम किसी प्रकार उचित अथवा न्याय-संगत नहीं कह सकते। हो सकता है कि थीबौ एक निर्दयी और निरंकुश शासक रहा हो। परन्तु वह एक स्वाधीन राजा था और किसी भी विदेशी राज्य के साथ सम्बन्ध स्थापित करने का और लिखा-पढ़ी करने का उसे पूर्ण अधिकार था। उत्तरी ब्रह्मा पर अधिकार स्थापित हो जाने से भारत-सरकार का चीन के साथ अधिक सम्पर्क हो गया और उसके राजनीतिक सम्बन्ध में कुछ परिवर्तन हुआ।

संक्षिप्त सनवार विवरण

दोस्तमुहम्मद की मृत्यु	१८६३ ई०
समरकन्द पर रूस का अधिकार	१८६८ „
दजला (आक्सस) के राज्यों पर रूस का अधिकार ..	१८७३ „
रूस तथा टर्की के बीच युद्ध	१८७६ „
अफ़गानों की दूसरी लड़ाई	१८७८ „
शेरअली की मृत्यु	१८७९ „
गंडमक की संधि	१८७९ „
अब्दुर्रहमान का अमीर होना	१८८१ „
उत्तरी ब्रह्मा का अँगरेजी राज्य में मिलाया जाना ..	१८८६ „
ड्यूरेंड कमीशन और अफ़गानिस्तान की हदबन्दी ..	१८९३ „

चितराल का मामला	..	..	१८९५ ई०
मोहमन्दों का विद्रोह	..	..	१८९७ „
उत्तरी और दक्षिणी ब्रह्मा का एक होना	..	..	१८९७ „
मोहमन्दों का दमन	..	..	१८९८ „
तीराह की चढ़ाई	..	..	१८९८ „

(३) आन्तरिक शासन-प्रबन्ध (१८६२-९९)

लार्ड लारेन्स—लार्ड लारेन्स (Lord Lawrence) एक योग्य और अनुभवी शासक था। उसके प्रत्येक कार्य में सचाई और सुविचार-बुद्धि दिखाई देती थी। यद्यपि उसे सबसे अच्छी सफलता कूटनीति के क्षेत्र में प्राप्त हुई परन्तु उसने देश के शासन का भी अच्छा प्रबन्ध किया। किसानों के प्रति उसने सहानुभूति प्रकट की और उनकी स्थिति को सुधारने की चेष्टा की। सन् १८६९ ई० में पंजाब का काश्तकारी कानून पास हुआ। इस कानून में काश्तकारों के मौरूसी हकों की स्पष्ट व्याख्या की गई और इसके पास हो जाने से जमींदारों को अपने इच्छानुसार मालगुजारी बढ़ाने का अधिकार न रहा। अवध के काश्तकारी कानून (सन् १८६८ ई०) से काश्तकारों को कुछ शर्तों पर मौरूसी हक मिल गया। खेतों में तरक्की दिखाने पर कुछ मुआविजा दिलाने की व्यवस्था भी की गई। सन् १८६८ ई० में उड़ीसा में बड़ा भारी दुर्भिक्ष पड़ा। उसके बाद ही बाढ़ आई जिससे लोग बहुत दुखी हुए। दूसरा दुर्भिक्ष बुन्देलखण्ड और राजपूताना में पड़ा। सरकार ने इस बात को स्वीकार किया कि अकाल के भीषण परिणामों से प्रजा की रक्षा करना उसका कर्तव्य है। सार्वजनिक कार्य-विभाग (Public Works Department) की ओर वायसराय ने पूरा ध्यान दिया और आमदनी बढ़ानेवाले कामों के लिए उसने ऋण लेने की प्रथा जारी की।

लार्ड मेयो का आर्थिक सुधार—लार्ड लारेन्स के शासन-काल के अन्त में २५ लाख रुपये की कमी थी। लार्ड मेयो (Lord Mayo) ने शिक्षा और सार्वजनिक कार्यों का खर्चा घटा दिया। इनकमटैक्स को बढ़ाकर उसने ३ फी सदी कर दिया। इसका जनता ने बड़ा विरोध किया। टैक्स वसूल करने के समय सख्ती की जाती थी और घूस ली जाती थी। इससे लोगों को बड़ा कष्ट होता था। अमीर लोग तो टैक्स की अदायगी के समय अपना बचाव कर जाते थे परन्तु गरीबों को अधिकारियों का विरोध करने पर कड़ी सजा दी जाती थी। साल के अन्त में रुपयों की बचत हुई और दूसरे वर्ष उसने एक फी सदी के हिसाब से टैक्स लगाया।

प्रान्तीय व्यवस्था—इस समय तक प्रान्तीय सरकारों को अपनी आमदनी का रुपया खर्च करने का अधिकार नहीं था। रुपये की स्वीकृति के लिए उन्हें

केन्द्रीय सरकार के पास प्रार्थना-पत्र भेजना पड़ता था। स्वीकृत धन को भी वे अपने इच्छानुसार खर्च नहीं कर सकती थीं। बिना वायसराय की आज्ञा लिये कुछ भी रुपया खर्च नहीं किया जाता था। प्रान्तीय सरकारें मितव्ययिता की ओर कुछ भी ध्यान नहीं देती थीं क्योंकि बचे हुए धन को उन्हें भारत-सरकार के खजाने में भेजना पड़ता था। इसका परिणाम यह हुआ कि वास्तव में खर्च के लिए जितने धन की आवश्यकता रहती थी उससे कहीं अधिक रुपये की माँग पेश की जाती थी। सबसे भारी रकम उसी प्रान्तीय सरकार को मिलती थी जो बड़े आग्रह के साथ अपनी माँग पर जोर देती थी।

सन् १८७० ई० में लार्ड मेयो ने प्रान्तीय सरकारों को एक नियत वार्षिक रकम देना प्रारम्भ किया। हर पाँचवें वर्ष इस निर्दिष्ट धन के घटाने-बढ़ाने के बारे में विचार किया जा सकता था। कुछ निश्चित सीमा के अन्दर प्रान्तीय सरकारों को अपना बजट बनाने तथा प्राप्त आय को अपने इच्छानुसार खर्च करने की आज्ञा दी गई। एक मद का बचा हुआ रुपया दूसरी मद में खर्च किया जा सकता था। यह व्यवस्था बहुत सफल और सन्तोषप्रद सिद्ध हुई और सन् १८७१ ई० में बजट में बचत दिखाई पड़ी।

नमक का कर—लार्ड मेयो के समय में ८२ पौंड के मन पर साढ़े तीन रुपया नमक-कर लिया जाता था। इस कर का अधिकांश भार गरीबों के सिर पर पड़ता था। महँगी के कारण उन्हें नमक का खर्च कम कर देना पड़ा। लाखों आदमी बीमारी और खराब भोजन के कारण मर गये। लार्ड मेयो ने नमक को सस्ता कर दिया और जयपुर एवं जोधपुर के राजाओं से साँभर झील का पट्टा ले लिया। पंजाब की नमक की खानें भी खोदी गईं और अवध में नमक बनाने की पुरानी प्रथा फिर से जारी की गई।

कृषि—एक कृषि-विभाग खोला गया। किसानों और जमींदारों को खेती करने के नये उपायों की उपयोगिता बतलाने के लिए आदर्श खेत (Model farms) कायम किये गये। नहरों की संख्या बढ़ाई गई और पंजाब में एक अतिरिक्त कर लगाया गया जिसका देना सबके लिए अनिवार्य था।

शिक्षा और सामाजिक सुधार—शिक्षा के प्रचार में वायसराय ने बड़ी मदद दी। प्रान्तों में प्राइमरी स्कूलों की संख्या बढ़ गई। राजकुमारों तथा रईसों के लड़कों की शिक्षा के लिए अजमेर में एक कालेज स्थापित किया गया। किन्तु उसका कार्य ठीक से १८८५ ई० के पहले नहीं प्रारम्भ हुआ। देशी नरेशों ने इस योजना का समर्थन किया और शिक्षा के लाभों को पूर्णतया स्वीकार किया।

नये विचारों के प्रभाव से भारतीय समाज अपना रूप बड़े वेग के साथ बदल रहा था। बंगाल में, ब्रह्म-समाज का आन्दोलन बड़ी तेजी के साथ अपनी उन्नति

कर रहा था। केशवचन्द्र की देखादेखी हजारों आदमी इस समाज के अनुयायी बन गये।

ब्रह्म-समाज के सदस्यों की सुविधा के लिए एक विवाह-सम्बन्धी कानून पास किया गया। सन् १८७० ई० में छोटी-छोटी लड़कियों की हत्या को रोकने के लिए एक कानून पास हुआ और दंड-विधान में संशोधन किया गया। अवध के तालुकदारों के सुभीते के लिए एक कानून पास किया गया। इस कानून ने यह व्यवस्था दी कि उनका कर्ज चुकाने के लिए उनकी रियासतों का प्रवन्ध सरकार अपने हाथों में ले ले।

लार्ड मेयो की मृत्यु—जनवरी सन् १८७२ ई० में, लार्ड मेयो कालेपानी के अपराधियों की वस्ती को देखने के लिए अण्डमन द्वीप गया। वहाँ एक मुसलमान ने उसके पेट में कटार भोंककर उसका प्राणान्त कर दिया। उस व्यक्ति को तीन वर्ष पूर्व कत्ल के अपराध में कालेपानी की सजा मिल चुकी थी। लार्ड मेयो आयर्लैंड का निवासी था। उसका व्यक्तित्व बड़ा आकर्षक था। उसकी मृत्यु का शोक चारों ओर मनाया गया।

लार्ड नार्थब्रुक की आर्थिक नीति—लार्ड मेयो के आर्थिक सुधारों ने लोगों के मन में सन्देह उत्पन्न कर दिया। इनकमटैक्स लोगों को अच्छा नहीं लगा। प्रान्तीय सरकारों को बजट बनाने का जो अधिकार दिया गया था उसकी काफी कद्र नहीं हुई। इनकमटैक्स बन्द कर दिया गया और स्थानीय सरकारों को इस बात की ताकीद की गई कि अब किसी प्रकार के टैक्स का भार न बढ़ने पावे।

लार्ड नार्थब्रुक को आर्थिक समस्याओं का अच्छा ज्ञान था। उसने कभी-कभी सर जान स्ट्रैची (John strachey) जैसे विशेषज्ञों के परामर्श के विरुद्ध काम कर डाला। वह 'स्वतन्त्र व्यापार' का समर्थक था। आयात-कर को घटा कर उसने ५ फी सदी कर दिया। तेल, चावल, नील तथा लाख के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं पर से निर्यात-कर उठा दिया गया। उससे कर को और कम करने के लिए कहा गया परन्तु उसने इनकार कर दिया और कहा कि ऐसा करने से आमदनी कम हो जायगी।

सन् १८७३-७४ ई० में वृष्टि न होने के कारण बंगाल तथा विहार में बड़ा भारी अकाल पड़ गया। पश्चिमोत्तर प्रान्त तथा अवध के कुछ भागों में भी इस सूखा का बुरा प्रभाव पड़ा। अकाल-पीड़ितों की सहायता के लिए वायसराय ने कुछ उपाय किये। अफसरों को उसने आदेश किया कि भोजन के अभाव के कारण कोई व्यक्ति मरने न पाये। एक स्थान से दूसरे स्थान तक अनाज ले जाने के लिए उसने रेलवे कम्पनियों को किराया कम करने के लिए उत्साहित किया। इस अकाल में पीड़ितों को सहायता देने में ६५ लाख रुपया खर्च किया गया।

शिक्षा और सामाजिक सुधार—स्कूलों की संख्या बढ़ गई। चिकित्सा-शास्त्र की पढ़ाई का अधिक प्रचार हुआ। विज्ञान की उन्नति हुई। कलकत्ता में एक विज्ञान-परिषद् स्थापित की गई। सन् १८७५ ई० में, लोगों को विभिन्न प्रकार के माल तैयार करने के बढ़िया तरीके सिखाने के लिए लाहौर में कला का एक विद्यालय स्थापित किया गया। पादरियों की स्त्रियाँ भारतीय लोगों के घरों में आने-जाने लगीं। लोगों का सामाजिक दृष्टिकोण बदल गया और स्त्रियाँ स्वतन्त्रता प्राप्त करने की इच्छा करने लगीं। कुछ हिन्दुओं ने बहु-विवाह की प्रथा की निन्दा की और वे अपनी लड़कियों को अँगरेजी स्कूलों में भेजने लगे। समाज-सुधारकों ने अपनी सम्मति प्रकट की कि विधवा-विवाह तथा समुद्र-यात्रा शास्त्र-विरुद्ध नहीं है।

समाचार-पत्रों की संख्या बढ़ गई। सरकारी कर्मचारीगण तो आलोचना से सदैव घबड़ाते हैं। उन्होंने समझा कि इन पत्रों से जनता की दृष्टि में सरकार की प्रतिष्ठा कम होती है।

प्रिन्स आफ वेल्स का आगमन—प्रिन्स आफ वेल्स (Prince of Wales) जो पीछे एडवर्ड सप्तम के नाम से गद्दी पर बैठे, सन् १८७५ ई० में भारत आये। जनता तथा नरेशों ने बड़े आनन्द और धूमधाम के साथ उनका स्वागत किया। सभी श्रेणी के लोगों ने इँगलैंड के युवराज के प्रति अपनी राजभक्ति का परिचय दिया। युवराज अनेक स्थानों में गये और सब जगह उनके साथ बड़े आदर और मित्रता का व्यवहार किया गया।

लार्ड नार्थब्रुक का इस्तीफा—अफगानों के प्रश्न तथा रुई के महसूल के सम्बन्ध में इँगलैंड की सरकार के साथ लार्ड नार्थब्रुक का मतभेद हो गया और सन् १८७६ ई० में उसने अपने पद से इस्तीफा दे दिया। उसके बाद लार्ड लिटन (Lord Lytton) वायसराय हुआ।

लार्ड लिटन का शासन-प्रबन्ध—लार्ड लिटन बड़ा योग्य पुरुष था। वह कवि और कूटनीतिज्ञ था। किन्तु भारत के वायसराय में जिन गुणों की आवश्यकता थी वे उसमें न थे। वायसराय को चतुर और बुद्धिमान् होना चाहिए। इसके अतिरिक्त उसे उन लोगों के प्रति सहानुभूति होनी चाहिए जिन पर वह शासन करने के लिए नियुक्त किया जाता है।

दिल्ली-दरबार—लार्ड बेकन्सफील्ड (Lord Beaconsfield) ने जो इँगलैंड का प्रधान मंत्री था, कहा कि रूस के साथ युद्ध रोकने का सबसे अच्छा उपाय रानी को सम्राज्ञी बना देना है। उसके इस प्रस्ताव को पार्लियामेंट ने स्वीकार कर लिया। सन् १८७७ ई० में नये वर्ष के पहले दिन लार्ड लिटन ने दिल्ली में एक शानदार दरबार किया। इस दरबार में रानी विक्टोरिया को सम्राज्ञी की उपाधि से विभूषित किया गया। सभी बड़े बड़े स्थानों में दरबार किये

गये और राजभक्त व्यक्तियों को उपाधियाँ दी गईं। उसी साल वायसराय ने अलीगढ़ में एम० ए० ओ० कालेज की नींव डाली।

आर्थिक सुधार—नमक के कर का समुचित प्रबन्ध नहीं किया गया। टैक्स से बचने के लिए नमक को छिपा कर ले जाने का रवाज हो गया। किन्तु वह आमदनी का एक खास जरिया था इसलिए सरकार उसकी उपेक्षा नहीं कर सकती थी। जयपुर और जोधपुर से नमक की झीलों का अधिकार पहले ही से ले लिया गया था। अब सर जान स्ट्रैची ने अन्य राज्यों के साथ, उनके नमक के साधनों पर अपना अधिकार करने के लिए, समझौता करना प्रारम्भ किया। नमक का कर अब भी बना रहा किन्तु मूल्य की विषमता बहुत कुछ दूर हो गई। वायसराय ने सोचा कि एक मन नमक पर ढाई रुपया कर अधिक नहीं है। सन् १८७९ ई० में लंकाशायर के सौदागरों के आन्दोलन करने पर मोटे कपड़े पर से रुई के कर उठा दिये गये। कौंसिल के सदस्यों ने इसका विरोध किया परन्तु गवर्नर-जनरल ने उनके बहुमत को रद कर दिया। भारतीय लोकमत उक्त करों को उठा देने के विरुद्ध था।

प्रान्तों को मिला हुआ स्वीकृत धन (Provincial grants)—लार्ड मेयो ने प्रान्तीय सरकारों को यह अधिकार दिया था कि स्वीकृत धन को वे जिस तरह से चाहें खर्च करें और यदि उसमें से कुछ रकम बचे तो उसे प्रान्त के हित में ही लगा दें। किन्तु इस व्यवस्था से कोई मितव्ययिता नहीं हुई। सन् १८७८ ई० में यह निश्चय किया गया कि स्थानीय सरकारों के खर्च के लिए आय की कुछ मदें—जैसे आबकारी-कर, स्टाम्प-कर आदि—निर्दिष्ट कर दी जायँ ताकि उन्हें शासन-प्रबन्ध में कुछ सुधार और उन्नति करने के लिए प्रोत्साहन मिले। कभी कभी इस प्रकार निर्दिष्ट की हुई आय अपर्याप्त सिद्ध होती थी और उस कमी की पूर्ति के लिए प्रतिवर्ष कुछ धन केन्द्रीय सरकार के कोष में से दे दिया जाता था। इसका परिणाम यह हुआ कि प्रान्तीय सरकारों ने बहुत-सा धन बचा लिया। अफ़ग़ानों की दूसरी लड़ाई के बाद यह मालूम हुआ कि प्रान्तीय सरकारों के खजाने भरे हुए हैं और केन्द्रीय सरकार के पास रुपया नहीं है। सन् १९१२ ई० में लार्ड हार्डिंज के समय में उक्त प्रान्तीय व्यवस्था को स्थायी रूप दे दिया गया।

वर्नाक्यूलर प्रेस ऐक्ट—मार्च सन् १८७८ ई० में वायसराय ने अपनी कौंसिल से वर्नाक्यूलर प्रेस ऐक्ट पास करा लिया। इस कानून ने समाचार-पत्रों की स्वतन्त्रता का अपहरण कर लिया। स्मरण रखना चाहिए कि यह स्वतन्त्रता ४३ वर्ष पूर्व लार्ड मेटकाफ ने दी थी। समाचार-पत्रों के सम्पादक जिले के हाकिमों के नियन्त्रण में कर दिये गये। ये हाकिम कभी कभी उक्त कानून का प्रयोग बड़ी सख्ती के साथ करते थे। लार्ड लिटन ने उचित आलोचना तथा

राजद्रोह के बीच कोई विभाजन रेखा नहीं खींची। कुछ इने-गिने गैरजिम्मेदार सम्पादकों के अपराध के कारण सारे समाचार-पत्रों को दंड दिया गया। आन्दोलन दबा दिया गया। वायसराय के उतावले कार्य से एक दूसरी बुराई पैदा हुई जो और भी अधिक हानिकर थी।

कानून-द्वारा निर्धारित सिविल सर्विस—लार्ड लिटन ने अपने शासनकाल के अन्तिम वर्ष में सन् १८५८ ई० के राजकीय घोषणा-पत्र में उल्लिखित सिद्धान्त को कार्यरूप में परिणत किया। उसमें लिखा था कि ब्रिटिश भारत का कोई भी व्यक्ति अपनी जाति, वर्ण अथवा धर्म के कारण किसी सरकारी ओहदे से वंचित नहीं किया जायगा। सन् १८५३ ई० में भारतीयों के लिए सिविल सर्विस की परीक्षा का द्वार खोल दिया गया। किन्तु परीक्षा लन्दन में होती थी इस कारण बहुत ही थोड़े भारतीय सिविल सर्विस में प्रवेश कर सके। अनेक प्रतिभाशाली युवक जाति-पाँत के कारण इँगलेंड न जा सके। इसका परिणाम यह हुआ कि सन् १८७८ ई० में कवनैन्टेड (Covenanted) सिविल सर्विस में केवल ९ भारतीय थे। लार्ड लारेंस द्वारा चलाई हुई छात्रवृत्ति की प्रणाली व्यावहारिक रूप से सन्तोषप्रद नहीं सिद्ध हुई। इसलिए सन् १८७८ ई० में यह घोषणा की गई कि कवनैन्टेड सिविल सर्विस में लिये गये कुल व्यक्तियों में से अधिक से अधिक भारतीय होंगे। उनका चुनाव स्थानीय सरकारें करेंगी और इस चुनाव को स्वीकार अथवा अस्वीकार करने का अधिकार गवर्नर-जनरल और उसकी कौंसिल को होगा। चुने हुए लोगों को दो साल उम्मेदवारी करनी पड़ती थी। वे स्टेट्युटरी सिविलियन (Statutory Civilian) कहलाते थे।

लार्ड लिटन की नीति—लार्ड लिटन ने सन् १८८० ई० में पद-त्याग कर दिया। वह बड़ा योग्य और प्रतिभाशाली व्यक्ति था किन्तु उसकी राजनीतिज्ञता बुद्धिमानी और गम्भीरता से खाली थी। अफगानों के प्रति उसने जो नीति बर्ती थी वह उसकी बड़ी भारी भूल थी। सरकारी कर्मचारियों और गैरसरकारी व्यक्तियों ने जो उसकी आलोचना की वह ठीक थी। अफगान-युद्ध में धन और जन की बड़ी बरबादी हुई। जैसा लार्ड रिपन ने कहा था कि अफगानिस्तान को अँगरेजी राज्य में मिलाना चन्द्रमा को मिलाने के समान था। परन्तु यह मानना पड़ेगा कि लार्ड लिटन के दिमाग में उपयोगी बातों को सोचने की शक्ति थी। उसने भारत के लिए सोने का सिक्का स्वीकार करने की सलाह दी और यह प्रस्ताव किया कि पश्चिमोत्तर-सीमा-प्रान्त बनाया जाय। उन यूरोपीय लोगों के आचरण की उसने निन्दा की जो अपने हिन्दुस्तानी नौकरों के साथ मार-पीट करते थे। उसके दरबार ने देशी नरेशों की राजभक्ति को दृढ़ कर दिया। किन्तु यह दरबार ऐसे समय में किया गया था जब कि देश में भीषण अकाल पड़ रहा

था। वर्नाक्यूलर प्रेस ऐक्ट उसका दूसरा उतावला कार्य था। इस ऐक्ट को पास करके उसने शिक्षित भारतवासियों को अपने विरुद्ध कर लिया।

एक उदार वायसराय—लार्ड रिपन (Lord Ripon) एक उदार राजनीतिज्ञ था। वह भारतीय शासन में अँगरेजी शासन के उदार भावों का समावेश करना चाहता था। उसे प्रतिनिधि-संस्थाओं (Representative Instituons) की उपयोगिता में बड़ा विश्वास था। वह चाहता था कि शासन के कार्य में भारतीयों को भाग दिया जाय। किन्तु बड़े-बड़े सरकारी कर्मचारी इस विचार से सहमत न थे। उनका मत था कि भारत की परिस्थिति स्वायत्त शासन और जनसत्तात्मक शासन के विकास के उपयुक्त नहीं है। परन्तु वायसराय का विचार दृढ़ था। उसने अपनी नीति को बड़े साहस के साथ कार्यान्वित किया।

आर्थिक सुधार—उसने स्वतन्त्र व्यापार को प्रोत्साहन दिया और इस बात के लिए उद्योग किया कि नमक, शराब और हथियारों के अतिरिक्त विदेशों से आनेवाली अन्य वस्तुओं पर से ५ फी सदी का कर उठा दिया जाय। सारे देश में नमक का टैक्स कम कर दिया गया। कृषि-विभाग का फिर से संगठन किया गया। बंगाल में भी जमींदारों तथा काश्तकारों के अधिकार निश्चित और सुरक्षित किये गये।

स्थानीय स्वायत्त शासन—(Local Self-Government) लार्ड रिपन का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण सुधार स्थानीय स्वायत्त शासन की योजना को काम में लाना था। सन् १८८३-८५ ई० के बीच उसने कई कानून पास कराये। इन कानूनों ने डिस्ट्रिक्ट और लोकल बोर्डों की स्थापना की। म्युनिसिपल बोर्डों के अधिकार बढ़ा दिये गये। उनको यह अधिकार भी दिया गया कि जहाँ कहीं सम्भव हो, वे अपना चेयरमैन चुन लें। इन बोर्डों के सुपुर्द कुछ धन भी कर दिया गया जिसे वे सार्वजनिक कार्यों—स्वास्थ्य तथा शिक्षा आदि—में खर्च कर सकते थे। बाद को निर्वाचन का सिद्धान्त काम में लाया गया। सदस्यों को किराया और टैक्स देनेवाले चुनते थे। स्थानीय सरकारों ने अनेक अधिकारों को अपने हाथ में सुरक्षित रक्खा ताकि बोर्डों को अपना काम सुचारु रूप से करने के लिए वे बाध्य कर सकें और उन्हें अनुचित काम करने से रोक सकें। यद्यपि स्वायत्त शासन की प्रणाली बिलकुल निर्दोष नहीं सिद्ध हो सकी तथापि इसमें सन्देह नहीं कि उसके द्वारा लोगों को राजनीतिक शिक्षा मिली। शिक्षित लोगों ने लार्ड रिपन की इस नीति का स्वागत किया। अभी तक वह स्थानीय स्वायत्त शासन का जन्मदाता समझा जाता है।

शिक्षा और कानून—लार्ड रिपन ने सन् १८८१ ई० में वर्नाक्यूलर प्रेस ऐक्ट को रद्द कर दिया। उसी साल सरकार की शिक्षा-नीति पर विचार करने के लिए एक कमीशन नियुक्त हुआ। इस कमीशन का अध्यक्ष, डब्ल्यू० डब्ल्यू० हन्टर

(W. W. Hunter) बनाया गया। बाद को उसे 'सर' की उपाधि मिली। कमीशन की सिफ़ारिशों के आधार पर एक प्रस्ताव तैयार किया गया परन्तु उसे कार्यरूप में परिणत करने के पूर्व ही लार्ड रिपन ने इस्तीफा दे दिया।

फैक्टरियों में काम करनेवाले मजदूरों के जीवन में सुधार करने का प्रयत्न किया गया। सन् १८८१ ई० में एक ऐक्ट पास किया गया जिसके अनुसार यह नियम कर दिया गया कि सात और बारह वर्ष की अवस्था के बीच के बच्चों से प्रतिदिन ९ घंटे से अधिक काम नहीं लिया जा सकता। यह भी नियम हो गया कि उन सब मशीनों को—जिनसे प्राण जाने की अथवा शरीर के किसी अवयव के कट जाने की सम्भावना हो—ठीक से बन्द कर रखा जाय।

किन्तु शीघ्र ही 'इल्बर्ट बिल' पर एक बड़ा तूफान उठ खड़ा हुआ और वायसराय को उससे बड़ा कष्ट हुआ। पुराने जाब्ता फौजदारी के अनुसार कलकत्ता, बम्बई तथा मद्रास नगर के बाहर कोई भी हिन्दुस्तानी मजिस्ट्रेट अथवा जज किसी भी यूरोपीय व्यक्ति का जो ब्रिटिश सरकार की प्रजा हो, मुकदमा नहीं कर सकता था। अब अनेक भारतीय कवनैन्टेड सिविल सर्विस में ऊँचे-ऊँचे ओहदों पर पहुँच चुके थे। इसलिए गोरों और भारतीयों के बीच का उपर्युक्त भेद-भाव अन्यायपूर्ण दिखाई देने लगा। भारतीय जनता उसे पसन्द नहीं करती थी। सन् १८८३ ई० में, सी० पी० इल्बर्ट (C. P. Ilbert) ने जो गवर्नर-जनरल की कौंसिल का कानूनी मेंबर था, इस भेद-भाव को मिटाने की चेष्टा की। यूरोपीय समाज में बड़ी हलचल मच गई। गैरसरकारी यूरोपीय व्यक्तियों ने इस बिल का घोर विरोध किया। यही नहीं, उन्होंने वायसराय का अपमान तक किया। शिक्षित लोगों ने यूरोपीय लोगों के आन्दोलन के विरुद्ध एक दूसरा आन्दोलन किया और बिल को बड़ी दूरदर्शिता और राजनीतिज्ञता का काम बतलाकर उसका समर्थन किया। दोनों ओर घोर जातीय वैमनस्य का भाव फैल गया और बड़ी गाली-गलौज हुई। अन्त में सरकार को हार माननी पड़ी और एक समझौता किया गया। समानता के सिद्धान्त का, जिसके लिए लार्ड रिपन लड़ा था, परित्याग कर दिया गया। समझौता यह हुआ कि प्रत्येक यूरोपीय अभियुक्त जो अँगरेजी सरकार की प्रजा हो अपना मुकदमा एक जूरी से जिसमें आधे यूरोपीय अथवा अमरीकन लोग हों कराने का दावा कर सकता है।

लार्ड रिपन का पदत्याग—दिसम्बर सन् १८८४ ई० में लार्ड रिपन ने इस्तीफा दे दिया। उसकी बिदाई के समय शिक्षित भारतवासियों की ओर से उसे सैकड़ों मानपत्र दिये गये। शिमला से लेकर बम्बई तक उसकी यात्रा एक 'विजय का जुलूस' हो गई जिसमें उत्साह तथा राजभक्ति के अपूर्व दृश्य दिखाई दिये। सारे देश में सार्वजनिक सभाएँ की गईं। इन सभाओं में प्रतिष्ठित व्यक्तियों

ने उसकी हितकारी तथा बुद्धिमत्ता-पूर्ण नीति की प्रशंसा की। इसके पहले किसी भी वायसराय को भारतीय जनता की ओर से इतना अधिक प्रेमपूर्ण सम्मान नहीं प्राप्त नहीं हुआ था।

लार्ड डफरिन, एक महान् कूटनीतिज्ञ—लार्ड रिपन के बाद लार्ड डफरिन (Lord Dufferin) वायसराय होकर आया। वह बड़ा कूटनीतिज्ञ था और सार्वजनिक मामलों का उसे बड़ा अनुभव प्राप्त था। इसके अतिरिक्त वह एक ओजस्वी वक्ता भी था और उसका शिष्टाचार बड़ा ही मनोहर था। इल्बर्ट-बिल के सम्बन्ध में होनेवाले कटुतापूर्ण वाद-विवाद के कारण जो मनोमालिन्य उत्पन्न हो गया था उसे दूर करने के लिए वह उपयुक्त था। उसका बहुत सा समय विदेशों के मामलों में खर्च होता था परन्तु तो भी उसने शासन-प्रवन्ध की ओर काफी ध्यान दिया।

भूमि-सम्बन्धी कानून—नये वायसराय ने बंगाल, अवध और पंजाब की भूमि-समस्या पर बड़ा ध्यान दिया। सन् १८८५ ई० में बंगाल का काश्तकारी कानून पास हुआ। इससे अब जमींदारों के लिए यह सम्भव नहीं रहा कि वे काश्तकारों को बेदखल कर दें अथवा इनका लगान बढ़ा दें। सन् १८८६ ई० के अवध के कानून ने काश्तकारों को अपने खेतों में तरक्की करने और बेदखल किये जाने पर मुआविजा मिलने का अधिकार दिया था। इस कानून के अनुसार काश्तकार सात साल तक अपने खेत पर कब्जा रख सकता था। सन् १८८७ ई० के पंजाब के काश्तकारी कानून ने जमींदारों और काश्तकारों के पारस्परिक सम्बन्ध को निश्चत कर दिया। लगान और तरक्की के मुआविजे का उचित निर्णय करने की भी व्यवस्था की गई। यह सत्य है कि भूमि-सम्बन्धी कानूनों को पास करने का अधिक श्रेय स्थानीय अफसरों को प्राप्त था परन्तु वायसराय ने भी इस कार्य में सराहनीय भाग लिया था।

ग्वालियर का किला वापस दिया गया—सन् १८८६ ई० में ग्वालियर का किला सिन्धिया को वापस कर दिया गया और झाँसी नगर के बदले मुरार छोड़ दिया गया। सिन्धिया बहुत प्रसन्न हुआ। और इस प्राचीन दुर्ग की प्राप्ति से उसकी प्रतिष्ठा और भी बढ़ गई।

विक्टोरिया की जयन्ती—सन् १८८७ ई० में विक्टोरिया की जुबली बड़ी धूमधाम के साथ मनाई गई। सरकारी और गैरसरकारी सभी लोग उसके लिए मंगल कामना करने में सम्मिलित हुए।

शिक्षा—शिक्षा ने कुछ उन्नति की। सन् १८८२ ई० में पंजाब-विश्वविद्यालय तथा सन् १८८७ ई० में इलाहाबाद-विश्वविद्यालय की स्थापना हुई। सर आलफ्रेड ल्याल (Alfred Lyall) प्रयाग-विश्वविद्यालय के प्रथम चान्सलर नियुक्त हुए।

मार्च सन् १८८८ ई० में घरेलू कारणों के वश लार्ड डफरिन ने इस्तीफा दे दिया। उसके वाद लार्ड लैन्सडौन (Lord Lansdowne) वायसराय होकर आया।

शासन-सुधार—सन् १८५७ ई० के सिपाही-विद्रोह के समय से भारतीय लोगों में राष्ट्रीय जाग्रति पैदा करने के लिए बहुत-सी बातें हुई थीं—कानून बनाने में भारतीयों का सहयोग, स्थानीय स्वायत्त शासन-सम्बन्धी कानून का पास होना, प्रेस-ऐक्ट का रद हो जाना, स्त्री-शिक्षा की उन्नति, हिन्दू-मुसलमानों के आर्थिक और सामाजिक सुधार—इन सब कारणों से भारतवासियों में अशान्ति फैली और उनकी राष्ट्रीय आकांक्षाएँ वढ़ गईं। भारत की राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) का प्रथम अधिवेशन सन् १८८५ ई० में वम्बई में हुआ। कई प्रस्ताव पास किये गये। प्रधान माँग यह थी कि व्यवस्थापिका सभाओं के मेम्बरों की संख्या बढ़ाई जाय। लार्ड डफरिन ने इस माँग का समर्थन किया और विधान में कतिपय परिवर्तन करने की सलाह दी। सन् १८९२ ई० में लार्ड क्रास (Lord Cross) का इण्डिया कौंसिल ऐक्ट पास हुआ। इस ऐक्ट ने भारत-सरकार की व्यवस्थापिका सभाओं के सदस्यों की संख्या वढ़ा दी। तीनों अहातों की कौंसिलों की भाँति एक कौंसिल संयुक्त-प्रान्त में पहले ही (सन् १८८६ ई०) स्थापित की जा चुकी थी।

इस सुधार का उद्देश्य गैर-सरकारी भारतीयों को शासन में भाग लेने के लिए अवसर-प्रदान करना था। यह नियम कर दिया गया कि वायसराय की कौंसिल में अतिरिक्त सदस्यों की संख्या १६ तक वढ़ाई जा सकती थी। वायसराय को नामजदगी के लिए नियम वनाने का अधिकार दिया गया।

प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं के सदस्यों की संख्या बढ़ा दी गई। गैर-सरकारी सदस्य, म्यूनिसिपल वोर्डों, विश्वविद्यालयों की सैनेट तथा अनेक व्यापारिक समितियों के द्वारा नामजद किये गये। निर्वाचन-सिद्धान्त का अवलम्बन तो नहीं किया गया किन्तु प्रतिनिधि-प्रणाली का सूत्रपात हो गया। व्यवस्थापिका सभा बजट पर वाद-विवाद कर सकती थी और मेम्बर कुछ शर्तों के भीतर प्रश्न भी पूछ सकते थे। इन परिवर्तनों से भारतीय लोकमत सन्तुष्ट नहीं हुआ किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उनके द्वारा व्यवस्थापिका सभाओं का कार्यक्षेत्र अधिक विस्तृत हो गया।

अन्य परिवर्तन—लार्ड लैन्सडौन के शासन-काल में कई और महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। सन् १८८६-८७ ई० में जो 'पब्लिक सर्विसेज कमीशन' नियुक्त किया गया था उसकी सिफारिशों को सन् १८९१ ई० में स्वीकार कर लिया गया। सिविल सर्विस तीन श्रेणियों में विभक्त कर दी गई—अखिल भारतीय (Imperial), प्रान्तीय (Provincial) तथा अधीनस्थ (Subordinate)।

स्टैट्यूटरी सिविल सर्विस तोड़ दी गई और यह नियम बना दिया गया कि इम्पीरियल सर्विस में वे लोग लिये जायँ जो लन्दन की सिविल सर्विस की परीक्षा को पास करें। प्राविन्शल सर्विस में वे व्यक्ति लिये जाते थे जो परीक्षा पास करते थे अथवा जिन्हें मातहती नौकरियों से तरक्की मिलती थी। सन् १८९३ ई० में पार्लियामेंट ने इस आशय का एक प्रस्ताव पास किया कि इंडियन सिविल सर्विस की परीक्षा भारत और इँगलेंड दोनों जगह एक साथ ली जाय। किन्तु यह प्रस्ताव कार्यान्वित नहीं हुआ।

सिक्का-सम्बन्धी सुधार—लार्ड लैन्सडौन का सिक्का-सम्बन्धी सुधार भी उल्लेखनीय है। भारत के प्रचलित सिक्कों का आधार चाँदी का रुपया था। जब से सार्वजनिक उपयोग के लिए टकसाल खोली गई तब से रुपये का मूल्य सोने पर निर्भर रहने लगा। सन् १८९० ई० में रुपये का मूल्य घटकर १ शिलिंग ४ पेन्स तथा सन् १८९३ ई० में एक शिलिंग दो पेन्स हो गया। इससे भारतीय सरकार की आर्थिक स्थिति को बड़ा धक्का पहुँचा क्योंकि उसे इँगलेंड में अपना ऋण सोने के सिक्कों में चुकाना पड़ता था। अन्त में सन् १८९३ ई० में टकसालों में अधिक रुपया ढालना बन्द कर दिया गया। 'सावरेन' (गिन्नी) तथा अर्द्ध-सावरेन का विनिमय मूल्य क्रमशः १५ और ७½ रुपया हो गया। किन्तु विनिमय की दर की अस्थिरता के कारण सन् १८९८-९९ ई० में रुपये का मूल्य १ शिलिंग ४ पेन्स हो गया। अन्त में एक कानून पास हुआ और सावरेन तथा अर्द्ध-सावरेन को क्रमशः १५ और ७½ रुपये पर ग्राह्य ठहरा दिया गया। यह नियम कर दिया गया कि ऋण का चुकौता चाहे चाँदी के सिक्कों में किया जाय चाहे सोने के सिक्कों में इस व्यवस्था का परिणाम यह हुआ कि भारत-सरकार की आर्थिक स्थिति बहुत सुधर गई और कुछ बचत भी हो गई।

लार्ड एलगिन द्वितीय का शासन—सन् १८९४ ई० में लार्ड एलगिन द्वितीय वायसराय होकर आया। उसमें कोई बड़ा व्यक्तिगत गुण अथवा प्रतिभा न थी। अपने शासन-काल में उसने कोई उल्लेखनीय कार्य नहीं किया। तीनों अहातों के लिए तीन सेनापतियों को रखने की प्रथा तोड़ दी गई। अब से समस्त भारत के लिए केवल एक ही सेनापति रक्खा जाने लगा। अफीम के कमीशन ने सिफारिश की कि चीन में अफीम का भेजना एक दम बन्द न किया जाय। लार्ड एलगिन की सरकार को एक बड़ी भारी विपत्ति का सामना करना पड़ा। सन् १८९६ ई० में बम्बई में प्लेग फैल गया। नगर के उन भागों में जो खूब सघन आबाद थे बहुत से आदमी मरने लगे। भय के मारे हजारों आदमी शहर के बाहर भाग गये। धीरे-धीरे यह भीषण रोग प्रत्येक नगर में फैल गया और लाखों मनुष्य काल के ग्रास हुए। उसी समय के लगभग (सन् १८९६-९७ ई०) संयुक्तप्रान्त, मध्यप्रान्त, बिहार तथा पंजाब के कुछ जिलों में घोर अकाल

पड़ गया। पंजाब के गवर्नर सर ऐंटनी मैकडानेल (Antony Macdonnell) ने अकाल-पीड़ितों को सहायता पहुँचाने के लिए बड़ी कोशिश की। एक अकाल-कमीशन नियुक्त किया गया। कमीशन ने अपनी रिपोर्ट प्रकाशित की और उसमें अकाल से बचने के साधनों की विवेचना की।

राष्ट्रीय आन्दोलन—इंडियन नेशनल कांग्रेस—भारतवर्ष अनेक जातियों, धर्मों तथा भाषाओं का देश है। राजनीतिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक एकता का आदर्श भारतवासियों को पहले से ज्ञात था। किन्तु १८वीं शताब्दी में मुगल-साम्राज्य के पतन के बाद अनेक राज्य आविर्भूत हो गये जो सदा आपस में लड़ा-झगड़ा करते थे। कोई दृढ़ केन्द्रीय सरकार नहीं थी, इसलिए राजनीतिक एकता का अभाव था। शिक्षा के अभाव ने लोगों के लिए यह असम्भव कर दिया कि वे एक ऐसे समाज का संगठन करते जिसमें विभिन्न जाति, मत तथा भाषा के लोग समष्टिरूप में एक होकर जीवन-निर्वाह करते हों। लोगों में न देश-भक्ति थी और न राष्ट्रीयता का भाव। मराठों, सिक्खों, राजपूतों तथा मुसलमानों ने सम्मिलित होकर किसी एक उद्देश्य की प्राप्ति के लिए प्रयत्न नहीं किया। वे अपने हितों का देश के हितों के साथ एकाकार नहीं कर सके। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में लोगों में जाग्रति उत्पन्न हुई। इस जाग्रति के अनेक कारण थे। पहला कारण यूरोपीय लोगों का इस देश में आगमन था। वे अपने साथ नये विचार और नये आदर्श लाये। दूसरा कारण यह था कि अँगरेजों ने सारे भारत को एक शासन-सूत्र में बाँध दिया था। सारा देश एक शासन के अन्तर्गत हो गया और सर्वत्र शिक्षा, कानून तथा न्याय की एक-सी पद्धति प्रचलित हो गई। आने-जाने की सुविधाओं के बढ़ जाने से देश के विभिन्न भागों के लोगों के लिए यह सम्भव हो गया कि वे एक दूसरे के साथ अधिक सम्पर्क में आवें और सब एक ही दृष्टिकोण का विकास करें। जाति और धर्म के पुराने बन्धन ढीले पड़ गये। सामाजिक द्वेष का भाव विलीन होने लगा। विश्वविद्यालयों की स्थापना से लोगों के लिए पाश्चात्य विज्ञान और संस्कृति का ज्ञान प्राप्त करना सहज हो गया और वे लोकसत्तात्मक संस्थाओं को चाहने लगे। बंगाल में राजा राममोहन राय ने सती-प्रथा का विरोध किया और ब्रह्मसमाज की स्थापना की। यह समाज मूर्तिपूजा तथा जाति-पाँति के भेद-भाव के विरुद्ध था। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने वैदिक धर्म का पुनरुद्धार करने का बीड़ा उठाया। उन्होंने आर्यसमाज स्थापित किया और लोगों को वैदिक धर्म का उपदेश दिया। उन्होंने मूर्तिपूजा की निन्दा की और अनेक धार्मिक तथा सामाजिक सुधारों की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया। सन् १८७५ ई० में कर्नल आलकाट (Colonel Olcott) और मैडम ब्लावस्की (Madame Blavatsky) ने थियोसोफिकल सोसाइटी की स्थापना की।

इस सोसाइटी ने सब धर्मों की सत्यता तथा विश्वबन्धुत्व (Brotherhood) के सिद्धान्त पर जोर दिया। इसने प्राचीन हिन्दू-आदर्शों को एक नये रूप में प्रस्तुत किया और शिक्षित समुदाय पर अपना विशेष प्रभाव डाला। लोगों का जीवन अनेक साधनों-द्वारा अधिक सुखद और सम्पन्न हो गया। राजनीतिक उन्नति के लिए उनके हृदय में एक प्रवल आकांक्षा उत्पन्न हो गई। भारतीय व्यापार तथा उद्योग-धन्धों के ह्रास से लोगों के चित्त में यह ख्याल पैदा हो गया कि देश में जो शासन-प्रणाली स्थापित हुई है वह विलकुल दोषरहित नहीं है। आर्थिक तथा राजनीतिक प्रश्नों का अध्ययन करने के लिए अनेक सभा-समितियाँ स्थापित हो गईं। मिस्टर ए० ओ० ह्यूम (A. O. Hume) नामक एक अँगरेज सिविलियन के प्रयत्न से इंडियन नेशनल कांग्रेस का पहला अधिवेशन वम्बई में, सन् १८८५ ई० के दिसम्बर मास में हुआ। उसके सभापति श्री व्योमेशचन्द्र बनर्जी बनाये गये थे जो वड़े योग्य तथा प्रतिष्ठित बंगाली वकील थे। ब्रिटिश सरकार के प्रति कांग्रेस का रुख मित्रता-पूर्ण था। उनका लक्ष्य ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत स्वराज्य प्राप्त करना था। कांग्रेस के प्रस्तावों में निम्नलिखित बातों पर जोर दिया गया—

(१) भारत-सचिव (सेक्रेटरी आफ स्टेट) की कौंसिल तोड़ दी जाय, (२) व्यवस्थापिका सभाओं का सुधार किया जाय और उनके सदस्यों की संख्या बढ़ा दी जाय, (३) इंडियन सिविल सर्विस की परीक्षा इँगलेंड तथा भारत में एक साथ ली जाय, (४) निर्धनता दूर की जाय, और (५) सैनिक व्यय घटा दिया जाय।

कांग्रेस के आन्दोलन में मध्य श्रेणी के शिक्षित लोग सम्मिलित हुए किन्तु शुरू में मुसलमानों ने अपने को उससे अलग रक्खा। दूसरी कांग्रेस (सन् १८८६ ई०) के प्रतिनिधियों को लार्ड डफरिन ने 'गवर्नमेंट हाउस' में प्रीतिभोज दिया। किन्तु बाद को सरकार कांग्रेस से अप्रसन्न हो गई और उसके आन्दोलन को बड़े सन्देह की दृष्टि से देखने लगी। तो भी वायसराय ने कौंसिलों में सुधार करने की सलाह दी और उसके परिणाम-स्वरूप सन् १८९२ ई० को कौंसिल-ऐक्ट पास हुआ। सरकारी कर्मचारियों, ऐंग्लो-इण्डियन समाचार-पत्रों तथा उनके कुछ हिन्दू और मुसलमान सहायकों के विरोध की कुछ पर्वाह न करके कांग्रेस अपने मार्ग पर चलती रही। श्री दादा भाई नौरोजी, सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, सर फीरोज-शाह मेहता, श्री गोखले आदि कांग्रेस के बड़े प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित नेता थे। उन्होंने अपने लेखों और व्याख्यानों-द्वारा कांग्रेस के आन्दोलन का खूब प्रचार किया और लोकमत को संगठित करने का प्रयत्न किया।

भारत के देशी राज्य—गदर के बाद तुरन्त ही लार्ड कैनिंग ने एक दरबार किया जिसमें उसने देशी नरेशों को ब्रिटिश सम्राट् की सदिच्छा का विश्वास

दिलाया और गोद लेने के अधिकार को फिर से दृढ़ कर दिया। लार्ड एलगिन ने भी वही किया। उसने राजाओं से कहा कि स्कूल खोलकर, अच्छी अच्छी सड़कें बनवाकर तथा बुरे बुरे रीति-रवाजों को बन्द कर अपनी प्रजा को सुखी और समृद्धिशाली बनाने की चेष्टा करो।

लार्ड लारेंस ने आगरे में (सन् १८६६ ई० में) एक दरबार किया जिसमें अनेक राजा सम्मिलित हुए। उसने उनके इस कर्त्तव्य पर जोर दिया कि प्रजा पर अच्छा शासन किया जाय। कुछ राज्यों ने उसकी सलाह के अनुसार काम किया और शासन का कार्य करने के लिए योग्य अफसरों को नियुक्त किया। किन्तु कुछ राज्य ऐसे भी थे जिनका शासन-प्रबन्ध बहुत ही बुरा था। सन् १८६० ई० में टोंक का नवाब अपने एक सरदार का कत्ल कराने के कारण गद्दी से उतार दिया गया और ६०,००० रुपये की वार्षिक पेंशन देकर बनारस भेज दिया गया। उसका लड़का जो अभी कम अवस्था का था गद्दी पर बिठाया गया। रियासत का प्रबन्ध करने के लिए एक ब्रिटिश अफसर की अध्यक्षता में शासन-समिति (Council of Regency) स्थापित की गई। जोधपुर के राजा को चेतावनी दी गई कि वह दुराचरण करना छोड़ दे। किन्तु सन् १८७१ ई० में जब लार्ड मेयो ने अजमेर में दरबार किया तो राजा उसमें सम्मिलित न हुआ। उसका यह अविनीत व्यवहार ब्रिटिश सरकार के हक में अपमानजनक समझा गया और उसे तुरन्त वहाँ से चले जाने का हुक्म दिया गया।

अलवर का नाबालिक राजा बड़ी फिजूलखर्ची करता था। उसने सारे खजाने को लुटा दिया और बहुत-सा रुपया कर्ज लेकर उड़ा दिया। प्रजा उसके बुरे शासन से तंग आ गई थी। फलतः राजशक्ति उससे छीन ली गई। शासन का सारा अधिकार एक कौंसिल के सुपुर्द कर दिया गया और एक ब्रिटिश अफसर उसका अध्यक्ष बनाया गया।

लार्ड मेयो ने देखा कि देशी राज्यों के शासन में बड़ी बुराइयाँ हैं। राजाओं में शिक्षा का अभाव ही उसे सारी व्यवस्था और कुशासन का मूल कारण जान पड़ा। अतः उसने एक कालेज अजमेर में और दूसरा काठियावाड़ में राजकोट में स्थापित किया। राजवंशों के अनेक युवक बड़े परिश्रम और उत्साह के साथ इन कालेजों में पढ़ने लगे और बड़े अच्छे शिकारी और खिलाड़ी बन गये।

कुशासन का एक और मामला, सन् १८७४ ई० में लार्ड नार्थब्रुक के शासन-काल में, बड़ौदा-राज्य में हुआ। महाराज गायकवाड़ पर ब्रिटिश रेजीडेंट को जहर देकर मार डालने का प्रयत्न करने का अपराध लगाया गया। राजा गिरफ्तार कर लिया गया और एक कमीशन के सामने उसके अभियोग की सुनवाई हुई। कमीशन में तीन अँगरेज और तीन हिन्दुस्तानी थे। सर दिनकरराव तथा जयपुर

और ग्वालियर के राजा उसके भारतीय सदस्य थे। यूरोपीय सदस्यों ने गायकवाड़ को अपराधी ठहराया। किन्तु भारतीय सदस्यों ने कहा कि महाराजा पर लगाया गया अपराध पूर्णतया प्रमाणित नहीं होता है। इस प्रकार जब कमीशन में मतभेद हो गया तब हत्या का अभियोग उठा लिया गया और महाराजा को, यह कारण दिखलाकर कि उसका शासन-प्रबन्ध बुरा है, गद्दी से उतार दिया गया। वह मदरास भेज दिया गया और वहाँ सन् १८१३ ई० में उसकी मृत्यु, हो गई। सयाजीराव नामक एक बालक जिसका राजवंश से दूर का सम्बन्ध था, गद्दी पर बिठाया गया। उसकी नाबालगी में राज्य का सारा प्रबन्ध सर टी माधवराव ने किया। सयाजीराव एक योग्य शासक सिद्ध हुआ। उसके राजत्वकाल में बड़ौदा ने बड़ी उन्नति की है।

राजपूत-राज्यों की दशा सुधर गई। राजाओं और सरदारों ने अपने लड़कों को मेयो कालेज में भेजा और समाज की बुरी प्रथाओं को दूर करने का प्रयत्न किया। उनमें से कुछ ने—उदाहरणार्थ जयपुर के महाराजा ने—अपनी उदारता का परिचय दिया और अँगरेजी शिक्षा को प्रोत्साहित किया।

सन् १८९० ई० में मनीपुर की पहाड़ी रियासत में उपद्रव खड़ा हो गया। वहाँ के राजा को उसके भाई ने जो सेनापति था, गद्दी से उतार दिया। शासन में बड़ी गड़बड़ी फैल गई। जब भारत-सरकार ने सेनापति के विरुद्ध कड़ी कार्यवाही की तब उसने कुछ अँगरेज अफसरों को प्रलोभन देकर अपने महल में बुलाया और उन्हें मरवा डाला। ब्रिटिश सेना ने तुरन्त उससे इस अपराध का बदला लिया। सेनापति और उसके साथियों पर मुकदमा चलाया गया और उन्हें फाँसी दी गई। उस वंश का एक छोटा-सा लड़का गद्दी पर बिठाया गया और शासन का कार्य एक अँगरेज रेजीडेंट के हाथ में सौंप दिया गया।

इस घटना के थोड़े ही समय बाद भारत-सरकार को सन् १८९२ ई० के अन्तिम दिनों में किलात की गद्दी के मामलों में हस्तक्षेप करना पड़ा। किलात के खाँ ने कई हिंसापूर्ण कार्य किये, उसने ९४ वर्ष के बूढ़े वजीर को मरवा डाला। उसकी जगह उसका लड़का गद्दी पर बिठाया गया।

लार्ड लैन्सडौन ने पूर्वी सीमा पर रहनेवाली कुछ जंगली जातियों पर संरक्षित राज्य स्थापित किया। इसके अतिरिक्त उसने शान राज्यों के साथ एक समझौता किया जिसके अनुसार उन्होंने ब्रिटिश सरकार को कर देना स्वीकार किया।

संक्षिप्त सनवार विवरण

अवध का काश्तकारी कानून	..	..	१८६८ ई०
पंजाब का काश्तकारी कानून	..	..	१८६९ ,,
बंगाल में दुर्भिक्ष	..	..	१८७३-७४ ,,

गायकवाड़ का गद्दी से उतारा जाना	१८७४ ई०
प्रिंस आफ वेल्स का आगमन	१८७५ „
आर्यसमाज और थियोसोफिकल सोसाइटी की स्थापना	१८७५ „
दिल्ली-दरबार	१८७७ „
अलीगढ़ कालेज की स्थापना	१८७८ „
लार्ड लिटन का वर्नाक्यूलर प्रेस-ऐक्ट	१८७८ „
वर्नाक्यूलर प्रेस-ऐक्ट का रद होना	१८८१ „
पंजाब-यूनिवर्सिटी की स्थापना	१८८२ „
इलबर्ट बिल-आन्दोलन	१८८३ „
इंडियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना	१८८५ „
अवध का लगान-सम्बन्धी कानून	१८८६ „
ग्वालियर के किले का लौटाना	१८८६ „
पंजाब का लगान-सम्बन्धी कानून	१८८७ „
विक्टोरिया की जुबिली	१८८७ „
इलाहाबाद-यूनिवर्सिटी की स्थापना	१८८७ „
मनीपुर की रियासत का झगड़ा	१८९० „
लार्ड क्रास का कौंसिल-ऐक्ट	१८९२ „
प्लेग का बम्बई में आरम्भ होना	१८९६ „
संयुक्तप्रान्त में भीषण दुर्भिक्ष	१८९६-९७ „

(४) लार्ड कर्जन का शासन-काल (१८९९-१९०५)

एक प्रतिभाशाली वायसराय—लार्ड कर्जन (Lord Curzon) सन् १८९९ ई० में वायसराय होकर आया। उस समय उसकी अवस्था पूरे चालीस वर्ष की भी नहीं थी। लार्ड डलहौजी को छोड़कर जितने भी गवर्नर-जनरल आये थे उनमें वह सबसे कम अवस्था का था। भारत तथा उसके निवासियों से वह भली-भाँति परिचित था। उसमें वक्तृता-शक्ति की योग्यता तथा महत्त्वाकांक्षा थी। इसके अतिरिक्त उसमें एक गुण यह था कि बड़ा परिश्रमी था। कितना भी काम करता, वह कभी थकता नहीं था। वह बड़े उत्साह और परिश्रम के साथ शासन की समस्याओं को हल करने में जुट जाता था। जो लोग उसके सम्पर्क में आये उन सबको उसने अपनी अपूर्व कार्य-शक्ति दिखाकर चकित कर दिया।

उसके सामने मुख्य प्रश्न—भारत में लार्ड कर्जन के सामने तीन बड़े प्रश्न उपस्थित थे। (१) पश्चिमोत्तर सीमा के झगड़े को तय करना, (२) प्लेग और अकाल से बचने का उपाय सोचना तथा (३) शासन में सुधार कर उसको एक नया रूप देना जो परिवर्तित अवस्थाओं के उपयुक्त हों। इन प्रश्नों का सामना

उसने बड़े साहस के साथ किया। आवश्यकता से अधिक जोश में आकर वह बहुधा ऐसे काम कर बैठता था कि भारतीय लोकमत उससे रुष्ट और असन्तुष्ट हो जाता था। किन्तु वह सदा धैर्य के साथ अपने प्रयत्न में लगा रहा और निराश होकर उसने कभी किसी काम को बीच में नहीं छोड़ा।

पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त—भारत में आने के बाद तुरन्त ही, लार्ड कर्जन को चितराल की समस्या का सामना करना पड़ा। चितराल में रूसी लोगों के षड्यन्त्र का भय रहता था। शत्रु के आक्रमण को रोकने तथा सीमाप्रान्त में शान्ति कायम रखने के लिए एक सेना नियत की गई। सड़क ठीक की गई और साल दो साल के बाद तार लगा दिया गया।

चितराल के प्रश्न के बारे में लार्ड कर्जन को पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त की ओर ध्यान देना पड़ा। वह 'आगे बढ़ने की नीति' का विरोधी था। उसने अपने लिए एक बीच का रास्ता नियत किया और प्रस्ताव किया कि अँगरेजी फौजें आगे के स्थानों से हटा ली जायँ; सरहदी प्रदेश की रक्षा के लिए वहाँ की जातियों की सेना से काम लिया जाय और उसके पीछे ब्रिटिश राज्य की सीमा के इस पार अँगरेजी फौजों को रक्खा जाय ताकि आवश्यकता पड़ने पर वे उसकी सहायता कर सकें। सीमा प्रान्तीय शासन का अधिकार पंजाब-सरकार से ले लिया गया क्योंकि वह उस प्रान्त का समुचित प्रबन्ध करने में विफल हो चुकी थी। सन् १९०१ ई० में लार्ड कर्जन ने पश्चिमोत्तर सीमा-प्रान्त को एक नया सूबा बना दिया और उसे एक कमिश्नर के सुपुर्द कर दिया। पेशावर उसकी राजधानी बनाई गई। पंजाब के 'सिविलियन' अफसरों ने इस व्यवस्था का घोर विरोध किया परन्तु उनके विरोध पर कुछ ध्यान नहीं दिया गया।

जब से उक्त प्रान्त की सृष्टि हुई तब से सन् १९०८ ई० के उपद्रव के सिवाय, सीमाप्रान्त में बराबर शान्ति कायम रही। ब्रिटिश सरकार और सरहदी प्रदेश के सरदारों के बीच पहले की अपेक्षा अधिक सन्तोषप्रद सम्बन्ध स्थापित हो गया है।

पुराने पश्चिमोत्तर प्रान्त का नाम बदल कर 'आगरा और अवध का संयुक्त-प्रान्त' रख दिया गया। उसकी राजधानी इलाहाबाद हो गई। किन्तु अब गवर्नर लखनऊ में रहता है और वहीं हाल में सेक्रेटेरियट का दफ्तर उठकर चला गया है।

अफगानिस्तान—ब्रिटिश सरकार की नीति थी कि अफगानिस्तान को एक तटस्थ मध्यस्थ राज्य बनाये रक्खे और किसी भी विदेशी शक्ति को उसके मामलों में हस्तक्षेप न करने दे। अब्दुर्रहमान सन् १९०१ ई० में मर गया। उसके बाद उसका बेटा हबीबुल्ला गद्दी पर बैठा। हबीबुल्ला ने यह मानने से इनकार कर दिया कि इसके पिता और ब्रिटिश सरकार के बीच जो समझौता हुआ था वह बिलकुल व्यक्तिगत था। उसने इस बात पर जोर दिया कि उन सन्धियों पर

अब भी अमल करना चाहिए। इसके सिवाय, ब्रिटिश सरकार की अपेक्षा रूस के प्रति उसका झुकाव अधिक था। बड़ी कठिनाई के साथ वह ब्रिटिश राजदूत से भेंट करने के लिए राजी किया गया। अन्त में उसके साथ एक सन्धि हो गई। ब्रिटिश राजदूत को उसकी माँगों को स्वीकार करना पड़ा।

फारस की खाड़ी—लार्ड कर्जन ने इस बात की कोशिश की कि फारस की खाड़ी पर अँगरेजों का प्रभाव सुरक्षित रहे। खाड़ी में शान्ति कायम रखने के लिए उसके किनारे बसनेवाले लोगों की रक्षा के लिए और विदेशी शक्तियों को वहाँ से अलग करने के लिए ऐसा करना आवश्यक था। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक भाग में, जर्मनी की इच्छा थी कि एक रेलवे लाइन बनवाकर कुस्तुन्तुनियाँ को फारस की खाड़ी से मिला दें। टर्की, फ्रांस और रूस भी खाड़ी पर अपना अधिकार जमाना चाहते थे। ग्रेट ब्रिटेन ने स्पष्ट रूप से कह दिया कि यदि ऐसा करने का प्रयत्न किया जायगा तो वह ब्रिटिश हित के विरुद्ध समझा जायगा।

तिब्बत पर चढ़ाई—उत्तरी-पूर्वी सीमा पर तिब्बत का देश नाम-मात्र के लिए चीन के अधीन था। वहाँ दलाईलामा की ओर से एक कौंसिल शासन करती थी। दलाईलामा तिब्बत के बौद्धों के दो नेताओं में से एक था। तिब्बतवाले अँगरेजों की नीति और नियत पर बहुत सन्देह करते थे। सन् १८८६ ई० में तिब्बत की राजधानी लासा को एक मिशन भेजा गया किन्तु चीनवालों के विरोध करने पर वह वापस बुला लिया गया। बाद को एक व्यापारिक सन्धि की गई। किन्तु तिब्बतवालों ने उस सन्धि का पालन नहीं किया। जब तिब्बत से रूस को राजदूत भेजे गये तब ब्रिटिश सरकार बहुत भयभीत हो गई।

भारत आने पर लार्ड कर्जन ने देखा कि तिब्बत का मामला झंझट में पड़ा हुआ है। इँगलेंड की सरकार की सलाह से नये वायसराय ने १९०३ ई० के नवम्बर मास में, कर्नल यंगहस्बेंड (Colonel Younghusband) की अध्यक्षता में लासा को एक मिशन भेजा। दलाईलामा भाग गया और नगर पर कब्जा कर लिया गया। वहाँ के प्रमुख राजकर्मचारियों के साथ एक समझौता किया गया। इस समझौते के अनुसार उन्होंने हरजाना देना और अँगरेजों के साथ व्यापार करना स्वीकार किया। यह चढ़ाई निरर्थक सिद्ध हुई क्योंकि तिब्बतवाले चीन की अधीनता में छोड़ दिये गये थे। व्यापार की उन्नति के लिए कुछ भी नहीं किया गया।

प्लेग और अकाल—पहले-पहल प्लेग सन् १८९६ ई० में बम्बई में फैला था। वहाँ से वह भारत के अन्य भागों में फैला और बहुत-से स्त्री-पुरुष काल के ग्रास हुए। जब सरकार ने इस रोग से बचने के लिए कुछ प्रारम्भिक कार्रवाई की तब कई स्थानों पर उपद्रव हो गये। सन् १९०० ई० में लार्ड कर्जन ने एक प्रस्ताव जारी किया जिसमें उसने अनिवार्य रूप से टीका लगवाने और मकानों

की तलाशी लेने की निन्दा की। सरकारी अफसरों को उसने आदेश किया कि टीका आदि लगवाने के लिए लोगों को समझा-बुझाकर राजी किया जाय, बल-प्रयोग न किया जाय। प्लेग के कारणों की जाँच-पड़ताल करने की आज्ञा दी गई। इस भीषण रोग को रोकने के उपाय किये गये। सन् १८९९-१९०० ई० में वर्षा न होने के कारण, पंजाब, राजपूताना, बड़ौदा तथा बम्बई, मध्यप्रान्त तथा गुजरात में घोर अकाल पड़ गया। लाखों पशु मर गये। लोग बड़ी मुसीबत में पड़ गये, उनकी दशा शोचनीय हो गई। अकाल-ग्रस्त प्रदेशों में वायसराय ने स्वयं दौरा किया और एक सहायक फण्ड स्थापित किया। जमींदारों और किसानों को बहुत-सा रुपया कर्ज दिया गया। उनकी मालगुजारी माफ कर दी गई।

आर्थिक सुधार—इनकमटैक्स लगाने के लिए वार्षिक आय कम से कम ६६ पौंड होनी चाहिए। नमक-कर घटाकर आधा कर दिया गया। केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकार के बीच पहले की अपेक्षा अधिक सन्तोषप्रद आर्थिक व्यवस्था की गई। सन् १९०२ ई० में एक प्रस्ताव जारी किया गया जिसमें मालगुजारी की नीति के सिद्धान्तों का समावेश किया गया। यह सिद्धान्त कि लगान की अधिकता के ही कारण अकाल पड़ा, गलत साबित हो गया। यह नियम कर दिया गया कि लगान आदि की वसूली में सख्ती न की जाय।

पंजाब में भूमि-रक्षा कानून—लार्ड कर्जन का ध्यान पंजाब के किसानों की ओर आकर्षित हुआ। गरीब किसानों की जमीन धीरे-धीरे महाजनों के हाथ में चली जा रही थी। वे बहुत गरीब हो गये थे। अक्टूबर सन् १९०० ई० में एक कानून पास किया गया। इस कानून से दूकानदार, साहूकार और पेशेवाले लोग मौरूसी काश्तकारों से जमीन नहीं खरीद सकते थे और न बिना सरकार की अनुमति लिये हुए बीस साल से अधिक किसी खेत को रेहन ही रख सकते थे। यह भी नियम हो गया कि किसी डिग्री में मौरूसी काश्तकार की जमीन नहीं बेची जा सकती।

पंजाब के किसानों के हक में यह कानून बहुत हितकर सिद्ध हुआ। जमीन का बेंचना अथवा उसे बन्धक में रखना बहुत कम हो गया। जमींदारों और किसानों के हाथ से जो जमीनें निकल गई थीं उनमें से अधिकांश वापस मिल गईं।

सन् १९०१ ई० में लार्ड कर्जन ने कृषि की देख-भाल करने के लिए एक "इन्सपेक्टर-जनरल नियुक्त किया। उसकी सहायता के लिए कुछ विशेषज्ञ भी नियत कर दिये गये। इन विशेषज्ञों का काम अन्वेषण करना तथा कृषि की भावी उन्नति के लिए उपाय बतलाना था।

कृषक-वर्ग के हित में लाभदायक सिद्ध होनेवाला दूसरा कानून 'कोआपरेटिव क्रैडिट सोसाइटीज ऐक्ट' था। यह कानून किसानों के कर्ज के भार को घटाने के

लिए सन् १९०४ ई० में पास किया गया था। इसके अनुसार किसानों को आर्थिक सहायता देने के लिए सहयोग-समितियों की स्थापना का प्रबन्ध किया गया।

व्यापार और दस्तकारी—व्यापार और उद्योग-धन्धों का एक नया विभाग खोला गया। वायसराय की कार्यकारिणी समिति का एक सदस्य इसका अध्यक्ष हुआ। पहला अध्यक्ष सर जान हिवेट (Sir John Hewett) था। उसने रेल की लाइनों का विस्तार किया और तारों में, जो पहले ही चलाये जा चुके थे, सुधार किया। रेलवे-सम्बन्धी सभी मामले एक रेलवे बोर्ड के सुपुर्द कर दिये गये।

लार्ड कर्जन ने उद्योग-धन्धों को बहुत प्रोत्साहन दिया। उसी के समय में जमशेदजी ताता की बड़ी बड़ी योजनाएँ काम में लाई गईं और बँगलोर में 'इंडियन इन्स्टीट्यूट आफ सायन्स' की स्थापना हुई। लार्ड कर्जन से उसे बड़ी सहायता मिली।

विक्टोरिया की मृत्यु (१९०१)—सन् १९०१ ई० में विक्टोरिया का देहान्त हो गया। वह एक न्यायप्रिय और उदार महारानी थी। अपनी भारतीय प्रजा के कल्याण का उसे सदैव ध्यान रहता था। जब वायसराय ने फरवरी सन् १९०१ ई० में उसका स्मारक बनवाने का प्रस्ताव किया तब भारतीय नरेशों और जनता ने उसका हृदय से समर्थन किया। विक्टोरिया के स्मारक की गिनती कलकत्ता की बहुत सुन्दर इमारतों में है। यह स्मारक उसकी नेकी और न्याय का हमें सदा स्मरण करायेगा।

दिल्ली का दरबार (१९०३)—सम्राट् एडवर्ड सप्तम का अभिषेकोत्सव मनाने के लिए लार्ड कर्जन ने सन् १९०३ ई० में नये वर्ष के पहले दिन दिल्ली में एक बड़ा शानदार दरबार किया। उससे अधिक शान का दरबार आज तक नहीं हुआ था। सम्राट् का सन्देश सुनाया गया। इसमें यह कहा गया कि देशी राज्यों ने अकाल के समय जो कर्जा लिया था उसका तीन साल का सूद माफ कर दिया गया। परन्तु जनता के लिए कुछ भी नहीं किया गया। भारतीय समाचार-पत्रों में दरबार की कड़ी आलोचना हुई। परन्तु लार्ड कर्जन ने अपनी नीति का समर्थन किया और कहा कि दरबार से भारतीय जनता में एकता की भावना उत्पन्न हुई है और उसकी राजभक्ति दृढ़ हुई है। भारतीय लोकमत इस विचार से सहमत नहीं था। उस समय जब कि देश में घोर अकाल पड़ रहा था दरबार का ठाट-बाट, बहुत-से लोगों को अच्छा नहीं लगा।

शिक्षा—लार्ड कर्जन ने शिक्षा में जो सुधार किया उसका शिक्षित लोगों ने विरोध किया। वह उच्च शिक्षा में परिवर्तन करना और विश्वविद्यालयों पर सरकार का अधिक नियन्त्रण स्थापित करना चाहता था। उसने सन् १९०१ ई० में शिमला में एक सभा की और कहा कि मेरा उद्देश्य देश की शिक्षा-प्रणाली का संशोधन करना है। इसके बाद जनवरी सन् १९०२ ई० में एक कमीशन

नियुक्त किया गया। उसका काम विश्वविद्यालयों की दशा की जाँच करना और ऐसे उपायों का निर्देश करना था जिनसे कि विद्या की उन्नति हो और पढ़ाई अच्छी हो सके। कमीशन की सिफारिशों को लेकर यूनिवर्सिटी-बिल तैयार किया गया और वह बिल मार्च सन् १९०४ ई० में पास होकर कानून बन गया। भारतीयों ने, जिनमें प्रधान श्री गोपाल कृष्ण गोखले थे, उसका घोर विरोध किया। वायसराय की नीयत पर सन्देह किया गया और उस पर यह दोष लगाया गया कि उसने उच्च शिक्षा की उन्नति को रोकने का प्रयत्न किया था।

उसी साल, वायसराय ने सरकार की शिक्षा-नीति पर एक प्रस्ताव जारी किया जिसमें अफसरों के पथ-प्रदर्शन के लिए सिद्धान्त निर्धारित किये गये। वह भी दोषरहित नहीं था, किन्तु यह मानना पड़ेगा कि लार्ड कर्जन ने सरकार की सम्पूर्ण शिक्षा-नीति में एक नई शक्ति और जीवन का संचार कर दिया।

प्राचीन स्मारकों की रक्षा—लार्ड कर्जन को भ्रमण का बड़ा शौक था। हिन्दुओं और मुसलमानों के प्राचीन स्मारकों की रक्षा करने की उसकी प्रबल इच्छा थी। सन् १९०४ ई० में 'ऐंशेंट मौन्यूमेन्ट्स ऐक्ट' (प्राचीन स्मारक कानून) पास हुआ। इसकी बदौलत अनेक प्राचीन इमारतें नष्ट होने से बच गईं। पुरातत्त्व का एक विभाग खोला गया और प्राचीन इमारतों की रक्षा तथा मरम्मत के काम की निगरानी करने के लिए एक डाइरेक्टर नियुक्त किया गया। यह डाइरेक्टर ही उस विभाग का अध्यक्ष हुआ। लार्ड कर्जन का यह कार्य चिरस्थायी रहेगा और कला तथा संस्कृति के प्रेमी सदा उसकी प्रशंसा करेंगे।

बंग-विच्छेद—लार्ड कर्जन के शासन-काल का कोई भी काम जनता के लिए इतना अप्रिय नहीं सिद्ध हुआ जितना कि बंगाल का विच्छेद। सम्पूर्ण बंगाली समाज के विरोध करने पर भी बंगाल दो भागों में विभक्त कर दिया गया। बात यह थी कि बंगाल का प्रान्त बहुत बड़ा हो गया था, उसका प्रबन्ध ठीक न था। सरकारी पक्ष का कहना था कि पूर्वी बंगाल की उपेक्षा की जाती है, वहाँ के लोगों की नैतिक अथवा भौतिक उन्नति के लिए कुछ भी नहीं किया जाता। फलतः सन् १९०५ ई० में एक नया सूबा बनाया गया जिसका नाम 'पूर्वी बंगाल और आसाम' पड़ा। यह प्रान्त एक लेफ्टिनेंट गवर्नर के सुपुर्द किया गया और ढाका उसकी राजधानी हुई। शासन-प्रबन्ध के सुभीते की दृष्टि से लार्ड कर्जन ने अपने काम को न्याय-संगत सिद्ध किया। इँगलैंड की सरकार ने उसके मत को स्वीकार कर लिया।

देश में बड़ा भारी आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। बंग-विच्छेद का विरोध करने के लिए अनेक सार्वजनिक सभाएँ की गईं। स्वदेशी वस्तुओं के प्रचार और विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार पर जोर दिया गया। सरकार के कार्य पर बड़ा क्रोध प्रकट किया गया। बंग-विच्छेद के विरुद्ध जो आन्दोलन किया गया उसके नेता

पीछे से सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी थे। उन्होंने वंग-विच्छेद को रद करने का भरसक प्रयत्न किया।

सन् १९११ ई० में बंगाल का विच्छेद रद कर दिया गया। राज्याभिषेक के अवसर पर जो दरबार हुआ, उसमें सम्राट् ने घोषणा की कि आसाम फिर एक चीफ कमिश्नर के अधीन कर दिया जाता है और छोटा नागपुर-समेत बिहार और उड़ीसा को नया सूबा बनाया जाता है जिसकी राजधानी पटना होगी।

भारत के देशी राज्य—वायसराय ने भारत के देशी राज्यों की ओर काफी ध्यान दिया। उसने बतलाया कि "ब्रिटिश सरकार और देशी राजाओं के बीच कैसा सम्बन्ध होना चाहिए। उसने देशी नरेशों से तत्परता के साथ अपने कर्तव्यों का पालन करने के लिए कहा। उसने कहा कि ये देशी राज्य साम्राज्य के शासन-रूपी शृंखला की कड़ियाँ हैं, यह कभी ठीक (हितकर) न होगा कि ब्रिटिश कड़ियाँ मजबूत हों और देशी कड़ियाँ कमजोर हों।"

अपने शासन-काल में वह ४० राज्यों में गया और उन राज्यों की वास्तविक दशा का ज्ञान प्राप्त करने का उसने प्रयत्न किया। उसने ब्रिटिश शासन के विभिन्न विभागों के अध्यक्षों के साथ देशी नरेशों का सम्पर्क कराया और उनके साथ व्यक्तिगत रूप से परामर्श किया। 'इम्पीरियल सर्विस' की फौजें प्रधान सेनापति के अधीन कर दी गईं। ब्रिटिश अफसर उनका निरीक्षण करने लगे। राजवंशों के लड़कों को सैनिक शिक्षा देने और उनको सेना में भर्ती करने के लिए उसने सन् १९०१ ई० में, 'इम्पीरियल केडेट कोर' स्थापित की। राज-कुमारों की शिक्षा में उसने बड़ी दिलचस्पी ली और उनके पाठ्य ग्रन्थों की विवरण-पत्रिका का संशोधन किया। सन् १९०२ ई० में बरार के सम्बन्ध में उसने निजाम के साथ एक समझौता किया। बरार का प्रान्त सदा के लिए पट्टे पर १,६८,००० पौंड सालाना पर ब्रिटिश सरकार को दे दिया गया और नाम-मात्र के लिए हैदराबाद का प्रभुत्व उस पर सुरक्षित रक्खा गया। निजाम सन्तुष्ट हो गया और इस प्रकार एक पुराना झगड़ा का अन्त हो गया।

होल्कर राज्य का शासन-प्रबन्ध खराब था, इसलिए सन् १९०३ ई० में वहाँ का राजा गद्दी से उतार दिया गया। उसके स्थान में उसका पुत्र उत्तराधिकारी स्वीकार किया गया।

दो वर्ष बाद काश्मीर के महाराजा को उनके पुराने अधिकार लौटा दिये गये। वायसराय ने जनता को विश्वास दिलाया कि सरकार का भी यह इरादा नहीं था कि काश्मीर को ब्रिटिश राज्य में मिला लिया जाय।

लार्ड कर्जन का इस्तीफा (सन् १९०५ ई०)—लार्ड कर्जन और प्रधान सेनापति लार्ड किचनर (Kitchner) के बीच घोर मतभेद पैदा हो गया इसका परिणाम अन्त में यह हुआ कि सन् १९०५ ई० में लार्ड कर्जन ने इस्तीफा

दे दिया। उनका मतभेद सैनिक विभाग के संगठन तथा सैनिक सदस्य की स्थिति के विषय में था। लार्ड कर्जन का मत था कि सेना को सिविल अधिकारियों के मातहत रहना चाहिए। इस सिद्धान्त की रक्षा के लिए उसने अपने उच्च पद का त्याग कर दिया।

लार्ड कर्जन की सफलता—लार्ड कर्जन साम्राज्यवादी था। उसके कार्यों और भाषणों का देश में बड़ा विरोध हुआ। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उसमें बड़ी नैसर्गिक योग्यता थी, किन्तु शासन की उत्तमता के लिए जोश में आकर वह बहुधा मर्यादा का उल्लंघन कर बैठता था। उसकी नीति की तीव्र आलोचना करनेवाले शिक्षित समाज के लोगों के मत की उसने अधिक पर्वाह नहीं की। उसमें दो बड़े दोष थे। वह आलोचना को सहन नहीं कर सकता था बल्कि उससे घबड़ाता और दुखित होता था। वाद-विवाद करते समय छोटी बातों और बड़े महत्त्वपूर्ण प्रश्नों के बीच कोई भेद नहीं करता था। किन्तु इस बात को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता कि उसने अपनी शक्ति और योग्यता के अनुसार अपने देश और राजा की सेवा करने का पूर्ण प्रयत्न किया, जब तक वह भारत में रहा, उसने कभी अपने कर्त्तव्य का पालन करने से मुख नहीं मोड़ा।

संक्षिप्त सन्वार विवरण

पंजाब का भूमि-रक्षा-कानून	१९०० ई०
विक्टोरिया की मृत्यु	१९०१ ,,
बरार का समझौता	१९०२ ,,
शिक्षा-कमीशन	१९०२ ,,
दिल्ली का दरबार	१९०३ ,,
तिब्बत का मिशन	१९०३ ,,
होल्कर को गद्दी से उतारना	१९०३ ,,
इंडियन यूनिवर्सिटीज ऐक्ट	१९०४ ,,
सहायक-समिति-ऐक्ट	१९०४ ,,
वंग-विच्छेद	१९०५ ,,
लार्ड कर्जन का इस्तीफा	१९०५ ,,

(५) राजनीतिक अशान्ति और शासन-सुधार (सन् १९०५-२१ ई०)

राजनीतिक स्थिति—लार्ड कर्जन ने उतावलेपन के साथ जो सुधार किये और भारतीय लोकमत की जो अवहेलना की उससे देश में बड़ी अशान्ति उत्पन्न हो गई। प्लेग, अकाल तथा आर्थिक संकट ने जनता में असन्तोष का भाव पैदा कर दिया। सरकार की स्वतन्त्र व्यापार की नीति के कारण व्यापारी वर्ग

भारत माता [ए० एन० टैगोर]

पहाड़ी चित्र-कला
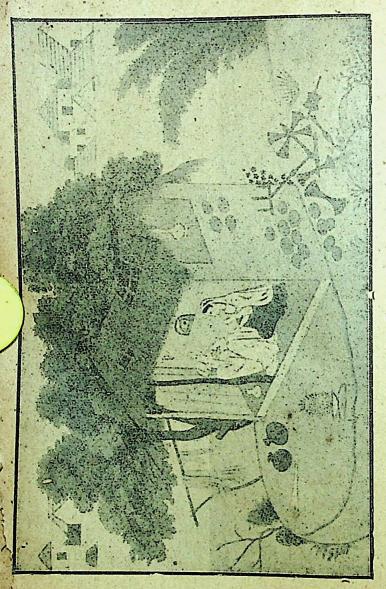
को हानि पहुँची। विदेशी प्रतिद्वन्द्विता के कारण भारत के उद्योग-धन्धे शिथिल पड़ गये और बहुत-से आदमी बेकार हो गये। शासन का खर्च बढ़ जाने के कारण लोगों पर भारी भारी टैक्स लगा दिये गये। शहर और देहात के लोगों को जीविका चलाना कठिन हो गया। भारतीय लोग आर्थिक प्रश्नों का अध्ययन करने लगे। उन्होंने सरकार का ध्यान जनता की बढ़ती हुई गरीबी की ओर आकर्षित किया। स्वामी विवेकानन्द के धार्मिक पुनरुद्धार-कार्य ने बंगाल में एक नई जान पैदा कर दी और राष्ट्रीयता के भाव को दृढ़ कर दिया। रूस-जापान-युद्ध (सन् १९०५ ई०) में, जापान जैसे छोटे से एशियाई देश ने रूस जैसे विशाल यूरोपीय देश को पराजित कर दिया। इस विजय ने शिक्षित लोगों में आशा का संचार कर दिया और उनकी राजनीतिक आकांक्षाओं को प्रोत्साहित किया। विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार का प्रचार किया गया और कुछ स्थानों में बल का भी प्रयोग हुआ। कांग्रेस के अन्दर भी, नीति और कार्यप्रणाली के सम्बन्ध में घोर मतभेद उत्पन्न हो गया। गरम-दल के नेता महाराष्ट्र में बाल गंगाधर तिलक, पंजाब में लाला लाजपतराय और बंगाल में अरविन्द घोष थे। इनके विरुद्ध दादाभाई नौरोजी, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, गोखले और पंडित मदनमोहन मालवीय जी आदि नरम विचार के लोग थे। दादाभाई नौरोजी ने सन् १९०६ ई० में, कलकत्ता-कांग्रेस के सभापति की हैसियत से, पहले पहल स्वराज्य को कांग्रेस का ध्येय बतलाया कांग्रेस में बड़ा जोश फैल गया और बहिष्कार, स्वदेशी-प्रचार तथा राष्ट्रीय शिक्षा के सम्बन्ध में प्रस्ताव पास किये गये। बंगाल के कुछ भागों में ऐसी समितियाँ स्थापित की गईं जिनका काम सरकार के विरुद्ध तरह तरह के सिद्धान्तों का प्रचार करना था। इन समितियों ने देश के नवयुवकों को क्रान्तिकारी आन्दोलन में सम्मिलित होने के लिए उत्तेजित किया। सन् १९०७ ई० में जब सूरत में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ तो गरम-दल के नेताओं ने नरम-दल के लोगों की नीति को नापसन्द किया और शान्तिमय उपायों का घोर विरोध किया। दोनों दलों में झगड़ा हो गया और कांग्रेस भंग हो गई। नरम-दल के नेता कांग्रेस का ध्येय स्थिर करने के लिए तुरन्त एक जगह पर एकत्रित हुए। दक्षिण में तिलक महाराज की प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गई। महाराष्ट्र के लोगों पर उनका बहुत प्रभाव जम गया। 'केसरी' में प्रकाशित उनके लेख दूर-दूर तक पढ़े जाने लगे। इन लेखों ने लोगों के हृदय में राजनीतिक सुधार के लिए एक महती आकांक्षा उत्पन्न कर दी।

मुसलमान लोग भी अपनी राजनीतिक अवस्था को सुधारने के लिए उत्सुक थे। अक्टूबर सन् १९०६ ई० में आगा खाँ की अध्यक्षता में एक डेप्यूटेशन वायसराय के पास गया। उसने पृथक् निर्वाचन (Separate Representation) की व्यवस्था करने की प्रार्थना की। लार्ड मिन्टो इस विचार से सहमत हो गया और

उसने मुसलमानों की माँग का समर्थन किया। इसी समय मुस्लिम लीग की स्थापना हुई। ब्रिटिश सरकार के प्रति राजभक्ति प्रकट करते हुए उसने अल्पसंख्यक जातियों (minorities) के विशेष अधिकारों पर जोर दिया और साम्राज्य के अन्तर्गत स्वायत्त शासन प्राप्त करना अपना ध्येय स्थिर किया।

सन् १९०७-८ ई० में बंगाल में क्रान्तिकारियों ने जहाँ-तहाँ अँगरेजों को बम फेंक कर मारा। विद्यार्थियों में बड़ी हलचल मची। श्री तिलक के कुछ लेखों को राजद्रोहात्मक बतलाकर सरकार ने उन्हें ६ वर्ष की कैद की सजा दी। एक पुराने कानून के अनुसार, लाला लाजपतराय भी निर्वासित कर दिये गये। जातीय ईर्ष्या-द्वेष और वर्गीय शत्रुता ने परिस्थिति को और भी अधिक चिन्तनीय बना दिया। क्रान्तिकारियों और षड्यन्त्रकारियों के हाथों से अनेक व्यक्ति मारे गये। बम का फेंकना एक साधारण बात हो गई। सरकार को नष्ट करने के लिए, यूरोप की भाँति यहाँ भी गुप्त समितियाँ संगठित की गईं। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि स्थिति की गम्भीरता तीन कारणों से बढ़ गई थी; (क) रूस पर जापान की विजय, (ख) राष्ट्रीयता का नया जोश और (ग) जनता की बढ़ती हुई निर्धनता।

मार्ले मिन्टो-सुधार (सन् १९०९ ई०)—वायसराय लार्ड मिन्टो, (Lord Minto) भारत-सचिव लार्ड मार्ले (Lord Morley) के साथ स्थिति पर भली भाँति विचार कर चुका था। लार्ड मार्ले एक बड़ा विद्वान् राजनीतिज्ञ था। भारतीय आकांक्षाओं के प्रति दोनों की सहानुभूति थी और दोनों उचित समय पर कुछ शासन-सुधार देकर जनता को सन्तुष्ट करना चाहते थे। लार्ड मार्ले का विचार था कि गरम-दल के लोगों की शक्ति को कमजोर करने का सबसे अच्छा उपाय शासन-सुधार करना है। उसके प्रस्तावों के आधार पर अन्त में 'गवर्नमेंट आफ इंडिया ऐक्ट' सन् १९०९ में पास हुआ। इस ऐक्ट के अनुसार शासन-विधान में कई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो गये। वायसराय की कार्यकारिणी समिति में, एक भारतीय सदस्य बढ़ा दिया गया। कलकत्ता हाईकोर्ट के प्रसिद्ध बैरिस्टर सर सत्येन्द्रप्रसन्नसिंह (जिन्हें पीछे से लार्ड की उपाधि मिली) वायसराय की कौंसिल के कानूनी मेम्बर नियुक्त किये गये। कौंसिलों के सदस्यों की संख्या बढ़ा दी गई और उनके अधिकार भी बढ़ा दिये गये। मदरास और बम्बई की कार्यकारिणी समितियों में भी और सदस्य बढ़ाये गये। लेफ्टिनेंट गवर्नरों द्वारा शासित प्रान्तों में ऐसी समितियों की स्थापना की व्यवस्था की गई। बड़ी व्यवस्थापिका सभा के सदस्यों की संख्या २१ से बढ़ाकर ६० कर दी गई। विभिन्न श्रेणियों और हितों के प्रतिनिधि कौंसिलों में पहुँचें, इस बात पर ध्यान दिया गया। वायसराय की कौंसिल को छोड़कर, अन्य सभी कौंसिलों में गैर-सरकारी सदस्यों की संख्या आधे से अधिक रक्खी गई। मेम्बरों को बजट

पर वहस करने तथा उपप्रश्न पूछने का अधिकार दिया गया। नामजदगी के स्थान पर निर्वाचन का सिद्धान्त काम में लाया गया।

मार्ले-मिन्टो-सुधार अधूरा था। वह एक बड़े जन-समुदाय को सन्तुष्ट नहीं कर सका। पृथक् निर्वाचन का तीव्र विरोध किया गया और कहा गया कि उससे देश में फूट बढ़ेगी। अप्रत्यक्ष निर्वाचन (indirect election) और परिमित मताधिकार (limited franchise) नये विधान के दो बड़े दोष थे। इतने पर भी, श्री गोखले जैसे नरम दल के नेताओं ने शासन-सुधारों को कार्यान्वित करने की सलाह दी। परन्तु उनकी दृष्टि में भी ये सुधार पर्याप्त नहीं थे।

शिक्षा और कानून—यद्यपि लार्ड मिन्टो जनता के असन्तोष को कम करना चाहता था; परन्तु राजनीतिक अशान्ति को दवाने के लिए उसने बड़ी कड़ाई की। सन् १९०७ ई० में एक नया कानून (Sediti ons Meetings Act) पास किया गया और सन् १८१८ ई० का रेग्यूलेशन फिर से जारी किया गया। उस पुराने कानून के अनुसार लाला लाजपतराय, अजीतसिंह तथा ९ बंगाली नेता निर्वासित किये गये। राजद्रोहात्मक वातों को छापनेवाले और जनता को हिंसा के लिए उत्तेजित करनेवाले समाचार-पत्रों को दण्ड देने के निमित्त सन् १९१० ई० का प्रेस-ऐक्ट पास किया गया। जिस दिन यह प्रेस-ऐक्ट पास हुआ उसी दिन बंगाल के निर्वासित नेता छोड़ दिये गये।

मार्च सन् १९११ ई० में श्री गोखले ने बड़ी व्यवस्थापिका सभा में प्रारम्भिक शिक्षा (Elementary Education Bill.) के सम्बन्ध में अपना प्रस्ताव उपस्थित किया। उसका उद्देश्य सर्व-साधारण में शिक्षा का प्रचार करना था। किन्तु सरकारी विरोध के कारण वह प्रस्ताव स्वीकृत न हो सका।

लार्ड मिन्टो का चरित्र—लार्ड मिन्टो एक बुद्धिमान् और चतुर व्यक्ति था। अपनी चतुरता और दृढ़ता के कारण उसने सफलतापूर्वक एक कठिन परिस्थिति को अपने कावू में कर लिया। जहाँ पहले वैमनस्य और लड़ाई-झगड़ा फैला हुआ था वहाँ उसने सदिच्छा और शान्ति की स्थापना कर दी। भारतवासियों के लक्ष्य के साथ उसकी सहानुभूति थी। उसने उनके प्रति कभी घृणा अथवा उदासीनता का भाव नहीं दिखाया। यद्यपि उसने दमन-कानून पास किये तथापि अपनी स्वाभाविक दयालुता और शिष्टता के कारण वह सर्वप्रिय बन गया था। उसके शासन-काल में, भारत में ऐसे लोगों की कमी नहीं थी जो सख्ती और दमन करने के लिए चिल्ला रहे थे, परन्तु उनकी राय पर उसने कुछ भी ध्यान न दिया। अपनी विदाई के अवसर पर उसने जो व्याख्यान दिया उसमें उसने कहा था कि सवसे अधिक शक्तिशाली व्यक्ति वह है जिसे निर्बल कहलाने का भय नहीं है।

लार्ड मिन्टो सन् १९१० ई० में इँगलैंड वापस चला गया और लार्ड हार्डिञ्ज (Lord Hardinge) भारत का वायसराय होकर आया।

सम्राट् का आगमन (सन् १९११ ई०)—मई सन् १९१० ई० में सप्तम एडवर्ड की मृत्यु हो गई। उनके पुत्र, प्रिन्स आफ वेल्स पंचम जार्ज के नाम से गद्दी पर बैठे। लन्दन में राज्याभिषेक हो जाने के पश्चात् सम्राट् और सम्राज्ञी दोनों भारत आये। १२ दिसम्बर को दिल्ली में बड़ी धूम-धाम से एक दरबार किया गया और उसमें राज्याभिषेक की घोषणा की गई। सम्राट् ने भारतीय जनता को प्रसन्न करने के लिए उनके हितार्थ अनेक बातें कहीं। सैनिकों और 'सबार्डि-नेट ग्रेड' (Subordinate Grades) के नौकरों को एक महीने का अति-रिक्त वेतन दिया गया। सरकार ने ५० लाख रुपया जन-साधारण की शिक्षा के लिए भी दिया। भारत की राजधानी कलकत्ता से हटाकर दिल्ली कर दी गई। बंगाल का विच्छेद रद किया गया और आसाम फिर एक चीफ कमिश्नर के अधीन कर दिया गया। बिहार, उड़ीसा और छोटानागपुर को मिलाकर एक नया प्रान्त बनाया गया और उस पर शासन करने के लिए एक गवर्नर नियुक्त हुआ। पटना को इस प्रान्त की राजधानी बनाया गया। यह भी घोषणा की गई कि 'विक्टोरिया क्रास' (Victoria Cross) नामक पदक अब भारतीयों को भी मिल सकेगा। भारत और इँगलैंड दोनों देशों में इन परिवर्तनों की आलो-चना की गई। यह कहा गया कि राजधानी को कलकत्ता से दिल्ली ले जाने में बड़ी फिजूलखर्ची होगी। वंग-विच्छेद को रद किया जाना सरकार की कमजोरी का चिह्न समझा गया। किन्तु इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि दरबार ने, भारत-वासियों में, एकता के भाव को दृढ़ कर दिया। सम्राट् की उदारता और प्रजा-वत्सलता की सब जगह बड़ी प्रशंसा हुई।

रायल कमीशन—लार्ड हार्डिंज हिन्दुस्तानियों को सरकारी नौकरियों में एक बड़ा हिस्सा देना चाहता था। इसी उद्देश्य से उसने सन् १९१२ ई० में एक शाही कमीशन नियुक्त किया। कमीशन का काम नौकरियों की दशा की जाँच करना था। श्री गोपाल कृष्ण गोखले भी इस कमीशन के मेम्बर थे। अनेक दृष्टि-कोणों से उक्त विषय पर विचार किया गया और यद्यपि सदस्यों में मतभेद रहा तो भी सरकारी नौकरों को अपनी तरक्की की बड़ी आशा हो गई।

भारत के उद्योग-धंधों की दशा पर रिपोर्ट तैयार करने के लिए एक औद्यो-गिक कमीशन (Industrial Commission) भी नियुक्त किया गया। सन् १९१३ ई० के 'करेन्सी कमीशन' (Currency Commission) ने सरकार की आर्थिक स्थिति के आधार को दृढ़ करने और सिक्कों का अच्छा प्रबन्ध करने के लिए कुछ उपाय बतलाये।

शिक्षा और कानून—संयुक्त-प्रान्त के प्रसिद्ध नेता पंडित मदनमोहन मालवीय और दरभंगा-नरेश सर रामेश्वरसिंह ने काशी में एक हिन्दू-विश्वविद्यालय स्थापित करने की योजना तैयार की। लार्ड हार्डिंज की सरकार ने इस योजना के साथ अपनी सहानुभूति प्रकट की। फलतः सन् १९१५ ई० में 'दि हिन्दू यूनिवर्सिटी ऐक्ट' पास हुआ और लार्ड हार्डिंज ने एक विराट् सभा के सामने—जिसमें देशी नरेश, जमींदार एवं ताल्लुकेदार, सरकारी कर्मचारी, प्रोफेसर, विद्यार्थीगण तथा अन्य लोग सम्मिलित थे—फरवरी सन् १९१६ ई० में अपने हाथ से उसकी नींव रक्खी।

यूरोपीय, महायुद्ध (सन् १९१४ ई०) के छिड़ने के वाद भारत-रक्षा कानून (Defence of India Act) पास हुआ। इसके अनुसार, वायसराय को देश की रक्षा करने और शान्ति को सुरक्षित रखने के लिए विस्तृत अधिकार मिले।

यूरोपीय महायुद्ध (सन् १९१४-१९ ई०)—सन् १९१४ ई० में यूरोपीय युद्ध छिड़ गया और थोड़े ही समय में उसने बड़ा भीषण रूप धारण कर लिया। यूरोपीय राष्ट्रों की पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता और उनकी आकांक्षाओं का संघर्ष ही इस युद्ध का कारण था। लड़ाई छेड़ने का मौका इस प्रकार मिला। बोसनिया की राजधानी में आस्ट्रिया के आर्च ड्यूक और उसकी स्त्री दोनों की हत्या की गई। जिन व्यक्तियों ने यह घृणित कार्य किया वे आस्ट्रिया की प्रजा थे किन्तु थे सर्व (Serb) जाति के। फलतः उक्त अपराध के लिए सर्विया ही उत्तरदायी समझा गया और २३ जून सन् १९१४ ई० को आस्ट्रिया ने लड़ाई की घोषणा कर दी। युद्ध आरम्भ हो गया और यूरोप के प्रायः सभी देश उसमें सम्मिलित हो गये। इंगलैंड, फ्रांस, बेलजियम, इटली, अमरीका और यूनान एक तरफ थे और जर्मनी, आस्ट्रिया, टर्की, बलगेरिया तथा अन्य छोटे छोटे राज्य दूसरी तरफ। भारत ने सत्य और न्याय के पक्ष की सहायता, धन और जन दोनों से की। सारे देश में सभाएँ की गईं और सब दल के लोगों ने यह इच्छा प्रकट की कि ऐसे संकट के अवसर पर ब्रिटिश साम्राज्य की सहायता करना हमारा कर्त्तव्य है। औपनिवेशिक सेनाओं के साथ-साथ, भारतीय सेनाओं ने भी फ्रांस, फ्लैन्डर्स, मिस्र, पैलेस्टाइन तथा मेसोपोटामिया के युद्ध-क्षेत्रों में शत्रुओं से युद्ध किया और अपने पराक्रम का प्रमाण दिया। भारतीय नरेशों ने उदारतापूर्ण सहायता पहुँचाई और उनमें से कई एक ने तो युद्ध में भाग भी लिया। सन् १९१६ ई० में लार्ड हार्डिंज वापस चला गया और उसकी जगह लार्ड चेम्सफोर्ड (Lord Chelmsford) वायसराय होकर आया। भारत की राजभक्ति और सहायता का इंगलैंड पर बड़ा प्रभाव पड़ा। सन् १९१७ ई० में भारत-सचिव

ने पार्लियामेंट में यह प्रसिद्ध घोषणा की कि भारत में ब्रिटिश शासन की नीति का लक्ष्य धीरे-धीरे उत्तरदायित्वपूर्ण शासन करना है।*

इम्पीरियल वार कान्फरेंस (सन् १९१७ ई०) में, तथा बाद को संधि महा-सभा में, भारत के दो प्रतिनिधियों ने भी भाग लिया। वे बीकानेर के महाराज और सर एस० पी० सिंह थे। सन् १९१९ ई० में वर्साई (Versailles) की सन्धि हुई और युद्ध का अन्त हो गया।

सुधार के लिए आन्दोलन (सन् १९०९-१९१९ ई०)—लार्ड मार्ले के सुधारों से नरम-दल के लोग सन्तुष्ट हो गये थे किन्तु गरम-दल के नेता अब भी शान्तिपूर्ण उपायों का विरोध करते थे। नई कौंसिलों का काम चल रहा था, उनके काम से हिन्दू और मुसलमान दोनों सन्तुष्ट प्रतीत होते थे।

श्री गोखले का सन् १९१५ ई० में देहान्त हो गया। उनकी मृत्यु से भारत को बड़ा धक्का लगा। जब सर एस० पी० सिंह के सभापतित्व में बम्बई में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ तब भारत की युद्धकालीन सेवाओं का उल्लेख किया गया और भारत का उद्देश्य ऐसे शासन का स्थापित करना बतलाया गया जो जनता का हो, जनता के हित के लिए हो और जनता-द्वारा संचालित हो। श्रीमती एनीबेसेन्ट ने सन् १९१६ ई० में 'होमरूल लीग' की स्थापना की और अपने पत्र 'न्यू इण्डिया' द्वारा उसका प्रचार-कार्य प्रारम्भ किया। श्री तिलक ने उसका साथ दिया और होमरूल आन्दोलन ने खूब जोर पकड़ा। सन् १९१६ ई० में लखनऊ-कांग्रेस में कांग्रेस के नरम और गरम दल दोनों मिल गये। हिन्दू और मुसलमानों में भी मेल कराने का प्रयत्न किया गया। स्वायत्त शासन-सम्बन्धी प्रस्ताव का समर्थन दोनों दलों के नेताओं ने किया। श्री० जिन्ना के सभापतित्व में, लखनऊ में, मुस्लिम लीग का भी अधिवेशन हुआ। साम्राज्य के अन्तर्गत, स्वायत्त शासन प्राप्त करना ही उसने अपना ध्येय घोषित किया। कांग्रेस और

---

* घोषणा की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं:—

"The policy of His Majesty's Government, with which the Government of India are in complete accord is that of the increasing association of Indians in every branch of administration, and the gradual development of self-governing Institutions with a view to the progressive realisation of responsible government in India as an integral part of the British Empire. They have decided that subtantial steps in this direction should be taken as soon as possible."

मुस्लिम लीग की एक सम्मिलित बैठक में स्वायत्त शासन की माँग का समर्थन किया गया।

सन् १९१७ ई० में 'होमरूल आन्दोलन' बहुत जोर पकड़ गया। मदरास-सरकार ने श्रीमती एनीबेसेन्ट को उनके दो अन्य साथियों के साथ नजरबन्द कर दिया। इस पर जनता ने बड़ा क्रोध प्रकट किया और वह वृद्ध महिला कलकत्ता में होनेवाली आगामी कांग्रेस के लिए सभानेत्री निर्वाचित की गई। इसी समय उदार-दल के लोगों का प्रभाव कांग्रेस पर से उठ गया और उन्होंने उदार-संघ का (Liberal Federation) संगठन किया।

भारत की युद्धकालीन सेवाओं का खयाल करके भारत-सचिव मान्टेग्यू (Montagu) ने सन् १९१७ ई० को घोषणा की जिसमें कहा गया कि भारत में ब्रिटिश नीति का ध्येय उत्तरदायित्वपूर्ण शासन स्थापित करना है। उसी साल वायसराय, प्रमुख राजकर्मचारियों तथा भारत के नेताओं के साथ सुधार के प्रस्तावों पर बहस करने के लिए मि० मान्टेग्यू भारत आये। छः मास के कठिन परिश्रम के बाद उन्होंने एक रिपोर्ट तैयार की जिसमें शासन-सुधार-सम्बन्धी प्रस्तावों का समावेश किया गया। इन्हीं प्रस्तावों के आधार पर अन्त में गवर्नमेंट आफ इण्डिया बिल तैयार किया गया जो दिसम्बर सन् १९१९ ई० में पास होकर कानून बना दिया गया।

मान्टेग्यू चेम्सफोर्ड सुधार (सन् १९१९ ई०)—सन् १९१९ ई० के गवर्नमेंट आफ इण्डिया-ऐक्ट का उद्देश्य जनता के निर्वाचित प्रतिनिधियों को कुछ उत्तर-दायित्व प्रदान करना था। उससे विधान में कई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो गये। भारत-सचिव की कौंसिल तोड़ी नहीं गई किन्तु उसके हिन्दुस्तानी मेम्बरों की संख्या बढ़ा दी गई। वायसराय की कार्यकारिणी समिति में भी कुछ सदस्य बढ़ा दिये गये। पुरानी बड़ी व्यवस्थापिका सभा के स्थान पर कौंसिल आफ स्टेट तथा लेजिस्लेटिव एसेम्बली नामक दो सभाओं (Chambers) की व्यवस्था की गई। कौंसिल आफ स्टेट में कुल ६० सदस्य थे जिनमें २६ गवर्नर-जनरल द्वारा नामजद किये गये थे। लेजिस्लेटिव एसेम्बली 'लोअर हाउस' था जिसमें निर्वाचित प्रति-निधियों का बहुमत था। उसे बजट पास करने अथवा रुपये की मंजूरी के लिए पेश की हुई सरकार की माँगों को एकदम से अस्वीकार कर देने का अधिकार दिया गया। प्रत्यक्ष निर्वाचन-प्रणाली (Direct Election) का सूत्रपात हुआ।

प्रान्तीय कौंसिलों के सदस्यों की संख्या भी बढ़ा दी गई। प्रान्तीय सरकारों को दो विभागों में विभक्त कर दिया गया—संरक्षित (Reserved) तथा हस्तान्तरित (Transferred)। संरक्षित विषयों पर गवर्नर की कार्यकारिणी समिति के सदस्यों का अधिकार था और हस्तान्तरित विषय मंत्रियों (Mini-

sters) के सुपुर्द कर दिये गये। ये मंत्री लेजिस्लेटिव कौंसिल के निर्वाचित सदस्यों में से चुन कर नियुक्त किये गये थे।

विभिन्न जातियों और हितों के विशेष प्रतिनिधित्व की व्यवस्था की गई। प्रत्यक्ष निर्वाचन-पद्धति चलाई गई और मताधिकार का क्षेत्र बहुत विस्तृत कर दिया गया।

नई सुधार-योजना के थोड़े ही समय बाद दिल्ली में नरेन्द्र-मण्डल (Chamber of Princes) की स्थापना की गई। उसका उद्देश्य देशी नरेशों के हितों से सम्बन्ध रखनेवाले विषयों पर बहस और विचार करना है। इसका सभापति वायसराय होता है। यह एक विचारक संस्था है। उसके प्रस्तावों को स्वीकार करने के लिए भारत-सरकार बाध्य नहीं है।

किन्तु पूर्व इसके कि शासन-सुधार अपना पूरा प्रभाव दिखा सके, सारे देश में एक नया आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। इस आन्दोलन ने जनता और सरकार दोनों का पूरा ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लिया।

नये विधान के ड्यूक आफ कनाट (Duke of Connaught) ने सन् १९२१ ई० के जनवरी-फरवरी मास में कार्यान्वित किया।

कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमीशन—सन् १९१७ ई० में लार्ड चेम्सफोर्ड ने कलकत्ता-विश्वविद्यालय की दशा की जाँच करने के लिए एक कमीशन नियुक्त किया। कमीशन के अध्यक्ष, लीड्स यूनिवर्सिटी के वाइस-चान्सलर सर माइकल सैडलर (M. Sadler) बनाये गये। इस कमीशन ने उच्च शिक्षा की व्यवस्था के लिए महत्त्वपूर्ण सिफारिशें कीं और अन्वेषण (research) पर बड़ा जोर दिया।

असहयोग-आन्दोलन की उत्पत्ति—कांग्रेस के राष्ट्रवादियों ने सुधार-योजना की निन्दा की और उसके साथ किसी प्रकार का सहयोग करने से इनकार कर दिया। क्रान्तिकारियों को दण्ड देने के लिए सरकार ने रौलट बिल (Rowlatt Bill) पास किया। इससे देश में बड़ा असन्तोष फैला। इस समय भारत में महात्मा गांधी की बड़ी ख्याति हो गई। वे दक्षिणी अफ्रीका में भारतीयों के लिए काफ़ी लड़ चुके थे और बहुत काम कर चुके थे। उन्होंने 'काले बिलों' (Black Bills) के विरुद्ध आन्दोलन करना आरम्भ किया और लोगों को सरकार से असहयोग करने की सलाह दी। विरोध के इस नवीन रूप को 'सत्याग्रह' का नाम दिया गया। सत्याग्रह आत्मबल के सिद्धान्त पर अवलम्बित था। सत्याग्रही का कर्त्तव्य था कि अत्याचार अथवा अन्याय का सामना आत्मबल से करे और धैर्य के साथ सब कष्टों को सहन करे। सत्य एवं अहिंसा का पालन और घृणा अथवा ईर्ष्या-द्वेष का परित्याग करना ही उसका धर्म था। शत्रुओं के विरुद्ध भी बल का प्रयोग उसके लिए मना था। अनेक स्थानों में उपद्रव हो गये किन्तु

सबसे भीषण कांड पंजाब में हुआ जहाँ अधिकारियों ने 'मार्शल ला' (Martial Law) जारी कर दिया। अमृतसर में दो स्थानीय नेताओं को गिरफ्तार करना ही इस कांड का मूल कारण था। जलियानवाला बाग में एक सभा की गई। जनरल डायर (Dyer) ने निर्दोष भीड़ पर गोली चलाकर उसे तितर-बितर कर दिया और बहुत-से मनुष्यों को मार डाला। पंजाब के सरकारी कर्मचारियों के व्यवहार की जाँच करने के लिए सरकार ने हन्टर कमेटी (Hunter Committee) की नियुक्ति की। कमेटी ने डायर के कार्य को 'विचार की भूल' बतलाया। सरकारी अफसरों को अदालती कार्रवाई से बचाने के लिए राष्ट्रवादियों के विरोध की कुछ परवाह न करके बड़ी व्यवस्थापिका सभा में इन्डेमनिटी बिल (Indemnity Bill) पास किया गया।

आन्दोलन बल पकड़ता गया। कलकत्ता में कांग्रेस के विशेष अधिवेशन (सितम्बर सन् १९२० ई०) के अवसर पर असहयोग का कार्यक्रम निश्चय किया गया। उसमें चार बातें थीं (१) सरकारी उपाधियों का परित्याग, (२) विदेशी माल का बहिष्कार, (३) सरकारी स्कूलों से लड़कों को हटा लेना और (४) अदालतों, सरकारी नौकरियों तथा व्यवस्थापिका सभाओं के निर्वाचनों का बहिष्कार।

अप्रैल सन् १९२१ ई० में लार्ड चेम्सफोर्ड वापस चला गया और लार्ड रीडिंग (Lord Reading) वायसराय होकर आया।

अफगान-युद्ध—२० फरवरी सन् १९१९ ई० को अमीर हबीबुल्ला को उसके शत्रुओं ने मार डाला। उसके बड़े लड़के इनायतउल्ला ने, अमीर के भाई नसरुल्ला के लिए गद्दी पर बैठने का दावा छोड़ दिया। नसरुल्ला इस प्रकार अफगानिस्तान का अमीर बन गया। किन्तु हबीबुल्ला के छोटे भाइयों ने इन कार्यवाहियों को जायज मानने से इनकार कर दिया। थोड़े समय तक राज्य करने के बाद नसरुल्ला को हबीबुल्ला के छोटे लड़के अमानुल्ला के लिए गद्दी छोड़ देनी पड़ी। अमानुल्ला को अल्पकाल ही में सेना बहुत मानने लगी। उसने एक दरबार किया और नसरुल्ला तथा इनायतउल्ला को जीवन भर के लिए निर्वासित कर दिया।

इधर भारत में रौलट बिल के कारण बड़ी अशान्ति फैली हुई थी। इस अवसर से लाभ उठाकर अफगानों ने खबर की घाटी पर आक्रमण कर दिया परन्तु अँगरेजी सेना से उन्हें हार खानी पड़ी। २१ फरवरी सन् १९२१ ई० को एक संधि हुई और उसके अनुसार अफगानिस्तान की स्वाधीनता स्वीकार की गई। इसके बदले अमीर ने ब्रिटिश भारत और अफगानिस्तान के बीच की निश्चित की हुई सीमा को स्वीकार कर लिया।

अमानुल्ला ने अफगानिस्तान को एक आधुनिक देश बनाने का प्रयत्न किया किन्तु अफगानों ने उसके सुधारों को पसन्द नहीं किया। बच्चा सकाओ नामक

एक नीच कुल के आदमी ने सेना की सहायता से उसे हटाकर बलपूर्वक गद्दी पर अधिकार कर लिया। किन्तु कुछ समय के पश्चात् वह मार डाला गया और अफगान-सेना का सेनापति नादिरखाँ सन् १९२९ ई० में अमीर चुना गया। उसने देश में शान्ति स्थापित की परन्तु अन्त में वह भी मारा गया और उसका लड़का गद्दी का मालिक हुआ।

संक्षिप्त सन्वार विवरण

मुसलमानों का डेपुटेशन	...	...	१९०६ ई०
सूरत की कांग्रेस	...	...	१९०७ "
राजद्रोही सभाओं को रोकने का कानून	...	...	१९०७ "
मिन्टो-मार्ले-सुधार	...	...	१९०९ "
गोखले का शिक्षा-बिल	...	...	१९१० "
भारतीय प्रेस-ऐक्ट	...	...	१९१० "
सम्राट् का आगमन	...	...	१९११ "
पब्लिक सर्विस कमीशन	...	...	१९१२ "
सिक्कों का कमीशन	...	...	१९१३ "
यूरोपीय महायुद्ध	...	...	१९१४ "
बनारस-हिन्दू-यूनिवर्सिटी-ऐक्ट	...	...	१९१५ "
बनारस-हिन्दू-यूनिवर्सिटी की नींव	...	...	१९१६ "
मिस्टर मान्टेग्यू की विज्ञप्ति	...	...	१९१७ "
वेसीन की सन्धि	...	...	१९१९ "
रौलट बिल	...	...	१९१९ "
गवर्नमेंट आफ इण्डिया-ऐक्ट	...	...	१९१९ "
अमीर हबीबुल्ला की मृत्यु	...	...	१९१९ "
सत्याग्रह-आन्दोलन का आरम्भ	...	...	१९२० "
अफगान-युद्ध	...	...	१९१९-२१ "

(६) आन्दोलन के नये ढंग और शासन-सुधार के नये प्रस्ताव (सन् १९२०-३५)

लार्ड रीडिंग की कठिनाइयां—असहयोग-आन्दोलन बड़े वेग के साथ बढ़ने लगा। कांग्रेस ने अपना कार्यक्रम निश्चित किया और खद्दर तथा चर्खा कातने पर बड़ा ज़ोर दिया। अनेक स्थानों में उपद्रव हो गये। अगस्त सन् १९२१ ई० में मलाबार में मोपला-विद्रोह उठ खड़ा हुआ। मोपलाओं ने बड़े भीषण अत्याचार किये। इसके बाद चौरी-चौरा की दुर्घटना हुई और फिर मदरास तथा बम्बई के उपद्रवों में भीषण निर्दयता के व्यवहार हुए। मार्च सन् १९२२ ई० में महात्मा

गांधी गिरफ्तार कर लिये गये। उन पर राजद्रोह का मुकदमा चलाया गया और ६ साल कैद की सजा दी गई। जज ने खेद प्रकट किया कि मुझे श्री गांधी जैसे उच्च आदर्श और चरितवाले व्यक्ति के साथ इस प्रकार का बर्ताव करना पड़ा।

इन सब कारणों से आन्दोलन को बड़ा भारी धक्का लगा। गांधी जी दो वर्ष बाद छोड़ दिये गये, किन्तु कौंसिल-प्रवेश के प्रश्न पर कांग्रेस में घोर मतभेद उत्पन्न हो गया। कलकत्ता के प्रसिद्ध वकील श्री सी० आर० दास ने कौंसिल के अन्दर से सरकार को नष्ट करने के उद्देश्य से कौंसिलों में जाने पर जोर दिया। इलाहाबाद के प्रसिद्ध नेता पंडित मोतीलाल नेहरू ने उनके मत का समर्थन किया। फलतः १९२३ ई० में स्वराज्यपार्टी की स्थापना हुई। दिल्ली में मौलाना मोहम्मद अली के सभापतित्व में कांग्रेस की जो बैठक हुई उसने कौंसिल-प्रवेश के पक्ष में एक प्रस्ताव पास किया। इसी समय हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच साम्प्रदायिक वैमनस्य ने भीषण रूप धारण कर लिया और पंजाब, संयुक्त-प्रान्त तथा मध्यप्रान्त में उद्रव हो गये। सबसे भीषण उपद्रव कोहाट (पंजाब) में हुआ जिसमें बहुत-से हिन्दुओं की जानें गईं, इस पर महात्मा गांधी ने प्रायश्चित्त-स्वरूप २१ दिन का उपवास किया। दिल्ली में एकता-सम्मेलन किया गया किन्तु उसका कुछ परिणाम न हुआ। कांग्रेस में स्वराज्यपार्टी का प्रभाव बढ़ गया। सरकार ने दमन-नीति का अवलम्बन किया और बंगाल आर्डिनेन्स (Bengal Ordinace) पास किया जिसके अनुसार अनेक शिक्षित एवं प्रतिष्ठित व्यक्ति जेल भेज दिये गये। जून, सन् १९२५ ई० में स्वराज्यपार्टी के नेता श्री सी० आर० दास की मृत्य हो गई और पंडित मोतीलाल नेहरू ने उनके स्थान को ग्रहण किया।

शासन-प्रबन्ध—सन् १९२२ ई० में इञ्चकेप कमेटी (Inchcape Committee) ने विभिन्न मदों के खर्चे को घटाने की सलाह दी। बड़ी व्यवस्थापिका सभा के विरोध करने पर भी नमक का कर बढ़ा दिया गया। उसी साल आस्ट्रेलिया, न्यूजीलेंड और कनाडा में रहनेवाले भारतीयों की दशा की जाँच करने के लिए श्री (बाद को राइट आनरेबुल) श्रीनिवास शास्त्री बाहर भेजे गये। उन्होंने औपनिवेशिक सरकारों पर अच्छा प्रभाव डाला और उनसे भारतीयों की दशा में सुधार करने का वचन लिया। यह नियम कर दिया गया कि भारत-सरकार की स्वीकृति के लिए बिना भारत के बाहर काम करने के लिए मजदूरों की भर्ती नहीं की जा सकती। ली कमीशन (Lee Commission) ने इंडियन सिविल सर्विस के मेम्बरों का वेतन बढ़ा देने तथा उनकी दशा में अन्य सुधार करने का प्रस्ताव किया। नरेश-रक्षा-बिल (The Princes' Protection Bill) ने देशी नरेशों को समाचार-पत्रों के आक्रमण से सुरक्षित कर दिया।

सरकार ने भारतीयों को कुछ सैनिक सुविधाएँ प्रदान कीं। सम्राट् के कमीशन (King's Commission) का द्वार उनके लिए खोल दिया और सैण्डहर्स्ट (Sandhurst) के सैनिक कालेज में उनके लिए १० जगहें सुरक्षित कर दीं। देहरादून में भी एक सैनिक विद्यालय खोला गया।

सन् १९२० ई० में सिक्ख-गुरुद्वारों का सुधार करने के लिए एक प्रबल आन्दोलन आरम्भ हुआ। अकालियों ने अपना संगठन कर उनके प्रवन्ध में हस्तक्षेप करना शुरू किया। जब अकालियों ने सत्याग्रह किया और अधिकारियों को चुनौती दी तब घोर उपद्रव खड़ा हो गया। सन् १९२३ ई० में पटियाला और नाभा के राजदरबारों के बीच झगड़ा हो गया। उसके परिणामस्वरूप नाभा के महाराज को सिंहासन का त्याग करना पड़ा। शासन-प्रबन्ध का भार ब्रिटिश सरकार ने अपने हाथ में ले लिया और महाराजा को देहरादून में रहने की आज्ञा दे दी।

सुधार-जांच-कमेटी (सन् १९२४ ई०)—बड़ी व्यवस्थापिका सभा में स्वराज्यपार्टी ने सन् १९१९ ई० के शासन-विधान को दोहराने और संशोधित करने का प्रस्ताव किया। उसके फलस्वरूप सन् १९२४ ई० में, भारत-सरकार के तत्कालीन गृह-सचिव सर एलेक्जेंडर मुडीमैन (Alexander Mjddiman) की अध्यक्षता में एक कमेटी नियुक्त की गई। सन् १९२५ ई० में उस कमेटी ने अपनी रिपोर्ट तैयार की। डा० (अब राइट आनरेबुल) सर तेजबहादुर सप्रू, श्री मुहम्मद अली जिन्ना आदि मेम्बरों ने अन्य मेम्बरों के साथ मतभेद किया और इस बात पर जोर दिया कि भारत को उत्तरदायित्वपूर्ण शासन दिया जाना चाहिए।

लार्ड रीडिंग का वापस लौटना—अप्रैल सन् १९२६ ई० लार्ड रीडिंग चला गया और उसकी जगह पर लार्ड अरविन (अब लार्ड हेलीफैक्स) वायसराय होकर आया, यहाँ आने पर उसने देखा कि सारे देश में निराशा और असन्तोष फैला हुआ है और साम्प्रदायिक कलह पराकाष्ठा पर पहुँच गई है। ब्रिटिश सरकार और पार्लियामेंट की घोषणाओं की सत्यता पर कांग्रेस की प्रायः बिलकुल आस्था नहीं रह गई थी।

राजनीतिक प्रगति (सन् १९२६-३१ ई०)—सन् १९२५ ई० में बड़ी व्यवस्थापिका सभा ने जो राष्ट्रीय माँग पेश की थी उस पर ब्रिटिश मंत्रि-मंडल ने कुछ भी ध्यान नहीं दिया था। किन्तु सन् १९२७ ई० में उसने सर जान साइमन (Sir John Simon) की अध्यक्षता में एक कमीशन नियुक्त किया जिसके सभी सदस्य अँगरेज थे। कमीशन का काम शासन-सुधार के प्रश्न की जाँच करना था। सभापति सर साइमन के अतिरिक्त उस कमीशन का कोई भी सदस्य उच्च कोटि का राजनीतिज्ञ नहीं था। भारतीयों ने कमीशन का बहिष्कार

किया और प्रतिष्ठित व्यक्तियों ने उसके सामने गवाही देने से इनकार कर दिया। सर तेजबहादुर सप्रू तथा कतिपय अन्य नेताओं ने एक विज्ञप्ति प्रकाशित की और एक ऐसे कमीशन की माँग पेश की जिसमें अँगरेज और हिन्दुस्तानी दोनों हों। बहिष्कार जारी रहा। इसी बीच में मिस कैथराइन मेयो (Miss Katharine) की पुस्तक 'मदर इण्डिया' प्रकाशित हुई, उससे ब्रिटिश सरकार पर जनता का अविश्वास और बढ़ गया। उस पुस्तक में हिन्दुओं और मुसलमानों की सामाजिक रीतियों पर जघन्य आक्रमण किया गया था। मदरास-कांग्रेस ने (सन् १९२७ ई०) बहिष्कार की नीति का समर्थन किया।

लार्ड अरविन ने भारत के लोगों को यह विश्वास दिलाने की कोशिश की कि सरकार अपनी उस प्रतिज्ञा को भंग नहीं करेगी जिसमें कहा गया है कि ब्रिटिश नीति का लक्ष्य औपनिवेशिक शासन स्थापित करना है। भारत के विधान के सम्बन्ध में बहस करने के लिए उसने लन्दन में एक गोलमेज-परिषद् (Round Table Conference) करने का भी प्रस्ताव किया। किन्तु पार्लियामेंट के वाद-विवादों से भारतीयों के हृदय में कुछ सन्देह उत्पन्न हुआ। कांग्रेस के कतिपय नेता वायसराय के पास गये और उन्होंने उससे कहा कि गोलमेज परिषद् का उद्देश्य औपनिवेशिक शासन-विधान तैयार करना होना चाहिए न कि स्वराज्य के लिए भारत की योग्यता की जाँच करना। वायसराय इस बात से सहमत नहीं हुआ। लाहौर-कांग्रेस ने, जिसका अधिवेशन दिसम्बर सन् १९२९ ई० में पंडित जवाहरलाल नेहरू के सभापतित्व में हुआ, निश्चित किया कि कांग्रेस का ध्येय पूर्ण स्वराज्य और स्वाधीनता है। सरकार और कांग्रेस के बीच फिर लड़ाई छिड़ गई और सविनय अवज्ञा आन्दोलन फिर चलाया गया। महात्मा गांधी नमक के कानून को तोड़ने के लिए समुद्र-तट की ओर रवाना हुए। सारे देश में नमक-कानून तोड़ा गया और हजारों आदमी जेल भेज दिये गए। स्त्रियों ने भी आन्दोलन में भाग लिया और पुरुषों की तरह वे भी जेल गईं। विदेशी माल का बहिष्कार और शराब की दूकानों पर धरना देना जारी रहा। व्यापार को बड़ा धक्का पहुँचा। इसी समय साइमन कमीशन की रिपोर्ट प्रकाशित हुई, किन्तु उसका बहुत कम स्वागत हुआ। तेजबहादुर सप्रू और मि० जयकर ने सरकार तथा कांग्रेस के बीच समझौता कराने की चेष्टा की, किन्तु उनके सब प्रयत्न विफल सिद्ध हुए।

पहली गोलमेज परिषद् नवम्बर (सन् १९३० ई०) लंदन में हुई। देशी नरेशों की ओर से बीकानेर के महाराजा ने घोषित किया कि हम लोग ब्रिटिश भारत के साथ एक संघ में सम्मिलित होने के लिए तैयार हैं। सर तेजबहादुर सप्रू ने परिषद् के मुख्य परिणामों का निम्नलिखित शब्दों में वर्णन किया:—

(१) अखिल भारतीय संघ (All India Federation) का विचार।

(२) केन्द्रीय उत्तरदायित्व का विचार (Responsibility at Centre)

(३) भविष्य में भारत का अपनी रक्षा के लिए तैयार होना।

कांग्रेस पहले गोलमेज परिषद् से अलग रही। उसमें उसने कुछ भाग नहीं लिया। किन्तु इसके बाद तुरन्त ही सरकार ने बिना किसी शर्त के राजनीतिक कैदियों को छोड़ दिया और ३१ मार्च सन् १९३१ ई० को गान्धी-अरविन-समझौता हुआ। सत्याग्रह-आन्दोलन बंद कर दिया गया और सरकार राजनीतिक कैदियों को क्षमा प्रदान करने के लिए तैयार हुई। इस प्रकार लार्ड अरविन की राजनीतिज्ञता ने देश में शान्ति स्थापित कर दी।

शासन-सम्बन्धी कार्य—लार्ड अरविन एक बुद्धिमान् राजनीतिज्ञ था। उसने भारत की समस्याओं का सामना साहस और सहानुभूति के साथ किया। विभिन्न श्रेणियों में सद्भावना बढ़ाने के लिए उसने बतलाया कि साम्प्रदायिक सम्बन्ध और अच्छा होना चाहिए। सन् १९२७ ई० में स्कीन कमेटी (Skeen Committee) ने अपनी रिपोर्ट पेश की और अफसरों के दर्जे पर भारतीयों को नियुक्त करने की सिफारिश की। भारतीय नरेशों तथा भारत-सरकार के पारस्परिक सम्बन्ध की जाँच करने के लिए बटलर-कमेटी (Butler Committee) नियुक्त की गई। कमेटी ने कहा कि सार्वजनिक हित की रक्षा के लिए भारत-सरकार को देशी राजाओं के मामलों में हस्तक्षेप करने का अधिकार है। उसने यह मानने से इनकार कर दिया कि ब्रिटिश शक्ति के सम्पर्क में आने के समय देशी राज्य स्वाधीन थे।

लार्ड अरविन की कृषि में बड़ी रुचि थी। उसने सन् १९२७ ई० में मारक्विस आफ लिन्लिथगो (Marquess of Linlithgow) की अध्यक्षता में एक कमीशन नियुक्त किया। कमीशन को कृषि की दशा पर रिपोर्ट पेश करने और सुधार के उपायों को बताने का काम सौंपा गया। उसने अन्य सब कृषि-संस्थाओं का पथ-प्रदर्शन करने तथा उन्हें सलाह देने के लिए एक अखिल भारतीय अनुसन्धान-समिति (Imperial Council of Research) स्थापित करने की सिफारिश की। इस समिति का काम देश में कृषि-सम्बन्धी अनुसन्धान को प्रोत्साहित करना है।

लार्ड अरविन ने सन् १९३१ ई० में इस्तीफा दे दिया और लार्ड विलिंगडन (Lord Willingdon) जिन्हें भारत की स्थिति का बड़ा अनुभव था, उसकी जगह वायसराय होकर आया।

लार्ड विलिंगडन (१९३१-३६)—कांग्रेस ने दूसरी गोलमेज परिषद् में भाग लेने का निश्चय किया। लंदन में उस परिषद् की बैठक हुई। महात्मा गांधी, पंडित मदनमोहन मालवीय तथा श्रीमती सरोजिनी नायडू को साथ लेकर

कांग्रेस के प्रतिनिधि के रूप में वहाँ गये। वायसराय ने बड़ी दृढ़ता के साथ सत्याग्रह-आन्दोलन का दमन किया। जनवरी सन् १९३२ ई० में महात्मा गांधी और उनके साथी फिर जेल में बन्द कर दिये गये। आन्दोलन को एकदम कुचल डालने के लिए उपाय किये गये। उसे काबू में करने के लिए 'स्पेशल आर्डिनेन्स' जारी हुए।

सुधार के प्रस्तावों पर बहस होती रही। जब विभिन्न जातियाँ प्रतिनिधित्व के प्रश्न पर आपस में कोई समझौता न कर सकीं तब प्रधान सचिव ने अपना निर्णय जारी किया जो 'कम्युनल एवार्ड' (Communal Award) अर्थात् साम्प्रदायिक निर्णय के नाम से प्रसिद्ध है। हिन्दू उससे असन्तुष्ट रहे। उसमें परिवर्तन करने का आन्दोलन अभी चल रहा है। नवम्बर सन् १९३२ ई० में तीसरी गोलमेज परिषद् हुई। उसके प्रस्तावों के आधार पर 'श्वेत पत्र' (White Paper) तैयार किया गया जो सन् १९३३ ई० में प्रकाशित हुआ।

ब्रिटिश सरकार ने अब एक 'गवर्नमेंट आफ इण्डिया-ऐक्ट' पास किया है, जिसमें केन्द्र-संघ-शासन (Federation) और प्रान्तों में पूर्ण स्वायत्त शासन की व्यवस्था की गई। इस ऐक्ट के अनुसार गवर्नर-जनरल और गवर्नरों को बड़े-बड़े अधिकार दिये गये। भारतीय अखिल संघ (Federation) में गवर्नरों के सूबे, चीफ कमिश्नरों के सूबे और देशी रियासतें जो उसे स्वीकार करेंगी, सम्मिलित होंगी। फैडरल सरकार का कार्य-संचालन गवर्नर-जनरल और एक मंत्रिपरिषद्-द्वारा होगा जो फैडरल व्यवस्थापिका सभाओं से चुना जायगा। कई मामले ऐसे हैं जिनकी जिम्मेदारी खास तौर पर गवर्नर-जनरल पर रक्खी जायगी। मंत्रियों की राय मानने के लिए वह कभी बाध्य नहीं किया जा सकेगा। फैडरल व्यवस्थापिका सभा में दो कौंसिलें (परिषद्) होंगी। एक तो कौंसिल आफ स्टेट और दूसरी हाउस आफ एसेम्बली। दोनों परिषदों में देशी राज्यों के प्रतिनिधि बैठ सकेंगे। ये सभाएँ अपना प्रेसीडेंट आप निर्वाचित करेंगी। जिन विषयों का फैडरल सरकार प्रबन्ध करेगी, वे गवर्नमेंट आफ इण्डिया ऐक्ट में वर्णित हैं।

साइमन कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में लिखा था कि सूबों में पूर्ण स्वायत्त शासन स्थापित कर देना चाहिए। नये ऐक्ट में इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया गया है। सूबों की गवर्नमेंट का कार्य-संचालन मंत्रियों द्वारा होगा जो व्यवस्थापिका सभा के मेम्बरों में से चुने जायेंगे और उसी समय तक अपने पद पर रह सकेंगे जब तक गवर्नर उन्हें चाहें। सूबे की व्यवस्थापिका सभाएँ मदरास, बम्बई, बंगाल, संयुक्तप्रान्त, बिहार और आसाम में दो होंगी और अन्य सूबों में एक ही सभा होगी। इनके नाम होंगे लेजिस्लेटिव कौंसिल (Upper House) और लेजिस्लेटिव ऐसेम्बली (Lower House)। विशेष मता-

धिकार (Special Representation) का सिद्धान्त फिर भी स्वीकार कर लिया गया है। लेजिस्लेटिव ऐसेम्बली का कार्य-काल ५ वर्ष होगा। लेजिस्लैटिव कौंसिलों के एक तिहाई मेम्बर हर तीसरे साल हट जाया करेंगे। सभाएँ अपना प्रेसीडेंट अपने आप चुनेंगी। वोट देनेवालों की संख्या शहरों और देहातों में अधिक कर दी जायगी, स्त्रियों को भी अधिक संख्या में वोट देने का अधिकार दिया जायगा। इस ऐक्ट के अनुसार एक फैडरल कोर्ट (Federal Court) यानी बड़ी अदालत स्थापित की जायगी, जिसमें एक चीफ जस्टिस अर्थात् बड़ा जज और अन्य जज होंगे। इस अदालत के सामने वे मामले आयेंगे जिनमें फैडरेशन, ब्रिटिश सूबे और देशी रियासतें शामिल होंगी। परन्तु इसके सम्मुख ऐसा कोई प्रश्न नहीं आवेगा जिसमें कानूनी अधिकार पर झगड़ा न हो। ऐसे भी कई मामले हैं जो इस अदालत के सामने नहीं लाये जा सकेंगे। कानूनी बिना पर हाईकोर्टों के फैसलों की अपील फैडरल कोर्ट में हो सकेगी।

ज्वाइन्ट सिलेक्ट कमेटी (Joint Select Committee) ने सिफारिश की थी कि उत्तरदायित्व शासन में इण्डिया कौंसिल की आवश्यकता न रहेगी। इसीलिए नये गवर्नमेंट आफ इण्डिया ऐक्ट में यह तय किया गया था कि यह कौंसिल बर्खास्त कर दी जायगी और भारत सेक्रेटरी और उसकी कौंसिल के अधिकार सम्राट् (Crown) को दे दिये जायँगे।

सम्राट् पंचम जार्ज की मृत्यु—२० जनवरी सन् १९३६ को सम्राट् पंचम जार्ज की मृत्यु हो गई। देश भर में शोक मनाया गया और सार्वजनिक सभाओं में सम्राट् का गुण-गान किया गया।

लार्ड लिन्लिथगो—लार्ड विलिंगटन के पद-त्याग करने के पश्चात् उनके स्थान पर लार्ड लिन्लिथगो वायसराय नियुक्त होकर भारतवर्ष आया। उसके समय में नये ऐक्ट के अनुसार भारतवर्ष में सन् १९३७ में निर्वाचन हुआ। इसके फलस्वरूप ७ प्रान्तों में कांग्रेस के मन्त्रिमण्डल बने। इस प्रकार नवीन ऐक्ट की प्रान्तीय योजना कार्यान्वित की गई, परन्तु संघीय शासन की व्यवस्था न हो सकी। इसका प्रमुख कारण था देश का विरोध। उसके अन्तर्गत मन्त्रियों के अधिकार नाममात्र के लिए थे। अतः प्रत्येक पार्टी ने उस व्यवस्था का विरोध किया। इसके अतिरिक्त देशी राज्यों ने संघीय शासन में सम्मिलित होने से इनकार कर दिया। अतः उस योजना का कार्यान्वित होना और भी अधिक दुष्कर हो गया।

शीघ्र ही सन् १९३९ में द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ हो गया। अँगरेजों ने भारतीय नेताओं की सम्मति के बिना ही भारतवर्ष को अपने पक्ष में युद्ध में सम्मिलित हुआ घोषित कर दिया। यह कार्य जनतन्त्रवाद के विरुद्ध था। इसने भारतीय सम्मान पर आघात पहुँचाया। अतः सम्पूर्ण देश में विरोध एवं असन्तोष की लहर फैल गई। कांग्रेस मन्त्रिमण्डलों ने जनता की इच्छानुसार प्रत्येक प्रान्त से

पद-त्याग कर दिया। अँगरेजों ने अपने पशुबल के गर्व में भारतीय जनमत की अवहेलना की और प्रान्तों का शासन-भार निरंकुश गवर्नरों को सौंप दिया। इस प्रकार देश में स्वायत्त शासन का अन्त हो गया।

कांग्रेस ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध आन्दोलन प्रारम्भ किया और यूरोपीय साम्राज्यवादी युद्ध में अँगरेजों को सहायता न देने का निर्णय किया। अतः भारतवर्ष में एक राजनीतिक अड़ंगा उपस्थित हो गया। उधर नवम्बर सन् १९४१ में जापान भी युद्ध में सम्मिलित हो गया। इससे भारतवर्ष के लिए एक भीषण संकट उत्पन्न हो गया। युद्ध की प्रतिकूल गति-विधि को देखकर अँगरेज भी घबड़ा गये। उन्होंने भली-भाँति समझ लिया कि भारतीय जन-मत की सहायता के बिना भारतवर्ष की सुरक्षा सम्भव नहीं। अतः उन्होंने समझौते का प्रयत्न करना प्रारम्भ किया। इँगलैंड की सरकार ने मजदूर दल के एक प्रमुख नेता सर स्टैफर्ड क्रिप्स को एक योजना के साथ भारतवर्ष भेजा। यह योजना इतिहास में क्रिप्स-योजना के नाम से विख्यात है। क्रिप्स महोदय भारतवर्ष आये और उन्होंने भारतवर्ष के समस्त विख्यात दलों के नेताओं से परामर्श किया और उन्हें अपनी योजना समझाई। पर उस योजना को असन्तोष-जनक समझकर समस्त देश ने अस्वीकार कर दिया। क्रिप्स महोदय को विफल-मनोरथ होकर वापस जाना पड़ा। इस प्रकार अड़ंगा पूर्ववत् जारी रहा।

अँगरेजों के उपेक्षापूर्ण व्यवहार से क्षुब्ध होकर कांग्रेस ने पुनः स्वतन्त्रता-संग्राम छेड़ने का निर्णय किया। ८ अगस्त सन् १९४२ को उसने महात्मा गांधी के नेतृत्व में 'भारत छोड़ो' का ऐतिहासिक प्रस्ताव पास किया। अँगरेजों ने इस समय बड़ी ही अदूरदर्शिता से काम किया। समझौता करने के स्थान पर उन्होंने कांग्रेस के समस्त नेताओं को गिरफ्तार कर लिया और कांग्रेस की लोक-प्रियता की उपेक्षा करते हुए उसे एक अवैध संस्था घोषित कर दिया। यह राष्ट्र का महान् अपमान था। किसी भी स्वाभिमानी देश के लिए अँगरेजों का यह व्यवहार असह्य था। अतः समस्त देश में अँगरेजी शासन के विरुद्ध खुले विद्रोह की आग भड़क उठी। नेतृत्व-हीन होने पर भी जनता ने अँगरेजी चुनौती स्वीकार की। देश के कोने-कोने में विद्रोह हो गया। इस समय जनता ने असीम त्याग, धैर्य और बलिदान का परिचय दिया। धन-जन की भीषण क्षति की उपेक्षा करते हुए उसने अँगरेजों की बर्बरता का सामना किया। संसार के इतिहास में यह घटना अपूर्व थी। एक ओर गोली-बारूद और संगीनों से सुसज्जित साम्राज्यवाद की अमानुषिक बर्बरता और दूसरी ओर नेतृत्वहीन एवं निरस्त्र पर स्वतन्त्रता के लिए दीवानी, भारतीय देशभक्ति। एक का साम्राज्य खतरे में था तो दूसरे का आत्मा-भिमान। भीषण संग्राम हुआ। सारा देश रक्तरंजित हो उठा। चतुर्दिक् विद्रोह ने अँगरेजी साम्राज्यवाद की नींव हिला दी। अँगरेजों की सारी शासन-व्यवस्था

अस्त-व्यस्त हो गई। अनेक स्थानों पर जनता का राज्य स्थापित हो गया। अँगरेजी पाशविकता की अजेयता कुछ दिनों के लिए भस्मसात् हो गई। पर निःशस्त्र एवं संगठनहीन जनता की यह सफलता क्षणिक सिद्ध हुई। अँगरेजों ने भीषण दमन-नीति से कार्य किया। उनकी मशीनगनों एवं संगीनों ने निरीह भारतीयों का वध करना प्रारम्भ किया। सहस्रों देशभक्त जेलों में बन्द कर दिये गये। अनेक गाँव फूंक दिये गये। भारतीय नारियों का कायरतापूर्वक अपमान किया गया और दुधमुँहे बच्चों की नृशंस हत्या। संसार के इतिहास में क्रूरता के नग्न नृत्य का ऐसा गर्हित दृष्टान्त कदाचित् ही कहीं मिल सके।

यद्यपि आन्दोलन बाह्य दृष्टि से दबा दिया गया, तथापि भारतीय जनता की स्वातन्त्र्य-लिप्सा और भी अधिक दृढ़ हो गई। वह अँगरेजी साम्राज्यवाद की घोर विरोधी हो गई और उसके विरुद्ध युद्ध छेड़ने का पुनः अवसर ढूंढ़ने लगी। सन् १९४४ में लार्ड लिन्लिथगो अपने काले कारनामों को लिये-दिये भारतवर्ष से बिदा हुए। उनके स्थान पर लार्ड वैवेल वायसराय होकर आये। उन्होंने भारतीय राजनीतिक परिस्थिति को ज्वालामुखी के समान पाया, जो फटकर किसी समय भी ब्रिटिश साम्राज्य के लिए भयंकर संकट उपस्थित कर सकती थी। इसी समय स्वास्थ्य खराब होने के कारण महात्मा गांधी जेल से मुक्त कर दिये गये और समझौते के लिए नये प्रयत्न किये गये। परिणामस्वरूप दिल्ली में एक सभा की गई जिसमें वैवेल-योजना प्रस्तुत की गई। पर मुस्लिम लीग की साम्प्रदायिकता के कारण वह असफल रही। पर कांग्रेसी नेता धीरे-धीरे जेल से छोड़ दिये गये।

इसी समय इँगलैंड में पार्लियामेंट के नवीन निर्वाचन में चर्चिल-पार्टी की हार हुई और उसके स्थान पर मजदूर-दल के नेता एटली (Attlee) की सरकार बनी। इधर युद्ध में मित्रराष्ट्रों की विजय हुई और जापान को आत्म-समर्पण करना पड़ा। अतः अब फिर अँगरेजी सरकार ने समझौते की वार्ता चलाई। लार्ड वैवेल ने शिमला में पुनः भारतीय प्रतिनिधियों की एक सभा की। पर मुस्लिम लीग के हठ के कारण वह भी असफल रही। समझौते के लिए दोनों ओर से प्रयत्न जारी रहे। परन्तु नतीजा कुछ न निकला। भारतवर्ष की राजनीतिक परिस्थिति का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिए ब्रिटिश सरकार ने २ जनवरी सन् १९४६ को पार्लियामेंट के १० सदस्यों का एक शिष्ट-मण्डल भारतवर्ष भेजा। यह दल भारतवर्ष की विभिन्न पार्टियों के नेताओं से मिला और उसके बाद इसने अपनी रिपोर्ट ब्रिटिश सरकार को दी। इस रिपोर्ट में कहा गया था कि भारतवर्ष की सब पार्टियाँ स्वतन्त्रता के प्रश्न पर एकमत हैं और भारतवर्ष स्वराज्य के लिए पूर्णतया योग्य है। इस रिपोर्ट के पाने के बाद इँगलैंड की मजदूर-सरकार ने मंत्रिमंडल के कुछ चुने हुए सदस्यों का एक दूसरा दल भारतवर्ष भेजा। यह इतिहास में 'कैबिनेट मिशन' (Cabinet Mission) के नाम से प्रसिद्ध है।

इस दल ने कांग्रेस और मुस्लिम लीग में समझौता कराने का प्रयत्न किया, परन्तु असफल रहा। अतः भारतवर्ष के राजनीतिक प्रश्नों को हल करने के लिए ब्रिटिश सरकार ने स्वयं एक योजना पेश की। इस योजना के अनुसार भारतवर्ष के सारे प्रान्तों को तीन वर्गों में संगठित करने की व्यवस्था थी। पहले वर्ग में सीमाप्रान्त, पंजाब, सिन्ध और ब्रिटिश बिलोचिस्तान, दूसरे वर्ग में बंगाल और आसाम और तीसरे वर्ग में शेष प्रान्त रक्खे गये। इन सब वर्गों को भारतीय-संघ में रहने की योजना थी। यद्यपि प्रान्तों के आन्तरिक विषयों में ये वर्ग स्वतन्त्र थे, परन्तु रक्षा, यातायात और वैदेशिक विषय संघ के अन्तर्गत रहे। इसके अतिरिक्त भारतवर्ष का शासन-विधान बनाने के लिए एक परिषद् (Constituent Assembly) के निर्माण की योजना थी। जब तक शासन की कोई दीर्घकालीन व्यवस्था न हो, उस समय तक के लिए केन्द्र में एक अल्पकालीन सरकार बनाने की सिफारिश की गई। कांग्रेस और मुस्लिम लीग के पारस्परिक मतभेद के कारण यह योजना भी पूर्ण सफल न हुई। यद्यपि बहुत प्रयत्न के बाद केन्द्र में कांग्रेस और लीग के प्रतिनिधियों की एक अल्पकालीन सरकार (Interim Government) बन गई, परन्तु विधान-परिषद् में केवल कांग्रेस ने ही अपने सदस्य भेजे। लीग ने उसमें भाग न लिया।

इधर कांग्रेस और मुस्लिम लीग में कोई समझौता न हुआ और उधर देश के भिन्न-भिन्न प्रान्तों में साम्प्रदायिक दंगे शुरू हो गये। राजनीतिक परिस्थिति को असन्तोषजनक देखकर ब्रिटिश सरकार ने भारतीय समस्याओं का दूसरा हल ढूंढ़ना शुरू किया। अपने ध्येय की सत्यता प्रमाणित करने के लिए उसने २० फरवरी, १९४७ को घोषणा की कि भारतवर्ष जून, १९४८ तक स्वतन्त्र कर दिया जायगा। इसके अतिरिक्त उसने लार्ड वैवेल को वापस बुला लिया और उनके स्थान पर लार्ड माउण्टबेटेन को वायसराय नियुक्त किया। लम्बे विचार-विमर्श के बाद नये वायसराय ने २ जून, १९४७ को अपनी एक योजना पेश की जिसमें भारतवर्ष को पाकिस्तास और हिन्दुस्तान में बाँट देने की व्यवस्था थी। इसके अनुसार सीमाप्रान्त, सिन्ध, पश्चिमी पंजाब, बिलोचिस्तान और पूर्वी बंगाल पाकिस्तान राज्य में और शेष ब्रिटिश भारत भारतीय-संघ के अन्तर्गत आ गये।

देशी राज्यों को स्वतन्त्रता दे दी गई कि वे अपनी इच्छानुसार पाकिस्तान या भारतीय-संघ में शामिल हों। इस योजना के अनुसार पाकिस्तान के लिए एक दूसरे विधान-परिषद् की व्यवस्था की गई और यह निश्चय किया गया कि दोनों राज्यों को १५ अगस्त, सन् १९४७ को औपनिवेशिक स्वराज्य दे दिया जाय। करीब एक महीने के बाद ब्रिटिश सरकार ने अपनी पार्लियामेंट में 'इण्डिया

इंडिपेण्डेण्ट ऐक्ट' पास करके इस योजना को कानून का रूप दे दिया। लार्ड मउण्टवेटेन भारत के और मिस्टर मुहम्मद अली जिन्ना पाकिस्तान के गवर्नर-जनरल नियुक्त हुए।

विधान-परिषद् के कई अधिवेशन डाक्टर राजेंद्रप्रसाद की अध्यक्षता में हुए। इस परिषद् ने स्वाधीन भारत का नया विधान तैयार किया है।

नई योजना के अनुसार पंडित जवाहरलाल नेहरू भारतीय सरकार के प्रधान मंत्री हुए और उनकी अध्यक्षता में नया मंत्रिमंडल वनाया गया।

भारत को स्वाधीनता प्राप्त हुई। परन्तु देश में साम्प्रदायिक भेद-भाव बढ़ जाने से अशान्ति फैल गई। पाकिस्तान सरकार के वर्त्ताव से दुखित होकर सहस्रों स्त्री-पुरुष हिन्दुस्तान की ओर चले आये। पूर्वीय पंजाव के हिन्दुओं ने इसका वदला लिया। वहुत से मुसलमान अपने घर छोड़कर पाकिस्तान की तरफ चले गये। देश भर में उत्पात हुआ। इसमें हमारे राष्ट्र के प्राण श्री महात्मा गांधी ने शान्ति स्थापित करने की भरसक चेष्टा की। नोआखाली, कलकत्ता, दिल्ली में वे स्वयं गये और अपनी जान की पर्वाह न कर जनता को शान्ति रखने का आदेश किया। महात्माजी के इस कार्य की जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। उनके प्रयत्न से लोगों के विचारों में परिवर्तन हुआ, शान्ति-प्रियता की ओर प्रवृत्ति बढ़ने लगी। महात्माजी स्वयं दिल्ली में ठहरे और हिन्दू-मुसलमान दोनों से उन्होंने शान्ति रखने के लिए अपील की। उनके उपदेश का आश्चर्यजनक प्रभाव पड़ा। दिल्ली का ही नहीं, सारे देश का वातावरण ही वदल गया; परन्तु इतने में ३० जनवरी सन् १९४८ को जब कि महात्माजी बिरला भवन में प्रार्थना के लिए जा रहे थे, एक महाराष्ट्रीय व्यक्ति ने जिसका नाम नाथूराम विनायक गोडसे वताया जाता है, उन पर पिस्तौल से प्रहार किया। गोलियों के आघात से महात्माजी की मृत्यु हो गई। देश में कोलाहल मच गया। भारतीय जनता शोकसागर में निमग्न हो गई। वड़े वड़े अग्रगण्य नेता इस भयंकर विपत्ति को देखकर सहम गये। संसार के कोने कोने से सहानुभूति के पत्र आये। कोई राज्य ऐसा न था जहाँ महात्माजी की मृत्यु पर शोक न प्रकट किया गया हो। अनेक सभाओं में शोक-प्रस्ताव पास किये गये।

महात्माजी का स्थान भारतीय इतिहास में ही नहीं वल्कि संसार के इतिहास में सर्वोच्च रहेगा। वे भारत के प्राण थे और उसकी स्वतंत्रता के जन्मदाता थे। जिस समय से अफ्रीका से लौटकर आये, उन्होंने भारतीय स्वाधीनता को अपना लक्ष्य वनाया और उसकी पूर्ति के लिए निरन्तर प्रयत्न किया। ब्रिटिश साम्राज्य के साथ उनका अहिंसात्मक आन्दोलन वरावर जारी रहा। लाखों स्त्री-पुरुष स्वतंत्रता की वेदी पर आत्म-वलिदान करने को तैयार हो गये। अन्त में महात्मा

जी का उद्देश्य पूर्ण हुआ। ब्रिटिश साम्राज्य की उनके जीवनकाल में ही इतिश्री हो गई। महात्माजी के सिद्धान्त थे—सत्य और अहिंसा। राजनीतिक क्षेत्र में उन्होंने इनको सदैव अपने सम्मुख रक्खा। इसीलिए सारे संसार में उनका सम्मान हुआ और प्रत्येक जाति तथा राष्ट्र के लोग उन्हें विश्व का सबसे महान् व्यक्ति समझने लगे।

नई भारतीय सरकार के सामने देशी राज्यों का प्रश्न एक जटिल प्रश्न था। परन्तु गृह-सचिव सरदार पटेल के श्लाघ्य प्रयत्नों के परिणाम-स्वरूप अब वह लगभग हल हो चुका है। अनेक निकटस्थ छोटे-छोटे देशी राज्यों को एक में मिलाकर उनके कई संघ संगठित किये गये हैं। प्रत्येक संघ में एक राज-प्रमुख नियुक्त किया गया है। देशी राज्यों में उत्तरदायी शासन स्थापित करने के लिए वहाँ प्रजा के प्रतिनिधियों की सरकारें भी बनने लगी हैं। कुछ ऐसे भी देशी राज्य थे जिनका संगठन संघों के अन्तर्गत न हो सका। भौगोलिक स्थिति के आधार पर वे निकटस्थ प्रान्तों में मिला लिये गये।

इस प्रकार अधिकतर देशी राज्यों की समस्या तो न्यूनाधिक सरलता के साथ हल हो गई, परन्तु काश्मीर और हैदराबाद के सम्बन्ध में भारतीय सरकार को बड़ी-बड़ी परेशानियाँ उठानी पड़ीं।

काश्मीर में हिन्दू राजा राज्य करता था, परन्तु वहाँ बहुमत मुसलमानों का है जो अधिकतर राष्ट्रीयतावादी है। काश्मीर भारतवर्ष, अफगानिस्तान और रूस की सीमा पर स्थित है। अतः अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से इसकी स्थिति बड़ी महत्त्वपूर्ण है। ऐसे महत्त्वपूर्ण देशी राज्य को हस्तगत करने के लिए भारतवर्ष तथा पाकिस्तान दोनों समान रूप से इच्छुक थे। परन्तु भारतीय सरकार ने न्याय और सत्य का आश्रय लेकर अन्तिम निर्णय वहाँ के राजा और प्रजा पर छोड़ दिया। पाकिस्तान जानता था कि वहाँ की प्रजा अधिकतर राष्ट्रीयतावादी है जो मुस्लिम लीग के दो राष्ट्रों के सिद्धान्त में विश्वास नहीं करती तथा उस पर 'नेशनल कान्फरेंस' और उसके नेता शेख अब्दुल्ला का प्रभाव है, जो सदैव मुस्लिम लीग की साम्प्रदायिकता के विरुद्ध लड़ते रहे थे। अपने पक्ष को निर्बल समझकर पाकिस्तान ने अनुचित रूप से काश्मीर पर दबाव डालना चाहा और २२ आक्टोबर, १९४७ को उस पर आक्रमण कर दिया, यद्यपि यह सत्य उसने बहुत बाद को स्वीकार किया। काश्मीर के राजा ने अपनी स्थिति संकटपूर्ण देखकर तत्काल भारतीय संघ में सम्मिलित होना स्वीकार कर लिया और भारतीय सरकार से आक्रमणकारियों से रक्षा करने के लिए सैनिक सहायता माँगी। अपने यूनियन के आश्रित एक राज्य की रक्षा करना अपना परम कर्त्तव्य समझकर भारतीय सरकार ने काश्मीर में तत्काल सैनिक सहायता भेजना प्रारम्भ किया और इस प्रकार काश्मीर में पाकिस्तान और भारतवर्ष की अघोषित युद्ध आरम्भ

हुआ। युद्ध की बढ़ती हुई भयानकता तथा उसके दुष्कर परिणाम पर विचार कर भारतवर्ष ने यह समस्या संयुक्तराष्ट्रों की सुरक्षा-समिति के सम्मुख उपस्थित की। सुरक्षा-समिति के आदेशानुसार काश्मीर का युद्ध तो बन्द हो गया परन्तु अभी तक कोई सन्तोषजनक हल नहीं निकल सका है, यद्यपि संयुक्तराष्ट्रों की ओर से नियुक्त कमीशन बहुत दिनों से ऐसे प्रस्ताव को तैयार करने में संलग्न है जिसकी धाराएँ भारतीय और पाकिस्तानी दोनों सरकारों को मान्य हों।

इस बीच में काश्मीर में शेख अब्दुल्ला के प्रधान मन्त्रित्व में उत्तरदायी सरकार की स्थापना हो चुकी है, जो युद्ध-क्षत देश को पुनः शान्ति और सुरक्षा देने में दत्तचित्त है।

दूसरे देशी राज्य हैदराबाद का प्रश्न भी इसी प्रकार जटिल हो गया था। वहाँ की निजाम सरकार का इरादा भारतीय यूनियन में सम्मिलित होने का न था, यद्यपि भौगोलिक स्थिति तथा प्रजा के मत को देखते हुए उसके सामने सम्मिलन का ही एक-मात्र मार्ग था।

भारतीय सरकार ने समझौते के लिए बड़ा प्रयत्न किया, परन्तु हैदराबाद-सरकार सदैव टाल-मटोल करती रही। इस देशी राज्य के भीतर रजाकारों की एक साम्प्रदायिक संस्था थी, जो हैदराबाद को या तो स्वतन्त्र रखना चाहती थी या फिर पाकिस्तान के अन्तर्गत। हैदराबाद की सरकार पूर्णतया रजाकारों तथा उनके नेता कासिम रिजवी के हाथ की कठपुतली थी। यही कारण था कि कोई भी समझौता असम्भव प्रतीत होता था। हैदराबाद की आन्तरिक अवस्था दिन पर दिन बिगड़ने लगी। साम्प्रदायिकतावादी रजाकारों ने रियासत के ऐसे हिन्दू-मुसलमानों को जो उनके मत के विरुद्ध थे, लूटना-मारना प्रारम्भ कर दिया। हत्या, अग्निकाण्ड, बलात्कार हैदराबाद-राज्य की नैत्यिक घटनाएँ हो गईं। अब स्थिति असह्य हो गई और अन्तिम चेतावनी देने के पश्चात् भारतीय सरकार ने जन-धन की सुरक्षा के लिए पुलिस-कार्यवाही का निश्चय किया।

१३ सितम्बर, १९४८ को भारतीय सेनाएँ चार दिशाओं से हैदराबाद राज्य में प्रविष्ट हुईं। रजाकारों और हैदराबाद की सेना ने ४ दिन तक भारतीय सेना का सामना किया, परन्तु पूर्णतया असफल रहे। भारतीय सेना की तीव्र गति को देखकर हैदराबाद के निजाम ने १७ सितम्बर, १९४८ को आत्म-समर्पण कर दिया और इस प्रकार एक दुःखद घटना का अन्त हुआ। हैदराबाद में मेजर-जनरल जे० एन० चौधरी के प्रधानत्व में अस्थायी मिलिटरी शासन की स्थापना हुई जिसने रजाकारों की सेना को भंग कर दिया और राज्य के भीतर सुख-शान्ति की पुनः व्यवस्था की। शान्ति स्थापित होने के पश्चात् अन्य देशी

राज्यों की भाँति हैदराबाद में भी उत्तरदायी सरकार की स्थापना हो गई है। निजाम राज्य का राजप्रमुख नियुक्त किया गया है।

उधर अकथ परिश्रम के पश्चात् भारतवर्ष की विधान-सभा ने देश का नया विधान तैयार किया। उसी के आधार पर २६ जनवरी १९५० को भारतवर्ष एक सर्वसत्ताधारी गणतन्त्रात्मक राज्य घोषित किया गया है। इसके अनुसार भारतीय कार्यकारिणी का सर्वोच्च पदाधिकारी राष्ट्रपति हो गया है। डा० राजेन्द्र-प्रसाद हमारे देश के सर्वप्रथम राष्ट्रपति हैं। आगामी निर्वाचन के पश्चात् देश का समस्त शासन नये विधान के अनुसार होगा। इस विधान के अन्तर्गत हमारा राष्ट्र एक असाम्प्रदायिक राष्ट्र (Secular State) घोषित किया गया है। प्रत्येक नागरिक को राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक स्वतन्त्रता है। राजकीय पद योग्यतानुसार सबके लिए खुले हैं। प्रत्येक व्यक्ति को नियमपूर्वक भाषण देने, लेख लिखने, सभा करने एवं समुदाय बनाने का अधिकार है। राज्य में अस्पृश्यता अवैध घोषित कर दी गई है। शासन की दृष्टि से हमारे देश में एक संघ-राज्य होगा जिसमें अन्य इकाई राज्य होंगे। संघ-राज्य की कार्यकारिणी का सर्वोच्च अधिकारी राष्ट्रपति होगा जिसकी सहायता के हेतु एक मन्त्रिमण्डल होगा। यह मन्त्रिमण्डल प्रधान मंत्री की अध्यक्षता में कार्य करेगा। राष्ट्रपति एक वैधानिक शासक है। यद्यपि समस्त शासन उसी के नाम से होता है तथापि वास्तविक सत्ता भारतीय संसद् (पार्लियामेंट) के हाथ में होगी। इस संसद् में दो भवन होंगे—लोक-सभा और राज्य-सभा। लोक-सभा में जिस दल का बहुमत होगा उसी का नेता प्रधान मन्त्री के पद पर नियुक्त किया जायेगा। उसका मन्त्रिमण्डल तभी तक शासन-कार्य में राष्ट्रपति को सहायता दे सकेगा जब तक उसे लोक-सभा का बहुमत प्राप्त हो। इस प्रकार हमारा शासन पूर्णरूपेण जनतन्त्रात्मक है।

अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से भी हमारा देश न्याय और नीति के मार्ग का अवलम्ब ले रहा है। यद्यपि २२ अप्रैल, सन् १९४९ को उसने कामनवेल्थ में रहने का निर्णय किया है तथापि इससे उसकी निष्पक्षता पर तनिक भी आँच नहीं आती। हमारे प्रधान मन्त्री एवं पर-राष्ट्र मन्त्री पं० जवाहरलाल ने स्पष्ट घोषणा कर दी है कि भारत संसार में सुख और शान्ति स्थापित करने की दृष्टि से ही कामनवेल्थ में सम्मिलित हुआ है। वह अन्य राष्ट्रों के पारस्परिक सहयोग से सदैव अपने आदर्श को अग्रसर करने का प्रयत्न करता रहेगा। वह किसी गुट में नहीं है, वरन् न्याय और नीति ही उसके पथ-प्रदर्शक हैं। उसने समय-समय पर अपनी निष्पक्षता के प्रमाण दिये हैं। अभी कोरिया-विषय पर उसने उत्तरी कोरिया को आक्रमण-कारी घोषित करने में एँग्लो-अमेरिका गुट का साथ दिया है। परन्तु संयुक्त राष्ट्रों द्वारा ३८ पैरेलल पार करके उत्तरी कोरिया पर आक्रमण करने के विरोध में

उसने रूस का पक्ष लिया है। यही निष्पक्षता संयुक्त राज्य-संघ में चीन के प्रतिनिधित्व के सम्बन्ध में भी दृष्टिगोचर होती है। अमेरिका के विरुद्ध वह साम्यवादी चीन को प्रतिनिधित्व देना चाहता है।

निष्पक्षता के साथ-साथ भारतवर्ष संसार में स्वतन्त्रता और समानता के सिद्धान्त का प्रचार करने में भी यथाशक्ति प्रयत्नशील है। उसने दक्षिणी अफ्रीका की वर्ण-भेद नीति के विरुद्ध संयुक्त राष्ट्र-संघ में शिकायत की है। इसी प्रकार उसने हिन्देशिया स्वतन्त्रता-संग्राम में महत्त्वपूर्ण योग दिया है। एशिया-निवासियों में पारस्परिक सहयोग एवं सद्भाव बढ़ाने के लिए उसने अपनी राजधानी दिल्ली में कई एक सभाएँ भी की हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि स्वतन्त्र भारत स्वतन्त्रता एवं समानता के आधार पर संसार में नवीन व्यवस्था स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील है।

भारतवर्ष की पाकिस्तान-विषयक नीति उसकी शान्ति-प्रियता का ज्वलन्त प्रमाण है। काश्मीर में पाकिस्तान आक्रमणकारी है। पर फिर भी भारतवर्ष शस्त्रबल से उसकी समस्या का निर्णय नहीं करना चाहता। संयुक्त राष्ट्र-संघ ने गुटवन्दी में पड़कर उसके साथ अभी तक न्याय नहीं किया है तथापि भारतवर्ष को उसमें विश्वास है और वह काश्मीर-समस्या का हल शान्तिपूर्वक संयुक्त राष्ट्रों के द्वारा ही करवाना चाहता है।

पाकिस्तान की साम्प्रदायिक नीति कभी-कभी हमारे देश की सुनीति में बाधा उत्पन्न कर देती है। परन्तु फिर भी हमारी सरकार यथाशक्ति शान्ति रखने की चेष्टा करती है। यद्यपि पाकिस्तान में हिन्दुओं के धन-जन की सुरक्षा का विषय असन्तोषजनक है। परन्तु हमारे देश में मुसलमानों की स्थिति वहुमत हिन्दुओं के समान ही है। उनके साथ किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं किया जाता। वे पूर्ण रूप से हमारे देश के स्वतन्त्र नागरिक हैं। अभी विगत फरवरी मास में जब पाकिस्तान में अल्प सम्प्रदाय के निवासियों के साथ पुनः अत्याचार प्रारम्भ हुए तो भारतवर्ष की साम्प्रदायिक शान्ति के लिए एक महान् संकट उपस्थित हो गया था। परन्तु भारतीय नेताओं ने दूरदर्शिता एवं न्याय से काम किया और पाकिस्तान के साथ दिल्ली-समझौता किया। इसके अन्तर्गत दोनों देशों ने अपने अल्प सम्प्रदाय नागरिकों की सुरक्षा का वचन दिया और समय-समय पर अधिवेशनों द्वारा अपने विवाद-ग्रस्त प्रश्नों को सुलझाने की योजना की। भारतवर्ष अक्षरशः दिल्ली-समझौते को कार्यान्वित करने में लगा हुआ है। यह उसकी शान्तिप्रियता का स्पष्ट प्रमाण है।

संक्षिप्त सन्वार विवरण

मोपला-विद्रोह	१९२१ ई०
महात्मा गांधी का मुक़दमा	१९२२ „

हिन्दू यूनिवर्सिटी बनारस

पंडित मदनमोहन मालवीय

महात्मा गांधी

विक्टोरिया मेमोरियल

इन्चकेप कमेटी	१९२२ ई०
ली कमीशन	१९२३ ,,
महाराजा नाभा का गद्दी से उतारा जाना ...	१९२३ ,,
मुडीमैन कमेटी	१९२४ ,,
लार्ड रीडिंग का इस्तीफा	१९२४ ,,
साइमन कमीशन	१९२७ ,,
कृषि-कमीशन	१९२७ ,,
प्रथम गोलमेज-परिषद्	१९३० ,,
लार्ड अरविन का इस्तीफा	१९३१ ,,
ह्वाइट पेपर का छपना	१९३३ ,,
गवर्नमेंट आफ इण्डिया ऐक्ट	१९३५ ,,
लार्ड विलिंगडन का इस्तीफा	१९३६ ,,
लार्ड लिन्लिथगो का वायसराय होना	१९३६ ,,

अध्याय ३८

आधुनिक जीवन और साहित्य

(सन् १८५८–१९३५ ई०)

आधुनिक युग की विशेषताएँ—भारतवर्ष में अँगरेजों के आगमन और पाश्चात्य सभ्यता के प्रचार ने मनुष्यों के दृष्टिकोण को बदल दिया। ईसाई-धर्म का प्रभाव भी मालूम पड़ने लगा। राजा राममोहन राय ने वर्ण-व्यवस्था और मूर्तिपूजा का परित्याग कर दिया और हिन्दू-धर्म के आदर्शों के विरुद्ध ब्रह्मसमाज की स्थापना की। उनके कार्य को केशवचन्द्र सेन ने आगे बढ़ाया। इनके उत्साह, वाक्पटुता और भक्ति ने सबको प्रभावित किया। एक ऐसा ही अद्वैतवादी आन्दोलन महाराष्ट्र में आरम्भ हुआ और उसके फलस्वरूप वहाँ प्रार्थना-समाज की स्थापना हुई। इसका उद्देश्य बौद्धिक उपासना और समाज-सुधार था। इसने जनता में शिक्षा-प्रचार और दलित जातियों का उद्धार करने का प्रयत्न किया। सर आर० एस० भांडारकर और एम० जी० रानाडे इसके सर्वश्रेष्ठ नेता थे। रानाडे हाईकोर्ट के जज थे और बड़े ही योग्य, देशभक्त तथा चरित्रवान् पुरुष थे। उन्होंने इण्डियन नेशनल कांग्रेस के साथ एक सोशल कान्फरेंस करने का प्रस्ताव

किया और अपने भाषण में सामाजिक सुधारों का विशद विवेचन किया। शिक्षा में वे बड़ा विश्वास रखते थे और 'डकन एज्यूकेशन सोसायटी' (सन् १८८४ ई०) के मुख्य कार्यकर्ताओं में से एक थे। इस संस्था के सदस्यों में गोखले, तिलक और आगरकर जैसे लोग थे। इस सोसायटी ने एक पाठशाला खोली थी जो अब पूना में 'फरगुसन कालेज' के नाम से विख्यात है और जिसकी सफलता का श्रेय एज्यूकेशन सोसायटी के सदस्यों के आत्मबलिदान और भक्ति-भाव को है। सन् १९०५ ई० में मिस्टर गोखले ने 'सर्वेन्ट्स आफ इंडिया सोसायटी' की स्थापना की जो कि राजनीतिक और सामाजिक उद्धार के क्षेत्र में कार्यकर्ताओं का एक संघ है। सार्वजनिक जीवन में आध्यात्मिकता का संचार और मातृभूमि की सेवा के लिए अपने देशवासियों के सर्वोच्च गुणों का आह्वान करना उनका उद्देश्य था।

थियोसोफिकल सोसायटी (सन् १८७५ ई०), आर्यसमाज (सन् १८७५) और रामकृष्ण मिशन ने भी जनता की राष्ट्रीय भावना को जगाने के लिए बहुत कुछ किया है। श्रीमती एनीबेसेंट (Annie Besant) ने हिन्दू-आदर्शों को एक नवीन चोला पहनाया और स्वामी विवेकानन्द और रामतीर्थ ने अपनी आध्यात्मिकता और धार्मिक उत्साह से सबको प्रभावित किया। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने सत्यार्थप्रकाश में वैदिक धर्म का एक नवीन अर्थ उपस्थित किया और अन्धविश्वासमय धार्मिक अनुष्ठानों की निन्दा की। उनके अनुयायियों ने वर्ण-व्यवस्था की कठोरता तोड़ने, स्त्रियों को शिक्षित करने और दलित जातियों की स्थिति सुधारने के लिए बड़े उत्साह से कार्य किया। अन्य शक्तियों ने भी उसी लक्ष्य की ओर ध्यान किया। वैज्ञानिक शिक्षा, विदेश-यात्रा और पाश्चात्य विचारों के सम्पर्क आदि ने मनुष्यों के दृष्टिकोण को बदल दिया और रीति या शास्त्रीय मत की अपेक्षा तर्क अधिक महत्त्वपूर्ण समझा जाने लगा।

सामाजिक स्थिति—१९वीं शताब्दी के प्रथमार्द्ध तक वर्ण-धर्म प्रबल रहा। सन् १८५७ ई० के गदर का कारण ही यह था कि वर्ण-धर्म खतरे में है। परन्तु पाश्चात्य शिक्षा के कारण वर्ण-धर्म के बन्धन ढीले होने आरम्भ हुए। जाति-भेद को कम करने में रेलों ने बड़ा योग दिया। ब्राह्मण, मुसलमान, ईसाई सब रेल के डिब्बों में एक साथ यात्रा करने लगे और जातिभ्रष्ट होने का भय जाता रहा। इंडियन सोशल कान्फरेंस ने वर्ष प्रतिवर्ष स्त्रियों और दलित वर्गों की उन्नति, जातियों में सौहार्दभाव, बाल-विवाह और बलात् वैधव्य जैसी सामाजिक बुराइयों के निवारण के लिए प्रयत्न किया। 'डिप्रेस्ड क्लासेज मिशन सोसायटी' की सन् १९०६ ई० में स्थापना हुई और उसने दलित वर्गों की उन्नति के लिए बहुत कुछ किया। हिन्दू-महासभा ने अपने अधिवेशन में जो बनारस में सन् १९२३ ई० में हुआ था, अछूतों को हिन्दू-धर्म की सुविधाएँ प्रदान करने के पक्ष में एक प्रस्ताव पास किया। महात्मा गांधी के प्रयत्नों से

दलित जातियों के विरुद्ध वहुत-से कुसंस्कार मिटते चले जा रहे हैं और सरकार और जनता दोनों उनकी स्थिति सुधारने के लिए यथाशक्ति प्रयत्न कर रहे हैं। देश के वहुत-से भागों में उन्हें अन्य हिन्दुओं के साथ मन्दिरों में पूजा करने की सुविधा मिल गई है। खान-पान के मामले में पुराने वन्धन ढीले पड़ गये हैं और जीवन के संस्कारों में यथेष्ट परिवर्तन हो गया है। अन्तर्जातीय विवाह भी साधारण हो गये हैं और घृणा की दृष्टि से नहीं देखे जाते। शारदा ऐक्ट (सन् १९३० ई०) के द्वारा वाल-विवाह भी काननन वर्जित कर दिया गया है और विवाह की आयु लड़कों के लिए १६ और लड़कियों के लिए १४ वर्ष निश्चित कर दी गई है।

विख्यात वंगाली समाज-सुधारक और परोपकारी महापुरुष ईश्वरचन्द्र विद्यासागर विधवा-विवाह-आन्दोलन के प्रवल समर्थक थे। उनके प्रयत्न से एक कानून पास हुआ जिससे विधवाओं के विवाह को काननी सुविधा मिल गई। वर्तमान समय में विधवाओं की सहायता करने के लिए वहुत कुछ किया गया है। उन्हें सहायता पहुँचाने के उद्देश्य से समस्त देश में विधवा-आश्रमों और सेवासदनों की स्थापना हुई है। परन्तु उच्च जाति के हिन्दू-परिवारों में विधवा-विवाह अव भी विरले ही होते हैं, यद्यपि इनका विरोध न गहरा ही होता है और न प्रभावशाली ही।

महात्मा गांधी के आन्दोलन ने सामाजिक जीवन को वहुत कुछ प्रभावित किया है। उनकी सादगी और तपश्चर्या के आदर्शों ने सब वर्गों के लोगों को अत्यधिक आकर्षित किया है। पोशाक में यथेष्ट सादगी आ गई है और व्यवहारों और संस्कारों में भी परिवर्तन हुआ है।

स्त्रियों की स्थिति—अव भारतीय स्त्रियों को अपने अधिकारों का ज्ञान हुआ है। सन् १९१७ ई० में स्त्रियों का एक डेपुटेशन मदरास में मिस्टर मांटेग्यू से मिला और उन्हें एक ऐड्रेस प्रदान किया जिसमें उन्होंने व्यवस्थापिका सभाओं में प्रतिनिधित्व की माँग की थी। सन् १९२६ ई० में प्रथम वार अखिल भारतीय महिला-सम्मेलन हुआ जिसमें स्त्रियों की माँगें और समाज में उनकी स्थिति को सुधारने के उपाय उपस्थित किये गये। लेडी डफरिन फंड का स्त्री-डाक्टरों, नर्सों और दाइयों का प्रवन्ध करने में उपयोग किया गया है और उन्हें चिकित्सा-शास्त्र की शिक्षा देने के लिए अस्पताल और मेडिकल कालेज खोले गये हैं। दिल्ली का लेडी हार्डिंज मेडिकल कालेज एक विख्यात संस्था है जो स्त्रियों को एम० बी० वी० एस० की डिग्री के लिए तैयार करती है। और भी वहुत-सी गैर-सरकारी संस्थाएँ हैं जहाँ स्त्रियाँ सामाजिक सेवा के लिए तैयार की जाती हैं। इनमें सबसे अधिक उल्लेखनीय कलकत्ता का चितरंजन-सेवासदन और पूना का सेवासदन है जिनसे यह प्रकट होता है कि स्त्रियाँ कितना महान् कार्य कर सकती

हैं। प्रोफ़ेसर कर्वे के स्त्री-विश्वविद्यालय ने स्त्रियों की एक बड़ी संख्या को शिक्षित किया है, जिन्होंने अपनी बहनों के प्रकाश और ज्ञान के प्रसार के लिए बहुत कुछ किया है। पर्दे का शीघ्रता के साथ लोप हो रहा है। सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र में पुरुष और स्त्रियाँ साथ-साथ कार्य करते हुए दिखाई पड़ते हैं। स्त्रियों में ऐसी अध्यापिकाएँ हैं जिन्होंने यूरोप में शिक्षा प्राप्त की है। शिक्षित लड़कियों ने स्वेच्छानुसार विवाह करना आरम्भ किया है और उनमें से कुछ ने रंग-मंच (Stage) को जीविकोपार्जन का साधन बनाया है। संगीत और नृत्य का वे परिश्रम के साथ अभ्यास कर रही हैं और कुछ स्त्रियों ने तो विश्वव्यापी यश प्राप्त किया है।

हाल में मुस्लिम स्त्रियों की स्थिति में भी बहुत कुछ सुधार हो गया है। सन् १९१४ ई० में एक अखिल भारतीय मुस्लिम महिला-सम्मेलन का संगठन हुआ था और सन् १९२४ ई० में उसने एक प्रस्ताव पास किया जिसमें बहुत-से सुधारों की ओर संकेत था। शिक्षित स्त्रियों में पर्दा बहुत कुछ टूट गया है और बहुत-सी स्त्रियाँ ऐसी हैं जिन्होंने शिक्षा और समाज-सुधार के कार्य को बड़ी तत्परता से उठाया है। स्त्रियों की सामाजिक स्थिति में परिवर्तन करने के हेतु हमारी संसद् हिन्दू कोड बिल के ऊपर विचार कर रही है। यदि यह पास हो गया तो हमारे महिला-समाज में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो जायँगे।

धर्म—भारत अब भी बहुत-से धर्मों का देश बना है और बौद्ध-धर्म, जैन-धर्म, इस्लाम और ईसाई-धर्म—सभी के माननेवाले यहाँ हैं। परन्तु प्रधान धर्म हिन्दू-धर्म है। यह सदैव सुधारशील धर्म रहा है। इतिहास के किसी समय में इसने अपनी कठोरता को कम करने से इनकार नहीं किया। १९वीं शताब्दी में इसने ब्रह्म-समाज, आर्य-समाज और ऐसे ही धार्मिक आन्दोलनों के प्रभाव से अपनी व्यवस्थाओं में परिवर्तन किया है। मुख्य धर्मों के अतिरिक्त बहुत-से पन्थ भी हैं जो आधुनिक युग में आविर्भूत हुए हैं। इनमें सबसे अधिक उल्लेखनीय राधास्वामी-पन्थ है जिसे आगरा-निवासी स्वामी शिवदयालसिंह ने स्थापित किया था और बाद को उनके शिष्य रायबहादुर शालिगरामजी ने, जो संयुक्त-प्रान्त के एक पोस्टमास्टर जनरल थे, पुष्ट किया। इस पन्थ के अनुसार गुरु सर्वोपरि है और उससे बढ़कर कोई वस्तु नहीं है। दयालबाग, जो कि राधास्वामी-पन्थ का केन्द्र है, बढ़कर एक औद्योगिक नगर बन गया है और उसमें कारखानों, कृषिक्षेत्रों और डेरीफार्मों के अतिरिक्त शिक्षा-सम्बन्धी संस्थाएँ भी हैं। लोकप्रिय हिन्दू-धर्म ने ब्रह्मा, विष्णु, शिव, शक्ति और गणेश की पूजा सम्मिलित है। समस्त देश में गो और ब्राह्मण का आदर किया जाता है। गंगा की भी पूजा की जाती है और हजारों लोग अब भी लम्बी यात्राएँ करके उसके पवित्र जल में स्नान करने आते हैं। आधुनिक शिक्षित हिन्दू सदैव धर्माचरणों का अनुगमन नहीं करता

और धर्म के प्रति उसका बढ़ता हुआ उपेक्षा-भाव हमारे समाज का एक स्पष्ट स्वरूप है। परन्तु जनता में धार्मिकता का भाव गहरा है। कर्म और भविष्य जीवन में उनका पूर्ण विश्वास है। अस्पृश्यता को अवैध घोषित करके हमारी सरकार ने हिन्दू-धर्म के भीतर हरिजनों की स्थिति दृढ़ कर दी है। अब उन्हें मन्दिर-प्रवेश की भी आज्ञा मिल रही है।

मुसलमान—आरम्भ में मुसलमानों पर अँगरेजी शासन का जो प्रभाव पड़ा वह अच्छा नहीं था। वे बड़े ओहदों से पृथक् कर दिये गये और उनकी जगह यूरोपियन आ गये। इसलिए स्वभावतः रईसों और साधारण लोगों में बड़ा असंतोष रहा और मौलवियों ने अँगरेजों द्वारा चलाई गई शिक्षण-पद्धति की बड़ी निन्दा की। परन्तु सर सैयद अहमद (सन् १८१७-७८ ई०) के उपदेशों द्वारा मुसलमानों के राजनीतिक और धार्मिक दृष्टिकोण में परिवर्तन हुआ। सर सैयद अहमद बड़े ही योग्य और दूरदर्शी मुसलमान नेता थे। उन्होंने अपने सहधर्मियों को पाश्चात्य साहित्य और विज्ञान का अध्ययन करने के लिए उत्साहित किया। उन्होंने अलीगढ़-आन्दोलन प्रारम्भ किया और गालियों और धमकियों की परवा न करते हुए वे अलीगढ़ में मुहम्मडन एंग्लो ओरियण्टल कालेज की स्थापना (सन् १८७५ ई०) करने में सफल हुए। यह अब एक विश्वविद्यालय के रूप में परिणत हो गया है। उन्होंने समाज-सुधार पर जोर दिया और अपनी पत्रिका 'तहजीबे अखलाक' के द्वारा शिक्षा और पर्दा के सम्बन्ध में कट्टर विचारों की समालोचना की। अलीगढ़-आन्दोलन ने मुस्लिम-सम्प्रदाय के जीवन और विचारों पर गहरा प्रभाव डाला। इसके द्वारा वे अपनी हारों और असफलताओं को भूल गये। भूतकाल के खोये हुए वैभव को भूलकर उन्होंने भविष्य की ओर ध्यान दिया और अन्य सम्प्रदायों की भाँति उन्नति के लिए प्रयत्न किया।

सर सैयद के सहयोगियों में एक मौलवी शिवनीनुमानी (सन् १८५७-१९१४ ई०) थे। इन्होंने सन् १८९० ई० में लखनऊ में 'नदवत-उल उलमा' नामक संस्था की स्थापना की। पाँच वर्ष बाद इस सोसायटी ने आजमगढ़ में दारुल-इस्लाम के नाम से विख्यात एक एकेडेमी कायम की। इसका मुख्य उपदेश अध्यापकों को शिक्षा देना है। इस एकेडेमी ने मुस्लिम विद्या का परिरक्षण करने में प्रशंसनीय कार्य किया है।

१९वीं शताब्दी के मध्य में भारतवर्ष में एक नवीन आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। यह अहमदिया पन्थ का आन्दोलन था। इसके संस्थापक मिर्जा गुलाम अहमद कादियानी (सन् १८३९-१९०८ ई०) थे जिन्होंने पंजाब के एक प्रतिष्ठित मुगल-परिवार में जन्म लिया था। वे सर्वथा धार्मिक सुधारक थे। उन्होंने अनुभव किया कि वे एक दैवी कार्य की सिद्धि के लिए इस संसार में बुलाये गये हैं। उन्होंने अपने अनुयायियों और शिष्यों को दीक्षित किया। उन्होंने महदी

होने का दावा किया, मुल्लाओं की निन्दा की और कहा कि वे लोगों को अन्धकार में रखते हैं और सन्तों तथा कब्रों की लोकप्रिय उपासना पर खेद प्रकट किया। इन्होंने सच्चे इस्लाम के पुनरुद्धार का बीड़ा उठाया परन्तु पर्दा, तलाक और बहुविवाह का जोर के साथ समर्थन किया। बहुत-से लोगों ने उन्हें स्वधर्मत्यागी समझा और जाति-बहिष्कृत कर दिया। अहमदिया पन्थ के अनुयायी भारतवर्ष के सब भागों—ब्रह्मा, लंका, अफ़गानिस्तान और अन्य मुस्लिम देशों में पाये जाते हैं। मिर्जा गुलाम अहमद सन् १९०८ ई० में मर गये, तब से उनके सम्प्रदाय की देख-भाल एक खलीफा करते हैं, जो कादियान में रहते हैं।

दूसरा आन्दोलन जिसका संक्षिप्त उल्लेख किया जा सकता है वह वहाबी पन्थ है। इसकी स्थापना मुहम्मद अब्दुल वहाब ने १८वीं शताब्दी में अरब में की थी। उन्होंने 'तौहीद' (ईश्वर की एकता) पर जोर दिया, सन्तों की पूजा का विरोध किया और कुरान और हदीस के अर्थ लगाने के सम्बन्ध में व्यक्तिगत अधिकार को स्वीकार करने से इनकार कर दिया। ये विचार भारतवर्ष में पहले सन् १८०४ ई० में आये। इस पन्थ के अनुयायियों की संख्या बहुत कम है।

सर सैयद अहमद के समकालीन मौलवी चिरागअली और सैयद अमीरअली की भी गिनती उदार मुसलमानों में है जिन्होंने इस्लाम के आदर्शों पर एक नवीन प्रकाश डालने की चेष्टा की। इस्लामी विचारों के नये प्रचारक प्रसिद्ध पंजाबी कवि और दार्शनिक सर मुहम्मद इकबाल हुए।

महान् यूरोपीय युद्ध के दिनों में खिलाफत के दुर्भाग्य ने भारतीय मुसलमानों में बड़ा असन्तोष उत्पन्न किया। बम्बई में एक खिलाफत कमेटी स्थापित की गई और चन्दा जमा किया गया जिससे एक राष्ट्रीय विश्वविद्यालय चलाया गया। इस आन्दोलन के मुख्य संचालक प्रसिद्ध विद्वान् और नेता मौलाना मुहम्मदअली और अब्दुल मजीद ख्वाजा थे। सन् १८२४ ई० में जब टर्की में खलीफा का पद तोड़ दिया गया तब यहाँ खिलाफत कमेटी का भी वास्तविक कार्य समाप्त हो गया।

भारतवर्ष के मुसलमान दो मुख्य जातियों में बँटे हैं। सुन्नी और शिया। सर्वसाधारण मुसलमान अपने हिन्दू पड़ोसियों की भाँति जीवन व्यतीत करते हैं। दहातों में मुसलमान भी होली और दिवाली का त्योहार मनाते हैं। अवध के मुसलमान शासक वसन्तपंचमी के दिन नौ रोज का उत्सव मनाते थे। आज भी देहातों में सम्मिलित कुटुम्ब की प्रथा प्रचलित है और पर्दे का पालन कड़ाई के साथ नहीं किया जाता। वर्णव्यवस्था ने मुस्लिम समाज को भी प्रभावित किया है और देश के कुछ भागों में शेख, सैयद, मुगल और पठान का भेद माना जाता है। परन्तु इस्लाम का महत्त्व एकता और उसके अनुयायियों के

भ्रातृ-भाव में है। मसजिद के भीतर जन्म, पद और धन के समस्त भेद अदृश्य हो जाते हैं और भिखारी, मेहतर और राजा एक साथ अपने ईश्वर की उपासना करते हुए देखने में आते हैं।

हमारी सरकार ने पृथक् निर्वाचन-प्रणाली को हटाकर मुसलमानों के हृदयों से साम्प्रदायिकता के रोग को हटाने का प्रयत्न किया है। स्वतन्त्र भारत में उन्हें नागरिक के समस्त अधिकार प्राप्त हैं। अल्पसंख्यक होने पर भी वे अपने धर्म एवं संस्कृति का स्वेच्छापूर्वक अनुसरण कर सकते हैं।

कृषि—भारतवर्ष मुख्यतया कृषि-प्रधान देश है। उसकी जन-संख्या का लगभग ३/४ भाग इसी व्यवसाय पर निर्भर रहता है। विदेशों की मशीन से बनी सस्ती वस्तुओं की प्रतिद्वन्द्विता के कारण हमारे घरेलू उद्योग-धन्धों के नष्ट हो जाने से भूमि पर भार अधिक बढ़ गया है। बन्दरगाहों को आन्तरिक प्रदेश से जोड़ने के लिए रेल-पथ खोले गए। इसका परिणाम यह हुआ कि देशी व्यापार अवनत हुआ और विदेशी व्यापार की वृद्धि हुई। कृषि का क्षेत्रफल विशेषकर उन वस्तुओं का, जिनकी विदेशी बाजारों में माँग है जैसे कपास, नील, सन और चाय इत्यादि बढ़ गया।

भारतीय किसान की पैदावार का दर्जा बहुत नीचा है। वह बुद्धिमान्, मित-व्ययी और परिश्रमी होता है। परन्तु अपनी गरीबी और अज्ञान के कारण आधुनिक विज्ञान से लाभ नहीं उठा सकता। वह आमतौर से ऋण में डूबा रहता है, यद्यपि महाजनों के चंगुल से छुड़ाने के लिए सरकार ने अब कानून पास किया है। सहकारिता-विभाग (Co-operative Department) को अभी सफलता नहीं मिली है। 'एग्रीकल्चरल कमीशन' (सन् १९२८ ई०) की सिफा-रिश पर कृषि-सम्बन्धी खोजों के लिए एक इम्पीरियल कौंसिल बनी है जिसने कृषि-सुधार का कार्य अपने हाथ में लिया है। हमारी कृषि में मुख्य त्रुटि मान-सून की संदिग्धता है। किसान को वर्षा का कभी निश्चय नहीं रहता और सूखा के समय वह सर्वथा असहाय हो जाता है। परन्तु सरकार ने सिंचाई की सुविधाएँ प्रदान की हैं और नहरों के द्वारा भूमि के बड़े बड़े भाग उर्वर हो गए हैं। सक्कर का बाँध संसार में अपने ढंग की सर्वश्रेष्ठ कृति है। इसमें २० करोड़ रुपया व्यय हुआ है और यह लगभग साढ़े सत्तर लाख भूमि पर शासन करता है। कृषि की उन्नति करने के लिए बिजली से भी काम लिया जाने लगा है।

१९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अकाल बहुत पड़ते थे और उनसे जनता को बहुत कष्ट होता था। मैकडानल कमीशन की रिपोर्ट (सन् १९०१ ई०) में अकाल-पीड़ितों को सहायता पहुँचाने के सम्बन्ध में बहुत-सी बातें बताई गई हैं और प्रान्तीय फैमिन कोड (अकाल के कानून) बनाए गए हैं। उत्तर प्रदेश में

भारतवर्ष की प्रधान भाषायें
कश्मीरी
पश्चिमी पहाड़ी
मध्य पहाड़ी
पूर्वी पहाड़ी
हिन्दुस्तानी
पंजाबी
बलोच
मकरानी
सिन्धी
मेवाती
जैपुरी
ब्रजभाषा
मालवी
बुंदेली
अवधी
मैथिली
भोजपुरी
मगही
गुजराती
खानदेशी
मराठी
छत्तीसगढ़ी
उड़िया
बंगाला
आसामी
मकरानी
तेलगू
तामिल
मलायलम
१.... पशाई
२.... कोहिस्ती
३.... फारसी भाषायें
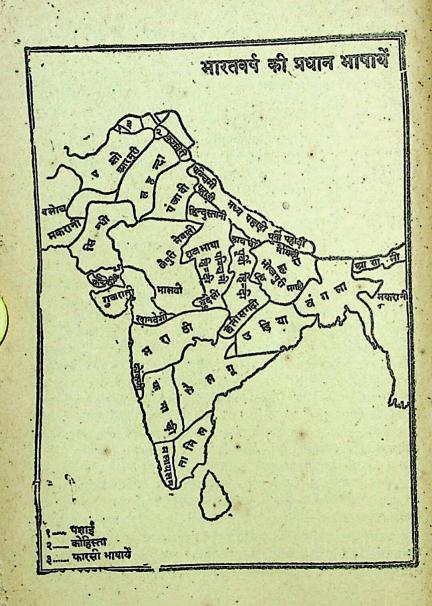
सबसे अन्तिम बड़ा अकाल सन् १९०७-८ ई० में पड़ा था; परन्तु सरकारी और गैर-सरकारी लोगों के प्रयत्न-द्वारा जनता का कष्ट बहुत कम हो गया था।

उद्योग-धंधे—१८वीं शताब्दी में भारतवर्ष कला-कौशल-प्रधान देश था। परन्तु भारतीय राज्यों के शक्तिहीन होने से चतुर कारीगर अपने मुख्य ग्राहकों से वंचित हो गए। मशीन की बनी सस्ती वस्तुओं ने उनकी स्थिति और भी खराब कर दी। १९वीं शताब्दी के आरम्भ तक भारतवर्ष यथेष्ट मात्रा में कपड़े बनाता था। इससे वह अपनी ही आवश्यकता नहीं पूरी करता था, बल्कि उसका एक बड़ा भाग वह विदेशों को भी भेजता था। हमारे निर्यात-व्यापार में मुख्यतः निर्मित वस्तुएँ होती थीं और ढाका की मलमल और जरी के कपड़ों की यूरोपीय देशों में अच्छी बिक्री होती थी। परन्तु ईस्ट इण्डिया कम्पनी की नीति ने भारतीय उद्योगों के मार्ग में बड़ी असुविधाएँ खड़ी कीं और क्रमशः वैदेशिक प्रतियोगिता के कारण हमारे समस्त कला-कौशल को गहरी क्षति पहुँची।

सन् ५७ के विप्लव के बाद उद्योग-धंधों का स्वरूप बदल गया। उदाहरण के लिए कपास का व्यवसाय जो प्रथम ५० वर्षों में नष्ट हो गया था, देश में फिर से स्थापित हुआ और बीस ही वर्ष में यह अँगरेजी व्यवसाय से प्रतियोगिता करने लगा। इसकी प्रथम उत्तेजना अमरीका के युद्ध से मिली। (सन् १८६१-६५ ई०) क्रिमियन युद्ध के समय में हमारा जूट का व्यवसाय आरम्भ हुआ और उसकी क्रमोन्नति हुई। कृषि को व्यापारिक रूप दिया गया। भारतवर्ष में देशी बाजारों के ही लिए नहीं, अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों के लिए भी पैदावार होने लगी। कपास, सन, चाय, कहवा, रबड़, गेहूँ आदि की संसार के बाजारों के लिए अधिकाधिक मात्रा में उपज होने लगी। तत्पश्चात् विशेषतया सन् १८६९ ई० के बाद जब स्वेज नहर खोली गई तो इस व्यापार में बड़ा परिवर्तन हुआ। इस समय में देश के उद्योग-धंधों को जिन मुख्य बातों ने प्रभावित किया वे ये हैं—

(१) आवागमन के उत्तम साधन और माल ले आने और ले जाने की सुविधाएँ और उत्पादन और वितरण पर उनका प्रभाव।

(२) फ्री ट्रेड के लिए आन्दोलन।

(३) भारत में ब्रिटिश शासन-द्वारा स्थापित शान्ति और व्यवस्था।

(४) जर्मनी और फ्रांस जैसे यूरोपीय देशों का भारत में अपना माल बेचने का प्रयत्न।

२०वीं शताब्दी के प्रथम १४ वर्षों में विशेषकर सन् १९०५ ई० के बाद भारतवर्ष के बाहरी व्यापार की उल्लेखनीय वृद्धि हुई। महायुद्ध से हमारी औद्योगिक उन्नति में बड़ी उत्तेजना मिली। व्यवसायों को कृत्रिम उत्तेजना

भी दी गई, यहाँ तक कि कपास, सन, चमड़ा, लोहा, स्टील और नील की खेती भी फिर से होने लगी।

युद्ध बन्द हो जाने पर सब देशों में माल की कमी के कारण व्यापार में खूब गरमाहट आई (सन् १९१८-२० ई०)। उसके बाद मद्दे का समय आया (सन् १९२१-२३ ई०)। सन् १९२४-२९ ई० के बीच का समय व्यापार के पुनरुद्धार और साधारण उन्नति का समय था।

साहित्य—पाश्चात्य शिक्षा और सभ्यता के प्रचार से भारतवर्ष में साहित्यिक उन्नति काफी हुई है। आधुनिक विश्वविद्यालयों में शिक्षित पुरुषों ने विभिन्न विषयों पर अँगरेजी में पुस्तकें लिखी हैं। यहाँ उनका सविस्तर वर्णन करना असम्भव है। वर्त्तमान देशी भाषाओं की उन्नति के कारण संस्कृत और फारसी के अध्ययन में कमी हो गई है।

इस समय हिन्दी और उर्दू दोनों की यथेष्ट उन्नति हुई है। स्वामी दयानन्द ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश में इस बात पर जोर दिया था कि प्रत्येक आर्य को हिन्दी का अध्ययन करना चाहिए। राजा शिवप्रसाद और राजा लक्ष्मणसिंह आरम्भिक गद्य के मार्ग-निर्माता थे। राजा लक्ष्मणसिंह ने कालिदास के प्रसिद्ध नाटक अभिज्ञान-शाकुन्तल का हिन्दी में अनुवाद किया जो अब भी बड़ी दिलचस्पी से पढ़ा जाता है। बनारस के भारतेन्दु हरिश्चन्द्र एक बड़े उच्च कोटि के कवि थे। वे गद्य भी उतनी ही सरलता से लिख सकते थे। उन्होंने हिन्दी-भाषा को मधुर और लालित्यपूर्ण बनाया। सन् १८८५ ई० में उनका स्वर्गवास हो गया; परन्तु उनके समकालीन—बदरीनारायण चौधरी, प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट और अन्य विद्वानों ने उनके कार्य को आगे बढ़ाया। सन् १९०३ ई० में प्रसिद्ध हिन्दी के विद्वान् और लेखक बाबू श्याम-सुन्दरदास के प्रयत्न से काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा की स्थापना हुई। इस संस्था ने हिन्दी-भाषा की महान् सेवाएँ की हैं। आरम्भ में इस सभा ने केवल अनुवाद-कार्य किया; परन्तु हाल में इसने कई मौलिक ग्रन्थ प्रकाशित किये हैं। आधुनिक युग के अतिविख्यात गद्य-लेखकों में 'सरस्वती' के भूतपूर्व सम्पादक स्वर्गीय पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी थे जिन्होंने बहुत से लेख और निबन्ध बड़ी जोरदार शैली में लिखे हैं। इस काल के अन्य लेखक पं० रामचन्द्र शुक्ल और मिश्रबन्धु हुए जिनके हिन्दी-साहित्य के इतिहास प्रसिद्ध ग्रन्थों में से हैं। पद्मसिंह शर्मा और कृष्णबिहारी की साहित्यिक समालोचनाएँ उच्च कोटि की हैं।

आधुनिक हिन्दी के कवि दो स्कूलों में विभक्त हैं—एक खड़ी बोली और दूसरा ब्रजभाषा का समर्थक है। खड़ी बोली के कवियों में मैथिलीशरण गुप्त, ठाकुर गोपालशरणसिंह, जयशंकर प्रसाद और बहुत से हैं। ब्रजभाषा के

प्रमुख कवि स्वर्गीय बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर थे जिनका उद्धवशतक और गंगावतरण उच्च कोटि की कविताएँ हैं। अयोध्यासिंह उपाध्याय खड़ी बोली और व्रजभाषा दोनों में बराबर सुगमता से लिखते थे। उनका प्रियप्रवास उच्च कोटि का काव्य है। हिन्दी की नवीन कविता वर्त्तमान युग और इसके भावों का प्रतिबिम्ब है। उपन्यास लिखनेवालों में प्रेमचन्द अधिक प्रसिद्ध थे।

मुगल-साम्राज्य की सरकारी भाषा फारसी थी। इसी के द्वारा सब राज-काज होता था। यह केवल साम्राज्य के अन्तिम दिनों की बात है जब उर्दू-साहित्य ने उन्नति की। लखनऊ, दिल्ली, पटना, रामपुर और हैदराबाद में उर्दू-कविता की उन्नति हुई। उस समय के दो प्रसिद्ध कवि गालिब और अनीस हैं। पहला कवि दार्शनिक था और उसके विचारों और भावों में बड़ी मौलिकता थी और दूसरा मर्शिया लिखने में बड़ा सिद्धहस्त था। आधुनिक कवियों में अकबर इलाहाबादी और ब्रजनारायण चकबस्त की कविताएँ बहुत पसन्द की जाती हैं। सर मुहम्मद इकबाल वर्त्तमान समय के सबसे महान् मुस्लिम कवि हुए। उन्होंने उर्दू-कविता को एक नवीन धारा में प्रवाहित किया है और उनकी कविताएँ भारतवर्ष और संसार के अन्य भागों में भी पढ़ी जाती हैं। मुशायरे आजकल के फैशन हो रहे हैं और ऐसा कोई विषय नहीं है जिसका आधुनिक कविता में जिक्र न आये।

गद्य में सर सैयद अहमद के साथ एक नवीन शैली का प्रादुर्भाव हुआ। उनका सिद्धान्त था कि भाषा की अपेक्षा भावों का अधिक खयाल करना चाहिए। अन्य विख्यात लेखकों में 'आबे हयात' और 'दरबार अकबर' के रचयिता मौलवी मुहम्मद हुसैन आजाद हैं। 'हयात सादी' के रचयिता हाली, गद्य-पद्य दोनों में प्रतिभा दिखानेवाले मौलाना शिबली, मौलाना सुलेमान नदवी और मौलाना जकाउल्ला इन सबने सरल और मधुर शैली में लिखा है। उर्दू के लेखकों में सबसे प्रसिद्ध नाम ये हैं—मनोहरलाल जुत्शी, श्रीराम और दयानारायण निगम। उपन्यास-लेखकों में रत्ननाथ शरशार और अब्दुल हलीम शरर बहुत प्रसिद्ध हैं।

बंगाल में साहित्य का महान् पुनरुद्धार हुआ है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कृतियों में बंगाली गद्य और पद्य दोनों अपनी चरम सीमा को पहुँच गए हैं। ये पूर्व के 'पोएटलारिएट' कवि-सम्राट् ठीक ही कहे जाते हैं। उन्होंने बहुत-से नाटक, उपन्यास, कहानियाँ, कविताएँ और निबन्ध लिखे हैं। उनकी प्रसिद्ध रचना गीताञ्जलि पर उन्हें नोबल प्राइज मिला और उसने उन्हें संसार के कवियों में एक उच्च स्थान दिलाया। परन्तु रवीन्द्रनाथ के पहले वहाँ गद्य और पद्य के बहुत से प्रसिद्ध लेखक थे। प्रथम महान् उपन्यासकार बंकिमचन्द्र चटर्जी और महाकाव्यों के प्रथम महान् लेखक मधुसूदन

दत्त ने अपनी मातृ-भाषा के साहित्य की बड़ी श्रीवृद्धि की। बंकिम प्रसिद्ध राष्ट्रीय गान 'वन्दे मातरम्' के रचयिता हैं। उन्होंने भी गद्य लिखने में बड़ी प्रतिभा दिखाई। श्रीयुत रमेशचन्द्र दत्त एक बड़े विद्वान् थे। उन्होंने अँगरेजी और बँगला में बहुत-से ग्रन्थ लिखे और बँगला में लिखे उनके उपन्यास अब भी बड़ी दिलचस्पी के साथ पढ़े जाते हैं। स्त्री-कवियों में तोरुदत्त और सरोजिनी नायडू के नाम बहुत प्रसिद्ध हैं।

महाराष्ट्र में विष्णु शास्त्री चिपलूनकर ने आधुनिक मराठी गद्य की नींव डाली। अण्णा साहब किरलोस्कर ने नाटक रचे और कृष्णाजी प्रभाकर, वासुदेव शास्त्री और दूसरों ने उनका अनुगमन किया। के० टी० तेलंग और एम० जी० रानाडे जजों ने भी मराठी-साहित्य की उन्नति के लिए बहुत कुछ किया। आधुनिक मराठी-साहित्य में अन्य प्रसिद्ध नाम ये हैं—इतिहास के क्षेत्र में बी० के० राजवाडे, उपन्यास में हरि नारायण आपटे और दर्शन, धर्म तथा राजनीति में तिलक।

ऐसी ही उन्नति गुजराती और दक्षिण-भारत के साहित्य में हुई है। बलरामजी मलाबारी जिन्होंने स्त्रियों की स्थिति सुधारने का बीड़ा उठाया था, प्रसिद्ध लेखक थे और अँगरेजी और गुजराती दोनों में लिख सकते थे। दक्षिण-भारत में श्रीयुत चन्दुमेनन ने सन् १८८९ ई० में अपना प्रसिद्ध उपन्यास इन्दुलेखा मलाबार किनारे की बोली में लिखा जो बहुत पसन्द किया जाता है। बीसवीं सदी में वहाँ गद्य-पद्य के बहुत-से लेखक हुए हैं जिनका यहाँ विस्तृत उल्लेख करना असम्भव है।

खोज की प्रगति—पश्चिम के संसर्ग ने भारतवर्ष में अन्वेषण का नया जोश पैदा किया है। विज्ञान के क्षेत्र में सर जे० सी० बोस, सर पी० सी० राय, सर सी० वी० रमन और डाक्टर मेघनाद साहा आदि ने विश्वव्यापी ख्याति प्राप्त की है। ऐतिहासिक अन्वेषण में सर जदुनाथ सरकार ने प्रशंसनीय कार्य किया है। बहुत-से विद्वानों ने संसार के समक्ष भारतीय विचारों को उपस्थित करने की चेष्टा की है और प्राचीन ज्ञान के गुप्त खजानों को प्रकट किया है। बंगाल की ऐशियाटिक सोसायटी और भांडारकर इन्स्टीटयूट जैसी संथाएँ उपयोगी कार्य कर रही हैं। ज्ञान और खोज के कार्य को आगे बढ़ाने के लिए अब देश में कई एक विद्यालय स्थापित हो गये हैं।

कला—मुगल-साम्राज्य के ह्रास के बाद भारत में कला की बड़ी अवनति हुई। सस्ती और आकर्षक यूरोपीय वस्तुओं की भरमार के आगे लोग अपनी वस्तुओं के सौन्दर्य और वास्तविक मूल्य को भूल गये। भारतीयों की राजनीतिक पराधीनता का प्रभाव उनकी कला में प्रकट हुआ। शिल्पकार, तक्षणकार और चित्रकार अपनी कला के सिद्धान्तों को भूल गये और विदेशी

आदर्शों को जो ब्रिटिश शासन के साथ भारतवर्ष में आये, जज्ब नहीं कर सके। शुरू में जो यूरोपियन आये वे भारतीय ढंग के बने घरों में रहते थे; परन्तु जब कलकत्ता, मदरास और बम्बई जैसे शहरों का निर्माण हुआ तब उन्होंने अँगरेजी फैशन के अनुसार अपने रहने के घर बनाये। उन्हें भारतीय राजाओं और नवाबों से प्रोत्साहन मिला और मुर्शिदाबाद और लखनऊ में यूरोपियन ढंग के महल निर्मित हुए। ईंट और पलस्तर से बना हुआ लखनऊ का छतरमंजिल और कैसरबाग और कलकत्ता में बंगाल के जमींदारों के महल इन सस्ते अनुकरण के नमूने हैं।

सरकार ने कला की उन्नति की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। पब्लिक वर्क्स डिपार्टमेंट की ओर से जो इमारतें बनीं उनमें सौन्दर्य-बोधक रुचि का बराबर अभाव पाया गया। शिक्षा के प्रचार और राष्ट्रीय भावना के जाग्रत होने से वर्त्तमान शैलियों में सुधार करने का प्रयत्न किया गया। कलकत्ता का विक्टोरिया मेमोरियल हाल और दिल्ली का असेम्बली हाल इस बात के उदाहरण हैं कि सरकार के बिल्डिंग डिपार्टमेंट (महकमा इमारत) में भी क्या परिवर्तन हो गया है। यद्यपि कल्पना और मौलिकता का इनमें भी अभाव है तथापि वे पब्लिक वर्क्स डिपार्टमेंट की मनहूस इमारतों की अपेक्षा, जो सारे देश में पाई जाती हैं, अच्छी हैं।

भारतीय कारीगरों ने अपनी कला को सर्वथा नहीं गँवा दिया है। बनारस के घाट, मथुरा और जयपुर के मन्दिर १९वीं शताब्दी में बने। राजपूत राजाओं के महल इसके जीवित प्रमाण हैं। परन्तु वह अपनी क्षमता खोता जा रहा है; क्योंकि ईंटों और पत्थरों में वह अपनी भावनाओं को व्यक्त नहीं करने पाता। कोई दूसरा व्यक्ति उसके लिए नकशा तैयार कर देता है और उसे उसी के अनुसार कार्य करना पड़ता है। इससे भारतीय कला के आदर्शों का ह्रास हुआ है।

चित्रकला—अन्य कलाओं की भाँति इस अवनति की स्थिति से चित्रकला का भी ह्रास हुआ है। मुगल-साम्राज्य के पतन के बाद चित्रकार लोग प्रान्तीय दरबारों में चले गये और वहाँ उन्होंने अपनी कला की परम्परा के अनुसार कार्य आरम्भ किया। राजपूत और पहाड़ी कलम जिनका पहले भी उल्लेख किया जा चुका है नष्ट हो गये और यूरोपियन चित्रकला का प्रभाव मालूम पड़ने लगा। भारतीय कलाविदों की रचनाओं का स्थान यूरोप की सस्ती तसवीरों और पाश्चात्य आदर्शों पर बनाई गई भारतीयों की तसवीरों ने लिया। परन्तु कलकत्ता के गवर्नमेंट स्कूल आफ आर्ट के प्रिन्सिपल ई० बी० हैवेल ने चित्रकला का पुनरुद्धार किया। इन्होंने भारतीय चित्रकला के आदर्शों को बड़ी मौलिकता और दृढ़ता से व्यक्त किया। चित्रकारों

का जो स्कूल उनके प्रभाव से विकसित हुआ और जिसके नेता श्री अवनीन्द्र-नाथ टैगोर थे, उसने भारत की प्राचीन कला को पुनर्जीवित करने का प्रयत्न किया और अजन्ता, चीन और जापान के चित्रों से उसे उत्तेजना मिली। इस सिलसिले में उल्लेखनीय दूसरे नाम हैं बंगाल के श्री नंदलाल बोस और पंजाब के अब्दुर्रहमान चगताई।

बम्बई के डाक्टर सुलेमान चित्रकारों के एक दूसरे स्कूल के संस्थापक हैं। ये भारतीय परिस्थितियों में पाश्चात्य आदर्शों का प्रयोग करते हैं। डाक्टर कुमार स्वामी बहुत वर्षों से भारतीय चित्रकला की महत्ता को बाहरी संसार को समझाने का प्रयत्न कर रहे हैं। चित्रकला के कई विद्यालय, लाहौर, जयपुर, लखनऊ और अन्य स्थानों में स्थापित हुए हैं, जो भारतीय कला के आन्दोलन को सहायता पहुँचाने के लिए बहुत कुछ कर रहे हैं।

संगीत—मुहम्मदशाह अन्तिम मुगल-सम्राट् था जिसने संगीत के संरक्षण के लिए हाथ बढ़ाया था। परन्तु साम्राज्य के ह्रास के बाद अन्य कलाओं की भाँति यह भी उपेक्षित अवस्था में रही। भारतीय राजों और धनी मनुष्यों ने संगीत-प्रेम जारी रक्खा, परन्तु कला के रूप में इसकी उन्नति करने के लिए कुछ प्रयत्न नहीं किया गया। केवल अभी हाल में बंगाल में टैगोर-वंश ने संगीत को उसका वास्तविक स्थान प्रदान किया है और उन्होंने इसे समस्त सभ्य स्त्री-पुरुषों के लिए एक गुण की वस्तु बना दिया है। बड़े नगरों में संगीत के विद्यालय स्थापित हुए हैं और भारतीय संगीत के अध्ययन और अभ्यास के लिए स्कूल और कालेज भी बहुत कुछ कर रहे हैं। इस दिशा में एक नवीन बात यह हुई कि सम्मानित परिवारों के स्त्री-पुरुष नृत्य का भी अभ्यास करने लगे हैं। शिक्षित वर्ग से इसे बहुत प्रोत्साहन मिल रहा है और स्कूलों तथा कालेजों में इसके प्रचार के लिए बहुत कुछ प्रयत्न किया जा रहा है। संगीत-सभाओं के अधिवेशन बड़ी धूमधाम से होते हैं और इनमें शिक्षित स्त्री-पुरुष बड़े उत्साह के साथ भाग लेते हैं।

॥ इति ॥

मौर्यों से पूर्व मगध के राज-वंश

नाग-वंश

१—भट्टीय
२—बिम्बिसार श्रेणिक
३—अजातशत्रु
४—उदयिन
५—दासक (दर्शक)

शिशुनाग-वंश

१—शिशुनाग
२—अशोक
३—नन्दिवर्द्धन

नन्द-वंश

१—महापद्मनन्द
२—महापद्म के पुत्र

मौर्य-वंश

चन्द्रगुप्त, ३२२ ई० पू०
|
बिन्दुसार, २९८ ई० पू०
|
अशोकवर्द्धन, २७२ ई० पू०
|
कुणाल, जलाक, महेन्द्र, चारुमती, संघमित्र

कुणाल
|
दशरथ, २३२ ई० पू०; संगत, २२४ ई० पू०

संगत
|
सालिशुक, २१६ ई० पू०
|
सोमशर्मण, २०६ ई० पू०
|
सत् धन्वन्, १९९ ई० पू०
|
वृहद्रथ, १९१ ई० पू०

शुंग-वंश

पुष्यमित्र शुंग, १८५ ई० पू०

- अग्निमित्र
  - वसुमित्र
    - भगवत
      - देवभूति
- वसुज्येष्ठ

कुशाण-वंश

कदफ प्रथम
|
कदफ द्वितीय
|
कनिष्क
|
हुविष्क
|
वसुदेव

गुप्त-वंश

गुप्त, २७१ ई०
|
घटोत्कच, २९० ई०
|
चन्द्रगुप्त प्रथम, ३२० ई०
|
समुद्रगुप्त, ३३० ई०

चन्द्रगुप्त द्वितीय (विक्रमादित्य), ३७५ ई०

- गोविंद
- कुमारगुप्त प्रथम, ४१५ ई०
  - स्कन्दगुप्त, ४५५ ई०
  - पुरुगुप्त, ४६७ ई०
    - नरसिंहगुप्त, ४६९ ई०
      - कुमारगुप्त, द्वितीय, ४७३ ई०
  - बुद्धगुप्त, ४७६ ई०
    - तथागतागुप्त
      - वालादित्य
        - वज्र
- प्रभावती

वर्द्धन-वंश (थानेश्वर अथवा कन्नौज)
नरवर्द्धन
राज्यवर्द्धन प्रथम
आदित्यवर्द्धन
प्रभाकरवर्द्धन
राज्यवर्द्धन द्वितीय
हर्षवर्द्धन
राज्यश्री
पुत्री = ध्रुवसेन द्वितीय (वल्लभी)
धरसेन चतुर्थ (वल्लभी)
गजनी-वंश (लाहौर)
सुबुक्तगीन
महमूद
इस्माइल
मुहम्मद
मसऊद प्रथम
अब्दुररशीद
मादूद
अली
फरुखजाद
इब्राहीम
मसऊद द्वितीय
मसऊद तृतीय
शीरजाद
अरसलान
बहराम शाह
खुसरो शाह
खुसरो मलिक

गहरवार-वंश (कन्नौज)

यशविगृह
|
महीश्चन्द्र
|
चन्द्रदेव (कन्नौज एवं बनारस)
|
मदनपाल
|
गोविन्दचन्द्र
|
विजयचन्द्र
|
जयचन्द्र
|
हरिश्चन्द्र — संयुक्ता

गुलाम-वंश
कुतुबुद्दीन ऐबक
आरामशाह
पुत्री = शमसुद्दीन इल्तुत्मिश
नासिरुद्दीन महमूद (बंगाल)
फीरोज
मसऊद
रजिया
बहराम
नासिरुद्दीन महमूद
पुत्री = गयासुद्दीन बलबन
मुहम्मद
कैखुसरो
नासिरुद्दीन मुहम्मद शाह बुगराखाँ (बंगाल १२८२-९१)
मुईजुद्दीन-कैकुबाद
रुकुनुद्दीन कैकाउस (बंगाल १२९१-१३०२)
शमसुद्दीन फीरोज (बंगाल १३०२-१८)
शहाबुद्दीन बुगरा (बंगाल १३१८)
नासिरुद्दीन (बंगाल १३२३-२५)
गयासुद्दीन बहादुर (बंगाल १३१९-२२)
हातिम खाँ
कतलू खाँ

खिलजी-वंश

तुलुक खाँ कल्जी
- नासिरुद्दीन (मालवा)
- शहाबुद्दीन
  - अलाउद्दीन मुहम्मद
    - खिज्र खाँ
    - शादी खाँ
    - कुतुबुद्दीन मुबारकशाह
    - शहाबुद्दीन उमर
  - अलमास बेग उलुग खाँ
- जलालुद्दीन फीरोज
  - महमूद
  - रुकुनुद्दीन इब्राहीम
  - कद्र खाँ
- यगरूश खाँ
  - असुदद्दीन

तुगलक-वंश

- गयासुद्दीन तुगलक प्रथम
  - मुहम्मद तुगलक
    - महमूद
  - पुत्री = खुसरो मलिक
    - दावरमलिक
- सिपहसालार रजब
  - फीरोज
    - फतह खाँ
      - गयासुद्दीन तुगलक द्वितीय
      - नुसरतशाह
    - जफर खाँ
      - अबूबकर
    - मुहम्मद
      - अलाउद्दीन सिकन्दर
      - नासिरुद्दीन मुहम्मद
  - कुतुबुद्दीन
  - इब्राहीम

सैयद-वंश

मालिक सुलेमान
- खिज्र खाँ
  - मुबारकशाह
  - फरीद
    - मुहम्मद
      - अलाउद्दीन आलमशाह

लोदी-वंश

बहमनी राज-वंश

अलाउद्दीन बहमनशाह	...	...	१३४७-५८
मुहम्मद प्रथम	...	...	१३५८-७५
मुजाहिद	...	...	१३७५-७८
दाऊद	...	...	१३७८-७८
मुहम्मद द्वितीय	...	...	१३७८-९७
गयासुद्दीन	...	...	१३९७-९७
शम[illegible]	...	...	१३९७-९७

... फीरोज	...	...	१३९७-१४२२
..हमद वली	...	...	१४२२-३६
अलाउद्दीन अहमद	...	...	१४३६-५८
हुमायूं जालिम	...	...	१४५८-६१
निजाम	...	...	१४६१-६३
मुहम्मद तृतीय (लश्करी)	...	...	१४६३-८२
महमूद	...	...	१४८२-१५१८
अहमद	...	...	१५१८-२१
अलाउद्दीन	...	...	१५२१-२२
वलीउल्लाह	...	...	१५२२-२५
कलीमुल्लाह	...	...	१५२५-२७

वंशावली.
मुगल-वंश
(१) जहीरुद्दीन बाबर
(१५२६-३०)
मुहम्मद हुमायूं
(२) नासिरुद्दीन (१५३०-५६)
कामरान
हिन्दाल
अस्करी
(३) अकबर (१५५६-१६०५)
मिर्जा हकीम
(४) जहाँगीर (१६०५-२७)
मुराद
दानियाल
खुसरो
दावरबख्श
परवेज
(५) शहाबुद्दीन शाहजहाँ
(१६२८-५८)
शहरयार
दारा
शुजा
(६) मुहीउद्दीन मुहम्मद
औरंगजेब आलमगीर
(१६५८-१७०७)
मुराद

औरंगज़ेब
मुहम्मद सुलतान
शाहआलम प्रथम
(७) बहादुरशाह प्रथम (१७०७-१२)
आजम
बिदारबख्त
अकबर
नेकुसियर (१७१९)
कामबख्श
मुहिउससुन्नत
शाहजहाँ तृतीय
(८) मुईजुद्दीन जहाँदारशाह (१७१२-१३)
अजीमुश्शान
रफीउश्शान
खुजिस्ता अख्तर जहानशाह
(१२) ऐजुद्दीन आलमगीर द्वितीय (१७५४-५९)
(९) मुहम्मद फर्रुखसियर (१७१३-१९)
(१०) मुहम्मदशाह (१७१९-४८)
(१३) अली गौहरशाह आलम द्वितीय (१७५९-१८०६)
(११) अहमदशाह (१७४८-५४)
(१४) अकबरशाह द्वितीय (१८०६-३७)
बिदारबख्त
(१५) बहादुरशाह द्वितीय (१८३७-५८) मृ० १८६२
मुहम्मद इब्राहीम (१७२०)
रफीउद्दौला शाहजहाँ द्वितीय (१७१९)
रफिउद्दाराजात (१७१९)

वंशावली

मराठा-वंश

मालोजी

जीजीबाई=शाहजी=२. तुकाबाई

इकोजी (तंजौर)

शम्भूजी (बचपन में मरा) १. सईबाई=शिवाजी (प्रथम)=२. सोइराबाई

शम्भूजी प्रथम   १. ताराबाई=राजाराम   २.=राजसबाई

शाहू प्रथम (शिवाजी द्वितीय)   शिवाजी तृतीय   शम्भूजी द्वितीय (कोल्हापुर)

रामराजा (दत्तक पुत्र)   रामराजा (शाहू का दत्तक पुत्र)

शाहू द्वितीय

प्रतापसिंह   शाहजी राजा

पेशवा-वंश
(पूना)

विश्वनाथ

बालाजी विश्वनाथ (१७१४-२०)

बाजीराव प्रथम (१७२०-४०)   चिमनाजी अप्पा

सदाशिवराव भाऊ

बालाजी बाजीराव (१७४०-६१)   रघुनाथराव राघोबा (१७६३)

विश्वासराव   माधोराव (१७६१-७२)   नारायणराव (१७७२)

माधोराव नारायण (१७७४-९६)

अमृतराव (दत्तक पुत्र)   बाजीराव द्वितीय (१७९६-१८१८)   चिमनाजी अप्पा

विनायकराव   नाना साहब (दत्तक पुत्र)

APPENDIX A

QUEEN'S PROCLAMATIONS

Proclamation by the Queen in Council to the Princes, Chiefs, and People of India.

VICTORIA, by the Grace of God, of the United Kingdom of Great Britain and Ireland, and of the Colonies and Dependencies thereof in Europe, Asia, Africa, America, and Australasia, Queen, Defender of the Faith.

Whereas, for divers weighty reasons, we have resolved, by and with the advice and consent of the Lords Spiritual and Temporal, and Commons in Parliament assembled, to take upon ourselves the government of the territories in India, heretofore administered in trust for us by the Honourable East India Company.

Now, therefore, we do, by these presents, notify and declare that by the advice and consent aforesaid, we have taken upon ourselves the said government; and we hereby call upon all our subjects within the said territories to be faithful, and to bear true allegiance to us, our heirs and successors, and to submit themselves to the authority of those whom we may hereafter, from time to time, see fit to appoint to administer the Government of our said territories, in our name and on our behalf.

And we, reposing especial trust and confidence in the loyalty, ability and judgment of our right trusty and well-beloved cousin, Charles John Viscount Canning, do hereby constitute and appoint him, the said Viscount Canning, to be our first Viceroy and Governor-General in and over our said territories and to administer the government thereof in our name, and generally to act [illegible] and on our behalf, subject to such orders and regula[illegible]e shall, from time to time, receive through one [illegible] Principal Secretaries of State.

And we do hereby confirm in their several offices, civil and military, all persons now employed in the service of the Honourable East India Company, subject to our future pleasure, and to such laws and regulations as may hereafter be enacted.

We hereby announce to the native princes of India that all treaties [illegible] engagements made with them by [illegible] under the

authority of the East India Company are by us accepted, and will be scrupulously maintained, and we look for the like observance on their part.

We desire no extension of our present territorial possessions; and while we will permit no aggression upon our dominions or our rights to be attempted with impunity, we shall sanction no encroachment on those of others.

We shall respect the rights, dignity and honour of native princes as our own; and we desire that they as will as our own subjects should enjoy that prosperity and that social advancement which can only be secured by internal peace and good government.

We hold ourselves bound to the natives of our Indian territories by the same obligations of the duty which bind us to all our other subjects, and those obligations, by the blessing of Almighty God, we shall faithfully and conscientiously fill.

Firmly relying ourselves on the truth of Christianity, and acknowledging with gratitude the solace of religion, we disclaim alike the right and the desire to impose our convictions on any of our subjects. We declare it to be our royal will and pleasure that none be anywise favoured, none molested or disquieted, by reason of their religious faith or observances, but that all shall alike enjoy the equal and impartial protection of the law; and we do strictly charge and enjoin all those who may be in authority under us that they abstain from all interference with the religous belief or worship of any of our subjects on pain of our highest displeasure.

And it is our further will that, so far as may be, our subjetcs, of whatever race or creed, be freely and impartially admitted to office in our service, the duties of which they may be qualified by their education, ability, and integrity duly to discharge.

We know, and respect, the feelings of attachment with which the natives of India regard the lands inherited by them from their ancestors and we desire to protect [illegible] [illegible]outs connected therewith, subject to the equitable de[illegible] [illegible]s a [illegible] and we will that, generally, in framing and admini[illegible] [illegible] law, due regard be paid to the ancient rights, usages, and customs of India.

We deeply lament the evils and misery which have been brought upon India by the act of ambitious men, who have deceived their countrymen by false reports, and let them into open rebelli[illegible] Our power has been shown by th[illegible] [illegible]